कनारी भाषा का शास्त्रीय अध्ययन

डा० रघुवीरशरण

श्री लालबहादुरशास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ
दिल्ली

संचारी भावों का शास्त्रीय अध्ययन

संस्कृत-विद्यापीठ-ग्रन्थमाला— द्वादशः पुष्प

सँचारी भावों का शास्त्रीय अध्ययन



प्रधान सम्पादक :

डॉ० पुष्पेन्द्र कुमार शर्मा

प्राचार्य

श्री लालबहादुरशास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, दिल्ली

लेखक :

डॉ० रघुवीरशरण,

एम० ए०, पी-एच० डी०

श्री लालबहादुर शास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ

दिल्ली-७

प्रकाशक :
डॉ० पुष्पेन्द्रकुमार शर्मा, प्राचार्य
श्री लालबहादुर शास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ
२३/३ शक्तिनगर, दिल्ली-७ ।

प्रथम संस्करण—१००० प्रतियाँ १९७३ ई०
श्री लालबहादुरशास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ
के तत्वाधान में प्रकाशित ।

मूल्य बीस रुपये

मुद्रक :
श्री आनन्दप्रकाश सिंघल
आनन्द प्रिंटिंग प्रैस, २/३४, रूपनगर,
दिल्ली-७

ज्ञानदेवी

को

जिसकी कृपा और प्रेरणा से

यह ग्रन्थ सम्पन्न हुआ ।

दो शब्द

भारतीय काव्य शास्त्र परम्परा बड़ी ही प्राचीन एवं समृद्ध परम्परा रही है। प्राचीन काल से ही इस परम्परा के अध्ययन की प्रणाली चलती रही है। आधुनिक युग में भी इस परम्परा को समझने के लिये संस्कृतेतर भाषाओं में भी गम्भीर अध्ययन होते रहे हैं।

अभी तक की अध्ययन परम्परा में अधिकतर रस और अलंकार का विवेचन होता रहा है। दोषों पर भी कुछ प्रबन्ध लिखे गये हैं। संचारी भाव अभी तक उपेक्षित विषय ही समझा गया था संचारीभाव 'रस' के ही उपादान अंग है। यह प्रबन्ध संचारी-भावों का एक शास्त्रीय और वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत करता है। पांडित्यपूर्ण परन्तु सहज-गम्य भाषा में लिखे गये इस प्रबन्ध के लिए मैं अपने सह-योगी डॉ० रघुवीरशरण जी को बधाई देता हूँ। मुझे यह प्रबन्ध संस्कृत विद्वानों एवं भारतीय काव्य-शास्त्रियों के सम्मुख प्रस्तुत करते हुए अत्यन्त हर्ष हो रहा है। आशा है इस प्रबन्ध के प्रकाशन से काव्य-शास्त्र जगत् में कुछ नवीन चिन्तन एवं विचार को प्रोत्साहन मिलेगा। मुझे आशा और विश्वास है कि विद्वान लोग इस प्रबन्ध को स्नेह एवं आदर के साथ अपनाकर लेखक का उत्साहवर्धन करेंगे।

श्री लालबहादुर शास्त्री
केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ,
शक्तिनगर, दिल्ली-७

पुष्पेन्द्रकुमार
प्राचार्य

प्राक्कथन

राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान डॉ० रघुवीर शरण व्यथित द्वारा रचित **'संचारी भावों का शास्त्रीय अध्ययन'** के इस महत्त्वपूर्ण प्रकाशन का स्वागत करता है। विद्वान् लेखक ने अपने इस प्रबन्ध में आचार्य भरत से लेकर आज तक के प्रमुख आचार्यों के मतों के आधार पर संचारी भावों का जो आलोचनात्मक तथा तुलनात्मक विश्लेषण प्रस्तुत किया है वह वस्तुतः स्तुत्य है। ग्रन्थ के चतुर्थ प्रकरण में आधुनिक मनोविज्ञान की तथ्यात्मक विवेचन पद्धति का अनुसरण करते हुए कतिपय संचारी भावों का मनश्शारीर स्तर पर जो अध्ययन प्रस्तुत किया गया है वह विशेषतः उल्लेखनीय है।

आशा है, सहृदय विद्वद्वृन्द इस नूतन प्रयास का अभिनन्दन करेंगे।

रामकरण शर्मा
निदेशक

विषय-सूची

संचारी भावों का शास्त्रीय अध्ययन

भूमिका

पूर्व-सूत्र एवं विषय-चयन की प्रेरणा

भारतीय काव्य-शास्त्र की विचार-परम्परा पंचधा विभक्त की जाती है, यथा, रस, अलंकार, रीति, ध्वनि तथा वक्रोक्ति सिद्धान्त।[1] परन्तु सम्प्रदाय पद का गौरव केवल इन तीन को, रस, अलंकार एवं ध्वनि सिद्धान्त को ही प्राप्त है। जिस सिद्धान्त को परिवर्धित तथा परिशोधित करने वाले आचार्यों की परम्परा आगे चलती रही, उसी को सम्प्रदाय पद से अभिहित किया ज ता है। इस कसोटी पर आचार्य वामन के रीति सिद्धान्त और आचार्य कुन्तक के वक्रोक्ति सिद्धान्त को, उनका निजी महत्त्व होते हुए भी, सम्प्रदाय नाम नहीं दे सकते।

यों विद्वान् आचार्य क्षेमेन्द्र के औचित्य सिद्धान्त का भी उल्लेख करते हैं। परन्तु, वस्तुतः यह कोई अलग सिद्धान्त नहीं है, अपितु काव्याङ्गों को परिष्कृत एवं उपादेय बनाने का उपाय मात्र है। उक्त रसादि पांचों काव्य-सिद्धान्तों के प्रवर्त्तक एवं समर्थक स्व-मान्य सिद्धांतों के अन्तर्गत अन्यों को या तो समाविष्ट करते हैं,जैसे, अलंकारवादी या वक्रोक्तिवादी, या अन्यों को स्व-सिद्धान्त के परिपोषक रूप में स्वीकृत करते हैं, जैसे, रस एवं ध्वनिवादी। परन्तु 'औचित्य' के प्रवर्त्तक क्षेमेन्द्र स्वयं सभी काव्याङ्गों को स्वीकार करते हैं, और केवल उनके औचित्यपूर्ण प्रयोग पर बल देते हैं यथा, वे भी रस और ध्वनिवादी आचार्यों की भांति अलंकार और गुण को स्वीकार करते हुए, काव्य को 'रस-सिद्ध' मानते हैं।[2] परन्तु वे रस-सिद्ध काव्य का स्थिर जीवित 'औचित्य' निश्चित करते हैं। दूसरे शब्दों में आचार्य क्षेमेन्द्र स्वयं काव्य का प्रधान-तत्त्व रस स्वीकार करते हैं, और उसका 'जीवित', उनके मत से, 'औचित्य' है।[2] जीवित शब्द से तात्पर्य है—किसी काव्याङ्ग को उपादेय बनाने का हेतु,

---

१. काव्यशास्त्रीय निबन्ध—काव्यशास्त्रीय परम्परा, श्री सत्यदेव चौधरी कृत, प्रथम संस्करण, पृ० ३०।

२. अलंकारास्त्वलंकारा गुणा एव गुणाः सदा।
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्।
—औचित्यविचार-५।

उपाय वा साधन। और, प्रकारान्तर से यह 'औचित्य' काव्य-दोष या रस-दोष का परिहारक ही बन कर रह जाता है।

किन्तु इसके विपरीत उक्त पांचों काव्य सिद्धान्तों में रस, अलंकार, रीति, ध्वनि और वक्रोक्ति को विभिन्न आचार्यों द्वारा स्वयं साध्य माना गया है तथा अन्य काव्यांग इनके साधन-मात्र रहते हैं। अतः औचित्य को स्वतन्त्र सिद्धान्त मानना उचित नहीं है।

उपर्युक्त तीन सम्प्रदायों में भी काव्य का अभीष्ट, आचार्य आनन्दवर्धनाचार्य के अनुसार ध्वनि ही है। ध्वनि के तीन भेद स्वीकृत हैं—वस्तु, अलंकार एवं रस ध्वनि। इनमें भी स्वयं आचार्य आनन्दवर्धनाचार्य ने रस को सर्वोत्तम ध्वनि कहा है। वस्तु-ध्वनि वा व्यापक अर्थ में भाव-ध्वनि भी रस-सिद्धान्त का ही अंग है। अलंकार-ध्वनि मूलतया रस वा भाव-ध्वनि के अन्तर्गत वाचिक अनुभाव का ही अंग है, तथा रीति भी (पद संघटना) रस के ही अंग वाचिक अनुभाव का अंग बन कर रह जाती है। वक्रोक्ति को भी वाचिक अनुभावों के अन्तर्गत सहज ही समाविष्ट किया जा सकता है। इस प्रकार समस्त काव्य का (दृश्य और श्रव्य दोनों का) साध्य वास्तव में 'रस' या 'वस्तु' (व्यापक अर्थ में भाव) ध्वनि ही रह जाती है। अलंकार-ध्वनि जिसमें रीति (पद संघटना) और वक्रोक्ति भी स्वतः अवस्थित रहती हैं, वाचिक अनुभावों का अंग होने से कोई पृथक् साध्य नहीं ठहरता है, क्योंकि हार्दिक भावों वा अनुभूतियों के अनुरूप ही एवं वाचिक अभिव्यक्ति के लिए ही उनका स्वतः नियोजन होता है। मानस भावों अथवा अनुभूति के अनुरूप ही वाचिक अभिव्यक्ति के रूप, शैली, रीति एवं भंगिमाएं स्थिर होती हैं। क्रोचे आदि पाश्चात्य काव्य-समीक्षकों का तो यह सुविवेचित एवं सुनिश्चित मत है। इस प्रकार समस्त अलंकार-शास्त्र—जिसमें रीति (पद संघटना) एवं वक्रोक्ति सहज अवस्थित रहती हैं, रस वा वस्तु (व्यापक अर्थ में भाव) ध्वनि के वाचिक अनुभाव-अंग का अंग मात्र ही है। इस प्रकार काव्य के सर्जन और आस्वादन में मूलतया 'रस' एवं 'वस्तु' व्यापक अर्थ में भाव मात्र ही ठहरते हैं। 'रस' स्वयं भरतमुनि के अनुसार 'स्थायी भाव' ही है जो विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भावों से परिवृत्त होकर 'रस' नाम प्राप्त करता है। कवि के अन्तर्गत भाव (भवति इति भावः अर्थ में) का भावन कराने के लिए 'भावों' (भावयति इति भावः अर्थ में) का नियोजन किया जाता है। भरतमुनि ने भावन व्यापार में सहायक उनचास भावों का विवेचन किया है जिनसे 'रस' एवं 'भाव'-ध्वनि की अभिव्यक्ति होती है।

आधुनिक युग की आवश्यकताओं और संकुल परिस्थितियों के बीच सब कहीं सम्पूर्ण 'रस' की अभिव्यक्ति प्रायः कम देखने में आती है। कवि भी किंचित् क्षणों की अनुभूति, विषय एवं द्वन्द्वात्मक परिस्थिति वा भावों का चित्रण कर के अपने को कृत-कार्य समझता है तथा स दय वा सामाजिक भी उतने को ही देखने-सुनने अथवा आस्वादन करने में अभिरुचि दिखाता है, यद्यपि 'रस' ध्वनि का सर्वश्रेष्ठ अंग होने से वास्तव में काव्य का चरम-साध्य है।

मैंने अपने स्नातकोत्तर अध्ययन काल में 'रस-सिद्धान्त' पर आधुनिक आचार्यों की विविध आलोचनाओं का अध्ययन किया। उनके आक्षेप और प्रत्याक्षेप तथा प्राचीन परम्परा में लिखे गये उत्तर एवं आग्रह मेरे मन में 'रस-सिद्धान्त' के विषय में गहरी से गहरी रुचि उत्पन्न करते गए। आधुनिक पाश्चात्य मनोविज्ञान पर आधारित आचार्यों के मतों के अध्ययन ने मुझे 'भावों' के स्वरूप का काव्य शास्त्र की दृष्टि से अध्ययन करने को प्रस्तुत किया। 'रस' शब्द की जो 'आनन्दवादी' एवं 'लोकोत्तर-चमत्कार वादी' परिभाषा प्रायः प्रचलित है उसके अस्पष्ट स्वरूप से मन को परितुष्टि नहीं होती थी। पुनः आधुनिक आचार्यों के उसकी पाश्चात्य 'प्लेज़र' सिद्धान्त से अनुकूलता, अथवा काव्य-जनित विविध अनुभूतियों के सिद्धान्तों के विवेचन को पढ़ कर मुझे यह जानने की भी प्रेरणा हुई कि क्या प्रकट सुख-दुःखात्मक दिखने वाले काव्यानन्द की वैसी व्याख्या हमारे यहां हुई है ? पुनः 'रस' को मात्र 'भावानुभूति' मानने से भी मेरे मन में एक संदेह उत्पन्न होता रहा कि वस्तु रूप में वह क्या है ? जब वस्तु रूप में रस नहीं है तब अनुभूति किसकी होती है ? अतः मेरे सामने प्रश्न थे, वस्तु रूप में रस क्या है ? उसके उपादान क्या हैं ? क्या रस सदैव सुखात्मक ही है ? परन्तु प्रत्यक्ष अनुभव तो इसके भिन्न भी होते हैं, फिर वे क्या हैं ? और, सुख-दुःखात्मक रसानुभूति फिर, अभिनवगुप्तापादाचार्य के अनुसार, मात्र 'आनन्दात्मक' कैसे है ?

भारतीय आचार्यों ने 'भाव' के अन्तर्गत उनचास भावों की गणना करके उनका विवेचन किया है। उनके बताये अनेक भावों को आधुनिक पाश्चात्य मनोविज्ञान की दृष्टि से विचार करने वाले आचार्य उन्हें 'भाव' मानने को भी तैयार नहीं थे। जैसे विबोध, निद्रा, स्वप्न, अपस्मार उन्माद आदि को। परन्तु भारतीय चिन्तन में 'विबोध', 'निद्रा', 'स्वप्न' को तो उपनिषद् काल से आज तक मन की अवस्थाओं में गिना जाता है। तब क्या हमारा यह समस्त काव्य-सिद्धान्त, रस-सिद्धान्त लंगड़ा है ? क्या, वह अप्रौढ़ चिन्तन का परिणाम है ? मेरे मन ने सबसे पहले 'रस' और 'भाव' शब्दों के ऊपर ही विचार करना आरम्भ किया तथा मुझे लगा कि जिस अर्थ में आज इनका प्रयोग किया जा रहा है, सम्भवतः आचार्यों का उनसे वह अभिप्राय नहीं था। ये संचारी-भाव 'रस' के अनिवार्य उपादान हैं, और इन पर ही विशेषतया आधुनिक पाश्चात्य-मनोविज्ञानाधारित समीक्षक सबसे अधिक असहमत हैं, अतः इन का अध्ययन करने तथा भारतीय चिन्तन की दीर्घकालिक परम्परा को उद्घाटित करने की मेरी प्रेरणा हुई। इनके उपादान लगभग वही हैं जो रस के स्थायी भावों के हैं, अतः 'रस' से इनका सम्बन्ध सहज होने के कारण 'रस' तथा उसके विविध-उपादानों का भी अध्ययन इस मार्ग में स्वतः हो जायेगा। पुनः आधुनिक युग में क्षणिक भावों से युक्त काव्य-रचना में तो स्वतंत्र रूप से भाव प्रयुक्त ही होते हैं। संचारी (व्यभिचारी) भावों से प्रमुखतया संबंधित होकर भी यह अध्ययन एक प्रकार से मुझे 'भाव', 'रस' एवं उसके विविध उपादानों के स्वरूप-विश्लेषण की ओर प्रेरित करता गया।

शीर्षक की व्याख्या

इस प्रबन्ध का शीर्षक 'संचारी भावों का शास्त्रीय अध्ययन' क्यों रखा गया है ? यह

प्रश्न सहज ही किया जा सकता है। भरतमुनि आदि आचार्यों ने इन भावों के लिये 'व्यभिचारी-भाव' शब्द प्रयोग किया है, परन्तु 'व्यभिचारी' पद श्लील अर्थ में आज प्रायः प्रयुक्त नहीं होता, 'संचारी' पद का प्रयोग करने में इस प्रकार का दोष नहीं रहता है। यह भी कहा जा सकता है कि जब इस प्रबन्ध में रस के समस्त उपादानों का अध्ययन किया गया है तो व्यापक अर्थ की दृष्टि से 'भाव' शब्द अधिक उपयुक्त होता। पुनः 'शास्त्रीय अध्ययन' के स्थान पर केवल 'अध्ययन' शब्द भी पर्याप्त होता। इस विषय में मेरा निवेदन यह है कि केवल 'भाव' कहने से आशय में अतिव्याप्ति का दोष आ जाता, वे मानसशास्त्रीय भाव में, 'भवति इति भावः' अर्थ में, संक्रमित कर जाते और सामान्य मनोविज्ञान के विषय का द्योतन करने लगते जबकि मेरा स्पष्ट आशय काव्यशास्त्रीय भावों से है। उसमें भी मेरा आशय यह था कि ये भाव मूलतः 'नाट्यशास्त्र' से सम्बन्धित भाव हैं। पुनः 'भाव' कहने से स्थायी, सात्त्विक एवं संचारी (व्यभिचारी) सामान्यतः तीनों का आशय होता है जबकि मेरे अध्ययन का बल भावों के संचारी (व्यभिचारी) रूप पर ही अधिक है। इसी दृष्टिकोण से स्थायी भावों का भी, उनके संचारी-वत् प्रयोग की दृष्टि से गौण रूप में अध्ययन किया गया है। यह सत्य है कि 'संचारी' शब्द का प्रयोग बहुत पीछे का है और 'व्यभिचारी' शब्द से विशिष्ट है, अतः भरतमुनि आदि से प्राप्त परम्परा से कट जाने और उनके आशय को न समझ पाने की आशंका के कारण, संस्कृत में 'व्यभिचारी' शब्द का ही प्रायः प्रयोग हुआ है, भरतमुनि आदि प्रसूत मौलिक परम्परा से अपने को जोड़े रखने को मैंने 'व्यभिचारी भाव' पद भी कोष्ठक में देना उचित समझा है। 'शास्त्रीय अध्ययन' से मेरा अभिप्राय: स्पष्ट है। मैं भारतीय आचार्यों द्वारा उद्भूत इस मौलिक विषय का अध्ययन कर रहा हूँ और उनके अनुसार मान्य शास्त्र की शास्त्रीय परम्पराओं का अध्ययन प्रमुखतया प्रस्तु करूंगा। हां, इस विषय में अन्य परम्पराओं के आचार्यों का भी अध्ययन सहायक रूप में ग्रहण किया जायेगा तथा उसको भारतीय-परम्परा और शास्त्र के अनुसार ही व्यवस्थित किया जायेगा। इस प्रकार शास्त्रीय प्रमाणों पर आधृत होने के कारण 'संचारी' भावों के इस अध्ययन को 'संचारी भावों का शास्त्रीय अध्ययन' शीर्षक से अभिहित किया गया है।

पूर्व-सामग्री और प्रस्तुत ग्रंथ द्वारा प्रस्तावित योग-दान

पूर्व-सामग्री—भरतमुनि से लेकर आधुनिक काल तक की इस विषय सम्बन्धी प्राप्त समस्त सामग्री को निम्नलिखित वर्गों में बांट कर देखा जा सकता है—

१. **नाट्यशास्त्रीय ग्रंथो में** : यथा, भरतमुनिकृत 'नाट्यशास्त्र', धनंजयकृत 'दशरूपक', रामचन्द्रगुणचंद्रकृत 'नाट्यदर्पण', तथा शारदातनयकृत 'भावप्रकाशन' आदि;

२. **काव्यालोचन-शास्त्रीय ग्रन्थों में** : यथा, अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय-भाग, आनन्दवर्धनाचार्यकृत 'ध्वन्यालोक', मम्मटाचार्य कृत 'काव्यप्रकाश',

कविराज विश्वनाथ कृत 'साहित्यदर्पण', विद्यानाथ कृत 'प्रताप-रुद्रीयम्', पण्डितराज जगन्नाथकृत 'रसगंगाधर', आदि; एवं चिन्तामणिकृत 'कविकुलकल्पतरु' हिन्दी-रीति काल में, आधुनिकों में—कन्हैयालाल पोद्दारकृत 'काव्यकल्पद्रुम', रामदहिनमिश्रकृत 'काव्य-दर्पण', बाबू गुलाबरायकृत 'सिद्धान्त और अध्ययन' आदि।

३. **स्वतन्त्र रस-शास्त्रीय ग्रन्थों में** : यथा, क—शिंगभूपालकृत 'रसार्णवसुधाकर', भानुदत्त-कृत 'रसमंजरी', जीवगोस्वामीकृत 'उज्ज्वल-नीलमणि', तथा रूप-गोस्वामीकृत 'भक्तिरसामृत सिन्धु'; ख—देवकृत 'भाव विलास', सोमनाथकृत 'रसपीयूषनिधि', कुलपतिमिश्र कृत 'रस रहस्य', गुलामनबीकृत 'रस प्रबोध', प्रतापसाहिकृत 'श्रृंगारप्रकाश', बेनी प्रवीन कृत 'नवरसतरंग', पद्माकर भट्ट कृत 'जगद्विनोद', भिखारीदासकृत 'रस सारांश', प्रतापनारायण सिंह जू कृत 'रसकुसुमाकर', भानुकविकृत 'रसरत्नाकर' आदि (हिन्दी के रीति-कालीन ग्रंथ); ग—अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' कृत 'रस-कलश', आचार्य शुक्ल कृत 'रस-मीमांसा', डॉ० नगेन्द्र कृत 'रस-सिद्धान्त' (आधुनिक हिन्दी में), घ—डॉ० भगवानदास कृत 'साइन्स आफ इमोशन्स' तथा डॉ० राकेशगुप्त कृत 'साइकलो-जिकल स्टडीज इन रस' (अंग्रेजी में)।

आधुनिक काल में कुछ और छुटपुट लेख भी यत्र तत्र मिलते हैं। अन्य भाषाओं में 'मराठी' में सुष्ठु विवेचन उस भाषा के विद्वानों ने किया है, यथा डॉ० वाटवे का रस-विमर्श।

उपर्युक्त ग्रन्थों में भावों एवं संचारी (व्यभिचारी) भावों पर निम्नलिखित दृष्टि-कोणों से विवेचन किया गया है—

क—रस और भावों के दृष्टिकोण से

ख—विशिष्ट रसों के स्थायी भाव एवं उनके संचारी (व्यभिचारी) भावों के दृष्टि-कोण से

ग—स्वतन्त्र भाव-ध्वनि के रूप में संचारी (व्यभिचारी) भावों के दृष्टिकोण से।

भरतमुनि ने इन्हें भावन-व्यापार के दृष्टिकोण से 'भावयति इति भावः' के अर्थ मे प्रयोग किया था न कि 'भवति इति भावः' के अर्थ में, न केवल चित्तवृत्ति-रूप सूक्ष्म मनोभवरूप भावों के अर्थ में। आनन्दावर्धनाचार्य प्रभृति आचार्यों ने इन्हें चित्तवृत्ति रूप मानकर संचारी भावों (व्यभिचारी-भावों) को रसों की अभिव्यक्ति में सहायक एवं स्वतन्त्र-भाव रूप में, भाव-ध्वनि रूप भाव के रूप में, विवेचित किया है और भारतीय परम्परा से इन पर विचार किया है। आधुनिक समीक्षकों ने 'भाव' को प्रायः अंग्रेजी शब्द इमोशन (संवेग) का समकक्ष

मान कर पाश्चात्य मनोविज्ञान के बाटों से इनकी समीक्षा की है जिसके फलस्वरूप उन्हें भरतमुनि एवं परवर्त्ती आचार्यों का विवेचन त्रुटिपूर्ण दिखायी दिया है। उन्हें इन भावों को— संचारी भावों, स्थायी भावों एवं सात्त्रिक-भावों को, पाश्चात्य मनोविज्ञान के अनुसार सर्वांशतः इमोशन (संवेग) चित्तवृत्ति-रूप मानने में आपत्ति है, यथा, मरण, स्वप्न, अपस्मार, उन्माद, मद, आलस्य आदि संचारी (व्यभिचारी) भावों तथा समस्त सात्त्विक भावों को, जो बाह्य-प्रेरकों से भी उत्पन्न होते बताये गये हैं। वे उनमें संख्या, वर्गीकरण आदि की भी त्रुटियां बताते हैं। प्राचीनों ने भी प्रायः भावों के विषय में स्वमत की स्थापना ही की है। अपने पूर्व अन्य आचार्यों का उल्लेख नहीं किया है। न उन्होंने यही दिखाया है कि वे किस पूर्व-आचार्य से कितने प्रभावित हैं और स्वमत में कितना उनका योगदान है। वे प्रायः किसी संचारी-भाव (व्यभिचारी-भाव) को लोकप्रसिद्ध मानकर अर्थान्तर से सिद्ध करते हैं। शारदा-तनय को छोड़ कर प्रायः और किसी ने उनकी व्युत्पत्ति वा कोशगत अर्थों पर विचार हीं किया है, न अपने से पूर्व-आचार्यों के मतों का ही संग्रह किया है। आधुनिक समीक्षकों ने भी इन पर विचार करते हुए अपनी विचार-सामग्री अत्यन्त संक्षिप्त, किसी एक ही आचार्य के पूर्व-उद्धृत मत को ही अध्ययनीय मानते हुए, रखी है। उनके मूलार्थ, कोशगत, लोक-प्रसिद्ध अर्थों को नहीं देखा, न उनके ऐतिहासिक अर्थोत्कर्ष-अर्थापकर्ष, अर्थविस्तार-अर्थसंकोच का ही आलेखन किया है। अतः उनके विषय में पूर्णतया और विश्वसनीय अध्ययन एक प्रकार से हुआ ही नहीं है।

पुनः आज तक भरतमुनि आदि आचार्य स्थायी-भावों और रसों को ही मुख्यतया केन्द्र में रख कर संचारी (व्यभिचारी) भावों, विभावों एवं अनुभावों का वर्णन करते रहे हैं। संचारी (व्यभिचारी) भावों के सम्बन्ध से स्थायी भावों, विभावों एवं अनुभावों का अध्ययन प्रस्तुत नहीं किया गया। पूर्व आचार्यों के लिए स्थायी भाव ही महत्त्वपूर्ण भी रहे हैं, संचारी (व्यभिचारी) गौण। अतः उनका अध्ययन भी गौण-रूप से ही हुआ है। संचारी (व्यभिचारी) भाव स्थायी भावों से उत्पन्न रसों के व्यवच्छेदक, उनमें वैचित्र्य उत्पन्न करने वाले, आश्रय के व्यक्तित्व का चित्रण करने वाले तथा अनुभावों में भी वैविध्यपूर्ण धर्मों के प्रेरक हैं। पुनः उनका स्वतन्त्र 'भावन' भी रस कोटि का, चाहे भाव-ध्वनि ही सही, होता है एवं वे अवस्था-भेद से—भावोदय, भाव-शान्ति, भाव-सन्धि, भाव-शबलता आदि से—विभिन्न मानसिक स्थितियों का रुचिमय संदर्शन कराते हैं तो स्वयं साध्य भी हैं और आधुनिक काल के कवि और काव्य की दृष्टि से तो बहुत ही महत्त्वशील हैं। उनको स्वतंत्र एवं प्रधान महत्त्व देकर अध्ययन करना अवशिष्ट रहता था। पुनः इन संचारी (व्यभिचारी) भावों का मनश्शारीर स्तर पर अध्ययन तो पूर्णतया उपेक्षित ही रहा आया है। प्राचीन आचार्यों ने भावन-व्यापार की दृष्टि से यत्र-तत्र इस पर विचार किया है। संचारी (व्यभिचारी) भावों के पीछे होती मन की शक्तियों एवं शारीरिक संस्थान में परिवर्तनों के कारणों और उनसे उत्पन्न अनुभावों की संगति पर विचार तो हुआ ही नहीं था। इसके लिये भारतीय विचारधारा, मौलिक भार-तीय चिन्तन प्रसूत शब्दावली तथा पाश्चात्य तथ्यात्मक-उपकरण-प्रणाली की विचार-पद्धति

की सहायता की भी आवश्यकता है। इस प्रकार यह अध्ययन स्वयं अपने में एक मनोरंजक तथा ज्ञान-प्रेरक वस्तु होगा।

इस ग्रन्थ द्वारा प्रस्तावित योग-दान

१. इस ग्रंथ में प्रथम बार 'भाव' शब्द की सम्यक् व्याख्या उसके व्युत्पत्ति एवं कोशगत अर्थों को दृष्टि में रख कर की गयी है, तथा भरतमुनि एवं शारदातनय के मतों को विशेषतया उल्लिखित करके बताया गया है कि भरतमुनि 'भाव' शब्द के अन्तर्गत स्थायी, संचारी (व्यभिचारी) एवं सात्त्विक भावों को ग्रहण करते हैं और शारदातनय के अनुसार 'भाव' शब्द की व्याप्ति 'पदार्थ, सत्ता, क्रिया एवं मनोविकार' तक है। भरतमुनि 'भाव' का प्रयोग 'भवति इति भावः' के अर्थ में नहीं, 'भावयति इति भावः' के अर्थ में कर रहे हैं। पाश्चात्य मनोविज्ञान का इमोशन रूप 'भाव' शब्द भारतीय 'भाव' का समकक्षी नहीं है।

२. 'रस' और उसके विविध उपादानों का सम्यक् अध्ययन प्रस्तुत करके रस के तीनों रूपों—वस्तुनिष्ठ रूप, सुखदुखात्म भाव रूप एवं आनन्दात्मक रूप—का सम्यक् अध्ययन करके उनमें समन्वयपूर्ण संगति बिठायी गयी है। इन सम्बन्ध में भारतीय दर्शनों की—यथा सांख्य, (बौद्धों के) विज्ञानवाद तथा प्रत्यभिज्ञा की, कड़ियों को जोड़ कर सहायता ली गयी है। रस के वस्तुनिष्ठ-रूप की भरतमुनि के दृष्टान्त के समानान्तर—नागसेन के 'मिलिन्द प्रश्न' से 'कढ़ी व्यंजन' तथा 'रथ' पदार्थ के दो अन्य दृष्टान्त प्रथम बार उपस्थित करके उसकी आधारशिला पुष्ट की गयी है, तथा आनन्दात्मक-रूप की पुष्टि करते हुए उसके प्रभावक बौद्धों के विज्ञानवाद एवं प्रत्यभिज्ञा-दर्शन पर उसके प्रभाव को शोधा गया है तथा 'आनन्द' शब्द में प्रयुक्त 'टुनदि' धातु के प्राथमिक अर्थ से इसका सम्बन्ध जोड़ा है, एवं 'आनन्द' के विभिन्न ग्यारह प्रकारों का उल्लेख करके 'ब्रह्मानन्द' को उनका सर्वश्रेष्ठ प्रकार संकेतित किया है।

३. सात्त्विक भावों को भाव कहने की युक्तियुक्तता पर विचार करके उनके विषय में दिये आयुर्वेदिक विश्लेषण का पाश्चात्य भेषजीय एवं मनोवैज्ञानिक ज्ञान के प्रकाश में अध्ययन किया गया है और उसकी संभावित युक्तता का संकेत दिया गया है।

४. रस के विविध उपादानों के साथ संचारी (भावों) का सामान्यतया अध्ययन करके उनका अन्य भावों से व्यवच्छेदन किया गया है।

५. इस ग्रंथ में प्रथम बार भरतमुनि से लेकर आधुनिक युग तक के प्रमुख आचार्यों के, प्रत्येक संचारी (व्यभिचारी) भाव की व्युत्पत्ति एवं कोशगत अर्थ देकर, लगभग २००० वर्षों के मतों का ऐतिहासिक कालक्रम में पूर्वापर संग्रह करके अध्ययन किया गया है, एवं लक्षित कराया गया है कि कौन आचार्य किस आचार्य से कितना प्रभावित अथवा सहमत-असहमत, मौलिक एवं अनुकरणकर्त्ता है, एवं इसका स्वच्छ लेखा-जोखा उपस्थित किया गया है। पुनः सार रूप में प्रत्येक संचारी (व्यभिचारी) भाव के विभाव, लक्षण एवं अनुभाव उपस्थित किए गए

हैं। एक ही स्थान पर, लगभग दो हज़ार वर्षों का व्यापक एवं विस्तृत, इस प्रकार का संचारी (व्यभिचारी) भावों का एकत्र अध्ययन आज तक नहीं हुआ। यह अध्ययन इस प्रकार के अध्ययनों का मार्ग-दर्शन उपस्थित करता है। इसमें सिद्ध किया गया है कि ये संचारी (व्यभिचारी) भाव चित्तवृत्ति रूप ही हैं, यद्यपि इनका वर्णन भरतमुनि ने 'भावन' व्यापार की दृष्टि से ही किया है।

६. इन संचारी (व्यभिचारी) भावों की विशेषताओं को भी विभाव, अनुभाव एवं सात्त्विक तथा स्थायी भावों के सम्बन्ध से पहली ही बार बताया गया है। इस प्रकार संचारी (व्यभिचारी) भावों को रस के अन्य उपादानों से परखने का यह दृष्टिकोण भी अपने में एक मौलिक प्रयत्न है।

७. मनश्शारीर स्तर पर भी इस ग्रंथ में पहली बार भारतीय एवं पाश्चात्य पद्धतियों का समन्वय करके इनके अध्ययन का प्रयत्न किया है; यद्यपि यह अध्ययन पूर्णतया निर्भ्रांत अथवा अन्तिम है ऐसा कोई दावा नहीं है। हां, भारतीय वैचारिक पद्धति एवं मौलिक चिन्ता-धाराओं का उपयोग करते हुए, उसके लिए मौलिक शब्दावली का प्रयोग करके, अनूदित शब्दावली का नहीं, तथा तथ्यात्मक अंकन में समर्थ पाश्चात्य एवं आधुनिक उपकरणों की सहायता से इस प्रकार के अध्ययन के लिए दिशा-निर्देश करना हमें अवश्य अभीष्ट है।

इस प्रकार यह ग्रंथ 'भाव' तथा 'रस' एवं उसके उपादानों के सम्यक् अध्ययन के उपरान्त संचारी (व्यभिचारी) भावों के विषय में प्रायः समस्त प्रमुख भारतीय आचार्यों के विश्लेषण का एकत्र अध्ययन प्रस्तुत करता है एवं विभावों, अनुभावों एवं स्थायी भावों से उनका पारस्परिक सम्बन्ध भी उद्घाटन करता है और मनश्शारीर स्तर पर उनके अध्ययन की मौलिक दिशाओं का निर्देश भी प्रस्तुत करता है।

प्रकरणों की संक्षिप्ति

प्रथम प्रकरण में : भाव और रस की परस्पर सिद्धि बतायी गयी है। (भाव के कोशगत अर्थ देकर) 'भाव' से भारतीय आचार्यों के अभिप्रेत अर्थ की स्थापना की गयी है। भारतीय आचार्य का 'भाव' शब्द बहुत व्यापक है। उसकी व्याप्ति 'पदार्थ, सत्ता, क्रिया अथवा मनोविकार' तक है। शारदातनय द्वारा दिये श्लोक का उद्धरण देकर इसे सिद्ध किया गया है। भरतमुनि ने भाव की व्याख्या 'भावयति इति भावः' कह कर की है तथा 'भवति इति भावः' का निषेध किया है। यह बताया गया है। भरतमुनि ने इसी अर्थ में अपने उनचास भावों को जिनमें आठ स्थायी, आठ सात्त्विक एवं तैंतीस संचारी (व्यभिचारी) भाव हैं, प्रयुक्त किया है। वे सब भावन व्यापार में काम आते 'भाव' ही हैं।

'रस और उसके विविध उपादान' के अन्तर्गत 'रस' के स्वरूप का विवेचन, 'रस' शब्द की व्युत्पत्ति एवं कोशगत अर्थों का अध्ययन करके, उपस्थित किया गया है। रस के तीनों रूपों का—वस्तुनिष्ठ रूप, सुखदुःखात्मक भाव-रूप तथा आनन्दात्मक रूप का—अधिकार

पूर्वक अध्ययन किया गया है। वस्तुनिष्ठ रूप में उसके अन्य दो समानान्तर दृष्टान्तों का शोध-पूर्वक उपस्थितीकरण किया गया है। नागसेन के, ये दो दृष्टान्त, 'रथ' एवं 'कढ़ी' व्यंजन समूहालम्बनात्मक हैं, जो भरतमुनि के 'व्यंजन' दृष्टान्त से मिलते-जुलते हैं। भावरूप में 'रस' को मानने वाले नृपेन्द्र भोज, रामचन्द्रगुणचन्द्र, आचार्य शुक्ल तथा डॉ० राकेश गुप्त आदि के मतों का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है, एवं आनन्दरूप में 'रस' को स्वीकार करने वाले आदि आचार्य अभिनवगुप्तपाद का मत देकर उसके बीज भी भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में खोजे गये हैं। उसकी, प्रत्यभिज्ञा दर्शन पर बौद्धों के विज्ञानवाद के प्रभाव का संकेत करके, 'टुनदि' धातु के अर्थों से संगति बिठायी गयी है। इस प्रकार अलग-अलग दिखने वाले तीनों रस-रूपों का उचित व्याख्यान करके उनकी सुसंगत व्यवस्था की गयी है। रस के विविध उपादानों के रूप में विभाव—आलम्बन एवं उद्दीपन, अनुभाव—कायिक, वाचिक एवं सात्त्विक, स्थायी भाव एवं संचारी (व्यभिचारी) भावों का विस्तारपूर्वक अध्ययन किया गया है। सात्त्विक भाव मन की समाहित अवस्था से ही अभिनीत किये जा सकते हैं, तथा उनका आयुर्वेदीय विवेचन आज की पाश्चात्य भेषज-शास्त्रीय एवं मनोवैज्ञानिक मान्यताओं के भी अनुकूल है, इसका संकेत किया गया है। संचारी (व्यभिचारी) भाव रसों में वैविध्य, विचित्रता तथा विशेषता उत्पन्न करते हैं। उनके गुण, जाति तथा संख्या एवं वर्गीकरण का, उनके विभिन्न उपादानों पर दृष्टिपात करके, वर्णन किया गया है एवं पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक स्तर पर आधारित वर्गीकरण का, उसकी त्रुटियों और अयुक्तताओं का भी, विश्लेषण किया गया है।

द्वितीय प्रकरण में : भरतमुनि से लेकर आज तक के प्रमुख आचार्यों को ऐतिहासिक क्रम में संजोकर उनके मतों के आधार पर प्रत्येक संचारी (व्यभिचारी) भाव का विश्लेषण किया गया है। प्रत्येक संचारी (व्यभिचारी) भाव की व्युत्पत्ति एवं कोशगत अर्थों को भी प्रत्येक विश्लेषण के आरम्भ में देकर उसकी सीमाओं की व्याप्ति को भी बांधने का प्रयत्न किया गया है तथा प्रत्येक के अध्ययन का सार अन्त में उपस्थित किया गया है। गौण रूप से स्थायी भावों का भी अध्ययन प्रस्तुत किया गया है क्योंकि वे भी समयानुसार संचारीवत् (व्यभिचारीवत्) आचरण करते हैं। निष्कर्ष रूप में कहा गया है कि ये सब भाव भारतीय आचार्यों की भाव-अर्थ की व्याप्ति में आने वाली चित्तवृत्तियां ही हैं, चाहे वे चेतना के धर्म चैतसिक धर्म हों अथवा मन के विशिष्ट कर्म।

तृतीय प्रकरण में : इस अध्याय में संचारी (व्यभिचारी) भावों का विभाव, अनुभाव तथा सात्त्विक भावों एवं स्थायी भावों से पारस्परिक सम्बन्धों का अध्ययन प्रस्तुत किया है। यह सिद्ध किया गया है कि संचारी (व्यभिचारी) भावों के विभाव स्थायी भावों के विभावों से भिन्न होते हैं। रसों के स्थायी भावों के विभाव वर्तमान और मूर्त्त होते हैं जबकि संचारी (व्यभिचारी) भावों के विभाव अमूर्त्त तथा भूत वा भविष्य कालिक भी हो सकते हैं। संचारी (व्यभिचारी) भावों के 'विभाव' ही होते हैं, उनके उद्दीपन विभाव नहीं होते। स्थायी भावों के अनुभावों में सबके सात्त्विक अनुभाव होते हैं, परन्तु संचारी (व्यभिचारी) भावों में बहुतों के सात्त्विक तो होते ही नहीं हैं। पुनः प्रायः एक संचारी (व्यभिचारी) दूसरे का विभाव या

अनुभाव बन जाता है, जबकि स्थायी भावों के साथ प्रायः ऐसा नहीं देखा जाता। सात्त्विक अनुभावों के दूसरे सात्त्विक अनुभाव नहीं हो सकते जबकि एक संचारी (व्यभिचारी) का दूसरा संचारी (व्यभिचारी) अनुभाव हो सकता है।

इस प्रकार पारस्परिक सम्बन्धों की दृष्टि से भी संचारी (व्यभिचारी) भाव विभाव, अनुभाव एवं स्थायी भावों से भिन्न वर्ग के ठहरते हैं।

चतुर्थ प्रकरण में : संचारी (व्यभिचारी) भावों में कतिपय संचारी (व्यभिचारी) भाव—(१) निर्वेद, (२) ग्लानि, (३) असूया, (४) धृति, (५) विषाद, (६) व्रीडा, (७) हर्ष, (८) आवेग, (९) अमर्ष, (१०) त्रास का नमूने के रूप में मनश्शारीर स्तर पर अध्ययन किया गया है। इसमें मन की शक्तियों के अध्ययन के लिए ऐतरेय उपनिषद् का सहारा लिया गया है और शारीरिक परिवर्तनों के अध्ययन के लिए भारतीय आचार्यों द्वारा बताये अनुभावों का, उसके पीछे होती शरीर-संस्थानगत क्रियाओं की संगति बिठा कर, अध्ययन किया गया है। इस विषय में पाश्चात्य मनोविज्ञान की तथ्यात्मक विवेचन-पद्धति का भी सहारा लिया गया है। इसके पूर्णतया अभ्रान्त अथवा सुनिश्चित होने का दावा नहीं किया जा सकता। यह केवल एक दिशा निर्देश ही है। निष्कर्षतः भारतीय आचार्यों द्वारा बताये गये अनुभाव का वर्णन इन संचारी (व्यभिचारी) भावों के सम्बन्ध में दोषयुक्त नहीं है तथा मन की अनेकों वृत्तियों को बताने के लिये भावन व्यापार की दृष्टि से ही उनका नामकरण किया गया है।

उपसंहार में : यह स्थापना की गयी है कि रस सिद्धान्त अपने में एक पूर्ण सिद्धान्त है जो रचनाकार, पात्रों एवं सहृदय सामाजिक के त्रिकोण की सीमाओं को स्पर्श करता है और रचना के, पात्रों के सुख-दुःखात्मक अनुभव के एवं सहृदय सामाजिक के आस्वादन के स्तर की प्रतीति तीनों का विवेचन करने में समर्थ है। भावों और संचारी (व्यभिचारी) भावों के नाम 'भावन' व्यापार को दृष्टि में रखकर ही रखे गये हैं। वे 'भवति इति भावः' के अर्थ का द्योतन नहीं कराते चाहे वे उनके समानान्तर भी दिखते हैं। ये संचारी (व्यभिचारी) भाव छोटी-छोटी मानसिक स्थितियों, चैतसिक धर्मों एवं मानसिक कर्मों का प्रतिबिम्बन कराने में समर्थ हैं। वे विभाव, अनुभाव एवं मानसिक प्रतिक्रियाओं में भी 'स्थायी भावों' से भिन्न हैं। इनके विषय में भारतीय आचार्यों का मत समीचीन है, और इसके पीछे हज़ारों वर्ष का चिन्तन एवं उसकी दार्शनिक परम्परा है। इन्हें पाश्चात्य मनोविज्ञान के बटखरों से मापना न तो उचित ही है और न ऐसा अध्ययन निर्भ्रान्त ही है। वास्तव में, 'भाव' को पाश्चात्य 'इमोशन' शब्द के समकक्ष मानकर चलने में ऐसी भ्रान्तियां उत्पन्न हुई हैं। कवि कुछ स्पष्ट दिखने वाले भावों का ही चित्रण कर पाता है, मानस-तरंगों में प्रतिक्षण उठने वाले भावों का नहीं। इस दृष्टि से संचारी (व्यभिचारी) भाव, विचित्रता, वैविध्य एवं विशेषता उत्पन्न करने की दृष्टि से, सामान्य और विशेष, साधारण और असाधारण मानव के भावों, मनःस्थितियों एवं वृत्तियों को सामर्थ्यपूर्वक चित्रण करने के सहकारी साधनरूप व्यापक संचारी (व्यभिचारी) भाव मात्र हैं।

आभार-प्रदर्शन

इस ग्रन्थ की रूप-रेखा का विनिश्चयन तथा इसका मार्ग-दर्शन मेरे श्रद्धेय आचार्य डॉ० रामेश्वरलाल खण्डेलवाल, एम० ए०, डी० लिट्० ने किया था। उनकी सहज और उदार ममतापूर्ण प्रकृति एवं उनकी सूक्ष्म एवं तत्त्वग्राहिणी बुद्धि मुझे पद-पद पर संभालती रही है। इस प्रबन्ध की समस्त सुष्ठुताएं उनके सत्परामर्शों का प्रतिफलन हैं। मैं हृदय से उनका कृतज्ञ हूं, और वह कृतज्ञता शब्दों में ज्ञापित नहीं की जा सकती।

इस ग्रन्थ के लिए मूल एवं उपजीव्य ग्रन्थों का संकलन मैंने विभिन्न बन्धुओं एवं मित्रों की विविध सहायता से तथा अनेक पुस्तकालयों से किया है। मैं उनका भी इस हेतु आभार मानता हूं। श्री० चंद्रशेखर अय्यर, तिरुवन्तपुरम् राजकीय पुस्तकालय के सहायक-पुस्तकालयाध्यक्ष ने कृपापूर्वक संस्कृत के अनेक दुर्लभ ग्रन्थ मुझे उपलब्ध कराये, जिनमें शारदातनय का भाव-प्रकाशन तो आज भी दुर्लभ है, जिसकी प्रति दूर-दूर तक नहीं मिलती। मैं उनका विशेषतया आभारी हूं। इसी प्रकार राष्ट्रभाषा प्रचार सभा, पूना के पुस्तकालयाध्यक्ष ने मराठी आचार्यों के मूल ग्रन्थों को अध्ययन के लिए समय-समय पर मुझे भेजा है। इस प्रकार के सूत्र को जोड़ने वाले मेरे मराठी गुरु एवं मित्र डॉ० गजानन साठे रहे। मैं इन दोनों का ऋणी हूं। समय-समय पर अनेक प्रथम श्रेणी के आचार्यों से भी इस विषय में मेरा विचार-विनिमय हुआ है। उनमें आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी तो आज दिवंगत हैं। वे अपने विचारों से इस ग्रन्थ को प्रभावित देख कर अवश्य प्रसन्न होते। मैं उनका ऋणी रहूंगा। डॉ० प्रभाकर माचवे ने तो, 'भक्ति रसामृत सिन्धु' मुझे लम्बे समय तक रखने को देकर, अनेक व्यावहारिक उपदेश भी दिये हैं, मैं उनका भी उपकृत हूँ।

इस विषय पर अथवा इससे सम्बद्ध विषय पर लिखने वाले अनेक आचार्यों के ग्रंथों का उपयोग मैंने किया है और उनके उद्धरण भी आवश्कतानुसार मैंने दिये हैं। मैं विनम्रतापूर्वक उनका आभार स्वीकार करता हूं।

राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान के निष्ठावान् एवं सहज गुण-ग्राही निदेशक महोदय डॉ० रामकरण शर्मा ने घोर व्यस्त होते हुए भी कृपापूर्वक समय निकाल कर इस ग्रंथ का अवलोकन किया तथा ग्रन्थ का प्राक्कथन लिखने की कृपा की, इसके लिये में उनका अनुग्रहीत हूं। श्री लाल बहादुर शास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, दिल्ली-७ के प्राचार्य डॉ० पुष्पेन्द्र कुमार शर्मा की उत्साहवर्धनी एवं अग्रसारिका प्रकृति के फलस्वरूप ही यह ग्रंथ इतनेस्वल्प समय में प्रकाशित हो सका है। एतदर्थ मैं उन्हें हार्दिक धन्यवाद देता हूं।

आनन्द प्रिंटिंग प्रेस के मैनेजिंग पार्टनर श्री आनन्दप्रकाश सिंघल इस ग्रंथ की सुन्दर और शीघ्र छपाई के लिए धन्यवाद के पात्र हैं।

मेरा विश्वास है, इस ग्रंथ के माध्यम से मेरा श्रम अवश्य आद्दत होगा। कोई सत्परामर्श विद्वज्जन देंगे तो उपकृत हूंगा और उन्हें अगले संस्करण में आत्मसात कर लिया जायेगा।

अन्त में, पुनः प्रत्यक्ष वा अप्रत्यक्ष रूप से इस ग्रंथ के प्रस्तुतीकरण में सहायक सभी महानुभावों का मैं आभार मानता हूँ।

डॉ० रघुवीर शरण

ई/६ए, कृष्णा नगर
दिल्ली-५१

प्रथम प्रकरण

संचारी भाव : स्वरूप चिन्ता

१. प्रकरण संगति

भाव के बिना 'रस' की और 'रस' के बिना भाव की सत्ता नहीं है। उनकी परस्परकृत सिद्धि होती है।[1] रसों का भावन कराया जाता है और रस इनसे (भावों से) ही भावित होते हैं।[2] भरत मुनि ने रस निष्पत्ति सूत्र में 'विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भाव के संयोग से रस-निष्पत्ति' बतायी है[3] और भावों की व्याख्या करते हुए आगे कहा है कि 'विभाव-अनुभाव-व्यभिचारी से परिवृत्त स्थायीभाव 'रस' संज्ञा प्राप्त करता है'[4] पुनः, भाव के अन्तर्गत आचार्यों ने रस-निर्माण में समर्थ तथा सहायक सभी तत्त्वों को ग्रहण किया है।[5]

इस प्रकार 'भाव' और 'रस' का अविच्छिन्न एवं युगपत् सम्बन्ध होने के कारण यह आवश्यक हो जाता है कि यह अध्ययन किया जाये कि आचार्यों का 'भाव' से क्या अभिप्राय है, और 'भाव' शब्द का साहित्य शास्त्र की दीर्घ परम्परा में क्या-क्या अर्थ रहा है। यही भाव के भेदों को भी अधीत करना, अपने विषय का (संचारी भावों का) सम्यक् रूप से अध्ययन करने के लिए, युक्तियुक्त माना जायेगा। भावों के द्वारा रस का निर्माण होता है, अतः यहाँ रस निर्माण में सहायक अथवा उसके कारणभूत उपादानों का स्पष्ट एवं विवेचनपूर्ण अध्ययन भी आवश्यक हो जाता है, और इसी प्रसंग में 'रस' के स्वरूप का भी चिन्तन अपेक्षित है।

---

१. न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः।
परस्परकृता सिद्धिस्तयोरभिनये भवेत्॥ ना० शा० ६।३६।

२. न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः।
भावयन्ति रसानेभिर्भाव्यन्ते च रसा इति॥ अ० पु० ३३९।१२॥

३. तत्र विभावानुभावव्यभिचारीसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः। ना० शा० ६।३१ के पश्चात् गद्य।

४. तत्र विभावानुभावव्यभिचारी परिवृत्त स्थायी-भावो रसनाम् लभते।
—ना० शा० ७।७ के पश्चात् गद्य।

५. तत्राष्टोस्थायिनस्त्रयस्त्रिंशद् व्यभिचारिणः अष्टौ सात्त्विका इति त्रिभेदाः। एवमेते काव्यरसाभिव्यक्तिहेतवः ऐकोनपंचाशद्भावाः प्रत्यवगंतव्याः। एभ्यश्चसामान्यगुणयोगेन रसा निष्पद्यन्ते। ना० शा० ७।७ के पश्चात् गद्य। तथा, देखिए, भा० प्र० १ अधिकार।

इन सबके अध्ययन से, प्रस्तुत प्रबन्ध के आधारभूत विषय 'संचारी-भाव' का व्यवच्छेदन-पूर्वक सामान्य स्वरूप निर्धारित करना सहज एवं युक्तिसंगत माना जायेगा। अतः भाव तथा उसके भेदों के स्वरूपों और 'रस' तथा उसके विविध उपादानों का चिन्तन करके व्यवच्छेदन-पूर्वक 'संचारी-भाव' का स्वरूप चिन्तन करते हुए इस प्रकरण का नाम 'संचारी भावः स्वरूप चिन्ता' देना उपयुक्त ही है।

२. भाव

(क) कोशगत एवं व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ

कोशगत-अर्थ

भारतीय रस-सिद्धान्त का मूलभूत आधार तत्त्व है 'भाव'। अतः 'भाव' चिन्ता में उतरने से पहले 'भाव' के कोशगत एवं व्युत्पत्तिलभ्य दोनों अर्थों को जान लेना संगत होगा।

"संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ" में 'भावः' शब्द के निम्नलिखित अर्थ दिये हैं।[1]

भावः—(१) अस्तित्व, विद्यमानता। (२) घटना, होना। (३) अवस्था, दशा, हालत। (४) ढंग, रीति। (५) पद, ओहदा। (६) वास्तविकता। (७) स्वभाव, मिज़ाज। (८) झुकाव, विचार, चित्तवृत्ति। (९) प्रेम, प्यार, अनुराग। (१०) अभिप्राय। (११) अर्थ। (१२) संकल्प, दृढ़-विचार। (१३) हृदय, आत्मा, मन। (१४) पदार्थ, वस्तु, जीव। (१५) जीवधारी। (१६) भावना। (१७) हाव-भाव, आचरण। (१८) प्रेमोद्योतक हाव-भाव। (१९) उत्पत्ति। (२०) संसार, दुनिया। (२१) गर्भाशय। (२२) अलौकिक शक्ति। (२३) परामर्श, आदेश। (२४) नाटक में किसी पूज्य के लिए सम्बोधन।

उपर्युक्त अर्थों को (१) 'सत्ता', (२) पदार्थ व वस्तु एवं (३) जीवधारी तक व्याप्त देखा जा सकता है।

प्रथमतः भाव शब्द की व्याप्ति 'घटना', 'उत्पत्ति', एवं 'अस्तित्व' में है।

दूसरे, भाव शब्द पदार्थ वा वस्तु की संज्ञा में उसके जन्मस्थान, स्थिति, अवस्था, प्रकृति एवं शक्ति के अर्थों तक व्याप्त है।

तीसरे, भाव शब्द जीवधारी की संज्ञा में उसकी आत्मा, हृदय, मन, राग, संकल्प, स्वभाव, रुझान, आशय, विचार, स्थिति, आचरण, रीति एवं गूढ़ शक्ति आदि उसके अन्तर-बाह्य सबको घेरने वाले अर्थों का द्योतन करता है।

व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ

'भू' धातु से 'भाव' शब्द की सिद्धि दो रूप में होती है : एक, भू+अच्, 'भावः'।[2] भवति इति भावः (जो होता है, वह भाव)। दूसरे, भू+णिच्+अच्, 'भावः'।[3] भावयति

---

१. देखिये, संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभः में 'भावः' शब्द।
२-३. देखिये, वाचस्पत्यम्, संस्कृत कोश।

इति भावः (जो भावना कराता है, वह भाव)। ऊपर दिए गए कोशगत अर्थ 'भवतीति भावः' के हैं।

भाव की व्याख्या करते हुए भरत मुनि ने 'भाव' शब्द की ऊपर दी हुई दोनों ही व्युत्पत्तियाँ दी हैं।[1] उन्होंने दोनों ही व्युत्पत्तिलभ्य अर्थों का प्रयोग किया है। अपने द्वारा गृहीत भावों की व्याख्या करते हुए उन्होंने दूसरे व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ का प्रयोग किया है। वे कहते हैं कि वाणी, मुखराग, अंग एवं सत्त्व से उपेत काव्य के अर्थों का 'भावन' कराते हैं, इसलिए उन्हें 'भाव' कहते हैं।[2] वे आगे और स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि ये वाणी, मुखराग, अंग एवं सत्त्व के अभिनय से कवि के अन्तर्गत भाव का भावन कराते हैं, अतः इन्हें भाव कहते हैं।[3] यहाँ कवि के अन्तर्गत 'भाव' को वे प्रथम अर्थ में प्रयोग करते हैं और दूसरे 'भाव' को द्वितीय अर्थ में।

'भावित', 'वासित', 'कृत' शब्द

भरत मुनि ने 'भू इति करणे धातु' कहा है—और 'भावितं', 'वासितं', 'कृतं' को समानार्थक ठहराते हुए लोक-प्रसिद्ध अर्थ की साक्षी दी है।[4] अतः 'भावितं', 'वासितं', 'कृतं' के कोशगत अर्थों पर भी ध्यान देना आवश्यक हो जाता है।

भावित शब्द के निम्नलिखित अर्थ कोश में प्राप्त हैं :[5]

(१) रचा हुआ। (२) प्रकट किया हुआ। (३) पोसा हुआ। (४) विचारा हुआ, सोचा हुआ, कल्पना किया हुआ। (५) ध्यान किया हुआ। (६) शुद्ध किया हुआ। (७) सिद्ध किया हुआ, स्थापित किया हुआ। (८) व्याप्त, परिपूर्ण। (९) उत्साहित। (१०) भीगा हुआ, तर। (११) सुगन्धित किया हुआ। (१२) मिला हुआ, मिश्रित।

'वासित' शब्द के निम्नलिखित अर्थ दिए हुए हैं[6]—

(१) सुवासित। (२) भिगोया हुआ, तर। (३) सुस्वादु बनाया हुआ।

'कृत' शब्द के निम्नलिखित अर्थ दिए हुए हैं[7]—

---

१. देखिये, ना० शा०, सप्तम अध्याय का आरम्भ।
२. वांगगसत्त्वोपेतान्काव्यार्थान्भावयन्तीति भावाः। ना० शा० ७ गद्य।
३. वांगगमुखरागेण सत्त्वेनाभिनयेन च कवेरन्तर्गतं भावं भावयन् इति भाव उच्चते। ना० शा० ७।२।
४. भू इति करणे धातुस्तथा च भावितं वासितं कृतमित्यन्यर्थान्तिरम्। लोकेऽपि च प्रसिद्धम्। ना० शा० ७ अध्याय।
५. सं० श० कौ० 'भावित' शब्द।
६. देखिये, सं० श० कौ० 'वासिल' शब्द।
७. देखिये, कृतः, कृतं—सं० श० कौ०।

(१) कर्म, कार्य, क्रिया। (२) उद्देश्य, प्रयोजन। (३) परिणाम, फल। (४) किया हुआ, पूर्ण किया हुआ।

भावन व्यापार का ग्रर्थ

उपरिलिखित अर्थों का समाहार करते हुए 'भावन' व्यापार का अर्थ हुआ किसी रचना को प्रयोजन की सिद्धि के लिए सुकल्पित, सुविचारित, सुगन्धित, शुद्ध, भावनाओं से तर बनाकर, उत्साहित करके उसकी परिपूर्ण व्याप्ति के साथ मिश्रित रूप में उपस्थित करना।

और इस भावन व्यापार को सम्पन्न करने वाले हुए 'भाव'। भरत मुनि ने इसी अर्थ को दृष्टि में रख कर कहा है कि भाव नाना अभिनय से सम्बन्धित रसों का निर्माण करते हैं, इससे इनको नाट्ययोक्ताओं को जानना आवश्यक है।[1]

(ख) भाव-चिन्ता

१. भारतीय

'भाव' के कोशगत एवं व्युत्पत्तिलभ्य अर्थों को जानकर आगे 'भाव' विषयक चिन्ता करते हुए पहले भारतीय साहित्याचार्यों की 'भाव'-विषयक चिन्ता का अध्ययन करना अपेक्षित है। इस प्रसंग में भरत मुनि से लेकर साहित्यशास्त्र को प्रभावित करने वाले आधुनिक आचार्यों तक के 'भाव'-विषयक मतों का क्रमानुसार आलोचन करना अभीष्ट होगा। इस प्रकार 'भाव' शब्द के अर्थोत्कर्ष एवं अर्थापकर्ष दोनों ही काल-सापेक्षतापूर्वक स्वतः उभरते हुए सामने आयेंगे।

भरत मुनि ने भाव के अन्तर्गत आठ स्थायी भाव, तेंतीस व्यभिचारी भाव तथा आठ सात्त्विक भावों का समावेश किया है और इन उनचास भावों को काव्यरस की अभिव्यक्ति का हेतु माना है।[2] वैसे, उनके नाट्यशास्त्र में प्रतिपादित 'विभाव', 'अनुभाव', 'व्यभिचारी भाव', 'स्थायी भाव' और 'सात्त्विक भाव' सभी रस-निर्माण में समर्थ तत्त्वों में 'भाव' शब्द संलग्न है। भरत मुनि प्रतिपादित भाव-स्वरूप एकान्ततः आन्तरभाव नहीं है। उनके द्वारा प्रतिपादित भावस्वरूप के मुख्यतः तीन रूप उपलब्ध होते हैं—

(१) रस-निर्माण में समर्थ तत्त्वों या सहायक तत्त्वों का नाम भाव है।

'अनेक प्रकार के अभिनयों से सम्बद्ध रसों का भावन करते हैं, अतः नाट्यवेत्ता इन्हें भाव कहते हैं। जिस प्रकार अनेक द्रव्यों से व्यंजन भावित होता है, उसी प्रकार विविध

---

१. नानाभिनयसंबद्धान्भावयन्ति रसानिमान्।
यस्मात्तस्मादमी भावा विज्ञेया नाट्ययोक्तृभिः। —ना० शा० ७ अध्याय।

२. तत्राष्टौ स्थायिनस्त्रयस्त्रिंशद् व्यभिचारिणः अष्टौ सात्त्विका इति त्रिभेदाः। एवमेते काव्यरसाभिव्यक्तिहेतवः एकोनपंचाशद् भावाः प्रत्यवगंतव्याः। एभ्यश्चसामान्यगुणयोगेन रसा निष्पद्यन्ते। ना० शा० ७।६।

अभिनयों की सहायता से भाव रसों का भावन करते हैं अर्थात् बहुविध द्रव्यों से जैसे व्यंजन बनता है, वैसे ही अभिनययुक्त बहुविध भाव रसों की निष्पत्ति करते हैं।'[1]

(२) विभावों, अनुभावों और वाचिक, आंगिक अभिनयों से जिस काव्यार्थ की प्रतीति होती है, वह भाव है।

'विभावों से उत्पन्न काव्यार्थ अनुभावों तथा वाचिक, आंगिक एवं सात्त्विक अभिनयों से प्रतीत होता है, इसलिए इसे ही अर्थात् काव्यार्थ को ही 'भाव' कहा जाता है।'[2]

(३) कवि के 'अन्तर्गत-भाव' की संज्ञा भी भाव ही है।

'वाचिक, आंगिक, सात्त्विक एवं मुखराग के अभिनय से कवि के 'आन्तरिक भाव' का भावन कराने से वह भाव कहलाता है।'[3]

भाव-प्रकाशनकार भाव शब्द के अर्थ 'भावनं', 'भूतिः', 'भावयति' तक व्याप्त देखते हैं। और उनमें 'पदार्थ', 'क्रिया', 'सत्ता', एवं 'मनोविकार' को समाविष्ट करते हैं। (ये अर्थ 'भाव' शब्द के ऊपर आलोकित कोशगत एवं व्युत्पत्तिलभ्य अर्थों के ही समान एवं समीप हैं)। उन्होंने इन अर्थों के आधार पर भाव के पांच भेद किये हैं :[4]

(१) विभाव, (२) अनुभाव, (३) स्थायी भाव, (४) व्यभिचारी भाव, (५) सात्त्विक भाव।

उन्होंने दशरूपककार का[5] अनुसरण करते हुए आश्रय की अनुभूति से सामाजिक के मन के तादात्म्य को भी 'भाव' स्वीकार किया है।[6]

---

१. नानाभिनयसंबद्धान् भावयन्ति रसानिमान्।
यस्मात्तस्मादमी भावा विज्ञेया नाट्ययोक्तृभिः॥
नानाद्रव्यैर्बहुविधैर्व्यजंनं भाव्यते यथा।
एवं भावा भावयन्ति रसानभिनयः सह॥ ना० शा० ६।३४-३५।

२. विभावेराहृतो योऽर्थोऽनुभावैस्तु गम्यते।
वागंगसत्त्वभिनयेः स भाव इति संज्ञितः॥ ना० शा० ७।१।

३. वागंगमुखरागेण सत्त्वेनाभिनयेन च।
कवेरन्तर्गतं भावं भावयन् इति भाव उच्यते॥ ना० शा० ७।२।

४. भावस्याद्भावनं भूतिरथ भावयतीति वा।
पदार्थो वा क्रिया वा सत्ता विकारोमानसोऽथवा॥
विभावाश्चानुभावाश्च स्थायिनो व्यभिचारिणः।
सात्त्विकाश्कैति कथ्यन्ते भावा भेदाश्च पंचधा॥ (भा० प्र० १—अधिकार)

५. सुखदुःखादिकैर्भावैर्भावस्तद्भावभावनम्। द० रू० ३।

६. रामाद्याश्रयदुःखादेरनुभूतेस्तदात्मता।
सामाजिकस्य मनसो या स भाव इति स्मृतः॥ (भा० प्र० परिशिष्ट)

उपर्युक्त से स्पष्ट है कि नाट्यशास्त्र पर जिन आचार्यों ने दृष्टि रखी है, उन्होंने 'भाव' शब्द का एकान्ततः 'आन्तरिक भाव' अर्थ ग्रहण नहीं किया है, अपितु 'आन्तरिक भाव' के अतिरिक्त काव्यार्थ तथा रस-निर्माण में सहायक तत्त्वों के रूप में भी 'भाव' का आशय ग्रहण किया है। परन्तु इन आचार्यों द्वारा प्रतिपादित 'भाव के स्वरूप' में तथा भरतोत्तर रस-ध्वनिवादी संस्कृत आचार्यों द्वारा प्रतिपादित 'भाव स्वरूप' में एकान्त साम्य नहीं है।

दशरूपककार ने ऊपर बताये आचार्यों के 'भाव' सम्बन्धी व्यापक अर्थ को त्याग कर मुख्य रूप से 'आन्तरिक भाव' या चित्तवृत्ति अथवा मनोविकार[1] ही का अर्थ ग्रहण किया।

---

१. मेरे द्वारा यहाँ पर 'आन्तरिक भाव' के लिए 'चित्त-वृत्ति', 'मनोविकार' शब्द प्रथम बार प्रयुक्त किये गये हैं। आगे के आचार्य प्रायः 'चित्त वृत्ति' शब्द का प्रयोग करते हैं, अतः 'चित्त वृत्ति' शब्द का आशय स्पष्ट करना उपयुक्त होगा, साथ ही 'मनोविकार' का भी।

अमर कोष में 'चित्तं' को 'मनः' कहा है। अर्थात् उनके मत से चित्त और मन एक ही है।

'चित्तं' शब्द में 'चित्' धातु है जिसके अर्थ होते हैं—(१) पहचानना, देखना। (२) समझ लेना, जान लेना। (३) सचेत होना, होश में आना। (४) प्रकट होना, प्रदीप्त होना। —सं० श० कौ० 'चित्त' शब्द।

'शब्द-कल्पद्रुम' : में 'चित्तं' शब्द की व्युत्पत्ति दी है। चित्+करणेक्तः अर्थात् जिससे चेत (ज्ञान) किया जाए, उसका नाम चित्त है। वहीं आधिभौतिक रूप में 'चित्त' की संज्ञा 'महान्', अध्यात्म-रूप में 'चित्तं', उपास्य रूप में 'वासुदेवः' दी गयी है। अध्यात्म चित्त का अधिष्ठाता क्षेत्रज्ञ (जीव या आत्मा) बताया गया है।

'वृत्तिः' के निम्नलिखित अर्थ कोश में दिए गए हैं—(१) अस्तित्व। (२) परि-स्थिति। (३) दशा, हालत। (४) क्रिया-कर्म, विधान। (५) तौर, तरीका, ढंग। (६) चाल-चलन। (७) व्यवहार आदि। —सं० श० कौ०, 'वृत्ति' शब्द।

अतः 'चित्त वृत्तिः' (संस्कृत) अथवा 'चित्त वृत्ति' (हिन्दी) शब्द के अर्थ हुए 'जीव के द्वारा नियुक्त चेत करने वाली आन्तरिक इन्द्रिय की क्रिया, रीति, आचरण, व्यवहार, परिस्थिति अथवा अस्तित्व। क्योंकि साहित्याचार्यों ने 'मनस्' को, अन्तःकरण को, 'चित्त' के समकक्ष ही माना है, अतः सामान्यतः 'चित्त वृत्ति' और 'मनोवृत्ति' प्रायः समानार्थक हैं। फिर भी 'मनस्' का स्वरूप विवेचन करना अपेक्षित है।

'मनस्' शब्द में 'मन्' धातु है जिसके अर्थ होते हैं 'अहंकार करना' और 'मनन करना'।

कोश में 'मन' के विषय में निम्नलिखित सूचना दी गई है—मनस्=(१) मन। हृदय। बुद्धि। प्रतीति। प्रतिभा। (२) 'न्याय' में मनस् को एक अप्रत्यक्ष द्रव्य और आत्मा या जीव से भिन्न माना है।

फिर जहाँ भरत मुनि ने 'कवेरन्तर्गतं भावं' को भाव कहा तो वहाँ धनिक ने भावक या सहृदय

(३) वैशेषिक दर्शन में 'मनस्' को एक अप्रत्यक्ष द्रव्य माना है और संख्या, परिणाम, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व और संस्कार मन के गुण बताये गये हैं। मन अणुरूप है।

(४) मनस् प्राणियों में वह शक्ति है जिसके द्वारा उनको 'वेदना', 'संकल्प', 'इच्छा', 'द्वेष', 'प्रयत्नबोध' और 'विचार' आदि का अनुभव होता है। —दे० सं० श० कौ०।

योगसूत्र में मन की पाँच वृत्तियाँ बतायी गयी हैं—(१) प्रमाण (प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द)। (२) विपर्यय। (३) विकल्प। (४) निद्रा। (५) स्मृति।

—दे० दर्शन दिग्दर्शन, पृष्ठ ६५०

योगाचार भूमि में असंग ने मनस् के तीन स्वरूप (स्वभाव) बताये हैं—(१) चित्त, (२) मन और (३) विज्ञान। (१) चित्त सारे मूल कारणों वाला आश्रय-स्वरूप आलय-विज्ञान (विज्ञान-समष्टि) है। (२) मन सदा अविद्या, 'मैं आत्मा हूँ' इस दृष्टि, अस्मिमान और तृष्णा इन चार क्लेशों से युक्त रहता है। (३) विज्ञान वह आलम्बन-विषय है जो क्रिया में उपस्थित होता है।

अतः मनोभाव या वृत्ति का अर्थ हुआ—चित्त और मन तथा उसकी क्रियाएँ।

मनस्, बाह्य-इन्द्रियों के विज्ञान का समनन्तर आश्रय है, अर्थात् बाह्य-इन्द्रियों के विज्ञानों (विषयों) की उत्पत्ति हो जाने के अनन्तर वही इन विज्ञानों का आश्रय होता है।

मनस् का आलम्बन (विषय) पाँचों इन्द्रियों के पाँचों विज्ञान है।

मनस् के सहाय—

मन के सहाय बहुत हैं जिनमें से कुछ हैं—मनस्कार, स्पर्श, सम्पर्क (अंग्रेजी में कॉन्टेक्ट), वेदना, संज्ञा, चेतना, स्मृति, प्रज्ञा, श्रद्धा, लज्जा, निर्लज्जता, अलोभ, अद्वेष, अमोह, पराक्रम, उपेक्षा, अहिंसा, राग, सन्देह, क्रोध, ईर्ष्या, शठता, हिंसा आदि चैतसिक धर्म।

मनस् के कर्म—(१) अपने पराये विषयों सम्बन्धी क्रिया। यह छः प्रकार से प्रकट होती है (क) विषय के सामान्य स्वरूप की विज्ञप्ति। (ख) फिर उसके तीनों कालों की विज्ञप्ति। (ग) फिर क्षणों के क्रमों की विज्ञप्ति। (घ) फिर प्रवृत्ति या अनुवृत्ति, शुद्ध, अशुद्ध धर्म-कर्मों की विज्ञप्ति। (च) फिर इष्ट अनिष्ट फल का ग्रहण। (छ) दूसरे विज्ञान-समुदायों का उत्थापन।

दूसरे प्रकार से लेने पर मन के कर्म, विशेष (वैशेषिक) कर्म होते हैं—(१) विषय की विकल्पना। (२) विषय का उपनिध्यान (चिन्तन)। (३) मद में होना। (४) उन्माद में होना। (५) निद्रा में जाना। (६) जागना। (७) मूर्छा में जाना। (८) मूर्छा से उठना। (९) कायिक वाचिक कर्मों का करना। (१०) वैराग्य करना। (११) वैराग्य

में अनुभूयमान सुख-दुःख की भावना को भाव माना है।[१] भाव को सहृदय या कवि की चित्त-वृत्ति या मनोभाव रूप ही मानने की प्रवृत्ति संस्कृत साहित्य शास्त्र में बढ़ती ही गयी। आचार्य अभिनवगुप्त ने तो भाव को एकान्ततः चित्तवृत्ति या मनोभाव ही ग्रहण करना ठीक माना। उनके शब्दों में 'हम तो कहते हैं, भाव शब्द से तो चित्तवृत्ति विशेष ही कही गयी है, इसके अतिरिक्त जो ऋतु-माल्यादि विभाव हैं, और बाह्य अश्रु आदि अनुभाव हैं, वे भाव शब्द से सूचित नहीं है।'[२] अभिनवगुप्त का अनुगमन करने वाले रस-ध्वनिवादी मम्मट,[३] विश्वनाथ[४], पण्डितराज[५] जगन्नाथ आदि आचार्यों ने भाव शब्द का प्रयोग एकान्ततः चित्तवृत्ति या मनोभाव के अर्थ में ही किया। एक और आचार्य की परिभाषा शब्दकल्पद्रुम में 'भाव' शब्द में उद्धृत हैं, इसमें भी 'भावों' को 'चित्तवृत्ति' रूप ही माना है, जो विभाव से उत्पन्न होकर शरीर-इन्द्रिय-वर्ग के विकारों के विधायक कहे गये हैं।[६]

रसतरंगिणीकार भानुदत्त की परिभाषा को यहाँ विशेष रूप से लक्षित करना आवश्यक है, क्योंकि हिन्दी के रीतिकालीन परम्परावादी आचार्यों में से बहुतों ने उनका अनुगमन किया है। उन्होंने भरतमुनि के 'भाव' शब्द के आशय को ग्रहण करते हुए 'भाव' को द्विविध—आन्तर एवं बाह्य माना[७] तथा उसमें स्थायिभावों, व्यभिचारी भावों एवं सात्त्विक भावों को

छोड़ना। (१२) भलाई की जड़ों को काटना। (१३) भलाई की जड़ों को जोड़ना। (१४) शरीर छोड़ना। (१५) शरीर में आना (उत्पत्ति)।

इन कर्मों में से कुछ के होने के बारे में असंग कहते हैं—'पुरबिले कर्मों से अथवा शरीरधातु की विषमता, भय, मर्मस्थान में चोट और भूत-प्रेत के आवेश से 'उन्माद' होता है।'

शरीर की दुर्बलता, परिश्रम की थकावट, भोजन के भारीपन आदि कारणों से 'निद्रा' होती है। —देखिए द० दि० पृष्ठ ७२१।

१. अनुकार्याश्रयत्वेनोपनिबध्यमानैः सुखदुःखरूपैर्भावैस्तद्भावस्य भावकचेतसो भावनं वासनं भावः। —द० रू० ४।४।

२. 'वयं तु ब्रूमः भावशब्देन तावच्चित्तवृत्तिविशेषा एवं विवक्षिताः···ये त्वेते ऋतुमाल्यादयो विभावा बाह्याश्च वाष्पप्रभृतयोऽनुभावा एकान्त जड़ स्वभावाः ते न भाव शब्द व्यपदेश्याः। —अभि० भा०—पृष्ठ ३४२।

३. देखिए, का० प्र० ४।३५।

४. देखिए, सा० द० ३।२६०-२६१ एवं ३।६३

५. देखिए, रगंध०, रसध्वनि प्रकरण एवं भावध्वनि प्रकरण।

६. शरीरेन्द्रिय वर्गस्य विकाराणां विधायकाः।
भावा विभावजनिता चित्तवृत्तय ईरिताः॥

७. देखिए, र० तरं०, पृष्ठ ८।

समेट लिया है। उन्होंने 'भाव' शब्द की परिभाषा 'रसानुकूलो विकारो भावः' कहकर और 'विकार' को 'अन्यथा भाव' कहकर स्पष्ट किया है।[१]

हिन्दी के रीतिकालीन परम्परावादी आचार्यों ने अपना निज का कोई विचार प्रायः नहीं दिया। उन्होंने अपने पूर्व के संस्कृत आचार्यों के विचारों वा आशयों का ही पुनराख्यान किया है। इन सब आचार्यों के 'भाव-स्वरूप-निरूपण' को तीन वर्गों में रखा जा सकता है—

१. इनमें पहले वर्ग के वे आचार्य आते हैं जिन्होंने भाव की परिभाषा भरतमुनि और शारदातनय[२] का अनुगमन करते हुए की है, केशवदास इनमें प्रमुख हैं। भरतमुनि के अनुसार वे 'भावों' को कवि की हृदयस्थ बात मानते हैं। जिनकी अभिव्यक्ति आनन, लोचन, वचन आदि के मार्ग से होती है।[३] और साधन रूप में 'भाव' की परिभाषा देते हुए उन्होंने उसे शारदातनय का अनुगमन करते हुए पंचधा विभक्त किया है : विभाव, अनुभाव, स्थायीभाव, व्यभिचारी भाव एवं सात्विक भाव में।[४]

२. दूसरे वर्ग में वे आचार्य आते हैं जो भाव की परिभाषा करते हुए मुख्य रूप से 'अभिनव गुप्त' का अनुगमन करते हुए 'भाव' को वासनारूप चित्तवृत्ति या मनोविकार मानते हैं। इनमें प्रमुख आचार्य चिन्तामणि, वेणी प्रवीण, तथा कुलपति मिश्र आदि हैं। चिन्तामणि ने कहा है—"भाव कारण हैं और वासनारूप मनोविकार हैं।"[५] वेणीप्रवीण कहते हैं, "विषय और वासना से कुछ चित्त-विकार उत्पन्न हो तो उसे भाव कहते हैं।"[६]

कुलपति मिश्र भाव का लक्षण इस प्रकार देते हैं, 'वासना रूप से निश्चल इच्छा हृदय में रहती है, अतः 'भाव' वासना रूप है और जब तक (उद्बुद्ध होकर) यह हृदय में रहता है, तब तक सब वृत्तियों का शासन करता है।'[७]

---

१. देखिए र० तरं० पृष्ठ ६।

२. ऊपर 'भाव' का विवेचन देखिए।

३. आनन लोचन वचन मग प्रकटतहिय की बात।
ताहीं सो सब कहत हैं भाव कविनि के तात॥ र० प्रि० ६।१।

४. भाव सु पंच प्रकार के सुनि विभाव अनुभाव।
थाई सात्त्विक कहत हैं, व्यभिचारी कविराव॥ र० प्रि० ६।२।

५. मन विकार कहिं भाव सों करन वासना रूप। —क० कु० क० ५।५०।

६. विषै बासना ते कछू उपजै चित्त विकार।
ताही सों सब कहत हैं भाव कविनि करतार॥ न० र० त०दोहा--२८४।

७. हियो रहै जब लगि रहे सब वृत्तिन को भूप।
निश्चल इच्छा वासना भाव वासना रूप॥ र० रह० ३।१०।

३. तीसरे वर्ग के वे आचार्य हैं जो भानुदत्त का अनुगमन करते हुए भाव को रस के अनुकूल विकार मानकर उसके 'आन्तर' और 'बाह्य' दो भेद करते हैं। इनमें प्रमुख आचार्य हैं गुलामनवी, महाकवि देव तथा प्रताप साहि आदि।

गुलामनवी ने भाव का लक्षण दिया है 'जो रस के अनुकूल होकर सहज स्वभाव से, अवशात् अपने स्वरूप को बदले—उसे भाव कहते हैं।'[1] महाकवि देव ने रसों का कारण भावों को बताया है और कहा है, 'उसके (रस के) कारण भाव हैं जिनको जान लेने से शृंगार रस का ज्ञान होता है।[2] प्रतापसाहि ने 'रसतरंगिणीकार' के वचन को यथावत् एक स्थान पर उद्धृत करके अन्यत्र उसका उल्था भी दिया है।[3]

आधुनिक हिन्दी काव्यशास्त्र में बहुत कम आचार्यों ने 'भाव' की व्याख्या की है। जिन्होंने की है, उनमें आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डा० श्यामसुन्दरदास, डा० नगेन्द्र एवं डा० गुलाब राय के मत विशेष रूप से उल्लेख्य हैं।

आचार्य शुक्ल के युग में अंग्रेजी के 'इमोशन' के समरूप 'भाव' को ग्रहण किया जाने लगा था और कई आचार्यों ने जिनमें विशेष रूप से डॉ० भगवानदास प्रमुख थे, इसका अनुवाद 'इमोशन' शब्द से किया था।[4] और पाश्चात्य मनोविज्ञान के 'इमोशन' को दृष्टि में रखकर 'भाव' की व्याख्या करने का प्रयत्न आचार्यों ने किया तथा उसकी कसौटी पर पूरा न उतरने पर भरत के नाट्यशास्त्र पर उन्हें रीझ-खीज होती रही। अंग्रेज़ी 'इमोशन' शब्द के अन्तर्गत बुद्धिव्यापार, अनुभाव, एवं सात्त्विक भावों में निहित शारीरिक चेष्टाओं या अवस्थाओं का समावेश नहीं किया जाता।

आचार्य शुक्ल ने 'भाव' स्वरूप के निर्धारण में पाश्चात्य मानस शास्त्र का, विशेष रूप से शैंड के 'इमोशन' के प्रतिपादन का आधार ग्रहण किया है।[5] परन्तु उन्होंने अपने 'भाव

---

१. जौ रस कौ अनुकूल है, बदले सहज सुभाव।
बिन बसि ताको भाव कहि भाषत है कविराव॥ र० प्र०, भावलक्षण।

२. ताके कारण भाव हैं तिनको करत विचार।
जिनहि जान जान्यो परे, सुखदायक शृंगार। —भा० वि०, भावलक्षण।

३. रसानुकूलो विकारो भाव—यह भाव को मुख्य लक्षण है।
—का० वि०, ३ प्रकाश।

रसानुकूल विकार जो होत, तासों भाव कहत कवि गोत।
—शृं० वि०, भावलक्षण।

४. डा० भगवानदास ने भाव-विषयक अपने ग्रन्थ को अंग्रेजी नाम ही 'सायन्स आफ इमोशन्स' दिया।

५. 'शैंड का भाव लक्षण ही शुक्लजी के भाव लक्षण का स्रोत है'—डॉ० रामलाल सिंह, 'आचार्य शुक्ल के समीक्षा सिद्धान्त' पृष्ठ ३४६।

लक्षण' को इतना व्यापक बनाया कि उसमें स्थायीभावों के अतिरिक्त व्यभिचारी भावों एवं सात्त्विक भावों सहित अनुभावों का भी सहज अन्तर्भाव हो जाता है। शैंड का आधार लेकर शुक्लजी ने आरम्भ में भाव के तीन अंग माने हैं और उनकी व्याख्या इस प्रकार की है :[1]

१. (भाव का) वह अंग जो प्रवृत्ति या संस्कार रूप में अन्तस्संज्ञा में रहता है। (वासना)

२. (भाव का) वह अंग जो विषय-बिम्ब के रूप में चेतना में रहता है और भाव का प्रकृत स्वरूप है (भाव, आलम्बन आदि की भावना)। (शुक्लजी का तात्पर्य यहाँ विषय के सम्पर्क में आने के उपरान्त चित्त में विषय के सम्बन्ध से हुए भावना व्यापार से है)।

३. (भाव का) वह अंग जो आकृति या आचरण में अभिव्यक्त होता है और बाहर देखा जा सकता है (अनुभाव और नाना प्रयत्न)।

शुक्लजी ने इन तीनों अंगों की व्याख्या इस प्रकार की है—

'इनमें से प्रथम का वह अंश जो पितृ-परम्परा के बीच उत्तरोत्तर बद्धमूल होता आया है और विषय-सम्पर्क होते ही उत्तेजित होकर सदा एक ही ढंग की क्रिया (जैसे सिकुड़ना, भागना, छिपना) उत्पन्न करता है, वासना या संस्कार कहलाता है। दूसरे के अन्तर्गत आलम्बन के प्रति अनुभूति विशेष के बोध के अतिरिक्त अनेक प्रकार की भावनाएँ और विचार भी आ जाते हैं। इस रीति से किसी एक भाव के अधिकार में उच्च और निम्न श्रेणी की अन्त.करण-वृत्तियों और शरीर व्यापारों का विधान मिलता है। विवेकात्मक बुद्धि-व्यापार भी 'भावों' के शासन के भीतर आ जाते हैं।'[2] शुक्लजी ने यद्यपि 'भाव' शब्द की व्याख्या के लिए शैंड का आधार ग्रहण किया है, परन्तु उनके निर्धारित 'भाव लक्षण' की व्याप्ति 'इमोशन' शब्द तक न रहकर भरतमुनि के भाव-लक्षण के समरूप है। उनका 'भाव लक्षण' है—

'प्रत्ययबोध, अनुभूति और वेगयुक्त प्रवृत्ति—इन तीनों के गूढ़ संश्लेष का नाम भाव है।'[3]

आचार्य शुक्ल ने आगे और स्पष्ट किया है कि 'मन के प्रत्येक वेग को 'भाव' नहीं कह सकते, मन का वही वेग भाव कहला सकता है जिसमें चेतना के भीतर आलम्बन आदि प्रत्यय रूप से प्रतिष्ठित होंगे।'[4] और भी '‥‥ प्रत्यय विधान का एक निर्दिष्ट लक्ष्य हुआ करता है और भाव एक मानसिक शारीरिक विधान या व्यवस्था है।'[5] यों शुक्लजी ने सभी

---

१. 'रस मीमांसा' पृष्ठ १६४; और भी देखिए—'फाउण्डेशन आफ केरेक्टर' पृष्ठ १८८।
२. र० मी०, पृष्ठ १६४।
३. र० मी०, पृष्ठ १६८।
४. र० मी०, पृष्ठ १६८।
५. र० मी०, पृष्ठ १६६।

शारीरिक विकारों को 'भाव' के अन्तर्गत नहीं रखा, अपितु वे उन्हीं शारीरिक विकारों को भाव के अन्तर्गत लेते हैं जिनका किसी न किसी 'मनोवेग' से सीधा सम्बन्ध है ।[१]

भाव-स्वरूप के विषय में डॉ० श्यामसुन्दरदास ने भारतीय एवं पाश्चात्य मान्यताओं का पृथक्-पृथक् विवेचन किया है । स्वयुगीन पाश्चात्य मानसशास्त्र के अनुसार इन्होंने भाव को (इमोशन को) 'मानसिक जीवन का अंग-स्वरूप तथा उसमें सदैव व्याप्त रहने वाला' बताया है । ये भाव की परिभाषा के विषय में लिखते हैं—'भाव प्रत्येक व्यक्ति की अन्तरात्मा का एक विशेष धर्म है । अतएव शब्दों की सहायता से इस बात का वर्णन करना असम्भव है कि वास्तव में भाव क्या है ? मनुष्य उनका (भावों का) अनुभव कर सकता है, परन्तु उसके (भाव के) वास्तविक स्वरूप का वर्णन नहीं कर सकता ।'[२]

अतः इनके मत से भाव अन्तरात्मा का विशेष धर्म है जो अनुभवगम्य है, परन्तु अनिर्वचनीय है । आगे ये मन की इच्छाओं के आधार पर पाश्चात्य मानसशास्त्रानुसार भावों को तीन श्रेणियों में विभक्त करते हैं—

(१) इन्द्रियजनित भाव, (२) प्रज्ञाजनित भाव एवं (३) गुणात्मक भाव ।[३]

इनकी व्याख्या के अनुसार इन्द्रियों का वस्तुओं से सन्निकर्ष अथवा सामीप्य होने से जो विशिष्ट ज्ञान होता है, उसके द्वारा इन्द्रियजनित भावों की निष्पत्ति होती है। इन इन्द्रिय-जनित भावों को 'प्रज्ञात्मक भाव' त्रिकालिक— वर्तमान, भूत एवं भविष्य के, अनुभवों से पुष्ट करते हैं । ये भाव मन की ज्ञान तथा अनुभव संचय करने वाली शक्तियों से विशेष रूप से सम्बन्धित होते हैं और त्रिकालिक अनुभवों के द्वारा इन्द्रियजनित भावों का संवर्धन करते हैं । उदाहरण देकर इन्होंने स्पष्ट किया है जैसे कोई अपराधी व्यक्ति जब अपने अपराध पर विचार करने लगता है तब उसमें 'विषाद', 'जड़ता' आदि भावों की उत्पत्ति होती है । डॉ० श्याम-सुन्दरदास के मत में प्रस्तुत 'प्रज्ञात्मक भाव' साहित्य में संचारी भाव (व्यभिचारी भाव) कहलाते हैं । गुणात्मक भाव विशिष्ट आलम्बन को लेकर उत्पन्न होते हैं । 'अतः इनमें अनुराग की तीव्रता होती है ।'

व्यक्तिविषयक भाव को भी इन्होंने दो वर्गों में, प्रज्ञात्मक एवं सौन्दर्यविवेकी में विभाजित किया है । इनके मत से मन के नये अनुभव करने की इच्छा को जो संतृप्त करने वाली वृत्ति है, उसे प्रज्ञात्मक भाव कहते हैं । वस्तुओं में जो सौन्दर्यगुण रहता है, उसे प्राप्त करने या तज्जनित आनन्द का अनुभव करने की इच्छा ही को 'सौन्दर्यविवेकी' भाव कहते हैं।[४]

अन्त में डॉ० श्यामसुन्दरदास ने पाश्चात्य भाव-वर्गीकरण एवं संस्कृत साहित्य शास्त्र में 'भाव' वर्गीकरण में नितान्त सामान्य एवं स्थूल रूप में साम्य दिखाने का प्रयत्न किया है ।[५] यथा—'अस्तु दार्शनिकों के मत से भाव तीन प्रकार के होते हैं—इन्द्रिय जनित, प्रज्ञात्मक

---

१. र० मी०, पृष्ठ २२५ । २. साहित्यालोचन, पृष्ठ २११ ।
३. वही, पृष्ठ २१५ । ४. वही, पृष्ठ २१५ । ५. साहित्यालोचन, पृष्ठ २१९ ।

और रागात्मक। जिस वस्तु से यह भाव व्यंजित होताहै, वह आलम्बन विभाव कहाती है, विभाव के कारण मन में जो विकार उत्पन्न होता है, वह शरीर की क्रियाओं द्वारा प्रकट होता है, जैसे रोमांच, स्वेद आदि। इन्हें अनुभाव कहते हैं। जो भाव मुख्य भावों की पुष्टि करते हैं और समय-समय पर मुख्य भाव का रूप धारण कर लेते हैं, उन्हें संचारी (व्यभिचारी) भाव कहते हैं। अतएव स्थायी या मुख्यभाव, विभाव, अनुभाव और संचारी (व्यभिचारी) भाव, ये चारों मिलकर रस को अभिव्यक्त करते हैं।[१]

डॉ० श्यामसुन्दरदास ने पाश्चात्य भाव-वर्गीकरण और संस्कृत आचार्यों के भाव-वर्गीकरण का पृथक्-पृथक् परिचय उपस्थित कर दिया है। न उनको नितान्त समरूप दिखाया है, न दोनों में आत्यन्तिक भिन्नता का प्रतिपादन ही किया है। पाश्चात्य मानव-शास्त्रियों के आलोक में 'भाव' की व्याख्या 'इमोशन' रूप में करने पर सात्त्विक भावों को 'भाव' में समाविष्ट करना संगत है, अथवा असंगत अथवा कहाँ तक संगत है, आदि प्रश्नों को इन्होंने नहीं उठाया, अतः उसका समाधान भी प्रस्तुत नहीं किया। भरत मुनि का आधार लेकर भी इन्होंने भाव की परिभाषा इस प्रकार दी है, 'भाव मन के विकारों को कहते हैं।'[२]

डॉ० नगेन्द्र ने 'भाव' को 'इमोशन' के अर्थ में ही ग्रहण किया है। उन्होंने कहा है, 'संस्कृत साहित्यशास्त्र का आचार्य 'भाव' को सिद्ध मान कर चला है—अतएव उसने प्रकृत भाव (इमोशन) की परिभाषा नहीं की।[३] उन्होंने पाश्चात्य मानस-शास्त्रियों की 'इमोशन, की परिभाषा का आधार ग्रहण करके भाव-स्वरूप की परिभाषा इस प्रकार दी है 'बाह्य जगत् के संवेदनों से मनुष्य के हृदय में जो विकार उठते हैं, वे ही मिलकर भाव की संज्ञा प्राप्त करते हैं'[४] अपनी परिभाषा के समर्थन में उन्होंने मेलन तथा ड्रमण्ड के भाव वर्णन का सार अनुवाद करके उद्धृत किया है—

"(स्थूलतः यह कहा जा सकता है कि) विशेष बाह्य स्थितियों के संवेदन—अथवा स्मृति एवं कल्पना के स्वतन्त्र विचारों द्वारा जागृत मनोदशा ही 'भाव' है जिसके दो प्रधान गुण हैं, अनुभूति और प्रयत्न।'[५]

उन्होंने डॉ० मैक्डूगल का आधार लेकर कहा है, "हमारी किसी स्वाभाविक-वृत्ति (इंस्टिंक्ट) के जागृत होते ही, उस वृत्ति के अनुकूल पेशियों और स्नायुओं में ओज का संचरण होने लगता है। ओज संचरण की यह अवस्था उत्तेजना की अवस्था होती है और प्रत्येक परिस्थिति में इस उत्तेजना में एक ऐसी विशिष्टता वर्तमान रहती है जिसके कारण हम उसे भय, क्रोध, घृणा आदि का पृथक् नाम दे सकते हैं। यहां 'स्वाभाविक वृत्ति की जागृति' और 'उत्तेजना में निहित विशिष्टता', दोनों भाव के मानसिक रूप का वर्णन करते हैं और 'स्नायु एवं पेशियों में ओज का संचरण' उसके शारीरिक रूप का द्योतन।"[६]

---

१. वही, पृष्ठ २१६। २. वही, पृष्ठ २१८।

३. री० भूमिका, १६४६ संस्करण, पृष्ठ ७०।

४. री० भूमिका पृष्ठ ६६। ५. री० भूमिका, पृष्ठ ६६। ६. वही, पृष्ठ ६६।

डॉ० नगेन्द्र कहते हैं, इन मानसिक और शारीरिक रूपों के अतिरिक्त भाव के लिए कुछ परिस्थितियां भी अनिवार्य हैं—

१. भाव के विषय की सत्ता अवश्य होगी—क्योंकि भाव वास्तव में वस्तु अर्थात् विषय के प्रति विषयी की मानसिक प्रतिक्रिया होती है।

२. भाव का सुखात्मक अथवा दुःखात्मक आस्वादन निश्चय रूप में होगा।

३. इस मानसिक प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप कुछ प्रयत्न भी अनिवार्यतः होगा।

४. भाव की शारीरिक अभिव्यक्ति अवश्य होगी अर्थात् स्नायु और पेशियों के परिवर्तनस्वरूप शरीर में विकार उत्पन्न होंगे।

५. किसी एक भाव की स्थिति निरपेक्ष नहीं रह पायेगी—उसमें अनेक विकार उत्पन्न होंगे।[1]

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि डॉ० नगेन्द्र 'भाव' को 'मानसिक प्रतिक्रिया' ही स्वीकार करते हैं और उससे उत्पन्न 'शारीरिक विकारों' (=सात्त्विक भावों, अनुभावों) को मानसिक क्रिया का परिणाम।

उन्होंने जेम्स, मैग्डूगल आदि का मत व्यक्त किया है कि "भाव का मानसिक रूप शारीरिक रूप का परिणाम है, अर्थात् शरीर की प्रतिक्रियाओं के कारण मन की प्रतिक्रिया जन्म लेती है।"[2]

स्टाउट ने इसका खण्ड किया और अपना मत रखा कि मानसिक प्रतिक्रियाओं के कारण शारीरिक प्रतिक्रियाएं जन्म लेती हैं। उन्होंने बताया कि 'जेम्स-लाज' आदि का वाद शारीरिक संवेदनों तक ही उपयुक्त ठहरता है। डॉ० नगेन्द्र के मत में भारतीय आचार्य को यही मत ग्राह्य था। उनके शब्दों में "भारतीय दर्शन में यह दूसरा मत ही ग्रहण किया गया है। चेतना की पृथक् सत्ता स्वीकार करने वाले के लिए यही मत ग्राह्य हो सकता है।"[3] परन्तु साहित्याचार्यों ने विशिष्ट-विशिष्ट 'भावों' के विभावों के अन्तर्गत शारीरिक विकार और मानसिक विकार दोनों का ही वर्णन किया है।[4] अतः स्पष्ट लक्षित होता है कि भारतीय साहित्याचार्य को दोनों ही स्थितियां स्वीकार थीं।

आधुनिक मनोविज्ञान में इस विषय में 'सक्रियकरण' सिद्धान्त सर्वस्वीकृत है जिसमें आंगिक अभिव्यक्तियों तथा शारीरिक परिवर्तनों को आवश्यक माना है और आकस्मिक शक्ति प्रदान करने के लिए सत्त्व (हाइपोथेलेमस) का महत्त्व तथा प्रेरणा प्रदान करने के लिए सहानुभूतिक नाड़ी-मण्डल का योगदान स्वीकार किया गया है।[5] भारतीय साहित्याचार्य के मनोभाव की कल्पना में यही स्थिति लक्षित होती है।

---

१. वही, पृष्ठ ७०। २. वही, पृष्ठ ७०। ३. वही, पृष्ठ ७०।
४. आगे देखिए 'निद्रा', 'उन्माद' आदि का विवेचन। ५. सा० म० रू०, पृष्ठ ३७२।

डॉ० गुलाबराय मनोविज्ञान के भाव (इमोशन) और साहित्य के भाव में परस्पर भिन्नता मानते हैं। उनका मत है कि साहित्य का भाव 'मन के उस विकार को कहते हैं, जिसमें सुख-दुःखात्मक अनुभव के साथ कुछ क्रियात्मक प्रवृत्ति भी रहती है। यह 'मनोवेग' (इमोशन) का एक व्यापक रूप होता है, जिसमें हलके और गहरे, मन्द और तीव्र, सभी प्रकार के भाव शामिल रहते हैं। इसकी व्यापकता में भाव का क्रियात्मक पक्ष भी वर्तमान रहता है। अनुभाव भी तो भाव ही कहलाते हैं।"[1]

युगसीमाओं तथा चिन्तनप्रणालियों की भिन्नता आदि अनेक कारणों से मानस-शास्त्र निरूपित संवेग (इमोशन) तथा भारतीय 'भाव' निरूपण में नितान्त साम्य सम्भव नहीं हो सकता। मराठी-आचार्य श्री दि० के० वेडेकर ने अपने 'रस सिद्धान्त का स्वरूप विवेचन' में भारतीय काव्यशास्त्र के भाव शब्द की सुविस्तृत व्याख्या की है और यह स्थापना की है कि 'नाट्यभाव' कविमनस्थ भावार्थ का अर्थात् पर्याय से काव्यार्थ का 'भावन' करते हैं। अतः 'भाव' का अर्थ आज का मनोभाव (संवेग, अंग्रेज़ी में 'इमोशन') नहीं है।[2] डॉ० काले ने मराठी आचार्य श्री दि० के० वेडेकर द्वारा व्याख्यात 'भाव' का वास्तविक अर्थ इस प्रकार उद्धृत किया है—

"भाव का अर्थ है, शक्तिरूप में समर्थ किसी वस्तु का 'भाव' अर्थात् वस्तु में अंगभूत और विशिष्ट प्रक्रिया से कार्य-प्रवृत्त होने वाली शक्ति।" आगे उनकी व्याख्या का सार यह है, "... वस्तुमात्र की भावरूप शक्ति का तत्त्व भारतीय दर्शन में 'भव' और 'भवानी' (शिव और माया-स्वरूपा पार्वती) इन 'देव-मिथुन' से साकार या प्रत्यक्ष किया गया है। कालान्तर में भाषा में 'भाव' का यह व्यापक अर्थ अत्यन्त संकुचित होता गया और 'भाव' केवल भावनाओं या चित्तवृत्तियों के लिए ही प्रयुक्त होने लगा। मनोभाव मात्र ही 'भावना' बन गयी और अचेतन वस्तुओं में 'भावना' का अभाव समझा गया।"[3]

अतः काव्यशास्त्र का 'भाव' और मनोविज्ञान का मनोविकार (संवेग और अनुभूति) इन दोनों का समीकरण अनुपयुक्त है जैसा कि अनेक आधुनिक विद्वान् 'रस' सिद्धान्त पर विचार करते हुए मानकर चलते अथवा करते हैं। आरम्भ में दिए हुए भाव शब्द के कोशगत एवं व्युत्पत्तिलभ्य अर्थों तथा भरतमुनि एवं शारदातनय की 'भाव' की परिभाषाओं से भी यह पूर्णतया स्पष्ट है। 'भाव' शब्द का अर्थ अभिनवगुप्तपादाचार्य द्वारा मान्य क्रोध, शोक, आदि चित्तवृत्तियों या मनोविकारों तक ही सीमित नहीं है। उसमें स्थायी, व्यभिचारी एवं सात्त्विक भाव तो सम्मिलित हैं ही, कारण और कार्यरूप विभाव एवं अनुभाव भी समाविष्ट होते हैं।

(II) पाश्चात्य भाव (अनुभूति+संवेग+शारीरिक प्रतिक्रिया) चिन्तन

ऊपर दिखाया जा चुका है कि आधुनिक युग में अनेक भारतीय आचार्यों ने 'भाव' को अंग्रेजी 'इमोशन' का पर्याय अथवा सन्निकटवर्ती मान कर उसकी परिभाषा की है। अतः

१. सि० अध्य०, पृष्ठ १७५। २. देखिए, हि० म० का० अध्य० पृष्ठ २१।
३. वही, पृष्ठ २१।

आवश्यक हो जाता है कि पाश्चात्य मनोविज्ञान के अनुसार संक्षेप में परन्तु सुस्पष्ट रूप में 'इमोशन' पर विचार कर लिया जाए।

'इमोशन' शब्द लेटिन भाषा के 'एमोवअर' से बनाया गया है जिसका अर्थ होता है, हिला देना या उत्तेजित कर देना।[1] अतः यह शब्द सामान्य विकार (मनोविकार) मात्र से कुछ अधिक क्रियाशील तथा शक्ति संवेष्टित है। हिन्दी में मनोवैज्ञानिक इसे आज 'भाव' शब्द से नहीं 'संवेग' शब्द से प्रकट करते हैं। पाश्चात्य मनोविज्ञानी इमोशन (संवेग) में 'फीलिंग' जिसका हिन्दी पर्याय 'अनुभूति' है, का अंग स्वीकार करते हैं, अर्थात् 'अनुभूति अङ्ग है और, संवेग उसका अङ्गी। वुडवर्थ प्रत्येक संवेग को एक अनुभूति मानते हैं और उसे अनुभूति की क्षुब्ध अवस्था बताते हैं।[2] अतः दोनों में परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध है। ये दोनों ही स्नायु संस्थान में 'मस्तिष्क के तने' (अंग्रेजी-ब्रेन-स्टेम) पर निर्भर होते हैं। दोनों में निम्नलिखित समानता और भेद हैं—

समानता—

१. दोनों 'स्नायु' संस्थान में 'मस्तिष्क के तने' पर निर्भर होते हैं।

२. दोनों ही सुख दुःखात्मक होते हैं।

भेद

"इस प्रकार सुख, दुःख और क्रोध, प्रेम और उल्लास आदि को अनुभूति भी माना जाता है और संवेग भी।"

परन्तु इतने घनिष्ठ होते हुए भी अनुभूति और संवेग पृथक्-पृथक हैं, उनके अन्तर इस प्रकार हैं—

१. अनुभूति सुख-दुःख की सरल इन्द्रिय-जनित वेदना है, वह संवेदना(अंग्रेजी 'सेंसेशन') से उत्पन्न होती है। परन्तु संवेग अनुभूति से अधिक जटिल होता है। उसकी उत्पत्ति केवल प्रत्यक्ष परिस्थिति से ही नहीं, बल्कि किसी स्मृति या कल्पना से भी हो सकती है। परीक्षा में अनुत्तीर्ण होने की कल्पना मात्र से अच्छा विद्यार्थी अपमान की भावना से उत्तेजित हो जाता है, किसी गन्दी परिस्थिति को याद करके लोग घृणा से भर जाते हैं। संवेग अनुभूति से अधिक जटिल स्तर पर उत्पन्न होता है, अतः उसमें बहुत से नये तत्त्व आ जाते हैं।

२. संवेग अनुभूति से अधिक व्यापक है। अनुभूति संवेग का एक अंग है। संवेग में अनुभूति तो है, परन्तु इसके अलावा कुछ और भी है। संवेग में शरीर की कुछ ग्रंथियाँ विशेष रस का स्राव करती हैं, अनुभूति में इस प्रकार का स्राव नहीं होता। अनुभूति से संवेग की अपेक्षा अधिक सीमित स्नायविक उद्दीपन (न्यूरल-एक्साइट-

---

१. देखिए सा० म० रू० पृष्ठ ३५२।
२. वही, पृष्ठ ३५३। ३. वही, पृष्ठ ३५४।

मेण्ट—अंग्रेज़ी में) होता है। संवेग में किसी विशेष दिशा में क्रियाशील होने की प्रवृति भी आ जाती है।

३. संवेग अनुभूति से अधिक तीव्र होता है, उससे सम्पूर्ण शरीर में उथल-पुथल मच जाती है। संवेग से जीव का सन्तुलन समाप्त हो जाता है और परिस्थिति पर उसका नियन्त्रण नहीं रहता। अनुभूति में भी कुछ अव्यवस्था होती है। गहन अव्यवस्था में संवेग को पहचाना जा सकता है। संवेग में व्यक्ति के व्यवहार में अनुभूति की अपेक्षा अधिक उत्तेजना, उग्रता और अव्यवस्था दिखाई पड़ती है।[1]

संवेग की दशा में जीव ऐसे ऐसे काम करता है जो सामान्य दशा में नहीं कर सकता। परन्तु कभी-कभी संवेग के कारण जीव एकदम स्तम्भित हो जाता है और सामान्य क्रियाएं भी नहीं कर सकता। इन परस्पर विरोधी परिणामों से यह स्पष्ट है कि संवेग की परिभाषा करना कठिन है। वैसे, मनोविज्ञानियों ने संवेग की जो परिभाषाएं दी हैं, उनका सार निम्न-निम्नलिखित है—

"संवेग सम्पूर्ण व्यक्ति का तीव्र उपद्रव है, जिसकी उत्पत्ति मनोवैज्ञानिक कारणों से होती है तथा उसके अन्तर्गत व्यवहार, चेतन, अनुभव और जाठरिक क्रियाएं शामिल होती हैं।" (पी०टी०यंग)[2]

वुडवर्थ लिखते हैं—"संवेग शरीर की आन्दोलित अवस्था है। वह अनुभूति की क्षुब्ध अवस्था है। वह एक अस्तव्यस्त पैशिक और ग्रन्थिक क्रिया है।"[3]

मैक्डूगल ने 'आदि संवेगों' को निश्चित रूप से नैसर्गिक प्रवृत्तिमूलक आवेगों का परिचायक माना है।[4]

संवेगों को मनोविज्ञानियों ने सरल और जटिल दो प्रकारों में विभक्त किया है। सरल संवेग वे हैं, जो बालकों में प्रायः स्वभाव से ही देखे जा सकते हैं और जटिल संवेग सामाजिक परिस्थिति में क्रमशः विकसित होते हैं। उदाहरणतः बालक में 'ईर्ष्या' संवेग घर में दूसरे बालक के जन्म लेने या आने से उत्पन्न होता है और इसी प्रकार 'सहानुभूति' सामाजिक परिस्थिति से उत्पन्न होती है।

संवेगों में शरीर में बाह्य और आन्तरिक परिवर्तन देखे जाते हैं। बाह्य में चेहरे की अभिव्यक्ति, स्वर-अभिव्यक्ति, आसनिक (मुद्रा) अभिव्यक्ति सहज लक्षित होती है। आन्तरिक परिवर्तनों में हृदय गति में, रक्तचाप में, रक्त रसायन में, श्वास गति में, वैद्युतिक त्वक् अनुक्रिया में, रस-परिपाक (पाचन-क्रिया) में तथा मस्तिष्क तरंगों में परिवर्तन आते हैं।

---

१. सा० म० रू० पृष्ठ ३५६-५७। २. वही, पृष्ठ ३५३।

३. सा० म० रू० पृष्ठ ३५३।

४. देखिए (सा० स्ट० रस० में उद्धृत) साइन्स आफ इमोशन, पृष्ठ ५९-६०।

इसके अतिरिक्त स्वतन्त्र-स्नायु-संस्थान (अंग्रेज़ी—आटोमेटिक नर्व्हस सिस्टम में भी परिवर्तन होते हैं। इसका केन्द्र अन्तर्मस्तिष्क के एक भाग 'हाइपोथेलेमस' (सत्त्व) से सम्बन्धित होता है जो सांवेगिक क्रिया को अत्यधिक प्रभावित करता है। इसके (संस्थान के) दो प्रकार हैं—अनुकम्पिक स्नायु संस्थान (अंग्रेजी—सिम्पेथेटिक नर्व्हस सिस्टम) तथा दूसरा उप-अनुकम्पिक स्नायु संस्थान (पैरा सिम्पैथेटिक नर्व्हस सिस्टम)। पहला शरीर की शक्तियों को अधिक कार्य करने और खतरे के समय के लिए तैयार करता है। इसकी क्रिया के कारण भय के समय आंखों की पुतलियां चौड़ी होकर फैल जाती हैं और आमाशय की रक्तवाहिनी नाड़ियां भोजन पचाने के लिए आमाशय को रक्त न पहुँचाकर मांस-पेशियों और मस्तिष्क को अधिक रक्त पहुँचाती हैं। इससे भूख लगने की क्रिया बन्द हो जाती है और मांस-पेशियां तथा मस्तिष्क तेजी से कार्य करने लगते हैं। हृदय तेजी से रक्त फेंकता है, अतः उसकी गति बढ़ जाती है। अभिवृक्की रस खून में अधिक मात्रा में मिलने लगता है जिससे खून में 'शर्करा' बढ़ती है और व्यक्ति अधिक शक्ति अनुभव करता है। आवेश के आने के कारण 'कोशों' का अधिक नाश होने लगता है। सांस लेने की गति बढ़ जाती है और व्यक्ति हांफने लगता है। और कभी-कभी मलमूत्र भी निकल जाता है। मुंह के अन्दर की लार-ग्रन्थियां रस निकालना बन्द कर देती है, अतः गला और मुख सूख जाते हैं। संवेगात्मक अवस्था में त्वचा की विद्युत् प्रतिशोधन की शक्ति भी काम करती है जो कि त्वचा की वैद्युतिक अनुक्रिया (रोमांच आदि) से ज्ञात होता है। संवेग की अवस्था में स्वेद ग्रन्थियां काम करने लगती हैं और अधिक पसीना छूटने लगता है।[१]

उप-अनुकम्पिक संस्थान की क्रियाएं अनुकम्पिक संस्थान के ठीक विपरीत होती हैं। यह मुख्य रूप से शरीर की शक्ति को संचित रखने का कार्य करता है। इसकी रचना में भी पहले संस्थान से अन्तर है। अनुकम्पिक स्नायु संस्थान में स्नायु-कोश-गुच्छिकाएं (अंग्रेज़ी—गेंगिलिया) सुषुम्ना के भीतर होती हैं या शरीर के उन आन्तरिक अंगों के पास होती हैं जिनको वे उत्तेजित करती हैं। परन्तु उप-अनुकम्पिक स्नायु संस्थान में स्नायु-कोश-गुच्छिकाएं सुषुम्ना के अन्दर न होकर अंगों के पास ही स्थित होती हैं। अनुकम्पिक स्नायु संस्थान में सम्पूर्ण संस्थान मिलकर काम करता है, परन्तु उप-अनुकम्पिक संस्थान की क्रिया में उस स्थान के विभिन्न भाग स्वतन्त्र होते हैं।

उप-अनुकम्पिक संस्थान का मुख्य कार्य शरीर की शक्ति को संचित रखना तथा शरीर के विभिन्न भागों के पदार्थों का संचय करना है और इस प्रकार उन्हें पुष्ट करना है। इसकी क्रिया में रक्तचाप और हृदय की धड़कनें कम हो जाती हैं, लार ग्रन्थियों का स्राव बढ़ जाता है, भोजन अधिक पचता है, आँखों की पुतलियाँ सिकुड़ जाती हैं, आँतें स्वस्थ होती हैं, आदि।

ये दोनों संस्थान एक दूसरे के पूरक होकर कार्य करते हैं। यदि जीव को अपने

---

१. देखिए सा० म० रू०, पृष्ठ ११६, अथवा किसी भी मनोविज्ञान के ग्रन्थ में 'स्नायु संस्थान'।

पर्यावरण से संघर्ष करना पड़ता है तो अनुकम्पिक संस्थान की क्रिया अधिक और उप-अनुकम्पिक की बहुत कम होती है। पर्यावरण से अनुकूलन के समय उप-अनुकम्पिक संस्थान की क्रिया अधिक होती है और अनुकम्पिक संस्थान की कम (यथा, स्तम्भ, प्रलय आदि में)।[1]

स्वतन्त्र स्नायु संस्थान संवेगावस्था में अपने तीन विभागों—ऊर्ध्व, मध्य तथा निम्न—द्वारा निम्नलिखित कार्य करता है[2]—

१. ऊर्ध्व भाग

यह 'मस्तिष्क के तने' से निकलता है। यह हृदय के स्पन्दन को मन्द करता है परन्तु आमाशय की ग्रन्थियों को पाचक रस के स्राव के लिए और आमाशय की दीवारों को मन्थन क्रिया के लिए उत्तेजित करता है। इस प्रकार यह पाचन क्रिया में सहायता करता है।

२. मध्य भाग

यह सुषुम्ना के मध्य भाग से निकलता है। यह हृदय की धड़कन को बढ़ा देता है और रक्तचाप को तीव्र करता है तथा आमाशय की क्रिया को रोक देता है। इसका कार्य उर्ध्व भाग के ठीक विपरीत होता है।

३. निम्न भाग

यह सुषुम्ना के निचले भाग से निकलता है। यह उत्पादन एवं मल विसर्जन सम्बन्धी अंगों को प्रभावित करता है।

इस प्रकार 'इमोशन' (संवेग) मुख्यतः मानसिक 'संक्षोभ' ही है और उसके परिणामस्वरूप आन्तरिक एवं बाह्य शारीरिक परिवर्तन भी होते हैं। मन की बौद्धिक क्रियाओं एवं अवस्थाओं को पाश्चात्य मनोविज्ञानी 'संवेग' में स्थान देने का समर्थन नहीं करता, यह ऊपर दी हुई उनकी 'इमोशन' (संवेग) की परिभाषाओं से स्वतः स्पष्ट है। इस प्रकार 'इमोशन' अपने सम्पूर्ण शक्तिशाली एवं प्रभावक रूप के साथ भी भारतीय 'भाव' का पर्यायी अथवा सन्निकटवर्ती नहीं ठहरता।

आधुनिक भारतीय साहित्य-शास्त्रियों ने मानसशास्त्र के 'इमोशन' (संवेग) के अनुरूप 'भाव' को न पाकर भरतमुनि द्वारा निरूपित भाव के स्वरूप-निर्धारण को सदोष एवं उनकी सूची को अपर्याप्त ठहराया है।[3] ये आचार्य भरत मुनि के प्रयोजन को भूलकर अपने दृष्टिकोण में एकांगी होते चले गये हैं, तथा असंतोषपूर्वक इस सूची को अपूर्ण तथा अवैज्ञानिक सिद्ध करके रह गये हैं। मेरा नम्र निवेदन है कि भरत मुनि का विवेचन निरा आधुनिक पाश्चात्य मानस-शास्त्र का विवेचन नहीं है, उसके पीछे भारतीय दर्शन एवं नाट्य-परम्परा का बल है। (देखिए, पीछे मनस् के धर्म और सहायकों के विषय में पाद-टिप्पणी) उन्हें आधुनिक पाश्चात्य मनोविज्ञान के ही बाटों से तोलना उचित नहीं है।

---

१. वही, पृष्ठ ११७। २. वही, पृष्ठ ३६६।
३. देखिए 'सा० स्ट० रस०' तथा डॉ० वाटवे (मराठी आचार्य) का 'रस-विमर्श'।

दूसरे नाट्य-शास्त्र के प्रयोजन से दिए गए इन 'भावों' को निरे मनोविज्ञान की गणना से लिखे गए 'भाव' नहीं गिनना चाहिए। इस विषय में पाश्चात्य मनोविज्ञानी भी सहमत हैं कि अनन्त मानसिक भावों में से कुछ स्पष्ट उभरते भावों को ही कवि अपने काव्य में चित्रित करते हैं जिनमें अन्य सब मनोभाव या मनोविकार समाहित हो सकें। अतः कविकर्म की दृष्टि से मानस-शास्त्रीय और काव्यात्मक भावों में स्वाभाविक और सहज भेद है। साक्षी के लिए नारमन एल० मन का एक उद्धरण इस विषय में यहाँ अनूदित करके देना उपयुक्त होगा—

'तो भी कवि के, उपन्यासकार के, नाटककार के, सामयिक आत्मदृष्टा के तथा अन्य दृष्टा के निकट अत्यन्त स्पष्ट संवेग सामान्य रूप में संवेगों को इतने ही यथार्थ रूप में निरूपित करते हैं जितने कि तराईं के पर्वत-शिखर तराईं के भूगोल का। हमारा प्रतिदिन का सांवेगिक जीवन कुछ शारीरिक ईहाओं (अंग्रेज़ी—ड्राइव्हज) तथा अन्य प्रेरणाओं से बढ़कर बाह्य रूप में देखने में नहीं आता। हो सकता है, हम कई दिन तक या सप्ताहों तक बिना किसी स्पष्ट बाह्याभिव्यक्ति के रहे आयें, परन्तु उन संवेगों की अन्तर्धाराओं से कभी मुक्त नहीं होते जो हमारे प्रत्यक्षीकरणों, हमारी रुचियों, हमारे पूर्वाग्रहों तथा विचारों और हमारी विद्वता एवं हमारी क्रियाओं को प्रभावित करते हैं।''[१]

अतः काव्य-शास्त्रीय दृष्टि से 'भाव' को मानस-शास्त्र के सूक्ष्म-भेदों की गणनोपगणना के साथ देखना समीचीन नहीं है।

यद्यपि 'इमोशन' के सीमित अर्थ होते हैं, और वह भाव शब्द की मर्यादा या व्याप्ति तक नहीं पहुँचता, फिर भी आधुनिक पाश्चात्य मानस-शास्त्री अपनी परिभाषा को व्यापक करने लगा है और इसीलिए वह कहता है—

जब संवेग घना होता है तब व्यापक परिवर्तन होते हैं, जो हमारे शरीर और उसकी सक्रियता के प्रत्येक पहलू को अन्तर्भूत करते हैं। शारीरिक तथा स्नायविक प्रक्रियाएं बदल जाती हैं। विचार और क्रियाएं (चेष्टाएं) प्रभावित होती हैं उल्लेखनीय विघटन घटित, हो सकता है। हम जो करते हों, वह छूट सकता है अथवा विस्मृत भी हो सकता है। सर्वांगीण समायोजन विक्षुब्ध हो सकता है। किसी संवेग की प्रोत्तेजक आपात्-काल स्थिति में हम ऊर्जा का प्रदर्शन कर सकते हैं, या 'स्तम्भित' हो सकते हैं या अपने 'आपे से बाहर' हो सकते हैं।[२]

१. नारमन एल० मन कृत 'साइकलोजी' संस्करण १९६४, पृष्ट ३०८।

२. When emotion is intense there are wide spread changes which embrace every aspect of our body and its activity. Physiological and neural process are altered. Thoughts and actions are affected. Marked disorganisation may occur. What we were doing may be dropped; even forgotten. Overall adjustment may be disturbed. In an emotional provoking we may be "rooted to the spot" or "loose our heads." —Norman L. Munn, 'Psychology', p. 313.

मानस-शास्त्री आज स्पष्ट रूप में कहता है "प्रत्येक संवेग एक अनुभूति होता है और साथ ही एक गत्यात्मक-तत्परता भी।"[१] आधुनिक मानस-शास्त्री के मत से सांवेगिक जीवन अनन्त रूप से विविध एवं संघटक और विघटक दोनों रूपों में देखा जा सकता है।

"परन्तु सांवेगिक जीवन अनन्त रूप में विविध होता है और इसके संघटनात्मक एवं विघटनात्मक दोनों पहलू हैं। विविधता सांवेगिक क्रिया की तनावपूर्ण स्थिति में ही दृष्टिगत नहीं होती, अपितु सांवेगिक अनुभूति तथा सांवेगिक बाह्याभिव्यक्ति में भी दृष्टिगोचर होती है—सांवेगिक अनुभूति में अर्थात् व्यक्ति में स्वयं परिसेवित तथा अन्यों द्वारा प्रतिवेदित मुखाभिव्यक्ति में, मुद्राओं और समस्त व्यवहारिक बानगियों में।"[२]

और, इस प्रकार हम देखते हैं कि यह ऊपर बताये विकार की जैसी स्थिति है। संस्कृत में भानुदत्त ने तथा उनका अनुगमन करते हुए हिन्दी के रीति-आचार्यों ने उसे द्विविध स्वीकार किया है। आन्तर तथा बाह्य (आन्तर में स्थायिभाव और व्यभिचारी भाव तथा बाह्य में सात्त्विक भाव स्वीकार किये गये हैं जो भरतमुनि द्वारा निरूपित उनचास भावों को समाविष्ट कर लेते हैं)। परन्तु ये सब 'कवि के अन्तर्गत भाव' का भावन कराने के लिए (अथवा काव्यार्थ का भावन कराने के लिए) नटों (कवि भी) द्वारा नियोज्य 'कारण अथवा साधन'[३] रूप साहित्यिक भाव हैं।

अतः यद्यपि 'संवेग' शब्द 'भाव' शब्द का समकक्ष अथवा पर्याय नहीं है, परन्तु आज का मानस-शास्त्री जिस प्रकार 'संवेग' की व्यापकता को स्वीकार करके उसके अन्तर्गत 'शारीरिक और आन्तरिक' विविध विकारों को ग्रहण करता है और उसे 'मनोविकार' तक ही सीमित नहीं रखता, तदनुसार 'मनोभाव' के भी अन्तर्गत तदुत्पन्न शारीरिक और बौद्धिक अवस्थाओं की गणना करना दोष-युक्त नहीं है, जैसा कि कुछ 'रस-सिद्धान्त' के समीक्षक मानते हैं।[४]

---

१. "Each emotion is a feeling and each emotion is at the same time a motor set."

—Woodworth, 'Psychology', p. 344.

२. "But emotional life is infinitely varried and it has integrating as well as dis-integrating aspects. Variation can be seen not only in intensity of emotional activations but also in emotional experience and external expression of emotions—in emotional feelings as observed in oneself and reported by others, in facial expressions, in jestures and overall patterns."

—Normal L. Munn, 'Psychology', Ed. 1962, p. 313.

३. 'भाव इति कारणसाधनं' ना० शा०, सप्तम अध्याय।

४. देखिए, सा० स्ट० रस० तथा डॉ० वाटवे का 'रस-विमर्श'।

निष्कर्ष

भारतीय-चिन्ता में

१. भारतीय चिन्ता में 'भाव' के कोशगत और व्युत्पत्तिलभ्य अर्थों की व्याप्ति 'पदार्थ', 'सत्ता', 'क्रिया' एवं 'मनोविकार' (इसमें मानस की चेतनात्मक, मननात्मक एवं विज्ञानात्मक अर्थात् वैषयिक तीनों वृत्तियां समाविष्ट हैं) तक है। शारदातनय ने इन्हीं अर्थों में 'भाव' को ग्रहण करके उसके पंचधा विभाग—विभाव, अनुभाव, स्थायिभाव, व्याभिचारी 'भाव' एवं सात्त्विक भाव—किये हैं। भरत-मुनि ने मनोविकार और तज्जन्य शरीर में लक्षित होने वाले परिवर्तनों को काव्यार्थों के भावन-व्यापार में सहायक तत्त्वों को, 'भाव' शब्द में अन्तर्भूत किया है, और उनको त्रिधा—स्थायीभाव, व्यभिचारी भाव एवं सात्त्विक भाव में विभाजित करके उनकी संख्या उनचास गिनायी है।

२ नाट्य-शास्त्रीय सन्दर्भों के कट जाने के कारण 'भाव' का उत्तरोत्तर अर्थ चित्त-वृत्ति वा मनोभाव होता गया। अभिनवगुप्तपादाचार्य ने तो जड स्वभाव के होने के कारण सात्त्विक भावों की गणना 'भावों' में करना अनुपयुक्त ही बताया।

३. भानुदत्त ने 'रसानुकूलो विकृतिर्भावः' कहकर उसके 'आन्तर' एवं 'शारीर' दो भेद किये तथा आन्तर में स्थायिभावों एवं व्यभिचारिभावों की एवं शारीर में सात्त्विक भावों की गणना की।

४. हिन्दी के रीतिवादी आचार्यों ने उपर्युक्त तीनों मतों का पुनराख्यान किया। इन को भी तीन वर्गों में रखा जा सकता है—एक में रस निरूपण की दृष्टि से भावन व्यापार में सहायक 'भाव' का भरतमुनि एवं शारदातनय के अनुसार व्यापक अर्थ करने वाले आते हैं, इनमें आचार्य केशवदास प्रमुख हैं। दूसरे में 'भाव' को 'मनो-विकार' तक सीमित रखने वाले आते हैं, इनमें प्रमुख आचार्य चिन्तामणि, वेणी-प्रवीण एवं कुलपति मिश्र आदि हैं, तीसरे में 'रसानुकूलविकृति' को भाव मानकर उसके 'आन्तर' और 'शारीर' दो भेद करने वाले आते हैं, इनमें गुलामनवी, महा-कवि देव एवं प्रताप साहि प्रमुख हैं।

५. आधुनिक काव्य-शास्त्रियों को भी उनके विवेचन की दृष्टि से तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है—

(१) 'भाव' को 'आलम्बन' से उद्‌भूत समस्त चेतनाशक्ति के विकारों को—शारी-रिक, मानसिक एवं बौद्धिक तीनों अवस्थाओं को—परिव्याप्त करते हुए देखने वाले, यथा आचार्य शुक्ल।

(२) वे जो 'भाव' को 'इमोशन' (संवेग) का प्रतिरूप मानते हैं और पाश्चात्य मानस-शास्त्र के अनुसार तुलना करके भरतमुनि की ४९ भावों की सूची को सदोष देखते हुए उसमें संशोधन की आवश्यकता समझते हैं—यथा डॉ० नगेन्द्र आदि।

(३) वे जो साहित्यिक भाव को 'इमोशन' (संवेग) से अधिक व्यापक ठहराते हैं और तुलनात्मक अध्ययन की आवश्यकता स्वीकार करते हैं—यथा डॉ० गुलाबराय आदि ।

पाश्चात्य मनोविज्ञान में

१. 'इमोशन' (संवेग) लैटिन शब्द एमोवअर से बना है और उसका अर्थ 'हिला देना' या उत्तेजित कर देना है । अतः यह शब्द सामान्य मनोविकार से कुछ अधिक क्रियाशील है और मानस-शास्त्र में हिन्दी में आज इसके लिए 'भाव' का नहीं 'संवेग' का प्रयोग होता है ।

२. 'संवेग' और अनुभूति (फीलिंग) में मानस-शास्त्री भेद करते हैं । दोनों में समानता यह है कि दोनों ही 'मस्तिष्क के तने' पर निर्भर हैं तथा दोनों ही सुखदुःखात्मक हैं । अतः सुख-दुःख, भय, क्रोध, प्रेम और उल्लास आदि अनुभूति भी हैं तथा संवेग भी ।

३. परन्तु संवेग अनुभूति से अधिक जटिल एवं प्रत्यक्ष परिस्थिति से ही नहीं, स्मृति या कल्पना से भी उत्पन्न होता है, जबकि अनुभूति सुखदुःख की सरल इन्द्रिय-जनित वेदना है ।

४. संवेग अनुभूति से अधिक व्यापक है । संवेग में शरीर की विशेष ग्रन्थियाँ रस-स्राव करती हैं, अनुभूति में नहीं । संवेग में किसी विशेष दिशा में क्रियाशील होने की प्रवृत्ति भी आ जाती है ।

५. संवेग अनुभूति से अधिक तीव्र होता है । उसमें उत्तेजना, उग्रता तथा अव्यवस्था दिखायी देती है ।

६. संवेग के संघटनात्मक एवं विघटनात्मक दोनों प्रकार के प्रभाव होते हैं जो 'हाइ-पोथैलेमस' पर केन्द्रित स्वतन्त्र स्नायु-संस्थान के द्वारा सम्पन्न होते हैं । इनमें विवर्णता, स्वर-भेद, कम्प, रोमांच, अश्रु, स्वेद, स्तम्भ और प्रलय (सब सात्त्विक भाव) तथा तीव्र-मन्द हृदय धड़कन, रक्तचाप में परिवर्त्तन, पुतलियों का विस्फार आदि उत्पन्न होते हैं और मल-मूत्र आदि का विसर्जन भी हो जाता है ।

यह स्वतन्त्र-स्नायु संस्थान द्विविधा विभक्त है—अनुकम्पिक स्नायु संस्थान एवं उप-अनुकम्पिक स्नायु संस्थान, जिनके द्वारा क्रमशः उत्तेजनात्मक एवं संरोधात्मक क्रियाएं होती हैं । स्वतन्त्र स्नायु-संस्थान के उर्ध्व भाग से हृदय-स्पन्दन में गति-मांद्य, आमाशय-ग्रन्थियों में पाचक रस-स्राव और आमाशय की मन्थन-क्रिया का उत्तेजन सम्पन्न होता है । मध्य भाग से रक्तचाप की तीव्रता, हृदय-स्पन्दन तीव्रता आदि पहले के ठीक विपरीत कार्य सम्पन्न होते हैं, तथा निम्न-भाग से प्रजनक एवं मलादि विसर्जक भाग प्रभावित होते हैं ।

७. यद्यपि 'इमोशन' (संवेग) मानसिक संक्षोभ है, परन्तु उसमें शारीरिक क्रियाओं का अन्तर्भाव होता है और उसके संघटनात्मक एवं विघटनात्मक दोनों स्वरूप हैं। आधुनिक मानस-शास्त्री उसके द्वारा वैचारिक क्रियाओं पर पड़ते प्रभाव तथा शारीरिक एवं स्नायविक प्रक्रियाओं में होते परिवर्त्तन स्वीकार करते हैं।

८. मानस-शास्त्री भी यह स्वीकार करते हैं कि साहित्य में सामान्य दृष्टा की पकड़ में आने वाले मुख्य-मुख्य संवेगों का ही निरूपण होता है और कवि आदि मानस-शास्त्रीय संवेगों के विविध एवं अनन्त सूक्ष्म भेदों में से कुछ का ही वर्णन कर पाते हैं, सब का नहीं।

९. उपसंहार रूप में यद्यपि 'इमोशन' (संवेग) शब्द 'भाव' का समकक्ष अथवा पर्याय नहीं है। परन्तु आधुनिक मानस-शास्त्रियों को इसके दूर-व्यापी प्रभाव को स्वीकार करते देखकर 'भाव' को 'इमोशन' के अर्थों में भी स्वीकार करके, उसमें शारीरिक एवं बौद्धिक अवस्थाओं की गणना करना दोषयुक्त नहीं है, जैसा कि कुछ आधुनिक काव्यशास्त्री मानते हैं।

३. रस और उसके विविध उपादान

ऊपर कहा जा चुका है कि भाव के बिना रस की और रस के बिना भाव की स्थिति नहीं है, वे परस्पराश्रित हैं। अतः भाव के स्वरूप का अध्ययन कर लेने के पश्चात् अब यहाँ रस-स्वरूप का अध्ययन आवश्यक हो जाता है। यहाँ अपने अध्ययन में हम पहले 'रस' शब्द की धातु और उसमें प्रयुक्त प्रत्यय एवं उनके अर्थों का अध्ययन करके 'रस' शब्द के अर्थों का ऐतिहासिक अध्ययन प्रस्तुत करेंगे; तत्पश्चात् आचार्यों द्वारा प्रस्तुत रस-स्वरूप का अध्ययन करने के उपरान्त रस की उपादान-सामग्री—विभाव, अनुभाव, तथा व्यभिचारी भाव एवं इनसे परिवृत्त स्थायीभाव का भी अध्ययन प्रस्तुत किया जायेगा।

रस की व्युत्पत्ति एवं उसके कोशगत अर्थ

'रस' की व्युत्पत्ति है—'रस' धातु + अच् (कर्मवाच्य-प्रत्यय)[१]।

'रस' धातु के निम्नलिखित अर्थ मोनियर विलियम्स के संस्कृत-इंग्लिश कोश में दिए गए हैं।[२]

आस्वादन करना, स्वाद लेना, अनुभव करना, इन्द्रियगोचर करना, अनुभूति पूर्ण होना, प्रीति करना।

---

१. आप्टे का संस्कृत-अंग्रेजी कोश देखिए।

२. To taste, relish; to feel, perceive, be sensible of, to love.
—Monier William's Sans.—English Dictionary.

'रस' धातु के 'आस्वाद करना' और स्वाद लेना अर्थ मो० वि० ने श्वेताश्वर ब्राह्मण, उपनिषद्, तथा महाभारत में प्रयुक्त देखे हैं, जबकि 'अनुभव करना, इन्द्रियगोचर करना, अनुभूतिपूर्ण होना, अर्थ कविराज विश्वनाथ के साहित्यदर्पण में; 'प्रीति करना' अर्थ धातु-रूपावली में मिलता है। स्पष्ट है कि भरत मुनि के काल तक 'रस' धातु का अर्थ 'आस्वादन करना या स्वाद लेना' निर्विवाद रूप से प्राप्त होता है।

'रस' धातु में 'अच्' कर्मवाच्य प्रत्यय के योग से 'रसः' शब्द का अर्थ होता है, 'आस्वाद का विषय वा आस्वाद्य पदार्थ।' इसीलिए भरत मुनि ने अपने नाट्यरसों के विषय में कहा है—'भावाभिनय संबद्धान्स्थायिभावांस्तथा बुधाः आस्वादयन्ति मनसा तस्मान्नाट्यरसाः स्मृताः।' 'रस' की सामान्यतः परिभाषा भी 'रस्यते इति रसः' दी जाती है।

मोनियर विलियम्स के संस्कृत-इंग्लिश कोश में 'रस' शब्द के निम्नलिखित अर्थ दिए हैं।[१] यहाँ इन अर्थों के साथ कोष्ठकों में उन-उन ग्रन्थों के नाम भी दिये गए हैं जिनमें उस अर्थ के लिए रस शब्द का प्रयोग देखा गया है :

वानस्पतिक सत्त्व, तत्त्व (ऋग्वेद) ; जल, तरल पदार्थ, पेय (महाभारत, का यदर्पण) ; इक्षुरस, शरबत (सुश्रुत) ; कोई मिश्रण, पान, सोमरस, रसायन (रामायण, भागवत) ; द्रवित नवनीत (कोशग्रन्थ) ; दूध (महाभारत) ; विष (दशरूपक, राजतरंगिणी) ; शोरबा, मांस-रसा (कोशग्रन्थ) ; शरीरस्थ तरल पदार्थ, वीर्य, अन्न-रस, पारद, शुक्र (ऋग्वेद) ; खनिज पदार्थ वा खनिज लवण ; स्वाद, गन्ध (श्वेताश्वर ब्राह्मण) ; स्वादु अथवा आस्वाद्य पदार्थ, मसाला, चटनी, छोंक-बघार (महाभारत) ; रुचि, प्रीति, रति, काम, इच्छा (महाभारत) ; मनोज्ञता, सुखानुभूति, आनन्द (महाभारत) ; किसी कृति का भाव या आस्वाद्यता, इसमें व्याप्त स्थायिभाव। (साहित्यदर्पण)

आप्टे महोदय ने 'रस' शब्द के निम्नलिखित अर्थ अपने संस्कृत-इंग्लिश कोश में दिये हैं[२]—

---

१. The sap or juice of plants, essence, morrow ; Water, liquor drink, juice of sugar cane, syrup, any mixture, draught, elixier, potion, melted butter, milk, poison, soup, broth, a constituent fluid or essential juice of body, serum, primary juice called chycle, mercury quick silver, semen virile, any mineral or metallic salt, taste, flavour any object of taste, condiment, sauce, spice, seasoning, taste or inclination or fondness, love, affection, charm, pleasure, delight, the taste or charactor of a work, the feeling or sentiment prevailing in it.
—Monier William's **Sans.—Eng.** Dictionary.

२. 1. Sap, juice,—2. **liquid, fluid,**—3. water,—4. liquor, drink,—5.

(१) वानस्पतिक रस, सत; (२) तरल पदार्थ, द्रव; (३) जल; (४) पेय, मदिरा; (५) पान, रसायन, सोमरस; (६) आस्वाद, स्वाद, जायका; (७) चटनी, छोंक-मसाला; (८) आस्वाद पदार्थ; (९) रुचि, अभिरुचि, इच्छा; (१०) प्रीति, प्रेम; (११) सुखानुभूति, आनन्द; (१२) मनोज्ञता, रोचकता, शोभा; (१३) भावना, भाव, अनुभूति; (१४) काव्यरचना का स्थायिभाव; (१५) सत्त्व पदार्थ, गूदा, मींगी; (१६) शरीरस्थ तरल पदार्थ; (१७) वीर्य; (१८) शुक्र, पारा; (१९) विष, विषैला पदार्थ; (२०) कोई खनिज पदार्थ; (२१) इक्षु-रस; (२२) दूध; (२३) द्रवित नवनीत; (२४) अमृत; (२५) शोरबा, मांस-रसा; (२६) ६ की संख्या (अम्ल, काषाय, मधुर, लवण, कटु, तिक्त); (२७) रसना, जिह्वा; (२८) गंध, रस; (२९) स्वर्ण; (३०) धातु-भस्म ।

डॉ० नगेन्द्र ने अपने 'रस सिद्धान्त' में 'रस' शब्द के ऐतिहासिक अर्थ-विकास का विवेचन प्रस्तुत किया है । उनके विवेचन का निष्कर्ष उनके ही शब्दों में नीचे उद्धृत है—

१. 'रस' का मूल प्रयोग निश्चय ही वनस्पतियों के द्रव के लिए होता था—जिनके अपने-अपने आस्वाद और गुण थे ।

२. 'द्रव्य के लिए गुण और गुण के लिए द्रव्यवाचक शब्द के लाक्षणिक प्रयोग' के नियमानुसार लक्षणा के द्वारा 'आस्वाद और ऊर्जा' आदि के अर्थ में उसका विकास हो गया ।

३. सोमरस के वर्धमान प्रचार ने 'रस' शब्द के अर्थ में आनन्द, मस्ती और तन्मयता-चमत्कार आदि का समावेश कर दिया । प्रत्येक 'रस' या उसका 'आस्वाद' आनन्दप्रद नहीं होता, परन्तु सोमरस के प्रभाव से रस आनन्द और तन्मयता-चमत्कार आदि का वाचक बन गया ।

---

draught, potion,—6. taste, flavour, relish—7. a sauce, condiment, —8. an object of taste,—9. taste or inclination for a thing,—10. live, affection,—11. pleasure, delight, happiness,—12. charm, interest, elegance, beauty,—13. pathos, emotion, feeling,—14. a sentiment in a poetic composition,—15. essence, pith, best part of a thing,—16. constituent fluid of the body.—17. semen virile,—18. mercury,—19. poison, poisonous drink,—20. any mineral,—21. juice of the sugar cane,—22. milk,—23. melted butter,—24. nector, —25. soup, broth,—26. a symbolic number of six,—27. the tongue, —28. myrrh,—29. gold,—30. metal in the state of fusion.
—Apte's Sans.—Eng. Dictionary.

४. लक्षणा का व्यापार इसके बाद भी चलता रहा और रस का प्रयोग एक ओर वाणी के चमत्कार (ऋचाओं के रस आदि) के लिए होने लगा, और दूसरी ओर सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होता हुआ आत्मानन्द या ब्रह्मानन्द के लिए होने लगा।

५. 'वाणी का रस' काव्य-रस का ही समानार्थक है। यों तो वेद में कवि और काव्य शब्दों का भी प्रयोग है, पर वह वर्त्तमान पारिभाषिक प्रयोग से थोड़ा दूर है; काव्य की अपेक्षा वाक् वर्त्तमान अर्थ के अधिक निकट है। अतः वाग्रस को काव्यरस का वाचक मानना सर्वथा युक्तिसंगत है।

६. किन्तु उपर्युक्त प्रयोग सर्वथा व्यावहारिक ही है। रस का पारिभाषिक या शास्त्रीय प्रयोग वैदिक साहित्य में नहीं है।

७. अतः रस के शास्त्रीय अर्थ का विकास रामायण-महाभारत काल पश्चात् भरत के नाट्य-सूत्रों से बहुत पहले—कामसूत्र के प्रभाव के फलस्वरूप अनुमानतः चौथी-पाँचवीं शती ईसा-पूर्व से लेकर दूसरी-तीसरी शती ईसा-पूर्व तक हुआ होगा। यह वह युग था जब भरत के पूर्ववर्ती आचार्य (जिनके मत भरत ने विस्तार से आनुवंश्य श्लोकों में उद्धृत किये हैं) रस-शास्त्र की परम्परा का निर्माण कर रहे थे।

डॉ० नगेन्द्र के उपर्युक्त निष्कर्ष में 'तन्मयता' और 'चमत्कार' पारिभाषिक शब्दों का भी प्रयोग देखने योग्य है। ऊपर मो० वि० तथा आप्टे ने इन विशिष्ट शब्दों के पर्याय अपने कोशों में कहीं नहीं लिखे हैं। आगे, हम इन्हें क्रमशः आचार्य धनंजय, एवं अभिनवगुप्त-पादाचार्य द्वारा प्रयुक्त पायेंगे। डॉ० नगेन्द्र ने 'वाग्रस' शब्द का भी अपने निष्कर्ष में ऊपर प्रयोग किया है। वैसा प्रयोग भी कहीं देखने को नहीं मिलता।

'वचः स्वादो स्वादीयो रुद्राय वर्धनम्।' ऋक्० १-११४-६।
'वाचो मधु पृथिवि। देहि मह्यम्।' ऋक्० १२-१-१६।
'वाचा वदामि मधुमद् भूयांस मधुन्सदृशः।' ऋक्० १०-२४-६।

आदि प्रयोगों में 'रस' का नहीं 'मधु' का प्रयोग हुआ है और वे अधिक से अधिक हिन्दी में अनुवाद रूप में प्रचलित मीठी वाणी (मीठी वाणी बोलिए—कबीर) की ऋग्वैदिक काल से चली आती परम्परा को स्पष्ट करते हैं। 'वाग्रस' का हीन-समकक्ष एक अन्य शब्द बहुत पीछे बिहारी ने प्रयोग किया है—'बतरस' (बतरस लालच लाल की मुरली धरी लुकाय)।

'रस' 'आस्वाद्य पदार्थ' से 'आस्वाद्य भावना' (मनोविकार) के अर्थ में बहुत पीछे प्रयुक्त हुआ है। 'रस' धातु का यह पिछला अर्थ मो० वि० ने 'साहित्यदर्पण' में देखा है, यह ऊपर दिखाया जा चुका है।

आगे हम काव्यशास्त्र में **'रस-स्वरूप'** का अध्ययन प्रस्तुत करेंगे।

काव्यशास्त्र में रस का स्वरूप

संस्कृत काव्यशास्त्र में रस-सिद्धान्त के प्रतिष्ठाता भरत मुनि ने रस-भाव आदि की संज्ञाओं का प्रयोग अपने पूर्ववर्त्ती आचार्यों के आधार पर प्राप्त आप्त-अर्थ में किया है,[1] और रस के स्वरूप का अत्यन्त संक्षिप्त प्रतिपादन किया है जिसके फलस्वरूप परवर्त्ती आचार्यों ने इनके द्वारा प्रतिपादित रस-स्वरूप की भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ की हैं। संस्कृत काव्यशास्त्र में रस का सामान्यतः तीन रूपों में प्रतिपादन किया गया है—

१. वस्तु या पदार्थ वाचक रस शब्द;
२. सुख-दुःखात्मक भाव-द्योतक रस शब्द; और
३. काव्यास्वाद जनित आनन्दवाचक रस शब्द।

पदार्थ-रूप रस-स्वरूप

भरत मुनि ने स्वयं 'रस-निष्पत्ति' तथा रसास्वाद की प्रक्रियाओं का पृथक्-पृथक् उल्लेख किया है। वे विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भावों के संयोग से नाट्य-रस की निष्पत्ति मानते हैं। प्रस्तुत रस-निष्पत्ति को वह व्यावहारिक दृष्टान्त देकर स्पष्ट करते हैं—

जैसे नाना व्यंजन, औषधि-द्रव्यों के संयोग से 'रस-निष्पत्ति' होती है, वैसे ही नाना भावों के 'उपगम-समन्वय से रस-निष्पत्ति' होती है। जैसे गुड़ आदि द्रव्यों व्यंजनों तथा ओषधियों से 'षड्रस' बनते हैं, उसी प्रकार नाना भावों से समन्वित होने पर स्थायी भाव भी 'रसत्व' को प्राप्त होते हैं।[2] प्रस्तुत 'रस-निष्पत्ति' प्रक्रिया के भी दो भाग स्पष्ट बन जाते हैं—

(क) अनेक भावों का उपगम-समन्वय या संयोग 'रस-निष्पत्ति' है।
(ख) नाना भावों के समन्वय या संयोग होने पर भी केवल स्थायी-भाव रसत्व को प्राप्त करते हैं।

'रस निष्पत्ति' की प्रक्रिया तो स्पष्ट हुई परन्तु रस—नाट्यरस पदार्थ रूप में किसे कहा जाए ? इसका भरत मुनि उत्तर देते हैं कि 'आस्वाद्यत्व' जिसमें निहित है, उसे रस कहते हैं।[3] अर्थात् आस्वाद्य पदार्थ का नाम रस है।

आस्वादन की प्रक्रिया भरत मुनि ने पृथक् से समझायी है। आस्वाद्यत्व धर्म से युक्त

---

१. एते अष्टौ रसाः प्रोक्ताः द्रुहिणेन महात्मना। ना० शा० ६।१६।
—रसानां भावानां च नाट्याश्रितानांचार्थानामाचारोत्पन्नान्याप्तोपदेश सिद्धानि नामानि भवन्ति। ना० शा० ६।१६।

२. विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः—यथा हि नानाव्यंजनौषधिद्रव्यसंयोगाद्रस-निष्पत्तिः तथा नाना भावोपगमाद् रसनिष्पत्तिः। यथा हि गुडादिभिर्द्रव्यैर्व्यंजनैरोषधीभिश्च षाडवादयो (षड्रसा) रसा निर्वर्त्यन्ते, एवं नानाभावोपहिता-अपि-स्थायिनोभावा रसत्व-माप्नुवन्ति। ना० शा० ६।३१ से आगे का गद्य।

३. रस इति कः पदार्थः ? अत्रोच्यते आस्वाद्यत्वात्।

रस-पदार्थ किस प्रकार आस्वाद्य बन जाता है ? भरत मुनि उदाहरण देकर स्पष्ट करते हैं—जिस प्रकार नाना व्यंजनों से संस्कार किए अन्न को खाते हुए 'सुमनस' लोग रसों का आस्वादन करते हैं और हर्षादि को प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार नाना भाव, अभिनय से व्यंजित वागंग-सत्त्वोपेत स्थायी भावों का 'सुमनस प्रेक्षक' आस्वादन करते हैं और हर्षादि को प्राप्त करते हैं। उसी कारण 'नाट्य रस' के रूप में इनकी व्याख्या की गई है।[1] इसके साथ ही भरत मुनि ने दो आनुवंश्य श्लोक भी स्वमत के पुष्ट्यर्थ दिए हैं। जैसे 'बहुत प्रकार के भात को जानने वाले लोग बहुत द्रव्यों से युक्त व्यंजनों से बनाए भात का आस्वादन करते हैं, उसी प्रकार बुध-जन नानाभिनय से सम्बद्ध स्थायिभावों का मन से आस्वादन करते हैं। उसी से ये नाट्यरस कहे जाते हैं।'[2]

यहाँ भरत मुनि का यह 'मनसा आस्वादयन्ति' प्रयोग अति महत्त्वपूर्ण है। इससे प्रकट होता है कि प्रेक्षकों को अपने 'मनस्' के अनुसार ही 'रस' का आस्वादन होता है अर्थात् वे कवि के 'अन्तर्गत' भाव का (हृदयसंवादी काव्यार्थ का) विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भावों के माध्यम से स्व-मनसा आस्वादन करते हैं। निश्चय ही इस प्रक्रिया में मनस् के अंग मनन-शक्ति, बुद्धि, चित्त (चेतनाशक्ति) तथा प्रेक्षक का अहंकार रूप स्व-व्यक्तित्व भी यथास्थान और यथावसर अपना सक्रिय योगदान करते हैं। भरत मुनि ने इस कथन के द्वारा प्रेक्षक के स्तर पर आस्वादन की प्रक्रिया की ओर संकेत किया है। मन का स्वरूप क्या है, वह विषयों का ग्रहण किस प्रकार करता है, उसमें द्रष्टा वा प्रेक्षक के अहं (व्यक्तित्व) बुद्धि तथा चेतन का योग किस प्रकार होता है, यह पृथकतः अध्ययन की वस्तु है। इस विषय के विशेष अध्ययन के लिए 'आत्मविज्ञान', श्री योगिराज व्यासदेव जी द्वारा लिखित और 'योग-निकेतन ट्रस्ट' द्वारा प्रकाशित ग्रन्थ का अवलोकन करना उपयोगी है। उक्त ग्रन्थ में भारतीय दृष्टिकोण से मनस् के स्वरूप, उसकी उत्पत्ति, निवास स्थल, उसका इन्द्रिय समूह, बुद्धि तथा स्थूल देह से सम्बन्ध उसकी त्रिगुणात्मकता, तथा प्रकृति के अनुसार सत्त्व, रज, तम अवस्थाओं का स्वरूप, उसका धर्म-कर्म, गति आदि का गम्भीर एवं विस्तृत वर्णन किया गया है।

रस को पदार्थ रूप में स्वीकार करके व्याख्या करने वाले डॉ० सुरेन्द्र वारलिंगे के मतानुसार 'रस इति कः पदार्थः ? उच्यते। आस्वाद्यत्वात्' सूत्र का आशय है—'रस यह आस्वाद्य पदार्थ है, यह कहने से अभिप्राय है नाट्य-सृष्टि की सत्य सृष्टि की समानान्तर

---

१. कथमास्वाद्यते रसः ? अत्रोच्यते, यथाहि नाना व्यंजनसंस्कृतमन्नं भुंजान. रसानास्वादयन्ति सुमनसः पुरुषा हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति तथा नाना भावाभिनयव्यंजितान् वांगगसत्वोपेतान् स्थायिभावानास्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः हर्षादींश्चधिगच्छन्ति।
—ना० शा० ६।३१ के बाद का गद्य।

२. यथा बहुद्रव्ययुतैर्व्यंजनैर्बहुभियुतम्।
आस्वादयन्ति भुंजाना भक्तं भक्तविदो जनाः॥
भावाभिनयसंबद्धान्स्थायिभावांस्तथा बुधाः।
आस्वादयन्ति मनसा तस्मान्नाट्यरसाः स्मृताः॥ —ना० शा० ६।३२-३३।

रचना से। सत्य-सृष्टि में द्रव्य का जो स्थान है, वही नाट्य-सृष्टि में 'आस्वाद्य' का मानना होगा।' काव्य सृष्टि में 'शब्द' और 'चित्र' एवं शिल्पादि सृष्टि में 'रूप' यह भी 'आस्वाद्य' पदार्थ है। इसका आस्वाद किया जाता है—'आस्वाद्य' का अर्थ 'आस्वाद' नहीं है, और आस्वाद्यत्व का अर्थ भी डॉ० वारलिंगे की धारणा में आस्वाद नहीं है। 'वस्तु की 'वस्तुता' या वस्तुत्व यह धर्म है, गुण नहीं। मानव यह वस्तु या द्रव्य, उसकी मानवता यह धर्म है और गोरा, काला, पीला या विद्वान् यह उसके गुण हैं। मानवता='गोरा', 'काला', 'पीला' या विद्वान् ऐसा समीकरण नहीं कर सकते। जैसे 'द्रव्यत्व' याने गुण नहीं है, वैसे ही आस्वाद्यत्व याने आस्वाद नहीं, किन्तु जिसका आस्वाद किया जा सकता है, वह पदार्थ। यदि भरत को यह अभिप्रेत नहीं रहता तो 'आस्वाद्यत्व' यह शब्द प्रयोग वे नहीं करते, केवल 'आस्वादात्' यह शब्द प्रयोगसम्यक् था।' अतः रस इति कः पदार्थः उच्यते आस्वाद्यत्वात्—'इस सूत्र से यह पदार्थ आस्वाद्य पदार्थ है।'[1] इस प्रकार डॉ० वारलिंगे की धारणा में रस का स्वरूप 'मनोभाव' 'आस्वाद' तथा 'आनन्द' नहीं है, वरन् 'स्थायी भावों का काया पलट होकर जिन्हें विभावादि भावों का और अभिनय का स्वरूप प्राप्त हुआ है' यही मूर्त्त आस्वाद्य पदार्थ रहा है। डॉ० सुरेन्द्र वारलिंगे ने भरत मुनि के कथन—'भाव इति कारण साधनम्' का आधार ग्रहण करके स्पष्ट किया है कि 'विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव इनकी सहायता से हृदयस्थ भाव साकार होते हैं और इस प्रकार से वस्तुगत हुए हृदयस्थ भावों को ही भरतमुनि ने रस कहा है।' ना० शा० के सप्तम अध्याय में और भी स्पष्ट श्लोक इस भाव को द्योतन करने वाला मिलता है, यद्यपि वह समस्त प्रतियों में प्राप्त नहीं है :

विभावानुभावयुतो ह्यंगवस्तुसमाश्रयः।
संचारीभिस्तु संयुक्तः स्थाय्येव तु रसो भवेत्॥[2]

और भी…विभावानुभाव व्यभिचारी परिवृत्तः स्थायी भावो रस नाम लभते।[3]

पहले आचार्य अभिनवगुप्त ने भी किसी सांख्य अनुयायी का मत जो डॉ० सुरेन्द्र वारलिंगे से बहुत कुछ मिलता-जुलता-सा है, उद्धृत किया था। यथा 'नाट्य में जो बाह्य विषय सामग्री प्रदर्शित होती है, वही रस है, और सुख-दुःखरूपता उसका स्वभाव ही है। सुख-दुःख निर्माण की शक्ति उसमें मूलतः होती है। प्रस्तुत 'सुख-दुःख-जनन-शक्ति-युक्त' विषय-सामग्री ही रस है।' इनकी धारणा से रस-प्रतीति का स्वरूप इस प्रकार होता है—विभाव दल स्थानीय होते हैं, रस निष्पत्ति में विभाव अंकुर दशा में होते हैं, अनुभाव या व्यभिचारी भावों से उस अंकुर पर संस्कार होते हैं और इन तीनों ही सामग्रियों से सुख-दुःख रूप आन्तरिक स्थायी उत्पन्न होता है जो सुख-दुःख रूप है, अतः वह सुख-दुःखात्मक बाह्य

१. देखिए, भरतमुनि का रस-सिद्धान्त पृष्ठ १०-११ समालोचक, अगस्त, १९५८।
२. ना० शा०, द्वितीय संस्करण—१९५६ ओ० ई० बड़ौदा, पृष्ठ ३७९।
३. ना० शा०, ७।७ के पश्चात् का गद्य भाग।

विषय सामग्री में स्थित है, क्योंकि सुख-दु:खरूपता तो बाह्य-विषयों का स्वभाव ही है, फलत: 'रस' का स्वरूप या अर्थ हुआ—विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भावों की सामग्री ।[1] भरतमुनि ने श्रृंगार की परिभाषा 'विषय-सामग्री' रूप ही दी है ।[2]

सुखप्रायेषु सम्पन्नः ऋतुमाल्यादि सेवकः ।
पुरुषः प्रमदायुक्त श्रृंगार इति संज्ञितः ॥

यह तो आज विस्तृत रूप में नहीं कहा जा सकता कि वस्तुवादी आचार्य इस श्लोक की व्याख्या किस प्रकार करते रहे । परन्तु अभिनवभारती से ही संकेत मिल जाता है कि प्रस्तुत श्लोक के आधार पर वस्तुवादी आचार्य श्रृंगार-रस को 'विषय-सामग्री' रूप सिद्ध करते थे । हो सकता है वे पुरुष और स्त्री और उनके रति भाव के उद्दीपक तत्त्वों, ऋतुमालादि की रंगमंच पर स्थिति दर्शाने को ही 'श्रृंगार रस' मानते हों । परन्तु आचार्य अभिनवगुप्तपाद ने प्रस्तुत सामग्रीरूप रस की धारणा को भ्रान्त ठहराया है और प्रस्तुत श्लोक को पर्याप्त सीमा तक उनकी भ्रान्त-धारणा का कारण बताया है । आचार्य अभिनवगुप्त की मान्यता है कि यदि इस श्लोक की व्याख्या उनकी निजी धारणा के अनुरूप की जाए तो भ्रान्ति के लिए अवकाश नहीं रहेगा : 'विषय-सामग्री सम्पूर्णो रस इति, ये मन्यन्ते तेषां भ्रान्तिकारणमयं श्लोक: । स च इत्यं व्याख्यातो न भ्रान्तिजनक:'[3] ।

इस प्रकार भरतमुनि ने नाट्य-रस का स्वरूप आयुर्वेद आदि के वस्तुरूप या पदार्थरूप 'रस' के समान ही निर्धारित करने का प्रयत्न पहले संस्कृत काव्यशास्त्र में भी हुआ है । परन्तु उनके मत को स्पष्ट और मूलभूतरूप में रखने वाला कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है । फिर भी अभिनव भारती में ही स्पष्ट प्रमाण मिल जाते हैं कि कुछ आचार्य रंगमंच पर प्रस्तुत 'बाह्य विषय-सामग्री' को ही रस मानते थे ।

२. सुख-दु:खात्मक रस

उपर्युक्त सांख्यमतानुयायी आचार्य भरत-निरूपित 'रस' को विषय-सामग्री रूप मानते हैं और इसकी मूर्त्त वस्तुनिष्ठता पर बल देते हैं और उसके मूल में निहित उसके सुख-दु:खात्मक भावों के अस्तित्व का समर्थन करते हैं । आचार्य अभिनवगुप्तपादाचार्य से पहले अनेक संस्कृत आचार्यों ने 'रस' को सुख-दु:खात्मक भाव के रूप में मान्य ठहराया है । भरत मुनि के रस-सूत्र की संक्षिप्तता और उनकी रस-प्रक्रिया के अति लचीलेपन ने संस्कृत आचार्यों को रस के विभिन्न स्वरूप-प्रतिपादन का अवसर दिया । 'नाट्य-रस' को पदार्थ रूप मानकर,

---

१. 'येन त्वभिधायि –सुखदु:खजननशक्तियुक्ता विषय सामग्री बाह्यैव । सांख्यदृशा सुखदु:ख स्वभावो रस:—स्थायिनस्तु तत्सामग्री जन्या आन्तरा सुखदु:ख स्वभावा इति ।
—अभि० भा०, द्वि० सं० पृष्ठ २७६ ।

२. नाट्यशास्त्र (अभिनव-भारती)—६।४६ ।

३. अभि० भा०, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ५६७ ।

उसके विभिन्न तत्त्वों का विश्लेषण करने पर उसमें स्थूल, मूर्त्त वस्तुगत तत्त्व भी प्राप्त होते हैं और सूक्ष्म मनोभाव भी। विभाव, वाचिक, आंगिक, सात्त्विक अभिनय आदि स्थूल व मूर्त्त उपकरण हैं एवं सूक्ष्म मनोभाव रूप उपकरणों में व्यभिचारी भाव तथा स्थायिभाव आते हैं। नाट्य मूर्त्त-अभिनयात्मक होता है, अतः सम्भव है कि रस के मूर्त्त रूप पर अधिक बल आरम्भ में दिया गया हो। भरत मुनि ने रस का स्वरूप बताते हुए सूक्ष्म मनोभावों के रूप स्थायीभावों को रसत्व प्रदान करने का विवेचन किया है—'स्थायी भावान् रसत्वमुपनेष्यामः।'[1] भरतमुनि के निरूपित स्थायी-भावों का स्वरूप निस्संदिग्ध रूप से मनोभावात्मक है। रति स्थायी भाव की व्याख्या से भी इस तथ्य का पूर्णतया समर्थन होता है : 'रतिरामोदात्मको भावः।'[2]

'रस' पदार्थ के विश्लेषण में भरत मुनि ने स्थायी भावों को पर्याप्त महत्त्व प्रदान किया है। उन्होंने यहाँ तक स्पष्ट लिख दिया है कि नाना भावों से संयुक्त होने पर भी स्थायी-भाव ही 'रसत्व' को प्राप्त होते हैं।[3] फलतः भट्ट लोल्लट, श्री शंकुक आदि विशुद्ध रंगमंचीय दृष्टि से 'रस-स्वरूप' का विवेचन करने वाले आचार्यों ने भी रस के मूर्त्त स्वरूप के साथ-साथ उसके मूलभूत स्थायी-भाव को रस मानकर उसकी वास्तविक स्थिति का विश्लेषण किया। भट्ट लोल्लट और श्री शंकुक स्थायी-भाव की स्थिति नट की, अनुकर्ता की अपेक्षा ऐतिहासिक पात्रों—अनुकार्यों में दिखाते रहे हैं। भट्ट लोल्लट विभावानुभावादि से 'उपचित' स्थायी-भाव के रूप को रस मानते हैं और शंकुक स्थायी के अनुकरण रूप को।[4]

भरत मुनि निरूपित आठों स्थायी-भाव निरे सुखात्मक नहीं हैं। उनमें कुछ सुखात्मक हैं और कुछ दुःखात्मक। स्वयं भरत मुनि ने इन स्थायी-भावों से निष्पन्न 'रस' के आस्वादक सुमन प्रेक्षकों को 'हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति' लिखकर केवल हर्ष की ही प्राप्ति का समर्थन नहीं किया है। उनके रस स्वरूप के प्रतिपादन में सुख-दुःखात्मक भावों को ही दृष्टिगत किया गया है। आदर्श प्रेक्षक की कसौटी से जो उन्होंने दी है, इसका प्रमाण मिल जाता है—

यस्तुष्टौ तुष्टिमायाति, शोके शोकमुपैति च।
दैन्ये दीनत्वमभ्येति, स नाट्ये प्रेक्षकः स्मृतः।[5]

इसीलिए अनेक आचार्यों ने रस की वस्तुनिष्ठता पर अधिक न कहकर उसके सुख-दुःखात्मक भाव-स्वरूप का ही प्रतिपादन किया है। रस को एकान्ततः आनन्दस्वरूप मानने

---

१. ना० शा०, ६।४५ के पश्चात् का गद्य।
२. ना० शा०, ७।८ के पश्चात् का गद्य।
३. नानाभावोपगता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्ति। ना० शा० ६।३१।
४. तेन स्थाय्येव विभावानुभावादिभिरुपचितो रसः—भट्ट लोल्लटः। अभि० भा०, प्र० संस्करण ४४३। अनुकरणरूपत्वादेव नामान्तरेण व्यपदिष्टो रसः-श्री शंकुकः। अभि० भा०, प्र० संस्करण ४४६।
५. ना० शा०, २७।५२।

की परम्परा विशेषतः अभिनवगुप्त के पश्चात् चली। कोई-कोई मानते हैं कि आनन्दवर्धनाचार्य से ही इसका आरम्भ हो गया था। परन्तु इससे पूर्व और पश्चात् भी अनेक आचार्य इसे 'सुख-दुःखात्मक' मानते रहे। परम्परानुसार उनके नाम इस प्रकार हैं :—भामह, दण्डी, वामन, लोल्लट, श्री शंकुक, सांख्यवादी, भोज, रामचन्द्र गुणचन्द्र।[१] इन आचार्यों ने विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी से परिपुष्ट स्थायी-भाव के रसत्व का ही विशेष समर्थन किया है, न कि सहृदय के चर्वणा-जन्य वा आस्वादजन्य आनन्दरूपात्मक रस का।

भामह की अस्पष्ट उक्तियों से उनके रस-स्वरूप को वस्तुनिष्ठ सुख-दुःखात्मक अथवा केवल आनन्दात्मक निर्धारित करना कठिन है। भामह तथा दण्डी का प्रतिपाद्य 'नाट्य' नहीं, वरन् 'काव्य' था। दोनों ही आचार्य महाकाव्यों में 'रसों' की स्थिति का समर्थन करते हैं।[२] दण्डी ने अपनी उक्तियों से 'सुख-दुःखात्मक भावों के परिपुष्ट रूप को 'रस मानने का अधिक स्पष्ट समर्थन किया है।[३] दण्डी वाणी और वस्तु में भी रस की स्थिति मानते हैं।[४]

आचार्य वामन ने 'काव्यालंकार सूत्रवृत्ति' में नाट्य के करुण रस के सुख-दुःखात्मक भावों के 'संप्लव' का निदर्शन किया है—

करुणप्रेक्षणीयेषु संप्लवः सुखदुःखयो ।
यथानुभवसिद्धस्तथैवौजः प्रसादयो ॥[५]

श्री ग० त्र्य० देशपाण्डे ने इस श्लोक का सहारा लेकर आचार्य वामन को भी सुख-दुःखात्मक भावस्वरूप 'रस' का समर्थक सिद्ध किया है।[६] भट्ट लोल्लट, श्री शंकुक तथा सांख्य-मतानुयायी आचार्यों के मतों के स्पष्टीकरण के लिए आज अभिनवगुप्तपादाचार्य की अभिनव-भारती के अतिरिक्त और कोई साधन नहीं है। यह निर्विवाद एवं भारतीय विचारकों की प्रामाणिकता की परम्परा के अनुकूल सत्य है कि उन्होंने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के मत का निष्पक्ष उल्लेख किया है। उनके प्रतिपादन को प्रमाण मानकर यही सिद्ध किया जाता है कि भट्ट लोल्लट, श्री शंकुक एवं सांख्यमतानुयायी आचार्य सुख-दुःखात्मक स्थायी-भावों के परिपुष्ट रूप को ही रस मानते थे।

आचार्य अभिनवगुप्त के उत्तरकालीन नरेन्द्र भोज तथा रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने भी 'रस' को सुख-दुःखात्मक निर्धारित किया है। नरेन्द्र भोज तो स्पष्टतः रसों की सुख-दुःखात्मक

---

१. भारतीय साहित्य शास्त्र, श्री ग० त्र्य० देशपाण्डे, पृष्ठ २९१।
२. भामहः काव्यालंकार; दण्डीः काव्यादर्श, १।१८।
३. दण्डी काव्यादर्श, २।२८१-८२, ८३।
४. मधुरं रसवद्वाचि वस्तून्यपि रसस्थितिः। काव्यादर्श—१।५१।
५. हिन्दी काव्यालंकार सूत्रवृत्तिः, पृष्ठ १२२।
६. भारतीय साहित्य शास्त्र, पृ० २९८।

अवस्था का कथन करते हैं। 'रसा हि सुख-दुःखावस्थारूपाः ते च शरीरिणां चैतन्यवतां न काव्यस्य'[1] डा० राघवन के विचार में भोज नरेन्द्र ने यहां लौकिक भावों के लिए 'रस' शब्द का प्रयोग किया है।[2] स्वयं भरतमुनि ने भी नाटक में लौकिक सुख-दुःख की अवस्था का चित्रण ही मुख्य रूप से स्वीकार किया है :—

अवस्था याहि लोकस्य सुख-दुःख समुद्भवा।
नानापुरुषसंचारा नाटके संभवेद् इह ॥[3]

नाट्यदर्पण के रचयिता रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने भी आचार्य अभिनवगुप्त आदि आनन्द-वादी आचार्यों से भिन्न 'सुख-दु;खात्मक' रस स्वरूप का एकान्त प्रतिपादन किया है।[4] उन्होंने नौ रसों को, इष्ट विभावात्मक—शृंगार, हास्य, वीर, अद्भुत और शांत तथा अनिष्ट विभावात्मक—करुण, रौद्र, वीभत्स और भयानक, द्विधा विभाजित करके पूर्व को सुखात्मक और उत्तर को दुःखात्मक स्वीकार किया है।[5] यह एक अलग विवेच्य विषय है कि दुःखभावात्मक रस सहृदयों के लिए आस्वाद्य क्यों बन जाते हैं। अलग-अलग आचार्यों ने, आरम्भ से आज तक, स्वदृष्टिकोण से इसका समाधान किया है। इसका विवेचन यहां अनावश्यक है।

३. काव्यास्वाद-जनित आनन्दमय रस-स्वरूप

भरत-मुनि के ही रस-प्रतिपादन में 'रस'='आस्वाद', 'आनन्द' के समीकरण का भी उत्स प्राप्त हो जाता है। आनन्दवादी आचार्यों ने रस के आनन्द स्वरूप के निर्धारण में, ऐसा लगता है, भरत मुनि की 'रसास्वाद' प्रक्रिया को ही एकान्त आधार मान लिया है जबकि 'रस' को सुख-दुःखात्मक मानने वाले आचार्यों ने उनकी 'रस प्रक्रिया' को विशिष्ट आधार बनाया है।

भरत मुनि ने 'रस प्रक्रिया' में 'सुमनस प्रेक्षकों' को स्थायी भावों का आस्वादक कहा है और जिस स्थायी भाव का वे आनन्द लेते हैं, उसके दो विशिष्ट रूप दर्शित किये हैं—एक है 'नानाभिनयव्यंजितान्' और दूसरा है 'वागंगसत्त्वोपेतान्'। रस को 'नाट्य-वस्तु' रूप में स्वीकार करने वाले दूसरे रूप पर बल देकर, जैसा ऊपर बताया जा चुका है, वाचिक, आंगिक, अभिनययुक्त, रंगमंच पर प्रदर्शित मूर्त्त स्थायी भाव को 'रस' संज्ञा देते हैं। परन्तु

---

१. शृंगार प्रकाश, द्वि० सं० पृष्ठ ३६९।
२. नंबर आफ रसाज पृ० १५५-५६ एवं भोजाज शृंगार प्रकाश, डा० राघवन्, पृ० ४३३।
३. ना० शा०, १९।२२१, निर्णयसागर (१९४२)।
४. स्थायीभावश्रितोत्कर्षः विभाव व्यभिचारिभिः।
स्पष्टानुभावनिश्चेयः सुखदुःखात्मको रसः ॥ ना० द० श्लोक १०९।
५. ना० द०, पृ० १०९।

इस मूर्त्त रूपके साथ स्थायी भाव के अमूर्त्त रूप का भरतमुनि ने 'व्यंजना' शब्द के द्वारा प्रथम प्रकाश किया है। अर्थात् यह आशय ग्राह्य है कि आस्वाद के क्षणों में प्रेक्षक अभिनयादि से 'व्यंजित' स्थायी-भाव का आस्वादन करता है, अतः 'व्यंजना' से सहृदय में स्थायी भाव की स्थिति प्रकट होती है। भरत मुनि ने इस प्रक्रिया में यह तो स्पष्ट नहीं कहा कि किसका स्थायी-भाव व्यंजित होता है, परन्तु सामान्य भाव-स्वरूप की परिभाषा देते हुए उन्होंने नाट्य-भाव को 'कवि के अन्तःकरण-गत भाव का ही भावन करने वाला कहा है।'[1] इस सूत्र से स्थायी भाव भी कवि के ही सिद्ध किये जा सकते हैं। भट्ट लोल्लट और श्री शंकुक की दृष्टि इस तथ्य पर नहीं पड़ी, फलतः इन्होंने विशुद्ध नाट्यमूलक दृष्टिकोण अपना कर भाव की स्थिति मूलतः अनुकार्यों या ऐतिहासिक पात्रों में सिद्ध की और उन्हीं के स्थायी भाव की 'व्यंजना' नाट्य रस के रूप में स्वीकार की है। परन्तु आचार्य अभिनवगुप्त ने एक ओर तो कविगत स्थायी भावों को स्वीकृति दी है और दूसरी ओर सहृदय के स्थायी भावों की सत्ता भी स्वीकार की, क्योंकि दोनों—सहृदय और कवि सामाजिक प्राणी हैं।[2] फल यह हुआ कि स्थायीमूलक (रस-स्वरूप में एकान्ततः आत्मपरकता या भावरूपता आ गयी। इस स्थिति में विभावानुभावादि या अभिनयादि मूर्त्त-तत्त्व साधन मात्र बने ओर साध्य बना भावात्मक रस, जिसके मूल में निहित रति इत्यादि स्थायी भाव, अभिनवगुप्तपादाचार्य के मत से, प्राणी मात्र में जन्म से ही संस्कार रूप में चले आते हैं।[3] (परन्तु आधुनिक मनोवैज्ञानिक अनुसन्धानों ने यह सिद्ध कर दिया है कि तथाकथित स्थायी भावों का भी क्रमिक विकास शिशु को वार्धक्य के साथ होता है।)[4] और काव्य नाटक के विभाव, अनुभाव आदि तत्त्व सहृदयस्थ स्थायी को ही अभिव्यक्त करते हैं या व्यंजित करते हैं। आचार्य आनन्दवर्धन ने, आचार्य अभिनवगुप्त से पहले, 'रस ध्वनि' की प्रक्रिया में रस के ध्वनित या व्यंजित रूप की प्रतिष्ठा की थी। परन्तु आचार्य अभिनवगुप्त ने 'रस' को सहृदयस्थ स्थायी भाव रूप में तो निश्चित किया है, उसका स्वरूप एकान्ततः आनन्दात्मक निर्धारित किया है। वे प्रत्यभिज्ञादर्शन के मानने वाले स्वयं आनन्दवादी दार्शनिक थे, अतः भरत मुनि के नाट्य शास्त्र की भी उन्होंने इसी दृष्टि से व्याख्या की है।[5] और रस को आनन्दात्मक सिद्ध करने

---

१. "कवेरन्तर्गतं भावं भावयन् भाव उच्यते" ना० शा ७।२, चौखम्भा संस्करण।

२. "एवं मूलबीज स्थानीयात् कविगतो रसः, कविर्हि सामाजिक तुल्य एव···" अभिनव भारती, प्र० संस्करण, पृ० २९५।

३. जात एव ही जन्तुः इयतीभिः संविद्‌भिः परीतो भवति, अभिनव भारती, पृष्ठ २८४ प्रथम संस्करण।

४. आगे देखिए स्थायी भावों के विवेचन में।

५. "इसमें वे शिव की वन्दना के साथ-साथ अपने प्रत्यभिज्ञादर्शन और भरतनाट्यशास्त्र के साम्य की एक झलक भी दिखला देना चाहते हैं। इस दृष्टि से मंगलाचरण का यह दूसरा श्लोक विशेष महत्त्वपूर्ण है।" अ० भारती, प्र० सं, पृ० ४।

के लिए तद्दर्शन से प्रभावित नवीन युक्ति-प्रमाणों का आश्रय उन्होंने लिया है। रस-स्वरूप के विवेचन में उन्होंने निम्नलिखित तथ्यों पर वल देकर उनका विवेचन किया है—

१. 'रस' मूलतः एक ही हैं। अपनी इस धारणा के समर्थन में वे 'न हि रसादृते कश्चिदपि अर्थः प्रवर्त्तते' को प्रमाण रूप उपस्थित करते हैं जिसमें भरत मुनि ने 'रस' का एक वचन में प्रयोग किया है।[1]

२. रस-सहृदय संवेदनात्मक निर्विघ्न विश्रान्ति रूप है।[2] इस विचार का बीज डा० नगेन्द की धारणा के अनुसार भरत मुनि के इस श्लोक में है।[3]

दुःखार्त्तानां श्रमार्त्तानां शोकार्त्तानां तपस्विनाम्,
विश्रान्तिजननम् काले नाट्यैतन्मयाकृतम्—ना० शा० १-११४।

(मेरे द्वारा रचित यह नाट्य दुःख से पीड़ित, थके-मांदे, शोक-संतप्त, बेचारे लोगों के लिए समय पर विश्रान्ति देने वाला है।)

३. रस स्थायी-विलक्षण है, 'अलौकिक' है, 'चर्व्यमाणतैका प्राण' है।[4]

४. स्वसंवित्, चर्वणा, एक धन (अखण्ड) और प्रकाशमय (बोधरूप) होने से 'आनन्द' ही इसका सारभूत तत्त्व है।[5]

इस वर्ग के अन्तिम और अत्यन्त समर्थ आचार्य जगन्नाथ ने काव्य-रस की आनन्दमयता के प्रमाण में छान्दोग्योपनिषद् का उद्धरण देकर 'रस को आत्मानन्द' के समतुल्य घोषित किया है।[6]

अस्त्यत्रापि रसो वै सः। "रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति" इत्यादि।
रसगंगाधर (चौ० सं० सी०) प्रथमानन पृष्ठ ९१।
—वह आत्मा रसस्वरूप है, रस को पाकर ही वह आनन्द रूप होता है।

---

१. नंबर आफ रसाज पृ० १७६ से उद्धृत, एक एवतावत्परमार्थतो रसः सूत्र स्थानत्वेन रूपके प्रतिभाति अभि०, भा० प्र-१, पृ० २७३।

२. '''तत एव निर्बिघ्न स्वसंवेदात्मक विश्रान्ति लक्षणेन रसनापर पर्यायेण व्यापारेण गृह्यमाणत्वाद् रस शब्देनाभिधीयते—अभि० भा० १, गा० ओ० सि० पृष्ठ २६९ न० आ० रसाज से उद्धृत।

३. रस-सिद्धान्त, पृष्ठ १७-१८।

४. अलौकिक निर्विघ्न संवेदनात्मक चर्वणागोचरतांनीतोऽर्थश्चर्व्यमाणतैक सारो न तु सिद्ध स्वभावतः तात्कालिक एव न तु चर्वणातिरिक्त कालावलम्बी स्थायिविलक्षण एव रसः। अभि० भा० प्रं० सं० पृष्ठ ४८३।

५. वही, पृष्ठ ४८५। ६. रस-सिद्धान्त, पृष्ठ ५७।

इससे स्पष्ट है कि पहले कहे दोनों रस-स्वरूपों से—नाट्यवस्तु रूप तथा सुख-दु:खात्मक भाव रूप रस से ध्वनिवाद पर आद्धृत अभिनवगुप्तापादाचार्य-निरूपित रस-स्वरूप पर्याप्त भिन्न है। आचार्य अभिनवगुप्त का दृष्टिकोण 'शान्त रस' की स्वतन्त्र स्थापना करना था, अतः सम्भवतः इनको भरतमुनि के प्रतिपादित रस-स्वरूप की पर्याप्त स्वतन्त्र व्याख्याएं भी करनी पड़ी हैं। भरत मुनि ने शान्त रस का प्रतिपादन नही किया, यह मत निर्विवाद है, परन्तु इन्होंने शान्तरस को स्वतन्त्र-रस ही नहीं, वरन् सर्वश्रेष्ठ रस प्रतिपादित कर दिखाया है, तब परम्परागत 'रस-स्वरूप' में भी अपनी धारणा के अनुसार उनका परिवर्तन कर देना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। 'रस' को 'विषय-सामग्री' रूप अथवा वस्तुरूप स्वीकार करने वाले आचार्यों की धाराणाओं का आचार्य अभिनवगुप्त ने प्रबल-प्रत्याख्यान ही नहीं किया, अपितु उनके मतों को 'मूर्खतापूर्ण' तथा 'भ्रान्तिपूर्ण' प्रतिपादित किया है[1] साथ-साथ 'स्थायी विलक्षणता' पर विशेष बल देकर 'रस' की सुख-दु:ख आत्मकता को भी अमान्य ठहराया है।[2]

अभिनवगुप्तपादाचार्य के उपरान्त मम्मट, हेमचन्द्र, मधुसूदन सरस्वती, पण्डितराज जगन्नाथ आदि आचार्य 'रस' के आनन्द-स्वरूप की व्याख्या विभिन्न शब्दों में करते रहे। रसध्वनिवादी आचार्यों के रस-स्वरूप के स्पष्टीकरण में आनन्दैकघन, चर्वणाप्राण, स्वप्रकाशानन्द, वेद्यान्तरस्पर्शशून्य, ब्रह्मास्वादसहोदर, लोकोत्तर, चिन्मय, स्थायी-विलक्षण आदि विशेषणों का प्रयोग किया है जो स्पष्टतः भरतमुनि के 'रस-स्वरूप' विश्लेषण में नहीं प्राप्त होते।

इस प्रकार संस्कृत काव्य-शास्त्र में, नाट्य-शास्त्र समेत, रस स्वरूप का विवेचन मुख्यतया तीन रूपों में प्राप्त है—

१. वस्तुनिष्ठ रंगमंचीय रस-स्वरूप—जो वागंगसत्त्वाभिनियोपेत तथा विभाव, अनुभाव, एवं व्यभिचारी भावों की सामग्री रूप है।

२. परिपुष्ट-स्थायी भावात्मक रस-स्वरूप—जो मूलतः सुख-दु:खात्मक भावों पर अधिष्ठित है और सूक्ष्म [मनोभावरूप है।

३. सहृदयनिष्ठ, चर्वणाप्राण, आस्वादात्मक, रस-स्वरूप—जो सुख-दु:खात्मक भावानुभूति से भिन्न एकान्त आनन्दमय है।

---

१. "येन त्वभिधायि सुखदु:खजननशक्तियुक्ता विषयसामग्री बाह्यैव।—ग्रन्थविरोधं स्वयमेव बुध्यमानेन दूषणाविष्करण मौर्ख्यात् प्रामाणिको जनः परिरक्षित इति किमस्योच्यते।" अभि० भा० प्र० सं० पृष्ठ ४६१।
"विषय सामग्री सम्पूर्णो रस इति मन्यते तेषाम्भ्रान्तिकारणम् अयं श्लोकः।
स च इत्थे व्याख्यातो न भ्रान्तिजनकः।—अभि० भा० प्र० सं० ५६७।

२. अभि० भा० (प्रथम संस्करण) पृष्ठ ४८३।

आधुनिक आचार्यों की दृष्टि में रस

आनन्दवादी रस-स्वरूप

प्राचीन परम्परा के नवीन आचार्यों में श्री कन्हैयालाल पोद्दार और रामदहिन मिश्र ने अभिनवगुप्त, मम्मट, विश्वनाथ, आदि आचार्यों के प्रतिपादन का आधार लेकर रस को आनन्दमय तथा अलौकिक सिद्ध किया है। श्री पोद्दार रस=चर्वणा=आनन्द जैसा समीकरण करते हैं।[1] वे व्यापक विवेचन के उपरान्त रस को अलौकिक सिद्ध करते हैं।[2] श्री रामदहिन मिश्र के रस प्रतिपादन में सहृदय की आस्वादन प्रक्रिया पर बल दिया गया है। 'स्थायी भाव परिपक्व रूप ही रस है।' 'रस्यते इति रसः' जो रसित, आस्वादित हो, उसे रस कहते हैं। फलतः रस आस्वाद स्वरूप है। आस्वाद एक प्रकार से अलौकिक आनन्द से अभिन्न है। 'वह अभिनय के दर्शन से तथा कविता के अर्थ परिशीलन से सहसा उद्बुद्ध हो जाता है।' स्पष्ट है कि श्री रामदहिन मिश्र रस के परम्परागत आनन्दमय स्वरूप का ही एकान्त समर्थन करते हैं और उसे परम्परानुसार अलौकिक ही मानते हैं।[3] आचार्य केशव प्रसाद मिश्र ने साधारणीकरण-सिद्धान्त के आधार पर रस-स्वरूप की आन्तरिक मीमांसा सविस्तार 'मधुमती भूमिका' के अन्तर्गत की है। 'मधुमती भूमिका' तथा 'पर-प्रत्यक्ष' की स्थिति में सब प्रकार के भाव चाहे वे सुखात्मक हों अथवा दुःखात्मक, एकरूपता को प्राप्त हो जाते हैं। 'मधुमती भूमिका' में पहुंचे कवि तथा सहृदय दोनों के मन की वृत्तियां एकतान, एकलय हो जाती हैं एवं इस स्थिति में उन्हें जिस आनन्द की झलक मिलती है—वही वास्तव में रस है। उनके 'रस-स्वरूप' के प्रतिपादन का सार साहित्यलोचन में इस प्रकार दिया गया है—

"मधुमती भूमिका' में पहुंचा कवि का मन जब उल्लसित होकर नवीन सृष्टि का आरम्भ करता है और अपनी ही सृष्टि की सुन्दरता पर मुग्ध होकर रीझता है, उस समय उसकी वृत्तियां एकतान, एकलय हो जाती हैं। इसलिए उसकी रचना भावों का संगीत है। मन की इस एक विषयावगाहिनी निरोधावस्था से 'चित्' (ज्ञान) का आवरण-भंग होता है अर्थात् मन जब विक्षिप्त होकर इधर-उधर अनेक विषयों पर दौड़ता है, उस समय अपनी इस विक्षेप क्रिया से वह नित्य मुक्त-स्वभाव चित् पर एक प्रकार का पर्दा-सा डालता रहता है। पर यहां उसकी यह विक्षेपावस्था निरोधावस्था में बदली कि उसका आवरण डालना बन्द हो जाता है और चित् निरावरण होकर चमकने लगता है। इस अवस्था में अनुभविता और अनुभाव्य अथवा द्रष्टा और दृश्य दोनों एक हैं। इसीलिए निरावरण चित् को आनन्द स्वरूप का अनुभव करने के लिए किसी दूसरे अनुभविता की आवश्यकता नहीं होती। आत्मा के इसी आनन्द-स्वरूप को रस कहते हैं।"[4] अतः पण्डित केशवप्रसाद मिश्र इस तथ्य पर विशेष बल देते हैं कि सुख-दुःखात्मक भावों अथवा विषयों की अनुभूति का नाम रस नहीं है, वरन् 'शुद्ध-बुद्ध

१. "चर्वणा से रस अभिन्न है"—रसमंजरी चतुर्थ स्तवक—पृष्ठ २७९।

२. "रस-मंजरी", चतुर्थ स्तवक, पृष्ठ १७५। ३. काव्यदर्पण, पृष्ठ ४६।

४. साहित्यालोचन, पृष्ठ २३६ से उद्धृत।

मुक्त स्वभाव' चित् का विषयों से निवृत होकर अपने आनन्द स्वरूप को प्राप्त करना ही रस है। डॉ० श्यामसुन्दरदास ने भी 'स्थायीविलक्षण', 'अलौकिक', 'ब्रह्मास्वाद सहोदर' रसस्वरूप को ही मान्यता दी है। 'यह भी ध्यान रखना चाहिए कि आत्मानन्द के प्रकाश में स्थायी-भावों की जो रसरूप आनन्दानुभूति होती है, उसमें लौकिकता नहीं रह जाती। सब वैयक्तिक सम्बन्धों से मुक्त होकर निर्विशेष रूप से प्रेक्षक को उसकी अनुभूति मिलती है। इसीलिए उसे ब्रह्मानन्द-सहोदर कहा जाता है।'[१] 'यद्यपि रस का आनन्द विषयजन्य हैं, तथापि विषयानन्द से उसका कोई सम्बंध नहीं, इसीलिए उसे ब्रह्मानन्द सहोदर कहा जाता है।[२] 'रस का आनन्द इन्द्रियजन्य नहीं, प्रत्युत अलौकिक और अखण्ड होता है।'[३]

रस भावानुभूति की उत्तरकालीन स्थिति का नाम है, भाव की अनुभूति रस नहीं है—यह आशय डॉ० भगवानदास ने रस-स्वरूप में अधिक स्पष्टरूपेण व्यक्त किया है: 'भाव, क्षोभ, संरंभ, संवेग, आवेग, उद्वेग, आवेश अंग्रेजी में 'इमोशन' का अनुभव रस नहीं है, किन्तु उस अनुभव का स्मरण, प्रतिसंवेदन, आस्वादन रस है।'[४]

डॉ० नगेन्द्र के भी मत में रस सहृदय की आनन्दमयी चेतना का नाम है जिसके मूल में सहृदय की अन्तर्वृत्तियों का समन्वय होता है।[५] 'रस का आनन्द भाव (इमोशन) से भिन्न है और उसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि कटुभावों द्वारा भी तो रस की प्राप्ति होती है।[६] डॉ० नगेन्द्र ने रसगत आनन्द का जिसे संस्कृत के आचार्य अलौकिक एवं अनिर्वचनीय मानते हैं, अधिक वैज्ञानिक एवं सूक्ष्म (आन्तरिक) विश्लेषण किया है। इनके मत में काव्यास्वाद का आनन्द अथवा रसगत आनन्द न निरा ऐन्द्रिक ही है, न निरा बौद्धिक वरन् इसमें ऐन्द्रिक और बौद्धिक अनुभूति के तत्त्वों का लवण-नीर-संयोग है।[७] सार रूप में डॉ० नगेन्द्र 'रस' को भाव से नितान्त भिन्न मानते हैं और यहाँ तक उनका विवेचन संस्कृत के आनन्द-वादी आचार्यों की परम्परा के अनुसार है, परन्तु इस आनन्द का उन्होंने आधुनिक दृष्टिकोण से विश्लेषण और विवेचन किया है, वह इनका मौलिक और परम्परा भिन्न चिन्तन है।

डॉ० गुलाब राय ने रस और मनोवेगों (फीलिंग्स, इमोशन) का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए मनोवेगों को रस-स्वरूप से स्पष्टतः भिन्न माना है। वे रस-स्वरूप के विश्लेषण में परम्परावादी दृष्टिकोण को अपनाकर आनन्दवादी दृष्टिकोण को मान्यता देते हैं। 'रस मनोवेग नहीं वरन् वह मनोवेगों का आस्वादन है। जिस प्रकार आस्वादनकर्त्ता को आस्वाद्य वस्तु के विषय में कुछ जानकारी भी प्राप्त हो जाती है (वह वस्तु कहां और कैसे उत्पन्न होती है) उसी प्रकार रस के विवेचन में मनोवेगों का विश्लेषण भी मिलता है।'[८]

---

१. वही, पृष्ठ २२९ से उद्धृत।
२. वही, पृष्ठ २२९ से उद्धृत। ३. वही, पृष्ठ २३४ से उद्धृत।
४. रसमीमांसा, द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ, पृष्ठ ७।
५. रीति साहित्य की भूमिका, पृष्ठ ६२। ६. वही, पृष्ठ ६२।
७. रीति साहित्य की भूमिका, पृष्ठ ६७। ८. सिद्धान्त और अध्ययन, पृष्ठ १७६।

'अब प्रश्न यह होता है कि रस मनोवेग नहीं, तो है क्या वस्तु ? किसी वस्तु का आस्वादन करने पर जो आनन्द मिलता है, उसे रस कहते हैं...... संक्षेप में आस्वादजन्य आनन्द को रस कहते हैं।'[१] स्पष्ट है कि डा० गुलाबराय ने अभिनवगुप्त, मम्मट, विश्वनाथ आदि आचार्यों के प्रतिपादित रस-स्वरूप का पुनरुल्लेख किया है।

डा० बाटवे ने अपने 'रस-विमर्श' में अनेक युक्ति-प्रमाणों तथा भारतीय और पाश्चात्य मनीषियों की इस विषय-सम्बन्धी धारणाओं को लेकर 'रस' की स्थिति सहृदय में दिखायी है और, सामान्यतः सहृदय के चित्त की आस्वादजनित आनन्दमयी वृत्ति को रस माना है, और रस को उत्पन्न करनेवाली मूल सामग्री काव्य में ही बतायी है, अतः एक अर्थ से, कारण रूप से काव्य में 'रस' की स्थिति स्वीकार की है। उनके शब्दों में 'कल्पना की सहायता से प्राप्त आह्लाददायक अनुभव को ही 'रस' कहा जाता है। इस रस को उत्पन्न करने वाली मूल सामग्री काव्य में होती है अर्थात् एक अर्थ से 'रस' कारण रूप में काव्य में होता है।'[२] उनके शब्दों में :

'काव्य की उत्कट भावनाओं के ललित आविष्कार से सहृदय पाठक की सुख संवेदक और समग्र प्रत्युत्तरात्मक क्रिया का नाम रस है।'

श्री गणेश त्र्यम्बक देशपाण्डे को चर्वणावादी या केवलानन्दवादी परम्परा ही अधिक ग्राह्य प्रतीत हुई है। परन्तु वे 'परिपुष्ट स्थायी रस' और स्थायी विलक्षण रस' मान्यताओं को पृथक् रूप में स्वीकार करके इन दोनों का एकीकरण अनुपयुक्त ठहराते हैं। उनके शब्दों में 'जहाँ तक हमारी सम्मत्ति का प्रश्न है, हमें अभिनवगुप्त का ही मत अनेक कारणों से स्वीकार्य प्रतीत होता है क्योंकि इसी सिद्धान्त से ही सम्पूर्ण काव्यांगों की उपयुक्त उपपत्ति हो जाती है। फलतः इससे अपरिहार्य रूप से सम्बद्ध आनन्दवाद ही हमें ग्राह्य प्रतीत होता है।'[३]

"परिपुष्टवादी 'स्थायी रसः' मानते हैं, और इस आधार पर उनकी धारणा रस के सुख-दुःखात्मक स्वरूप में पर्यवसित होती है, तो संविच्चर्वणावादी 'स्थायी विलक्षण रसः' मानते हैं जो आनन्द रूप में ही परिणत हो जाती है। पूर्वोक्त दोनों दृष्टिकोण मूलतः भिन्न हैं, अतः इनका एकीकरण अनुपयुक्त है। संविच्चर्वणा प्रक्रिया स्वीकार करके रस को 'सुख-दुःखात्मक रूप' मानना असंगत है।''[४]

भावरूप— रस-स्वरूप

आचार्य शुक्ल ने जिस प्रकार 'भाव स्वरूप' के विश्लेषण में उसके अनुभूति पक्ष के साथ-साथ उसके प्रत्यक्ष बोध और 'वेगयुक्त' प्रवृत्ति को भी ग्रहण किया है,[५] उसी प्रकार रस स्वरूप के विश्लेषण में भी उन्होंने उसके मात्र 'आनन्दस्वरूप' पर बल नहीं दिया है।

---

१. वही, पृष्ठ १७७। २. रस-विमर्श, पृष्ठ ७३।
३. भारतीय साहित्य शास्त्र, पृष्ठ २९१। ४. वही, पृष्ठ २९१।
५. रसमीमांसा, पृष्ठ १६८, प्रथम संस्करण—२००६।

उन्होंने 'रस-स्वरूप' में रस ध्वनिवादी आचार्यों की भांति न तो चित्तवृत्तियों के समन्वय पर बल दिया है और न 'अस्मिता' के भोग रूप आनन्द को ही रस मानना उचित समझा है। रस की अनुभूति में वे काव्य प्रेषित भावों की यथावत् तीव्र अनुभूति पर जितना बल देते हैं, उतना भाव के स्वरूप परिवर्तन पर नहीं। परिणामतः रस को इन्होंने एकान्त आनन्दमय मानने से असहमति प्रकट की है—

"मेरी समझ में रसास्वादन का प्रकृत स्वरूप 'आनन्द' शब्द से व्यक्त नहीं होता। 'लोकोत्तर' 'अनिर्वचनीय' आदि विशेषणों से न तो उसके वाचकत्व का परिहार होता है, न प्रयोग का प्रायश्चित। क्या क्रोध, जुगुप्सा आदि आनन्द का रूप धारण करके ही श्रोता के हृदय में प्रकट होते हैं, अपने प्रकृत रूप का सर्वथा विसर्जन कर देते हैं, उसे कुछ भी लगा नहीं रहने देते ? क्या 'विभावत्व' उनका स्वरूप हरकर उन्हें एक ही स्वरूप—सुख का— दे देता है ? क्या दुःख के भेद सुख के भेद-से प्रतीत होने लगते हैं ? क्या मृत पुत्र के लिए विलाप करती हुई शैव्या से राजा हरिश्चन्द्र का कफन मांगना देखकर सुनकर आँसू नहीं आ जाते, दांत निकल पड़ते हैं।

क्या कोई दुखान्त कथा पढ़कर बहुत देर तक उसकी खिन्नता नहीं बनी रहती ? चित्त का द्रुत होना क्या आनन्दगत है ? इस आनन्द शब्द ने काव्य के महत्त्व को कुछ कम कर दिया है।"[१]

वे रस के एकान्त आनन्द-स्वरूप का प्रत्याख्यान करते हैं और 'रस दशा' में 'हृदय की मुक्तावस्था' का स्वतन्त्र प्रतिपादन करते हैं, साथ ही परम्परागत रस के 'लोकोत्तर', 'ब्रह्मानन्द सहोदर' आदि विशेषणों का पुनराख्यान करके अपनी मान्यता से उनकी संगति बिठाने का भी प्रयत्न करते हैं:—

'रस दशा में अपनी पृथक् सत्ता की भावना का परिहार हो जाता है अर्थात् काव्य में प्रस्तुत विषय को हम अपने व्यक्तित्व से सम्बद्ध रूप में नहीं देखते, अपनी योगक्षेम-वासना की उपाधि से ग्रस्त हृदय द्वारा ग्रहण नहीं करते, बल्कि निर्विघ्न, शुद्ध और मुक्त हृदय द्वारा ग्रहण करते हैं। इसी को पाश्चात्य समीक्षा में अहं का विसर्जन और निस्संगता (इम्पर्सनलेटी, डिटेचमेंट) कहते हैं। इसी को चाहे लोकोत्तरत्व या ब्रह्मानन्द सहोदरत्व कहिए, चाहे विभावन व्यापार का अलौकिकत्व।'[२]

आचार्य शुक्ल 'अस्मिता' के भोग की अपेक्षा 'अहं के विसर्जन' पर और 'निस्संगता' पर अधिक बल देते हैं और रसानुभूति को वास्तविक अनुभूति से सर्वथा पृथक् निराली अनुभूति नहीं मानते। 'रसानुभूति प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूति से सर्वथा पृथक् कोई अन्तर्वृत्ति नहीं है, बल्कि उसीका एक उदात्त एव अवदात स्वरूप है।'[३]

---

१. रस-मीमांसा, पृष्ठ १०१। २. चिन्तामणि, प्रथम भाग, पृष्ठ २४७।
३. वही, पृष्ठ २५३।

शुक्लजी ने प्राचीन आचार्यों के 'अलौकिक', 'ब्रह्मानन्द सहोदर' आदि अस्पष्ट विशेषणों को वास्तविक नव-स्वरूप देने का प्रयत्न किया है और वे 'स्थायी विलक्षणो रसः' के स्थान पर 'स्थायी रसः' को ही विशेष रूप से मान्यता देते हैं। वे काव्य की आत्मा के रूप में भाव या रस को लगभग एक ही स्वीकार करते हैं और उनमें विशेष अन्तर नहीं मानते 'काव्य का आभ्यन्तर स्वरूप या आत्मा भाव या रस है।'[1]

क्योंकि शुक्ल जी ने रस स्वरूप की सुख-दुःखात्मक भावानुभूति पर बल दिया है, इसलिए उसकी (रस की) तीन कोटियों का निर्धारण किया है।[2] इन्होंने स्थायी भावों को सुखात्मक एवं दुःखात्मक वर्गों में रख कर पृथक्-पृथक् विवेचन भी इसीलिए किया है क्योंकि सहृदय की भावानुभूति को ही 'रस-स्वरूप' निर्धारित करने की ओर इनका झुकाव है।[3] वे करुण रसानुभूति में 'आनन्द' को एकान्त महत्त्व न देकर 'काव्यास्वाद' के आनन्द की स्वतन्त्र व्याख्या करते हैं।[4] डा० राकेश गुप्त 'रस' को द्विविधा दुःखात्मक एवं सुखात्मक विभक्त करके देखते हैं। एक आस्वादन तथा दूसरे भाव(इमोशन)रूप में तथा वे 'रस' को केवल आनन्दात्मक अनुभूति ही स्वीकार नहीं करते। वे उसे दुःखात्मक भाव के अनुसार दुःखात्मक एवं सुखात्मक भाव के अनुसार सुखात्मक निर्धारित करते हैं। दैनिक जीवन में पात्रों के सुख-दुःख से सहृदय की सम्वेदनात्मक अनुभूति को उन्होंने पृथक् स्वीकार किया है और जीवन के समानान्तर स्तर पर नाटक में चित्रित पात्रों के विश्वासोत्पादक सुख-दुःख को सामान्य जीवन के सुख-दुःख की अनुभूति से अधिक सूक्ष्म, गहन एवं सघन स्वीकार किया है क्योंकि सामान्य जीवन में दुःख-सुख के पात्रों के सम्बन्ध में घटनाओं के पूर्वापर, उनके प्रत्येक विवरण तथा उनके जीवन की आद्योपान्तता से हमारा इतना घनिष्ठ सम्बन्ध या परिचय नहीं रहता जितना नाटक में कवि के चित्रण से समग्र रूप में एक ही क्षण में उपस्थित रहता है, क्योंकि हम नाटक में चित्रित पात्रों के जीवन के आरम्भ (अथवा कथा के आरम्भ) से ही उनकी परिस्थितियों, संस्कारों, स्वभावों और कामनाओं, गुण-शील एवं प्रवृत्ति से परिचित होते हैं जिनके कारण उनके साथ सामाजिक सम्वेदना अधिक सहानुभूतिपूर्ण एवं वास्तविक होती है।[5]

उन्होंने जीवन के साधारण और वास्तविक दृष्टान्त देकर सिद्ध किया है कि वास्तव में काव्यगत पात्रों के सुख-दुःख को देख-सुनकर सामाजिक को भी सुख-दुःख (सामान्य जीवन से गहन, सूक्ष्म, और सघन) ही होता है, और सुख (आनन्द) ही काव्य का एक मात्र मान्य उद्देश्य नहीं हो सकता।[6] उनका कहना है कि यदि काव्य से केवल सुख (प्लेज़र) ही प्राप्त होता तो डॉक्टर लोग क्षय-रोगियों और हृदय धड़कन के रोगियों को उद्वेग-जनक अथवा

१. र० मी०, पृष्ठ १०५, प्रथम संस्करण, संवत् २००६।
२. र० मी०, रसात्मक बोध लेख, पृष्ठ २५६।
३. वही, भावों का वर्गीकरण, पृष्ठ १६२-१६३।
४. वही, करुण-रस, पृष्ठ २७३। ५. देखिए सा० स्ट० इ०, पृष्ठ ७८-६६।
६. दिस इज हाउ प्लेज़र केननोट बी कंसीडर्ड टु बी द एंड आफ द पोयट्री। वही, पृष्ट ७६।

बीभत्व दृश्यों से परिपूर्ण साहित्य पढ़ने अथवा भयानक त्रासदियों का अभिनय देखने का निषेध न करते ।[1]

उनके मत में काव्य-रसास्वादन (द रेलिश आफ द पोयट्री) का रहस्य इसे प्रत्यय करने की हमारी रुचि में निहित है ।[2] उनके मत में काव्य के सन्दर्भ में 'रुचि' तथा 'आस्वाद' दोनों लगभग पर्यायवाची शब्द हैं । 'रुचि' अपेक्षया मन की स्थायी वृत्ति है और कार्यप्रवृत्त होने पर 'आस्वादन' हो जाती है, और रसास्वादन 'रुचि' के स्वरूप-प्रकाश के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं ।[3] यदि काव्य की कोई कृति हमें अभिरुचित करती है तो हम इसका आस्वादन अवश्यमेव करते हैं और हम इसके प्रत्यय का आस्वादन करते हैं तो हमें यह अवश्यमेव अभिरुचित करती है ।[4]

आगे डॉ० राकेश गुप्त रस-निष्पत्ति के सिद्धान्तों की इस सामान्य दोषग्रस्तता को लक्षित करते हैं कि वे हमें यह नहीं बताते कि हम 'रस-अर्थ' के अन्तर्गत न आते काव्य का रसास्वादन क्यों और कैसे करते हैं ।

डॉ० राकेश गुप्त के मत में 'रस' (पोयटिक रेलिश) की अंगानुभूतियां ६ प्रकार की हैं—

१. सहानुभूत्यात्मक (सिम्पैथेटिक फीलिंग्स), २. विद्वेषात्मक (एन्टीपैथिक फीलिंग्स), ३. स्मृत्यात्मक एवं स्मृत्याभासात्मक (रिक्लेक्शनल एण्ड रेमिनिसेंशल फीलिंग्स), ४. जिज्ञासात्मक वा औत्सुक्यात्मक (फीलिंग्स परटेनिंग टु क्यूरोसिटी), ५. विचारात्मक (रिफ्लेक्शनल फीलिंग्स), ६. आलोचनात्मक (क्रीटिकल फीलिंग्स) ।[5]

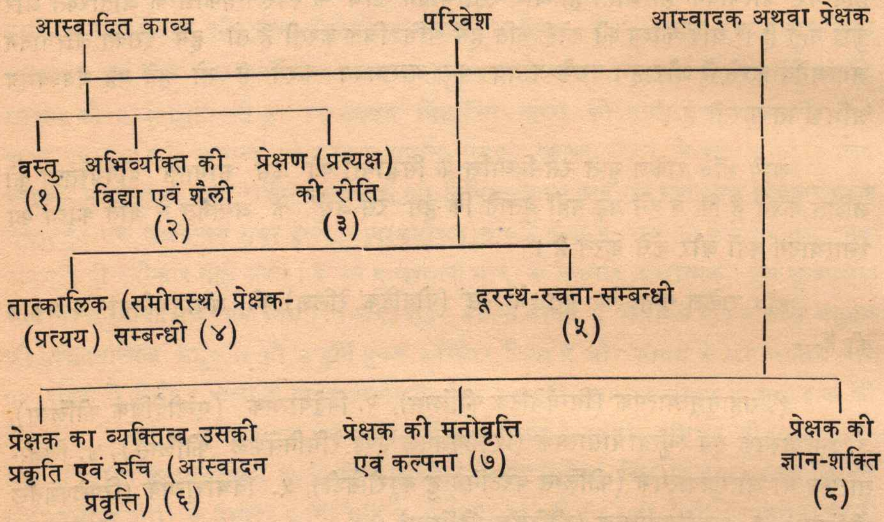
उनके मत से साहित्य के प्रत्ययन से(परसेप्शन से) जागृत कोई अनुभूति ऊपर गिनाई छः में से किसी एक प्रकार की हो सकती है, एवं हमारा अनुभवगम्य काव्यास्वाद इन्हीं अनुभूतियों से बना होता है, तथा जैसा साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने बताया है, न वह अलौकिक

१. सा० स्ट० र०, पृष्ठ ८० ।
२. ह्वाट देन इज द सीक्रेट आफ़ द रेलिश आफ पोयट्री ? इट कंसिस्ट्स इन अवर इन्टरेस्ट टु परसीव इट । वही, पृष्ठ ८० ।
३. द टर्म्स इण्टरेस्ट एण्ड रेलिश आर आलमोस्ट सिनोनिम्स विद ईच अदर विद रिफ्रेन्स टु पोयट्री । इण्टरेस्ट इज कम्पेरेटिवलि ए परमानेण्ट डिसपोजीशन आफ द माइण्ड एण्ड विकम्स 'रेलिश' इन एक्शन एण्ड रेलिश इज़ नथिंग बट ए मेनिफेस्टेशन आफ इण्टरेस्ट । सा० स्ट० र०, पृष्ठ ८१ ।
४. इफ ए पोयटिकल पीस इण्टरेस्ट अस, वी मस्ट रेलिश इट, एण्ड इफ वी रेलिश इट्स परसेप्शन, इट मस्ट इण्टरेस्ट अस । वही, पृष्ठ ८१ ।
५. सा०, स्ट० र०, पृष्ठ ८३-८८ ।

और अनिर्वचनीय होती है, न पर-प्रत्यक्ष-गम्य (सुपर सेंसुअस), जैसा कि डॉ० श्यामसुन्दर दास का मत है।[1]

काव्य के आस्वादन का निर्धारण करने वाले तत्त्व डॉ० राकेश गुप्त के मत में निम्न-लिखित हैं[2]:—

रसास्वाद के निर्धारक तत्त्व



सहानुभूत्यात्मक अनुभूतियाँ—

डॉ० राकेश गुप्त का मत है कि इनमें सहानुभूत्यात्मक अनुभूतियां तब ही जागृत हो पाती हैं, जब यह ज्ञान, कि हमारा प्रत्यक्ष-विषय कल्पना-प्रसूत है, हमारी चेतना के उपान्त में खिसक जाता है। अभिनवगुप्त ने और उनके अनुगामियों ने, डॉ० राकेश गुप्त के मतानुसार, इन्हीं अनुभूतियों को स्वीकार किया है, और वह भी अतिस्थूल रूप से। ये अमुभूतियाँ दैनिक जीवन की सहानुभूत्यात्मक अनुभूतियों से अत्यधिक भिन्न नहीं होती हैं। भिन्नता केवल इतनी होती है कि परदे पर किसी को कोड़ा लगाये जाते देख कर हम उसे बचाने नहीं दौड़ते क्योंकि हमारे चेतना-उपान्त में यह ज्ञान रहता है कि हम फिल्म या नाटक देख रहे हैं और जब हमारे मस्तिष्क में उसे बचाने को दौड़ने का ख्याल आता है, तो यह ज्ञान हमारी चेतना के केन्द्र में उपस्थित हो जाता है और हम वैसा नहीं करते, बैठे रह जाते हैं; कभी-कभी चेतना-केन्द्र में यह ज्ञान उपस्थित न होने पर हम रक्षा करने को उठ दौड़ते भी हैं।[3] यह ज्ञान चेतना केन्द्र में ले आने पर कि हम अवास्तविक विषयों को देख रहे हैं, इन अनुभूतियों को तिरोहित किया जा सकता है।

---

१. सा० स्ट० र०, पृष्ठ ६०। २. वही, पृष्ठ ६३। ३. वही, पृष्ठ ८३-८४।

विद्वेषात्मक अनुभूतियां

सहानुभूत्यात्मक अनुभूतियों से सम्बद्ध 'विद्वेषात्मक अनुभूतियां' हैं। वे भी प्रथम अनुभूतियों की भांति द्रष्टा के इस ज्ञान के तत्काल अभाव में ही कि वह जो देख रहा है, वह वास्तविक नहीं, अनुभूत होती हैं और दृश्य-वस्तु की वास्तविकता के विषय में सीधी चेतना के द्वारा वे भी तिरोहित हो जाती हैं। परन्तु जहां सहानुभूत्यात्मक अनुभूतियां सद्वृत्त पात्रों के विषय में उत्पन्न होती हैं, विद्वेषात्मक दुर्वृत्तों (खल-नायकों) के विषय में उत्पन्न होती हैं। कभी-कभी द्रष्टा के संस्कारों के कारण पात्रों के चरित्र में किसी दोष के बिना भी द्रष्टा में विद्वेषात्मक अनुभूतियां उत्पन्न हो सकती हैं। यथा ऐसे भी लोग मिल सकते हैं जिनमें कामुक दृश्यों से जुगुप्सा की अनुभूति होती है।[1] आचार्य शुक्ल ने भी रसानुभूति के प्रकार में ऐसी अनुभूतियों का अनुभव स्वीकार किया है।[2] आचार्य शुक्ल का यह विवेचन शेंड पर आधारित था।[3]

स्मृत्यात्मक अथवा स्मृत्याभासात्मक अनुभूतियां

ये हमें तब होती हैं जब अपने ऊपर घटित किसी समान घटना को देखते हैं। तब हमारे मन पर पड़े अवशिष्ट प्रभाव हमारी चेतना के केन्द्र में उपस्थित हो जाते हैं। जब ऐसा होता है, तब हमें सहानुभूत्यात्मक अथवा विद्वेषात्मक अनुभूतियां ही नहीं होतीं, बल्कि हम एक वास्तविक मनोवेग का अनुभव करते हैं, क्योंकि स्मृति द्वारा हमें अपने आलम्बन विभाव प्राप्त हो जाते हैं। परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि सुखद परिस्थिति से सुखद एवं दुःखद परिस्थिति से दुःखद अनुभूतियां ही हमारे मस्तिष्क में आयें। वे इसके विपरीत अधिक चुभने वाली हो सकती हैं। उदाहरण के लिए एक मां जिसका बच्चा, चल बसा है, नाटक में किसी बच्चे की मां को उसकी क्रीडा और आह्लादक स्वर से आह्लादित होते देखती है, तो अपने बच्चे की मृत्यु की स्मृति से तीक्ष्ण वेदनाभूति का भी अनुभव कर सकती है। ऐसे ही नाटक का प्रेक्षक जब किसी पात्र की यातनाओं को देखकर अपने किसी और शत्रु की यातनाओं को स्मृति-पथ में लाता है तो उनसे उसे सुख ही होगा, पीड़ा नहीं।

---

१. वही, पृष्ठ ८५।

२. देखिए, 'साधारणीकरण और व्यक्तिवैचित्र्यवाद' लेख, "द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ।"

३. ए० एफ० शेंड ने अपने फाउण्डेशन आफ़ करेक्टर, पृष्ठ ६० में विद्वेषात्मक मनोवेगों का वर्णन इस प्रकार दिया है :"...दि साइट आफ जाय एक्सप्रेस्ड आन द फेस आफ द हेटेड वन अवेकंस एन्गुइश एण्ड द साइट आफ़ सारो, हिडियस जाय, एण्ड द एक्सप्रेशन आफ़ हिज फियर, एवेकन्स नो रेस्पोंसिव फियर, बट द होप दैट व्हाट ही फीयर्स विल बी अकम्प्लिश्ड, एण्ड द एक्सप्रेशन आफ़ हिज होप अवेकिन्स नो होप, बट द फियर दैट व्हाट ही होप्स विल बी अकम्प्लिश्ड, द एक्सप्रेशन आफ़ हिज एंगर अलोन अराउजेज ए रेस्पोन्सिव एंगर, बट वन व्हिच इज़ अराउज़्ड अगेन्स्ट हिम एण्ड नाट आन हिज़ बिहाफ।

जिज्ञासात्मक और औत्सुक्यात्मक अनुभूतियां

ये अनुभूतियां बिना प्रत्ययन के जागृत अनुभूतियां न समझी जानी चाहिएं अपितु इनसे उन्हीं अनुभूतियों का अभिप्राय होना चाहिए जो काव्यात्मक दृश्यों के प्रत्ययन से जागृत होती है। इसकी अनुभूति हमें जासूसी उपन्यासों के पढ़ने से प्रचुर मात्रा में होती है, जहां हम प्रत्येक क्षण हत्या के रहस्योद्घाटन अथवा वास्तविकता के मूल में जाना चाहते हैं। इसकी अनुभूति उत्तेजक और उत्तेजक की प्रकत्यनुसार अति-निम्न स्तर की श्रेणी में भिन्न-भिन्न प्रकार से हो सकती है। परन्तु यह भी याद रखना आवश्यक है कि प्रथम बार पढ़ने पर जिस प्रकार इनसे रस मिलता है, दूसरी बार नहीं मिलता। यही कारण है कि एक उपन्यास अथवा कहानी को पुनः तब तक नहीं पढ़ा जाता, जब तक प्रथम वाचन की स्मृति पूर्णतया तिरोहित नहीं हो जाती अथवा उस कृति में उन अन्य प्रकार की अनुभूतियों को जागृत करने की शक्ति होनी चाहिए जो हमारे रसास्वादन का अंग है।[1]

विचारात्मक अनुभूतियां

ये अनुभूतियां हमें जीवन के जटिल प्रश्नों पर विचार करने के लिए तत्पर कर देती हैं। प्रत्येक काव्य अथवा नाटक, उपन्यास अथवा कहानी हमारे सामने विषम-जीवन-पथ की जटिल समस्याओं को उभारकर सामने रखती है और आस्वाद्य प्रत्ययन के द्वारा सहज ही इनसे हमारा परिचय करा देती है। काव्य के विविध प्रकारों की वृद्धि से आधुनिक-कालीन साहित्य में ऐसी अथवा इस प्रकार की अनुभूतियों को बारम्बार उकसाया जाता है। ऐसे समस्या अथवा व्यंग नाटक अथवा उपन्यास या तो प्रेक्षक को किसी सामाजिक, राजनीतिक अथवा आर्थिक समस्या की प्रतीति कराते हैं अथवा समाज में प्रचलित किसी कुरीति का अपहास करते हैं।

आलोचनात्मक अनुभूतियां

इन अनुभूतियों को अनुभव करते समय प्रेक्षक के चेतना-केन्द्र में यह ज्ञान रहता है कि वह जो कुछ देख रहा है, वह काव्यात्मक वास्तविकताएं हैं। सम्मानन (सराहना) अथवा अवमानन (अवमूल्यन) की अनुभूतियां इस वर्ग के अन्दर कार्य करती हैं। किसी नाटक को देखते समय अथवा किसी वर्णन को पढ़ते समय हमारे मस्तिष्क में प्रायः इस प्रकार का एक सुझाव आता है कि 'ऐसा न होकर, ऐसा होता तो अच्छा होता'। इस प्रकार की अथवा इसके सदृश अनुभूतियां इस वर्ग में आती हैं। यहां यह भी विचार्य हैं कि हमारी आलोचनात्मक अनुभूतियाँ किन घटकों से प्रभावित होती हैं। इनमें हमारा अध्ययन एवं विद्यमान आलोचनात्मक साहित्य का तथा उसके आधारभूत सिद्धान्तों का ज्ञान सबसे अग्रणी होता है। प्रायः हमारी आलोचनात्मक अनुभूतियां आचार-सम्बन्धी, सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों से काफी अंश में प्रभावित होती हैं।

१. सा० स्ट० र०, पृष्ट ८७।

कभी-कभी आलोचनात्मक अनुभूतियां इस प्रवृत्ति से भी अनुशासित होती हैं कि हम कहीं उथले और पिछड़े न समझे जाएं। यह प्रवृत्ति उन लोगों में प्रायः देखी जाती है जो स्वयं उथले-छिछले होकर भी यह दिखाना चाहते हैं कि ऐसी बात नहीं है। तब आलोचनात्मक अनुभूतियां देखा-देखी जागृत होती हैं।

इन घटकों के अतिरिक्त जो हमारी आलोचनात्मक अनुभूतियों को प्रभावित करते हैं, ऊपर गिनाये गये वे तत्त्व भी हैं जो हमारी आलोचनात्मक अनुभूतियों को ही नहीं 'काव्य-रसास्वादन' की अन्य प्रकार की अनुभूतियों को भी प्रभावित करते हैं। ऊपर उन्हें 'काव्य रसाम्वादन के निर्धारक तत्त्व' कहा गया है। ऊपर गिनाये गये ये तीन घटक 'छठे निर्धारक तत्त्व का मात्र एक भाग हैं, क्योंकि वे हमें यह बताते हैं कि बाहरी प्रभावों से व्यक्तिगत रुचि कैसे विकसती और निरूपित होती है।

यह आवश्यक नहीं है कि काव्य की घटना को देखते समय हम छहों प्रकार की अनुभूतियों का अनुभव करें। परन्तु सदा एक, आलोचनात्मक अथवा दूसरी कोई अनुभूति अवश्य उभरती है। सहानुभूत्यात्मक और विद्वेषात्मक अनुभूतियां संवेगों (भावों) से सम्बन्धित काव्यात्मक वास्तविकताओं के देखने से अनुभव होती है, जिज्ञासात्मक वा औत्सुक्यात्मक केवल कहानी कहे जाने पर अनुभव होती हैं। विचारात्मक केवल तभी अनुभूत होती हैं जब कोई सुझाव अथवा व्यंग उपस्थित किया जाता है अथवा काव्य किसी सामाजिक समस्या अथवा बुराई पर संवर्तन करता है।[1]

इस प्रकार डॉ० राकेश गुप्त रस को नाटक के, या काव्य के पात्रों के स्तर पर संवेगात्मक (इमोशन)[2] एवं सहृदय के स्तर पर आस्वादनात्मक—छः प्रकार की अनुभूतियां जिसके अंग हैं—मानते हैं तथा सहृदय के आस्वादन को सुख-दुःखात्मक ही नहीं जिज्ञासात्मक, विचारात्मक और वितर्कात्मक भी स्वीकार करते हैं।

डॉ० जोग भी रस को 'भावना जागृति रूप' अथवा स्थूल रूप से 'अनुकूल संवेदनात्मक' मानना उचित समझते हैं। परन्तु वे रसोत्पत्ति को 'सत्-रज-तम' त्रिगुणात्मक ही स्वीकार करते हैं। उनका यह मत सांख्य-दर्शन के और भरत मुनि आदि के रस-प्रकृतियों के अनुसार है जिनके आधार पर रसों के भिन्न 'वर्णों' का वर्णन किया गया है।[3] वे करुण-रस के प्रसंग में रस को केवल सुखात्मक मानना सर्वांश में सत्य नहीं स्वीकार करते। अपने मत से वे 'स्वप्रकाश' का अर्थ 'मानसिक प्रकाश' एवं 'एकधन चमत्कार' और अखण्ड का आशय 'अपृथक् कार्य प्रतीति एवं अखण्ड रूप में निष्पन्न अन्तिम रस-वृत्ति ग्रहण करते हैं।[4] डॉ०

---

१. सा० स्ट० र० ८८-९०।
२. सा० स्ट० र०, पृष्ठ १०४।
३. नाट्य शास्त्र ६।४२-४३।
४. हि० म० का० अध्य०, पृष्ठ ११४-११५।

मा० गो० देशमुख ने काव्य में ही नहीं, ललित कलाओं के भी सभी प्रकारों में एकमेव अनुस्यूत तत्त्व 'भाव' की ही प्रतीति की है। उनका यह मत भरत मुनि के 'न भावहीनोस्ति रसः न भावो रस वर्जितः' पर आधारितः है।[1] वे रस और भाव को अभिन्न मानते हुए भी 'रस' के स्थान पर भाव शब्द को अधिक उपादेय समझते हैं।[2]

वस्तुनिष्ठ-ज्ञातृ निरपेक्ष रस

आधुनिक रस-सिद्धान्त के समीक्षकों में केवल डॉ० सुरेन्द्र वारलिंगे ने रस के वस्तुनिष्ठ रूप का प्रतिपादन अनेक युक्ति प्रमाणों से किया है। उनके मत से भरत मुनि रस को सहृदय-निष्ठ नहीं मानते थे, वरन् उन्होंने रस को वस्तुनिष्ट रूप में प्रतिष्ठित किया था। उनकी धारणा है कि यदि रस का भरतानुकूल स्वरूप ग्रहण किया जाय तो किसी प्रकार का असंगति अथवा एकसूत्रता के अभाव का अवकाश नहीं रहेगा जैसा कि भरत परवर्ती अभिनवगुप्तादि आचार्यों के द्वारा रस को एकान्ततः रसिकगत मानने पर रस-व्यवस्था में उत्पन्न हो जाता है। उनके मत का सारांश निम्नांकित है[3]—

१. भरतमुनि ने रस शब्द का प्रयोग सांख्यशास्त्र के 'तन्मात्रवाचक' 'रस' शब्द के आधार पर किया है। सांख्य में ज्ञातृ निरपेक्ष वस्तु को 'रस' कहा जाता है, आयुर्वेद में भी रस का अर्थ वनस्पतियों में उपलब्ध वस्तुमात्र है। भरत मुनि ने सांख्य और आयुर्वेद से रस शब्द को ग्रहण किया है जो वस्तुवाचक है।

२. भरत मुनि का रस से तात्पर्य आस्वाद्य से है अर्थात् आस्वाद जिसका भाव या धर्म है—ऐसी वस्तु अथवा आस्वाद का अधिष्ठान। वेदान्तियों ने ब्रह्म की भांति रस को भी आनन्दस्वरूप बताया है। वस्तुतः रस सहृदय के आनन्द या आस्वाद का नाम नहीं है, वह तो नाट्य में उपलब्ध वस्तुमात्र है।

३. भरत मुनि ने 'रस निस्पत्ति' और 'रसास्वाद' की दो भिन्न प्रक्रियाओं का निरूपण किया है। 'तत्र विभावानुभावव्यभिचारिभाव संयोगात् रस निष्पत्तिः' इस सूत्र में 'तत्र' से अभिप्रायः रंगमंच से है और वहाँ पर विभावादि के संयोग से रस-निष्पत्ति का निरूपण है। इसे ही रस कहना चाहिए। रसास्वाद की प्रक्रिया भिन्न है। सहृदय के आस्वाद का नाम रस नहीं है।

४. काव्य-निर्माण के लिए आवश्यक है कि मनोगत भाव वस्तुगत बनें। जब कवि-हृदयस्थ भावों का वस्तुकरण होता है, तभी काव्य-निर्माण होता है। शब्दों के अथवा भावों के घेरे में रहने वाले काव्य या नाटक को ही भरत मुनि ने रस कहा है।

---

१. हि० म० का० अध्य०, पृष्ठ ११५-११६।

२. वही, पृष्ठ ११७। ३. वही, पृष्ठ ५२२।

५. जिस प्रकार पंच महाभूतों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए 'तन्मात्र' जैसी वस्तु की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार रसिक को आस्वाद लेने के लिए किसी न किसी वस्तु, आस्वाद्य बस्तु, कीं आवश्यकता होती है और वह वस्तु रस है।

यद्यपि वस्तुवादी दृष्टिकोण की क्षीण झलक, अभिनवगुप्तपादाचार्य द्वारा उद्धृत सांख्यवादी आचार्य की मान्यता में मिल जाती है, जैसा पहले ऊपर कहा गया है, तथापि डॉ० वारलिंगे से निरूपित वस्तुनिष्ठ रस-स्वरूप का इससे नितान्त अल्पसाम्य है, पूर्ण साम्य नहीं है।

ऊपर किए हुए विवेचन में रस-सम्बन्धी तीन दृष्टिकोण उपस्थित हुए हैं। आनन्दवादी दृष्टिकोण, सुख-दुःखात्मक भाववादी दृष्टिकोण एवं वस्तुवादी दृष्टिकोण—वास्तव में ये तीनों परस्पर विरोधी अथवा असंलग्न नहीं हैं। वस्तुवादी दृष्टिकोण कला की आधार-भूमि प्रदान करता है और उसे वायवीय अथवा मात्र कल्पना जगत् की वस्तु ही नहीं रहने देता अपितु रूपात्मक-जगत् की अभिव्यक्ति के अनुसार पदार्थ रूप में उपस्थित करता है। बौद्ध दार्शनिक नागसेन ईसा से १५० वर्ष पूर्व हुए थे।[1] उनके मिलिन्द प्रश्न में अनात्म-दर्शन को स्पष्ट करने के लिए उदाहरण देकर सामूहिक सावयव वस्तु को समझाया गया है कि उसके अंगों के आधार पर व्यवहार के लिए पृथक् नाम बोला जाता है। उन्होंने इसके अनेक उदाहरण दिए हैं और एक उदाहरण 'कढ़ी' व्यंजन का भी दिया है जो भरत के नाट्य शास्त्र में दिए 'व्यंजन' के[2] दृष्टान्त से सटीक अर्थ में मिलता जुलता है। उसे यहां देना समीचीन होगा :—

'भन्ते ! इन स्पर्श इत्यादि धर्मों के एक साथ मिल जाने पर क्या उन्हें अलग-अलग बाँट कर दिखाया जा सकता है—यह स्पर्श है, यह वेदना है, यह संज्ञा है, यह चेतना है, यह विज्ञान है, यह वितर्क है, यह विचार है ?

'महाराज ! इस तरह नहीं दिखाया जा सकता।'

'कृपया उपमा देकर समझावें।'

'महाराज ! राजा का रसोइया झोल या तेमन तैयार करे। वह उसमें दही, नमक, आदी (अदरक), जीरा, मिर्च, इत्यादि अनेक चीजें डाले। तब राजा उसे कहें—दही का स्वाद अलग कर दो, नमक का स्वाद अलग कर दो, अदरक का स्वाद अलग कर दो, जीरा का स्वाद अलग कर दो, मिर्च का स्वाद अलग कर दो, और भी दूसरी चीजों के स्वाद को अलग-अलग निकाल दो। महाराज ! तो उन चीजों के एक साथ मिल जाने के बाद क्या उनको अलग-अलग निकाल कर दिखाया जा सकता है ?'

---

१. देखिए द० दि०, प्रथम संस्करण; विद्वान भरत मुनि के ना० शा० का काल भी ई० पू० १५० से ३५० ई० तक मानते हैं।

२. यथा बहुद्रव्ययुतैर्व्यंजनैर्बहुभिर्युतम्, आस्वादयन्ति भुंजानां भक्तं भक्तविदो जनाः। ना० शा०, ६।३२।

'नहीं, भन्ते।'

'तो भी, सभी स्वाद उसमें अपनी-अपनी तरह से मौजूद रहेंगे। महाराज ! इसी तरह उन धर्मों के एक साथ मिल जाने के बाद उन्हें अलग-अलग निकालकर नहीं दिखाया जा सकता।'

'भन्ते ठीक है।'[१]

पुन: जहाँ मनोविज्ञान होता है, वहाँ स्पर्श भी (काण्टेक्ट) भी होता है, वेदना भी होती है, संज्ञा भी होती है, चेतना भी होती है, वितर्क भी होता है, विचार भी होता है। स्पर्श से होने वाले सभी धर्म होते हैं। स्पर्श की पहचान 'छूना', वेदना की पहचान 'अनुभव करना', संज्ञा की पहचान 'पहचानना', चेतना की पहचान 'जान लेना', वितर्क की पहचान 'किसी काम में लग जाना' और विचार की पहचान 'अनुमार्जन' है।[२] यह मनोविज्ञान जहाँ-जहाँ चक्षु विज्ञान होता है, वहाँ-वहाँ होता है, तथा इसके पीछे चार प्रवृत्तियाँ 'मिलिंद प्रश्न' में कही गई हैं यथा—

१. रुझान या प्रवृत्ति। २. द्वार (मार्ग मिलने से)।
३. प्रकृति अथवा आदत। ४. व्यवहार (साहचर्य आदि)।[३]

सावयव, सामूहिक-आलम्बनात्मक रूप में 'रस' पर थोड़ा और स्पष्ट विचार करना आवश्यक है।

उदाहरण रूप में राजा मिलिन्द के प्रश्न और उसके समाधान में किए गए 'रथ' शब्द पर नागसेन के प्रश्नों को देना अनावश्यक विस्तार न होगा—

'नागसेन क्या है ?...क्या ये केश नागसेन हैं ?
'नहीं महाराज।'
'ये रोयें नागसेन हैं ?'
'नहीं महाराज।'

'ये नख, दाँत, चमड़ा, मांस, स्नायु, हड्डी, मज्जा, वृक्क, हृदय, यकृत, क्लोमक, प्लीहा, फुफ्फुस, आँत, पतली, आँत, पेट, पखाना, पित्त, कफ, पीव, पसीना, मेद, आँसू, चर्बी, राल, नासामल, कर्णमल, मस्तिष्क, नागसेन हैं ?'

'नहीं महाराज।'

'तब क्या आपका रूप (=भौतिक तत्त्व)...वेदना...संज्ञा...संस्कार या विज्ञान नागसेन हैं ?'

---

१. मिलिन्द प्रश्न, पृष्ठ ७८०। २. वही, पृष्ठ ७७०। ३. वही, पृष्ठ ७१-७३।

'नहीं महाराज।'

'तो क्या...रूप...विज्ञान (=पाँचों स्कन्ध) सभी एक साथ नागसेन हैं ?'

'नहीं महाराज।'

'तो क्या...रूप आदि से भिन्न कोई नागसेन है ?'

'नहीं महाराज।'

'भन्ते। मैं आपसे पूछते-पूछते थक गया किन्तु 'नागसेन' क्या है—इसका पता नहीं लगा सका ! तो क्या नागसेन केवल शब्दमात्र है ? आखिर नागसेन है कौन ?'[1]

'महाराज।...क्या आप पैदल चलकर यहाँ आये या किसी सवारी पर ?'

'भन्ते।'...मैं...रथ पर आया।'

'महाराज।...तो मुझे बतावें कि आपका 'रथ' कहाँ है ? क्या हरिस (ईषा) रथ है ?'

'नहीं भन्ते।'

'क्या अक्ष रथ है ?'

'नहीं भन्ते।'

'क्या चक्के रथ हैं ?'

'नहीं भन्ते।'

'क्या रथ का पंजर...रस्सियाँ...लगाम...चाबुक...रथ हैं ?'

'नहीं भन्ते।'

'महाराज, मैं आपसे पूछते-पूछते थक गया, किन्तु पता नहीं लगा कि रथ कहाँ है ? क्या रथ केवल शब्दमात्र है ? आखिर यह रथ है क्या ? आप झूठ बोलते हैं कि रथ नहीं है। महाराज ! सारे जम्बूद्वीप के आप सबसे बड़े राजा हैं, भला किससे डर कर आप झूठ बोलते हैं ?'

'भन्ते नागसेन ! मैं झूठ नहीं बोलता। हरिस आदि रथ के अवयवों के आधार पर केवल व्यवहार के लिए 'रथ' ऐसा एक नाम बोला जाता है।'

'महाराज ! बहुत ठीक। आपने जान लिया कि 'रथ' क्या है। इसी तरह मेरे केश आदि के आधार पर केवल व्यवहार के लिए 'नागसेन' ऐसा एक नाम बाला जाता है। परन्तु, परमार्थ में, 'नागसेन' कोई एक पुरुष विद्यमान नहीं है। भिक्षुणी वज्रा ने भगवान् के सामने इसीलिए कहा था—

जैसे अवयवों के आधार पर रथ की संज्ञा होती है, उसी तरह (रूप आदि) स्कन्धों के होने से एक 'सत्त्व' समझा जाता है।[2]

---

१. द० दि०, (प्र० सं०) पृष्ठ ५४६ से उद्धृत।

२. द० दि०, पृष्ठ ५५०।

'नाम और रूप'—बुद्ध ने विश्व के मूल तत्त्वों को विज्ञान (नाम) और भौतिक तत्त्त (रूप) में बाँटा है। इनके बारे में मिलिन्द ने पूछा :—

'भन्ते'''नाम क्या चीज है और रूप क्या चीज ?'

'महाराज। जितनी स्थूल चीजें हैं, सभी रूप हैं और जितने सूक्ष्म मानसिक धर्म हैं, सभी नाम हैं। दोनों एक दूसरे के आश्रित हैं, एक दूसरे के बिना ठहर नहीं सकते। दोनों (सदा) साथ ही होते हैं।'[1]

इस प्रकार यह नाम-रूपात्मक जगत् कवि के अन्तर्गत (अन्तर्गत=अंतःकरण के द्वारा अधिगत, यथा—दृष्टिगत, कर्णगत, घ्राणगत आदि) होने पर भाव (भवति इति भावः) की सृष्टि करता है और उस कवि-भाव की पुनः सामाजिक (सहृदय, द्रष्टा आदि) को भावना कराने के कारण 'विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भावों का समूह 'भाव-समूह' (भावयन्तीति भावाः) कहलाता है। कवि के मानसिक रूप में प्रथम अवतरित भाव, याने अन्तर्गत भाव वास्तव में नाट्यगत वा काव्यगत वस्तुरूप 'विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भाव' हैं जिसको मम्मटाचार्य के अनुसार लोक में कारण, कार्य और सहकारी कहते हैं। इनके संयोग से समूहा-वलम्बनात्मक रूप 'रस' की निष्पत्ति होती है। 'नाम और रूप' परस्पराश्रित हैं, वे एक दूसरे से पृथक् नहीं किए जा सकते। अतः 'रस' रूप पदार्थ का तन्मात्र नाम 'रस', सूक्ष्म मानसिक धर्म भी 'रस' ही है। और यह तन्मात्र 'रस' नाम (मानसिक धर्म) सामाजिक की तदनुरूप इन्द्रिय 'मनस्' से ही आस्वाद्य है, जैसा कि नाट्य-शास्त्र के आनुवंश्य श्लोकों में बताया गया है। (पीछे देखिए—पाद टिप्पणी २६)

'रस' को सुख-दुःखात्मक भावात्मक माननेवाले आचार्य मानसिक अनुभूति के वैविध्य पर ही बल देते हैं, जो 'रस' का मनसिन्द्रिय से प्रत्यय करने अथवा भरत मुनि के दिए आनुवंश्य श्लोकों की भाषा में 'आस्वादन' करने से प्रत्यक्ष होती है। डॉ० राकेशगुप्त कृत, ऊपर दिए गए, विवेचन में[2] यह दिखाया जा चुका है कि यह अनुभूति भी मात्र सुख-दुःख भावात्मक नहीं होती, अपितु उनके सहित सब मिल कर छः प्रकार की होती है, जिसमें 'विज्ञानमय-कोष' की जिज्ञासात्मक, स्मृत्यात्मक एवं आलोचनात्मक अनुभूतियां भी सम्मिलित हैं। परन्तु

---

१. वही, पृष्ठ ५५५, मिलाइये—

न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रस-वर्जितः।
परस्परकृता सिद्धिस्तयोरभिनये भवेत्।
व्यंजनौषधिसंयोगो यथान्नं स्वादुतां नयेत्।
एवं भावा रसाश्चैव भावयन्ति परस्परम्॥ ना० शा०, ७।३६-३७।
यथा बीजाद्भवेद्वृक्षो वृक्षात्पुष्पं फलं यथा।
तथा मूलं रसाः सर्वे तेभ्योभावा व्यवस्थिताः॥ ना० शा०, ७।३८।

२. देखिए इस प्रकरण में पृष्ठ ४३।

आस्वादन की प्रक्रिया में ये अनुभूतियाँ, भाव एवं रसानुभव में (लोक के समतुल्य रूप-नाम के अनुभव में) निरन्तर उर्मिवत् उठती और गिरती रहती हैं तथा उनका अकेले-अकेले अथवा सम्मिलित अनुभव मनसिन्द्रिय से उसी प्रकार होता चलता है जैसे कोई वैज्ञानिक अथवा तत्त्वानुवेषी स्वरुचि को क्रियान्वित करके विविध पदार्थों का 'रस' अथवा गुण-धर्म, तत्तदिन्द्रियों को पदार्थों की सन्निकटता में लाकर सूक्ष्मतापूर्वक ग्रहण करता चलता है। वस्तु अथवा पदार्थ को जानने की उसकी रुचि क्रियान्वित होकर भी, पदार्थों के उन-उन धर्मों के बोध से प्रसूत प्रतिक्रिया की तरंगों की अनुभूति करते हुए भी, उनके स्वरूप को 'जानने' और 'ठीक से समझ लेने' के धरातलों में सहज भेद करती है। डॉ० राकेश गुप्त क्रिया-संलग्न अथवा क्रियान्वित 'रुचि' का नाम 'रस' (पोयटिक रेलिश) देते हैं।[1] रस के विभिन्न अर्थों में, अभिधान में, 'रुचि, प्रेम, प्रीति', अर्थ भी दिए गए हैं।[2] और, अभिनवगुप्तपादाचार्य का पद 'चर्वणा' भी तो 'क्रियान्वित रुचि' ही है। जब तक रुचि न होगी, तब तक किसी स्वादु पदार्थ की चर्वणा न होगी; और, चर्वणाजन्य प्रतीति चर्वण के उपरान्त होती है, यह तो निर्विवाद है।

'जान लेना' विज्ञान की पहिचान है ; 'ठीक से समझ लेना' प्रज्ञा की पहिचान है।[3]

आचार्य अभिनवगुप्त का प्रत्यभिज्ञादर्शन भी बौद्धों के प्रज्ञात्मक-दर्शन (विज्ञान-वाद) से प्रभावित है। इस दर्शन का सहारा लेकर ही उन्होंने रस-सिद्धान्त की फिर से स्थापना की थी। उन्होंने स्पष्ट कहा है 'विज्ञानवादावलम्बनात्—(ना० शा०, पृ० २८१--गा० ओ० सि०) अर्थात् इस विषय में हम विज्ञानवादी बौद्धों के विज्ञानवाद का अवलम्बन करते हैं। वे 'जान लेना' के विज्ञान धरातल से ऊँचे उठकर 'ठीक से समझ लेने के' प्रज्ञात्मक धरातल पर पहुँचकर होने वाली सूक्ष्म अनुभूति को ही 'रस' संज्ञा देते हैं। 'प्रत्यभिज्ञा' में भी 'प्रज्ञा' की 'ज्ञा' धातु है।

आनन्द शब्द को सुख-अर्थ में रूढ़ और सीमित कर देने से हम प्रायः 'रस आनन्द-स्वरूप है' कह कर तत्त्वार्थ से काफी दूर भटक जाते हैं। 'आनन्द' शब्द के मूल में '(टु)-नदि' धातु है जिसका मुख्य अर्थ 'समृद्ध होना' होता है। इसके अन्य अर्थ 'हर्षित होना, खुश होना' भी दिए जाते हैं,[4] जो सम्भवतः 'समृद्ध होने' की अनुभूति के परिणाम को दृष्टि में रखकर लोक में प्रचलित हुए होंगे।

सम्यक् रूप से सूक्ष्म तत्त्व को समझ कर उसके अनुभव से सामाजिक अथवा द्रष्टा को जो 'समृद्धानुभूति' (आनन्द) होती है, उसकी ओर अभिनवगुप्तपादाचार्य का संकेत उनके

---

१. देखिए, सा० स्ट०, रस०, पृष्ठ ८१—'इण्टरेस्ट इज़ कम्पेरेटिवलि ए परमानेंट डिस्पोजिशन आफ माइण्ड एण्ड विकम्स 'रेलिश' व्हेंन इट इज़ इन एक्शन।'

२. देखिए, सं० श० कौ० 'रस' शब्द, पृष्ठ ७०१।

३. नागसेन के मिलिन्द प्रश्न से उद्धृत—देखिए द० दि०, पृष्ठ ५५१।

४. देखिए, सं० श० कौ०, परिशिष्ट—२, पृष्ठ ३६।

प्रत्यभिज्ञादर्शन की दृष्टि के अनुकूल लगता है और जो वैज्ञानिक की 'ठीक से समझ लेने' की रुचि के समाधान से उत्पन्न समृद्धानुभूति भी है। एक वैज्ञानिक पदार्थों के 'नाम-रूप' को 'विज्ञान' से पहचानते समय तत्प्रसूत प्रतिक्रिया तरंगों का अनुभव भी करता जाता है और उनको 'सम्यक् रूप से समझ लेने' से प्रज्ञया समृद्ध भी होता है, जो उसके लिए अपने-आप में एक परमोद्देश्य है, अथवा परम मूल्य है। जो वैज्ञानिक नहीं है, दार्शनिक नहीं है, सामान्य द्रष्टा अथवा रसिक वा सुमनस् प्रेक्षक ही हैं, वे नाम-रूप 'भाव-रस' का विज्ञान करते हुए तत्प्रसूत अनुभूतियों का ही अनुभव करते हैं और 'आनन्दमयकोष' की ओर अग्रसर नहीं होते।

तैत्तरीय उपनिषद्, ब्रह्मानन्द वल्ली अष्टम अनुवाक के अनुसार आनन्द की ग्यारह श्रेणियाँ कही गयी हैं और ब्रह्मानन्द (अथवा शान्तानन्द) उनमें सर्वश्रेष्ठ हैं। ये ग्यारह श्रेणियाँ इस प्रकार हैं :—

(१) मानुषानन्द, (२) गन्धर्वानन्द, (३) देव-गन्धर्वानन्द, (४) पितरानन्द, (५) आजानज-देवानन्द, (६) कर्म-देवानन्द, (७) देवानन्द, (८) इन्द्रानन्द, (९) बृहस्पति आनन्द, (१०) प्रजापति आनन्द, (११) ब्रह्मानन्द।[१]

इस प्रकार 'रस' के तीनों रूपों को मान्यता देना आवश्यक है। ऐतिहासिक दृष्टि से तो इनका महत्त्व है ही, काव्यसर्जन, एवं काव्यास्वादन एवं काव्यमूल्यांकन की अनेक समस्याओं का भी इनके द्वारा सहज समाधान हो जाता है।

रसों के मनोविकार, अधिष्ठाता देवता आदि

जब समस्त चराचर जगत् त्रिगुणात्मक है, सांख्यर्शन में इसका विशेष रूप से प्रतिपादन है, तो मनस् भी त्रिगुणात्मक प्रकृति से प्रोद्भूत होने के कारण त्रिगुणात्मक है और तदनुसार उसकी प्रकृति भी त्रिगुण विकारों से युक्त है, अर्थात् वह सात्त्विक, राजस और तामस है। भारतीय साहित्याचार्यों ने रसों को भी इन गुणों से उत्पन्न मनोविकारों से युक्त देखा है और उनके अलग-अलग अधिदेवता का त्रिगुणों में से किसी एक की प्रधानता अथवा प्रधान-मिश्रण के अनुसार वर्णन किया है एवं तत्तत् गुण--विशेष के आधार पर तत्तत् 'रस' के वर्ण का भी वर्णन किया है। अभिनवगुप्तपादाचार्य ने इसके निम्नलिखित कारण बताये हैं।

१. पूजा में ध्यान एवं नटों के 'मुखौटों' के लिए इन रंगों का वर्णन किया गया है।
२. मंच पर रस की सिद्धि हेतु सम्बन्धित देवता की पूजा के लिए उसके अधिष्ठाता देवता का वर्णन किया गया है।[२]

भावों के वर्णों एवं गुणों पर पृथक् रूप मे शोध-कार्य करना स्वयं में एक रोचक विषय होगा। साहित्यशास्त्र में वर्णों एवं गुणों की एक मान्य परम्परा, भारत में ही नहीं,

१. आत्मविज्ञान, पृष्ठ २९८ पर उद्धृत।
२. तत्तद्रससिद्धौ सा-सा देवता पूज्येति देवतानिरूपणम् वर्णाभिवानं पूजादौध्याने उपयोगि। मुखरागेऽपीत्यन्ये। हि० अभि० भा०, पृष्ठ ५३०।

विश्व के सब भू-भागों में चलती आ रही है। यथा—अनुराग के लिए हलका लाल रंग, इसमें पूर्वराग के भी संस्कृत साहित्य में तीन भेद—१. नीली राग, २. कुसुम्भ राग, एवं ३. मंजिष्ठाराग दिए गए हैं,[1] प्रेम के लिए श्याम रंग और ज्ञान के लिए शुभ्र आदि।

भरत मुनि ने चार रस प्रधान और अन्य चार उनसे उत्पन्न रस बताये हैं। उनके अनुसार मूल रस चार हैं—१. श्रृंगार, २. रौद्र, ३. वीर, ४. बीभत्स और इनसे उत्पन्न चार रस हैं—(१) हास्य, (२) करुण, (३) अद्भुत, (४) भयानक। उनका मत है कि 'श्रृंगार' की अनुकृति 'हास्य', 'रौद्र' का कर्म 'करुण', 'वीर' का कर्म 'अद्भुत', एवं 'बीभत्स' का दर्शन 'भयानक' है।[2] अभिनवगुप्तपादाचार्य ने इस पर टीका की है कि 'श्रृंगार' रस से युक्त अनुकरण हास्य हैं, रौद्र के परम्पराफलत्व से उत्पन्न धर्म को 'करुण', 'वीर' के समनन्तरफलत्व से आसन्नयोग को 'अद्भुत' तथा 'बीभत्स' के उपचारफल के सहभाव की प्रतीति को 'भयानक' कहा गया है।[3]

अधिदेवताओं के विषय में उनकी टीका है कि विष्णु का अर्थ यहाँ कामदेव है, प्रमथ भगवान् शिव के क्रीड़ा करने वाले गण हैं, रुद्र तीनों लोकों का संहार करने वाले हैं, और वे ही यमराज को प्राणियों के वध के लिए प्रेरित करते हैं और यम के द्वारा वधादि सम्पादित होने पर करुण रस उत्पन्न होता है। महाकाल रूप शिव ही बीभत्स के विभाव कंकाल आदि का सेवन करते हैं तथा भयानक रस के विभाव आदि बीभत्स रस के तुल्य होते हैं, अतः उसके अधिदेवता कालदेव है। महेन्द्र से अभिप्राय: त्रैलोक्य के राजा का है तथा ब्रह्मा अचिंत्य और आश्चर्यजनक पदार्थों का रचयिता है।[4]

नीचे भरत मुनि निरूपित प्रत्येक रस के वर्ण, अधिदेवता की तालिका उपस्थित की जाती है। प्राय: समस्त साहित्याचार्यों ने इसका ही समर्थन किया है :[5]

मूल रस

	१	२	३	४
	श्रृंगार	रौद्र	वीर	बीभत्स
वर्ण	श्याम	रक्त	गौर	नील
अधिदेवता	विष्णु	रुद्र	महेन्द्र	महाकाल

---

१. सा० द०, ३।१९७, तथा भा० प्र०, चतुर्थ अधिकार।

२. ना० शा०, ६।४०-४१। (गायकवाड़ का द्वितीय संस्करण)।

३. अभि० भा०, पृष्ठ ५२८-३०।

४. अभि० भा०, पृष्ठ ५३०-३१।

५. ना० शा०, ६।४२-४५; भा० प्र०, ३ अधिकार; सा० द०, ३ परिच्छेद।

इन मूल रसों से प्रद्भुत रस

	(१)	(२)	(३)	(४)
	हास्य	करुण	अद्भुत	भयानक
वर्ण	श्वेत	कपोत	पीत	कृष्ण
अधिदेवता	प्रमथ	यम	ब्रह्मा	कालदेव

वास्तव में त्रिगुणात्मक प्रकृति के अनुसार इन-इन देवताओं को अधिष्ठाता रूप में समझना उचित है और उनके ही अनुसार इनके कर्म भी हैं। पुराण में भृगु ऋषि द्वारा ली गयी देवता-परीक्षा कथा में यह स्पष्ट भी किया गया है कि 'रुद्रदेव' तामस और 'ब्रह्मदेव' राजस तथा 'विष्णुदेव' सात्त्विक हैं। नीचे प्रत्येक रस की, शारदातनय के अनुसार मनोविकृति का निरूपण उपस्थित है।

१. बाह्यार्थों का आलम्बन करते हुए रजोगुण में साहंकार स्थित होने से मन का जो विकार होता है, वह श्रृंगार है।

(१) साहंकार जो विकार होता है, वह 'श्रृंगार' है। उससे ही रजोहीन 'सत्त्व' 'हास्य' उत्पन्न होता है।[१]

२. बाह्यर्थों का आलम्बन करके रजस्तमो अहंकृति से युक्त मन का जो विकार है, वह रौद्र कहा जाता है।

(२) बाह्यार्थालम्बनात्मक मन की अहंकारवर्जित रजो-गुण की चित्तावस्थाओं को ही 'करुण' कहते हैं।[२]

३. बाह्यार्थ संगति से रजस्-सत्त्व और अहंकार से युक्त मन का जो विकार है, वह वीर कहलाता है।

(३) और उससे ही रजोऽहंकार वर्जित चित्तावस्थाओं में 'अद्भुत' उत्पन्न होता है।[३]

---

१. बाह्यार्थालम्बनवतो मनसो रजसि स्थितात्।
साहंकाराद्विकारो यः स श्रृंगार इतीरितः॥ भा० प्र० २।
साहंकाराद्विकारो यः स श्रृंगार इतीरितः।
तस्मादेव रजोहीनात्सत्त्वाद् 'हास्य' संभवः॥ वही २, पृष्ठ ४७।

२. रजस्तमोऽहंकृतिभि युताद्बाह्यार्थसंश्रयात्।
मनसो यो विकारस्तु स रौद्र इति कथ्यते॥ वही २, पृष्ठ ४७।
करुणस्तत एव स्याद्रजोऽहंकार वर्जितात्।
चित्तावस्थात्तु मनसो बाह्यार्थलम्बनात् मनः॥ वही २, पृष्ठ ४७।

३. अहंकाररजःसत्त्वयुक्ताद्बाह्यार्थसंगतात्।
मनसो यो विकारस्तु वीर इति कथ्यते।
तस्मादेवाद्भुतो जातो रजोहंकारवर्जिताम्। भा० प्र० २, पृष्ठ ५०।

४. तमोगुण सत्त्वगुण-युक्त होने पर 'बीभत्स' होता है।

(४) और बाह्यार्थों से सत्त्वविहीन हुए मन के तमसन्वित होने पर 'भयानक' रस की उत्पत्ति होती है।[1]

रसों की संख्या वैसे घटती-बढ़ती रही है और किन्हीं आचार्यों ने[2] तो जितने भाव उतने रस तक कह डाला है एवं मुख्य रूप से लौल्य (तृष्णा स्थायी), स्नेह (आर्द्रता स्थायी) व्यसन (आसक्ति स्थायी), दुःख (अरति स्थायी), सुख (सन्तोष स्थायी) इत्यादि भी अन्य रस बताये हैं। परन्तु इनका अन्तर्भाव पूर्वोक्त अन्य रसों में हो जाता है, ऐसा भी मत आचार्य देते हैं।[3] इस प्रकार यद्यपि भरत मुनि ने और नाट्य शास्त्र पर दृष्टि रखने वाले आचार्यों ने भी उपर्युक्त आठ ही रस कहे हैं, परन्तु कुछ आचार्य 'शान्त रस' को नवम रस मानते हैं।[4] अभिनवगुप्तपादाचार्य ने इसके अधिवेवता का नाम 'बुद्धदेव' दिया है जिससे अनुमान होता है कि 'अहिंसा' को प्रमुखता देने वाले धार्मिक साहित्याचार्यों ने इसकी पुष्टि पर विशेष बल दिया होगा। इसका वर्ण स्वच्छ, कुन्दइन्दु-सम अथवा चन्द्रमा-श्वेत बताया गया है।[5] विश्वनाथ महापात्र ने इसके अधिदेवता का नाम 'श्रीनारायण' दिया है। इस धार्मिक प्रवृत्ति से आगे चल कर 'भक्तिरस' की भी स्थापना करने का प्रयत्न हुआ एवं उन पर ग्रन्थ लिखे गए, यह विदित ही है, परन्तु साहित्य क्षेत्र में रसों का यह साम्प्रदायिक 'रंग' मान्य न हुआ और पूर्वोक्त रसों में ही उनका अर्न्तभाव किया गया। आचार्यों ने 'इनको भाव ध्वनि' तक ही सीमित रखा।[6] शान्तरस सब विकारों से शून्य होने के कारण रसात्मकता को नहीं परिणत हो सकता,[7] ऐसा शारदातनय का मत है एवं दशरूपककार का भी।

स्थायी भाव वा व्यभिचारी भाव रस नहीं है, यह आशय उन स्थायी भावों से उत्पन्न

---

१. तमस्सत्त्वयुताज्जातो बीभत्स इति कथ्यते।
सत्त्वबुद्धिविहीनस्तु मनसः तमसाऽन्वितात्॥
बाह्यादेव सुमुत्पन्नो भयानक इतीरितः। वही २, अधिकार।

२. रुद्रटके मत में 'निर्वेद' आदि का भी आस्वादन हो सकता है, अतः वे भी रस हैं—रम विमर्श।

३. रुद्रभट्ट भी इसी मत के हैं, देखिए शृं० ति०, १।१६।
भावा एवातिसम्पन्नाः प्रयान्ति रसताममी।
यथा द्रव्याणि भिन्नानि मधुरादिरसात्मताम्। शृं० ति०—१।१६।

४. नाट्य दर्पण, ३।११२।

५. देखिए अभि० भा०, शा० प्रकरणम्, तथा सा० द० ३।२४५।

६. देखिए रगंध०, चौतीसवाँ व्यभिचारी भाव देवादिविषयक रति, भाव ध्वनि प्रकरण में।

७. देखिए भा० प्र० २ अधिकार, अस्य सर्वविकाराणां शून्यत्वात्तु रसात्मना परिणेतुं न शक्नोति—भा० प्र० २, पृष्ठ ४७।

विभिन्न रसों के व्युत्पत्तिजन्य अर्थों से भी स्पष्ट होता है, यहां रसों के व्युत्पत्तिजन्य पृथक्-पृथक् अर्थ दे देना समीचीन होगा।

शृंगार

भावों में जो उत्तम है, उसे शृंग वा श्रेष्ठ कहते हैं, जिससे उत्तम भावनाओं का संचार होता है, उसे शृंगार कहते हैं।[१] (अथवा शृगं ऋच्छति इति शृंगार—सा० द० ३।१८३)

हास्य

जिस पर हम हंसते हैं, वह 'हास्य' अथवा जो लोगों को हंसाए वह 'हास्य' होता है।[२]

करुण

घृण् धातु, दया, दान और ग्रहण के अर्थों में व्यवहृत होती है। ग्रहण करना, दान के अथवा दया के कर्म होते हैं। इसकी कर्त्तृता को अथवा बुद्धि को बुधजन घृणा कहते हैं। 'घृणा' के लिए शब्दवादी 'करुण' शब्द विहित मानते हैं। तथा नैघण्टुक ने 'घृणेति' और 'करुणेति' कहा है। 'करुः' 'क्लेश इति' प्रसिद्ध है। जिससे क्लेश को नहीं सहते, उस बुद्धि को 'करुणा' कहते हैं। पराश्रितों के क्लेशों के प्रति असहिष्णुता का मन में जैसा भाव होता है उसे ही 'करुण' कहा जाता है।[३] अथवा, वाचस्पत्यम् के अनुसार, जो आनुकूल्य के लिए 'मन' को प्रेरित करे, वह करुणा है।[४]

---

१. भावानामुत्तमंयत्तुतच्छृगं श्रेष्ठमुच्यते—इयंति शृगं यस्मात्तु तस्माच्छृंगार उच्यते, भा०प्र० २।

२. अप्रत्ययान्तः शब्दोऽयं हस इत्यभिधीयते।
घञन्तो हासशब्दस्तु द्वयोः प्रत्यययोरपि॥
अत्र स्वनहसोर्वेति विकल्पेन विधानतः।
हास्यतेऽसाविति यतस्तस्मादस्य निर्वहः॥
जनान्हासयतीत्वेवं तस्माद्धास्यः प्रकीर्त्तितिः॥ भा० प्र० २, पृष्ठ ४८।

३. घृणिधातुदयादानग्रहणेषु च वर्तते।
गृह्णाति दत्ते दयत इति कर्म घृणेरितम्॥
अस्य कर्त्तृताया धीर्या सा घृणेत्युच्यते बुधैः।
घृणेः करुणशब्दस्तु विहितः शब्दवादिभिः॥
अतो नैघण्टकैरुक्ता घृणेति करुणेति च।
करुः क्लेश इति ख्यातः क्लेशं न सहते यतः॥
यस्य धीः करुणा सा स्थात्प्रत्यये करुणो भवेत्।
पराश्रितानां क्लेशानामसहिष्णुतयोच्यते।
मनसो यादृसो भावः स वे करुणउच्यते। भा० प्र० २, पृष्ठ ४९।

४. करोति मनः आनुकूल्याय —कृ० उनन्, तारानाथ कृत वाचस्पत्यम्।

रौद्र

रौद्र शब्द की निरुक्ति है, रुद्र-हस्त में देता है। अतः उस कर्म वा कर्त्तृता का जो हेतु है वह 'रौद्र' कहलाता है। अथवा जो कर्म अन्यों को रुलाए, वह रौद्र होता है।[1]

वीर

वीर शब्द में दो धातुएं हैं 'रा' दानार्थ में, बलपूर्वक कार्यकरणार्थ में तथा 'ला' दान एवं ज्ञानखण्डनार्थ में। 'र' और 'ल' में अभेद शब्दवादियों ने कहा है। अतः वीर शब्द का अर्थ हुआ विरुद्धों को मारना, अथवा विविध और विचित्र को जानकर खण्डन करना व शत्रुओं को प्रेरित करना।[2]

अद्‌भुत

इसकी धातु का 'वैचित्र्य' निर्वह है। जिसके द्वारा चित्तवृत्ति विचित्र हो जाये, वह 'अद्‌भुत' है।[3]

बीभत्स

'बध्' धातु में 'सन्' प्रत्यय के योग से 'बीभत्सा' रूप होता है। जिस पदार्थ की 'बीभत्सा' होती है, वह 'बीभत्स' कहा जाता है। गर्हा, निन्दा, कुत्सा, बीभत्सा पर्यायवाचक शब्द हैं। जो गर्हणीय और निन्द्य, कुत्सनीय हो, वह भाव भद्रजनों से 'बीभत्स' संज्ञा द्वारा कहा जाता है।[4]

---

१. रुद्रोहस्तं ददातीति रौद्र शब्दोनिरुच्यते।
तत्कर्म कर्त्तृता हेतुर्यस्य रौद्र प्रकीर्त्तितः॥
यत्कर्म रौदयत्यन्यान् स रौद्र इति वा भवेत्। भा० प्र० २१४६।

२. रा दान इति यो धातुर्वा ह्रादे च वर्त्तते।
ला दान इत्ययं धातुर्ज्ञानखण्डनयोरपि॥
रलयोरविशेषोऽपि कथितः शब्दवादिभिः।
विरुद्धान् राति हन्तीति वीरशब्दस्य निर्वहः।
विविधं विचित्रंच लाति जानाति कुन्तति॥
एवं वा वीरशब्दार्थ कथितः पूर्वसूरिभिः।
प्रेरयत्यत्र विद्विष्ठानिति वीरो निरुच्यते। भा० प्र० २, पृष्ठ ४६।

३. अथ वैचित्र्य इत्यस्य धातो अद्‌भुत निर्वहः।
विचित्रा यस्य भवति चित्तवृत्तिस्ततोऽद्‌भुतः। वही २, पृष्ठ ४७।

४. बधेर्धातोस्सनन्तस्य बीभत्सा रूपमिष्यते।
यत्पदार्थस्य बीभत्सा स बीभत्स इतीरितः॥
गर्हा, निन्दा च बीभत्सा कुत्सा पर्यायवाचकः।
गर्हणीयः, निन्द्यश्च कुत्सनीयः यो **भवेत**।
स भाव कथ्यते सद्भिः बीभत्स **इति संज्ञया**॥ भा० प्र० २, पृष्ठ ४६।

भयानक

भय चित्त के 'चलन' को कहते हैं। 'जि भी' धातु 'भय' वाचक होती है। 'चलनम्' भय का शब्दार्थ विद्वानों ने कहा है। डरे अथवा दूसरों को कर्म से डराये, यथाक्रम इन हेतुओं से कैसे ही चित्त से चंचल हो अथवा चंचल किया जाये, तो इससे 'भय' को 'चलनात्मक' कहते हैं। आक्रोशतः भय से प्राणी चंचल हो जाए, उस अवस्था को भयानक कहते हैं।[1]

रस के विविध उपादान

भरत मुनि ने अपने प्रसिद्ध इस सूत्र में 'विभावानुभावव्याभिचारिसंयोगाद्रस निष्पत्ति' का संकेत तो किया ही है, साथ ही इस निष्पत्ति के उपादानों का भी संकेत दिया है। इसके ये उपादान है—विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भाव आदि। नाट्यशास्त्र में सातवें अध्याय में, जहाँ उन्होंने भावों का विवेचन किया है, ४९ भावों को रस-निष्पत्ति में कारण (हेतु) बताया है और कहा है कि इनके सामान्य गुण-योग से रसों की निष्पत्ति होती है।[2] इस प्रकार उपादान सामग्री-रूप, स्थायिभाव, व्यभिचारी भाव एवं सात्त्विक भावों का वर्णन किया है। इसके इन उपादानों पर भारतीय काव्यशास्त्र में निरन्तर विचार-विमर्श होता रहा है। अपने विषय व्यभिचारी भावों के अध्ययन के लिए इनका पृथक्-पृथक् स्वरूप निर्धारण करना आवश्यक है। आगे ऊपर लिखित सूत्र के क्रम से इनका स्वरूप निर्धारण किया गया है।

विभाव का स्वरूप

भरत मुनि ने अपने रस सूत्र में 'विभाव' को प्रथम स्थान देकर उसे 'विज्ञानार्थ' कहा है एवं 'कारण' निमित्त तथा 'हेतु' इन तीन पर्यायवाची शब्दों से विभाव का अर्थ स्पष्ट किया है।[3] 'जिनके द्वार। वाचिक, आंगिक एवं सात्त्विक अभिनयों का आश्रय लेकर बहु अर्थों का

---

१. भयं चित्तस्य चलनं...
ञिभी भय इति प्रायो धातुः स्याद्भयवाचकः।
चलनं भयं शब्दार्थ इति विद्वद्भिरुच्यते ॥
विभेति भाययत्यन्यान्कर्मणेति यथाक्रमम्।
कश्चिच्चलति कस्माच्चिद्भावात्तेनैव हेतुना।
चाल्यते च यतस्तस्माद् भयं चलनात्मकम्।
भयेनाक्रोशतो जन्तोजायते स भयानकः ॥ भा० प्र० २, पृष्ठ ५०।

२. तत्राष्टौ भावाः स्थायिनः। त्र्यस्त्रिंशद्व्यभिचारिणः। अष्टौ सात्त्विका इति भेदाः। एवमेते काव्यरसाभिव्यक्तिहेतवः एकोनपंचाशद्भावाः प्रत्यवगन्तव्याः एभ्यश्च सामान्यगुणयोगेन रसा निष्पद्यन्ते। ना० शा० ७ अध्याय, ६ श्लोक के पश्चात् गद्य भाग।

३. विभावो विज्ञानार्थः। विभाव्यन्तेऽनेन वागंगसत्त्वाभिनया इत्यतो विभावः। विभावितं विज्ञातामित्यर्थान्तरम्। पाठभेदः। विभावः कारणं निमित्तं हेतुरिति पर्यायं।
विभाव्यन्तेऽनेन वागंगसत्त्वाभिनया इति विभावः। ना० शा०। ७।३।

विभावन कराया जाता है, वे आधारभूत सम्पूर्ण उपादान विभाव है।'[1] भरत मुनि ने अन्यत्र कहा है "रति नामक प्रमोदात्मक भाव को ऋतु, माला, अनुलेपन आभरण—इत्यादि बिभावों से उत्पन्न किया जाता है।[2] विभाव की इस संक्षिप्त व्याख्या से भरत मुनि का यह आशय स्पष्ट हो जाता है कि वाचिक, आंगिक और सात्त्विक अभिनयों का विभाजन कराने का आधारभूत साधन विभाव है एवं रति आदि स्थायी भावों के उत्पादक कारण—ऋतु, माला, आभूषण आदि उपकरण भी विभाव हैं, अर्थात् नाटक के अभिनेता पात्रों और स्थायी भावों को साकारता प्रदान करने में सहायक समस्त उपादान विभाव कहलाते हैं। भरत मुनि के विज्ञानार्थः को दृष्टि में रखकर हेमचन्द्राचार्य ने विभावों को 'विशिष्टतया ज्ञायन्ते यैर्तैर्विभावः' कहा हैं।[3] और शारदातनय ने भरत मुनि के ही मत की पुष्टि, 'विभाव' को व्युत्पत्तिजन्यार्थ से जोड़कर की है—"अर्थान्विभावयन्ति इतिः परिकीर्तिताः।"[4] अर्थात् जो काव्य अर्थों का विभावन (विज्ञान) कराते हैं, उन्हें विभाव कहते हैं।

इस प्रकार 'भरत मुनि के सामने तो विभाव की आश्रयालम्बन और विषयालम्बन की अलग-अलग कल्पनाएं नहीं थीं। उनके अनुसार तो विभाव का अर्थ ही रस का कारण है जिसमें समस्त पात्र और उनके भावों को अभिव्यक्त करने में सहायक सम्पूर्ण प्राकृतिक और वेशभूषात्मक उपकरण अर्न्तभूत हैं।'[5] आचार्य मम्मट ने भी विभावों को 'कारण' संज्ञा दी है।[6]

भरतोत्तर युग में 'रस स्वरूप' के विषय में तीन विभिन्न मत उपलब्ध होते हैं—वस्तुवादी, भाववादी और आनन्दवादी।[7] वस्तुवादी 'रस' की निष्पत्ति रंगमंच पर ही होती है और वह सहृदय-निरपेक्ष है, अतः इसमें सहृदयगत स्थायीभाव की उद्‌बुद्धि, परिपुष्टि अथवा चर्वणा का प्रश्न नहीं उठता। शेष दोनों में सहृदयगत स्थायीभाव की परिपुष्टि का विवेचन किया जाता रहा है। धनंजय ने विभाव को सामान्यतः द्विधा विभाजित किया है—आलम्बन एवं उद्दीपन।[8] काव्यगत नायक-नायिका आलम्बन के अन्तर्गत और आलम्बन-बाह्य-उपकरण उद्दीपन के अन्तर्गत ग्रहण किए गए हैं। आचार्य धनिक ने भर्तृहरि के मत का उल्लेख किया है, जिसके अनुसार 'विभाव' साधन रूप है। षट्‌साहस्त्रीकार के उल्लिखित मत के अनुसार 'इन (विभावों) के सामान्यगुणयोग से रस निष्पन्न होते हैं।'[9]

---

१. बहवोर्था विभाव्यन्ते वागंगभिनयाश्रयाः
अनेन यस्मात्तेनायं विभाव इति संज्ञितः॥ ना० शा०, ७।४।

२. ना० शा०, ७।६।

३. काव्यानु०, पृष्ठ ५६।

४. भा० प्र०, पृष्ठ ४।

५. हि० म० का० शा० अध्ययन—पृष्ठ ५७।

६. का० प्र०, ४।२७-२८।

७. पीछे देखिए 'रस-स्वरूप'।

८. द० रू०, ४।२।

९. भा० का० पर०, पृष्ठ २१०।

आचार्य अभिनवगुप्त ने 'रस' के मूल में निहित स्थायी भाव की स्थिति विशेषतः सहृदयगत ही स्वीकार की है,[१] और वे काव्यगत पात्रों में रस निष्पत्ति को मान्यता नहीं देते, काव्यगत विभाव के आलम्बन और उद्दीपन दो ही भेद स्वीकार करके इन्होंने विभाव का सहृदयगत स्थायी भाव को 'उद्भव हेतु' या 'विषय' इस रूप में ही आशय ग्रहण किया है। र० सु० में भी विभाव को 'रस-ज्ञापन' कारण ही कहा गया है।[२] आचार्य विश्वनाथ ने कहा है कि लोक में जो 'कारण' कहे जाते हैं उन्हें काव्य-नाटक में 'विभाव' संज्ञा दी जाती है।[३] लोक में रत्यादि भावों के उद्बोधकों को काब्य-नाट्य में 'विभाव' कहा जात है।[४] पण्डितराज जगन्नाथ के मत में विशेष रूप से रत्यादि भाव को आस्वाद-अंकुर-योग्यता को प्राप्त कराने वाले होने के कारण इन्हें विभाव कहा जाता है।[५] प्रायः आचार्यों ने सहृदयगत स्थायीभाव की 'उद्बुद्धि' का कारण मानते हुए उन्हें आलम्बन एवं उद्दीपन दो भेदों में वर्णित किया है परन्तु कुछ आचार्यों ने आलम्बन-विभाव के भी दो भेद विषयालम्बन और आश्रयालम्बन किए हैं। जिसको उद्देश्य मानकर रत्यादि भाव प्रवर्त्तित होते हैं, वह विषयालम्बन कहा जाता है और जो रत्यादि भाव का 'आधार' है, वह आश्रयालम्बन कहा जाता है। इस प्रकार 'काव्यगत-विभाव' सामान्यतः तीन वर्गों में विभाजित हो गया—आश्रयालम्बन, विषयालम्बन एवं उद्दीपन।[६] उद्दीपन विभावों की संख्या नहीं गिनायी जा सकती, परन्तु उनको भी चतुर्धा विभक्त किया जाता है।

१. आलम्बन के गुण—रूयपौवनादि।
२. आलम्बन की चेष्टाएं—उसके हाव-भावादि।
३. आलम्बन की अलंकृति—नूपुर अंगरागादि।
४. तटस्थ उद्दीपन—मलयानिल, चन्द्र आदि।[७]

काव्यगत विभाव के उपर्युक्त तीन वर्गों की पृथक्-पृथक् स्थिति स्वीकार करने से 'सहृदय-गत-रस-निष्पत्ति' में कुछ शंकाएं उत्पन्न हो जाती हैं।

"आनन्दवादी आचार्यों के अनुसार रस तथा स्थायी भाव की स्थिति आश्रय में होती है। काव्यगत आश्रय में जिस स्थायी की स्थिति है उसी से सहृदय का तादात्म्य होने पर

---

१. अभिनव भारती, पृष्ठ २८३।
२. र० सु० १।५६, रं० सि० स्व० वि० में पृ० १८ पर उद्धत। तत्र ज्ञेयो विभावस्तु रसज्ञापन कारणम्।
३. कारण कार्य संचारिरूपा अपि हि लोकतः
रसोद्बोधे विभावाद्याः कारणानि ते मताः। सा० द० ३।१३-१४।
४. वही, ३।२८।
५. रंगंध०, पृष्ठ १५५।
६. आद्योपि द्विधा विषयाश्रयभेदात्। यमुदिश्य रत्यादिः प्रवर्त्तते सोऽस्य विषय आश्रयस्तु तदाधार—सा० कौ०, पृष्ठ २६।
७. प्र० रु०, पृ० १५६।

तदनुरूप ही सहृदय में स्थायी भाव की अभिव्यक्ति से रस-निष्पत्ति होगी। ऐसी स्थिति में यहाँ दो महत्त्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित होते हैं—

१. क्या सहृदयगत रस-निष्पत्ति के लिए काव्यगत विभाव के आश्रयालम्बन, विषयालम्बन, तथा उद्दीपन तीन वर्गों की पृथक्-पृथक् आवश्यकता है ?

२. जहाँ काव्य में आश्रयालम्बन का वर्णन न हो, वहाँ सहृदय के स्थायी भाव की अभिव्यक्ति किस आधार पर होगी ? उदाहरणार्थ बीभत्स तथा हास्य में घृणोत्पादक वस्तुओं का तथा हास्योत्पादक विषयालम्बन का रूप वर्णन ही पर्याप्त है, वहाँ किसी अन्य आश्रय की आवश्यकता ही नहीं, जिसमें प्रथम जुगुप्सा या हास्य स्थायी भाव की स्थिति दिखाई जाय और तदनुरूप सहृदय में भी उस स्थायी भाव की उद्बुद्धि या अभिव्यक्ति सिद्ध की जाय।"[१]

रस स्वरूप के विश्लेषण में यह भी दिखाया जा चुका है कि सामाजिक अथवा प्रेक्षक के अन्तःकरण में सहानुभूत्यात्मक अनुभूतियाँ ही नहीं उठतीं, अपितु विद्वेषात्मक अनुभूतियाँ एवं आलोचनात्मक अनुभूतियाँ भी उद्बुद्ध होती हैं। तब यदि विभावों को आश्रयालम्बन, विषयालम्बन एवं उद्दीपन विभावों में विभाजित कर के देखा जाय तो उक्त विश्लेषण के प्रकाश में इस विभाजन की संगति नही बैठती क्योंकि सामाजिक का आश्रयालम्बन से सदैव तादात्म्य नहीं होता, अपितु 'कवि' के द्वारा विभावित काव्यार्थ का ही आस्वादन-अनुभव होता है।[२]

रस को सहृदयगत सिद्ध करने वाले आचार्यों के द्वारा इस विसंगति को लक्ष्य किया गया है और उन्होंने इसे दृष्टि में रखकर भेदपूर्वक द्विधा लौकिक एवं अलौकिक रस की कल्पना की है। उनके अनुसार काव्यगत पात्रों में आश्रय और आलम्बन की जो स्थिति है, अथवा इनसे जो रस-निष्पत्ति है, वह लौकिक है। परन्तु रंगमंच पर उसका प्रयोग देखने अथवा काव्य में वर्णन करने से सहृदय के मन में जो साधारणकृत अथवा व्यक्तिनिरपेक्ष केवल आनन्दस्वरूप परिपाक निर्माण होता है, उसे अलौकिक रस कहते हैं।[३] अधिकांश आचार्य विभावादि सामग्री को लौकिक रस-रूप अर्थात् काव्यगत स्वीकार करते हैं और स्थायीभाव को सहृदयगत मानते हैं।[४]

दूसरे प्रश्न के समाधान में पण्डितराज जगन्नाथ ने अपने निजी विचार से उत्तर दिया है, यद्यपि इसका भी उत्तर लौकिक-अलौकिक रस स्वरूप के आधार पर किया जा सकता है। पण्डितराज जगन्नाथ का मत है कि जहाँ आश्रयालम्बन का वर्णन हो, वहाँ किसी

---

१. हि० म० का० शा० अध्य०, पृष्ठ ५७ से उद्धृत।

२. कवेरन्र्गतं भावं भावयन् इति भाव उच्चते—ना० शा० ७।२।

३. विशेष देखिए 'रस-विमर्श' डा० वाटवे कृत—पृष्ठ ३००-३०१।

४. वही, पृ० ३०१।

'दृष्टपुरुष विशेष' का आक्षेप कर लेना चाहिए।[1] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने विभाव के आलम्बन तथा आश्रय दो पक्षों का निरूपण किया था। आलम्बन के अन्तर्गत मनुष्य से लेकर कीट-पंतग, वृक्ष, नदी, पर्वत आदि सृष्टि का कोई पदार्थ ग्रहण किया जा सकता है। किन्तु 'आश्रय' सहृदय-सम्पन्न मनुष्य ही होता है।[2]

शुक्लजी आलम्बन के अन्तर्गत प्रकृति-वर्णन को स्वतन्त्र आलम्बन के रूप में ग्रहण करने के पक्ष में हैं, न कि केवल 'उद्दीपन मात्र' के रूप में। काव्यगत 'आश्रय' के विषय में भी शुक्लजी के स्पष्ट विचार हैं—"जो वस्तु मनुष्य के भावों का विषय या आलम्बन होती है, उसका शब्दचित्र आदि किसी कवि ने खींच दिया है तो वह एक प्रकार से अपना काम कर चुका। उसके लिए अनिवार्य नहीं कि आश्रय की भी कल्पना करके उसे उस भाव का अनुभव करता हुआ......दिखाये।......मैं आलम्बन मात्र के विशद वर्णन को श्रोता में रसानुभव (भावानुभव सही) उत्पन्न करने में पूर्ण समर्थ मानता हूँ।[3] उन्होंने अपने विचार की परिपुष्टि में अनेक प्रमाण प्रस्तुत किए हैं, जहाँ काव्यगत आश्रय के अभाव में भी सहृदय को रसानुभूति होती है।

१. नायिका भेद या 'नखशिख' से सम्बद्ध ग्रंथों में आश्रय की स्थिति नहीं होती। नायिका भेद में श्रृंगार रस के आलम्बन मात्र का वर्णन होता है और 'नखशिख' के किसी पद्य में उस आलम्बन के भी किसी एक अंग मात्र का।

२. संसार की प्रत्येक भाषा में ऐसे काव्य मिलते हैं जिसमें भावों को प्रदर्शित करने वाले पात्र अर्थात् आश्रय की योजना नहीं की गयी है।

३. प्रकृति वर्णन को रसात्मक स्वीकार करते हुए वहाँ आश्रयभूत पात्र की आवश्यकता नहीं होती।

४. श्रोता या पाठक का भी हृदय होता है—वह दूसरों के हंसने रोने को देखने के लिए नहीं जाता बल्कि स्वयं ऐसे विषयों को सामने पाने के लिए जाता है जो स्वयं उसे हंसाने, रुलाने के गुण से समन्वित हों।

५. राम-सीता के वनगमन प्रसंग में, हरिश्चन्द्र द्वारा अपनी पत्नी से कफन माँगने के प्रसंग में दर्शक करुणार्द्र हो जाते हैं, उन्हें किसी आश्रय की आवश्यकता नहीं होती।

शुक्लजी रसानुभूति के लिए विभाव के आलम्बन पक्ष को विशेष महत्त्व देते हैं। तदनुसार पूर्ण-रस की निष्पत्ति के लिए उन्होंने 'सामान्य आलम्बन' को महत्त्वपूर्ण कसौटी स्वीकार किया है। उनके मत से—

---

१. सत्यम्, तदाश्रयस्य, दृष्टपुरुषविशेषस्य तत्राक्षेप्यत्वात्। रगंध०, प्रथमाननम्, पृ० १७१।

२. र० मी०, पृ० ११०।   ३. वही, पृ० १४३-१४४।

"पूर्ण रस वहीं मानना पड़ेगा जहाँ—

(क) आश्रय श्रोता के रति भाव का आलम्बन होगा।

(ख) आलम्बन श्रोता के भी उन्ही भावों का आलम्बन होगा, आश्रय के जिन भावों का है।"[1]

परन्तु स्वयं शुक्लजी के मत में ही पूर्ण रस की प्रस्तुत यह कसौटी सब कहीं अनिवार्यतः अभिघटित नहीं होती, उदाहरणार्थ, शकुन्तला के प्रति दुर्वासा के क्रोध में श्रोता या सहृदय को भी आश्रयवत् (दुर्वासा के समान) क्रोध की अनुभूति नहीं होगी। यहां काव्यगत आश्रय के समान सहृदय को उसी भाव की अनुभूति नहीं होती। तब क्या पूर्ण रस के अभाव में इस प्रकार के प्रसंग काव्य में त्याज्य हैं। शुक्लजी स्वयं इसका उत्तर देते हैं। "इस प्रकार का वर्णन काव्य में अनुपादेय नहीं कहलायेगा, क्योंकि कवि का कर्त्तव्य सदैव रस की कवायद करना नहीं।"[2]

शुक्लजी की मान्यता से दो तथ्य सामने उपस्थित होते हैं—

१. क्या रस सिद्धान्त अपने में मूलतः इतना अव्यापक है कि कवि-अभिव्यक्त सभी प्रकार की भावनाओं के लिए स्थान नहीं है। विशेष रूप से वे भावनाएं जहां काव्यगत आश्रय से सहृदय का तादात्म्य नहीं होता।

२. अथवा भरत मुनि के परवर्त्ती आचार्यों ने ही व्यापक विभाव तत्त्व को सहृदय में रस-निष्पत्ति की दृष्टि से संकुचित रूप दे दिया है। एवं विभाव के आलम्बन उद्दीपन एवं आश्रय तीन पक्ष कर दिए एवं पूर्ण रस-निष्पत्ति के लिए सहृदय का काव्यगत आश्रय से तादात्म्य अनिवार्य ठहराया।

भरत मुनि ने कहीं भी नाटकगत अथवा काव्यगत आश्रय का उल्लेख नहीं किया। उनके लिए तो विभिन्न रसों अथवा भावों की अनुभूति कराने में सभी समर्थ तत्त्व विभाव हैं। इसमें मानव का रूप, उसकी वेशभूषा, प्राकृतिक वातावरण, सभी अन्तर्भुक्त हैं। सहृदय की दृष्टि से देखें तो काव्यगत आलम्बन अथवा काव्यगत आश्रय दोनों ही उसमें विशिष्ट अनुभूति या रस को उद्‌बुद्ध करने में समर्थ तत्त्व हैं, कारण हैं, भरत मुनि के शब्दों में 'निमित्त' या 'हेतु' हैं, अतः विभाव हैं।

डॉ० बाटवे के मत में काव्यगत आश्रय-आलम्बन तथा सहृदयगत आश्रय-आलम्बन की पृथक् रूप से स्थिति स्वीकार करना आवश्यक है।[3] शृंगार रस में इनकी पृथक् स्थिति की आवश्यकता इसलिए नहीं जान पड़ती कि वहां काव्यगत आलम्बन 'काव्यगत आश्रय एवं आस्वादक सहृदय' दोनों के लिए प्रायः समान होता है। परन्तु अन्य रसों में वैसी स्थिति

---

१. र० मी०, पृ० १५०। २. वही, पृ० १५८। ३. रस-विमर्श, पृ० ३०५।

नहीं होती। उदाहरणार्थ पण्डितराज जगन्नाथ ने वीर रस के 'आलम्बन-आश्रय' का इस प्रकार से वर्णन किया है—

'राम :—हे रावण ! तू ने दीन देवताओं को पलायन के लिए बाधित करके अपना पराक्रम व्यक्त किया है, तुझ जैसे क्षुद्र व्यक्ति पर मैं बाण कैसे छोड़ूं ? शंकर ही मेरे बाण के वेग को जानने में समर्थ हैं, जिन्होंने अपने भाल पर स्थित नेत्र से निकली हुई ज्वालाओं से सम्पूर्ण संसार को अभिभूत कर दिया है।[1]

पण्डितराज जगन्नाथ के अनुसार इसमें आलम्बन शिव है, युद्ध-दर्शन उद्दीपन, रावण का तिरस्कार अनुभाव एवं उक्त वीरतापूर्ण उक्ति से व्यंग्य राम का गर्व संचारी भाव है। परन्तु डॉ० वाटवे के मतानुसार यहाँ वीर राम की स्व-सामर्थ्य-प्रदर्शक उक्ति के कारण ही पाठकों में उत्साह स्थायीभाव उद्दीप्त होता है, अतः राम को ही आलम्बन क्यों न माना जाये ? शिव के उल्लेख से राम की उक्ति में प्रखरता अवश्य आ गयी है, परन्तु सहृदय का उत्साह तो राम की उक्ति ही उद्दीप्त करती है। पण्डितराज जगन्नाथ ने राम को आलम्बनविभाव के रूप में इसलिए नहीं रखा क्योंकि उन्होंने काव्यगत व्यक्ति के आलम्बन विभाव तथा सहृदय के आलम्बन विभाव की अलग स्थिति पर ध्यान नहीं दिया है। 'शिव' की अतुल शक्ति के उल्लेख से राम में ओज का संचार हुआ है, अतः काव्यगत राम के लिए आलम्बन शिव ही है, परन्तु सहृदय के लिए तो आलम्बन रूप राम ही हैं क्योंकि उसी की उक्ति से सहृदय में उत्साह उद्‌बुद्ध होता है।[2] इसी प्रकार मम्मटाचार्य के काव्य प्रकाश में अभिज्ञान शाकुन्तलम् से उद्‌धृत 'ग्रीवाभंगाभिरामं' श्लोक में बाण के भय से भागता हुआ मृग आश्रय और दुष्यन्त आलम्बन रूप निरूपित हुआ है।[3] डॉ० वाटवे के मतानुसार जहाँ तक काव्यगत आश्रय आलम्बन की स्थिति है, यह व्यवस्था समीचीन है। परन्तु सहृदय में 'भयानक' रस की निष्पत्ति के लिए भयभीत मृग ही आलम्बन होगा, न कि राजा दुष्यन्त।[4] अतः डॉ० वाटवे साहित्य-कौमुदीकार के 'आश्रयालम्बन विभाव' तथा 'विषयालम्बन विभाव' का समर्थन करते हैं। इस रीति से आश्रयालम्बन विभाव सहृदय का होगा और 'विषयालम्बन विभाव' काव्यगत व्यक्तियों का। पूर्वोक्त उदाहरणों में 'राम' सहृदयों का आलम्बन और 'शिव' राम का आलम्बन समझा जा सकता है। और इसी प्रकार भयानक-रस के उक्त उदाहरण में मृग के लिए आलम्बन राजा दुष्यन्त और सहृदय के लिए भयभीत मृग आलम्बन होगा।[5]

उपर्युक्त विवेचन के अनुसार काव्यगत आश्रय आलम्बन एवं सहृदयगत आश्रय आलम्बन की पृथक्-पृथक् व्यवस्था समीचीन प्रतीत होती है। काव्याध्ययन के समय सहृदय

---

१. रणे दीनान् देवान् दशवदन विद्राव्य वदति—रगंध०, प्रथमानन्, पृष्ठ १५८।
२. रस-विमर्श, पृष्ठ ३०४। ३. का० प्र०, पृष्ठ ४४१।
४. रस-विमर्श, पृष्ठ ३०५। ५. वही, पृष्ठ ३०५।

के सम्मुख काव्यगत आश्रय, आलम्बन दोनों का स्वरूप पूर्णतया: स्पष्ट रहता है। सहृदय के लिए यह सर्वकाल में सम्भव नहीं है कि वह काव्यगत आश्रय से तादात्म्य कर सके और काव्यगत आलम्बन से निर्लिप्त रहे। काव्य में ऐसे अनेक स्थल प्राप्त होते हैं जहाँ आलम्बन मात्र का विशद वर्णन पढ़कर सहृदय बिना किसी काव्यगत आश्रय का सहारा लिए ही रसानुभूति प्राप्त करता है। अतः काव्यगत आश्रय एवं काव्यगत आलम्बन दोनों ही सहृदय की रसानुभूति के कारण हैं, अतः आलम्बन विभाव हैं।

भरत मुनि और शारदातनय ने पृथक्-पृथक् रसों के आलम्बनों (विभावों) का भी निरूपण किया है। शारदातनय के अनुसार श्रृंगार रस के आलम्बन मधुर, सुकुमार तथा रूप-यौवन सम्पन्न तन्वंगी और तरुण होते हैं। व्यंग्य, विकृताकार और परचेष्टानुकारी व्यक्ति हास्य के; त्यागी, सत्यसम्पन्न, शूरवीर तथा विक्रमशील पुरुष वीर रस के; विचित्र आकृति और वेश, आचार तथा विभ्रम एवं मायालीला-विलासी व्यक्ति अद्‌भुत रस के; बहुबाहु, बहुमुख, भीमद्रंष्ट, तथा क्रूर उद्धत एवं शठ आदि रौद्र रस के, कृश विषण्ण मलिन रोगी तथा दरिद्र आदि करुण के और निन्दित आकृति तथा वेश या आचार वाले या पिशाचादि बीभत्स रस के, तथैव महारण्य प्रवेश, महासंग्राम-गमन अथवा गुरु-राजापराधी लोग भयानक रस के आलम्बन होते हैं। काव्यों में जड़, अमूर्त्त तथा भाववाचक आलम्बनों तक की योजना हुई है।'[२]

शारदातनय ने उद्दीपन विभावों को प्रत्येक रस के अनुकूल निम्नलिखित गुणों के आधार पर अष्टधा[३] विभाजित किया है—(१) श्रृंगार रस के उत्कर्षकारक उद्दीपन विभाव 'ललित'; (२) दृष्ट, स्मृत वा श्रुत वा सूचित हासकारक विभाव 'ललिताभास'; (३) श्रुत, दृष्ट अथवा स्मृत स्थिरता-प्रदायक वीर रस के विभाव 'स्थिर'; (४) विचित्रता के अनुभावक और अद्‌भुत रस के ऐश्वर्य विधायक विभाव 'चित्र'; (५) करुण रस के स्थापक 'रूक्ष'; (६) क्लेशदायक अथवा कातरता उत्पादक रौद्र रस के उत्कर्षक विभाव 'खर'; (७) अप्रवृत्तिकारक बीभत्स के उल्लासक विभाव 'निन्दित'; (८) एवं इन्द्रिय-स्पर्श-मात्र से विकृतिजनक 'भयानक' के विभाव 'विकृत' कहलाते हैं।[३] एक से अथवा दो से अथवा तीन भावों से अथवा अन्यों से संसृष्ट होकर रस का उत्कर्ष होता है।[४] अतः वे उद्दीपन कहे जाते हैं।

अनुभाव का स्वरूप

भरत मुनि ने 'विभाव' के उपरान्त, अपने रस सूत्र में, उपादान रूप में 'अनुभाव' का उल्लेख किया है। अतः अब 'अनुभाव-स्वरूप' का विवेचन समीचीन होगा।

---

१. भाव प्रकाश, पृष्ठ ५।६।
२. र० सि० स्व० वि०, पृष्ठ २०।
३. भा० प्र०, पृष्ठ ४।५।
४. एकेन वाऽथ द्वाभ्यां वा त्रिभिर्भावान्तरैरपि
संसृष्टाश्चेद्रसोत्कर्षेत एवोद्दीपनाः स्मृताः। वही भा० प्र०, ४।५।

'अनुभाव' के प्रचलित और व्युत्पत्तिजन्य अर्थों में भिन्नता है। प्रचलित अर्थ में 'अनुभाव' से आंगिक तथा वाचिक, सात्त्विक अभिनय-रूप-विशेष ऐसी चेष्टाओं का संकेत ग्रहण होता है जो आश्रयालम्बन के हृदय-स्थित भावों की सूचक बाह्यरूप होती हैं और सहृदय को उस भाव विशेष का 'भावन' कराती हैं।[1] भावन से अभिप्राय साक्षात्कार कराने अथवा 'अनुभवगोचर' बनाने से है। अतः कटाक्ष भुजक्षेपादि अनुभाव कहे जाते हैं। वे हेतुरूप हृदय-स्थित भावों के कार्य (परिणाम) होते हैं।[2] किन्तु व्युत्पत्तिजन्य अर्थ के अनुसार 'अनुभाव' का अर्थ (अनु-पश्चात्, भावः उत्पत्ति येषाम्' अथवा अनु, पश्चाद् भावो यस्य सो अनुभावः) भाव के पश्चात् उत्पन्न होने वाला है। अतः प्रथम अर्थ के अनुसार ये कारण-रूप होते हैं और द्वितीय अर्थ के अनुसार कार्यरूप।[3] ये रस का अनुभावन कराते हैं, इस दृष्टि से भानुदत्त के मत से इन्हें उद्दीपन विभाव भी कहा जा सकता है।[4]

भरत मुनि ने विभाव और अनुभाव दोनों को ही 'लोक प्रसिद्ध' तथा 'लोकयात्रा-नुगामी' कहा है, अतः 'अतिप्रसंग' से बचने के लिए वे इनकी विस्तृत व्याख्या में नहीं गये हैं।[5]

---

१. अनुभाव्यतेऽनेन वागंगसत्त्वकृतो अभिनयः इति अनुभावः वागंगाभिनयेनेह यतस्त्वर्थोऽ-नुभाव्यते। वागंगोपांगसंयुक्तस्त्वनुभावस्ततः स्मृतः॥ ना० शा० ७।५।

२. (क) अनुभावोविकारस्तु भाव संसूचनात्मकः।
हेतुकार्यात्मनो सिद्धिस्तयो संव्यवहारतः।
स्थायिभावान् अनुभावयन्तः सामाजिकान् सभ्रूविक्षेपकटाक्षदयोः रसपोषकारिणः अनुभावाः। द० रू० ४।३।

(ख) स्थायिव्यभिचारिलक्षणं चित्तवृत्तिविशेषं सामाजिकनोऽनुभवननुभाव्यते-साक्षात्कार्यते यैस्तैरनुभावैः कटाक्षभुजक्षेपादिभिः। काव्यानु०, पृष्ठ ८८।

३. (क) उद्बुद्धः कारणैः स्वैः स्वैः बहिर्भावं प्रकाशयन्।
लोके यैः कार्यरूपः सो अनुभाव काव्यानाट्ययोः। सा० दा० काणे, पृष्ठ २४।

(ख) भावानां यान्ति कार्याणि नाट्यन्ते कुशलैर्नटैः।
अनुभावा हेतवस्ते स्वहेत्वनुभवे यतः—संगीत र० ७।१४००।

(ग) स्थायिभावानां यानि कार्यतया प्रसिद्धानि तानि अनुभावशब्देन व्यपदिश्यन्ते।
अनुः पश्चाद् भावः उत्पत्तिः येषाम् अनुभावयन्ति इति वा व्युत्पत्तेः।
—रगंध०, पृष्ठ ३३।

(घ) अनुपश्चाद् भावों यस्य सोनुभावः कार्यम्। सा० कौ० टीका, पृष्ठ २९।

४. विषयत्वेन उद्दीपनविभावत्वम्। र० तरं०, पृष्ठ ४९।

५. तत्र विभावानुभावो लोकप्रसिद्धो। लोकस्वभावानुगतत्वाच्च तयोर्लक्षणं नोच्यतेऽतिप्रसंग-निवृत्यर्थम् भवति चात्र श्लोकः—

लोक स्वभाव संसिद्धा लोकयात्रानुगामिनः।
अनुभावा विभावाश्च ज्ञेयास्त्वभिनये बुधैः॥ ना० शा०, ७।५-६।

हिन्दी में अनुभावों का स्वरूप-कथन संस्कृत के आचार्यों के निरूपण पर ही आधारित है। आचार्य शुक्ल के मत से 'भाव की गतिविधि का पता अनुभावों से लगता है', अतः 'अनुभाव' भाव के सूचक होते हैं।[1] आचार्य धनंजय के मत पर यह मत अवलम्बित है। (देखिए पाद टिप्पणी-२, पृष्ठ ६८) डॉ० श्यामसुन्दरदास अनुभाव के लक्षण में 'भाव तत्त्व' पर विशेष बल देते हैं और कहते हैं 'भाव कारण है और अनुभाव कार्य है। अनुभावों के द्वारा भावों की सूचना मिलती है।'[2] पण्डितराज जगन्नाथ ने भी अनुभावों को स्थायी भावों का कार्य ही माना है। (देखिए पीछे पाद-टिप्पणी ३ ग, पृष्ठ ६८) इसी प्रकार रामदहिन मिश्र ने लिखा है, 'जो भावों के कार्य हैं या जिनके द्वारा रति आदि स्थायि-भावों का अनुभव होता है, उन्हें अनुभाव कहते हैं।'[3]

अनुभाव-वर्गीकरण

भरत मुनि ने अपने नाटयशास्त्र में 'वागंगाभिनयेनेह' पंक्ति लिख कर अनुभाव के वाचिक, आंगिक और सात्त्विक नामक भेदों की ओर संकेत किया है और विभिन्न रसों तथा भावों में आने वाले अनुभावों का भी उल्लेख किया है। रस तरंगिणी में भानुदत्त ने इनके अलग नाम देकर इन्हें कायिक, मानसिक, आहार्य तथा सात्त्विक की संज्ञा दी है।[4] अनुभावों का स्वरूप सामान्यतः शारीरिक विकारों के रूप में स्वीकार किया गया है, अतः इसके चार भेदों में मानसिक और आहार्य का अनुभावत्व संदिग्ध प्रतीत होता है। डॉ० श्यामसुन्दरदास ने आहार्य के अनुभावत्व का प्रतिषेध किया है 'भेष बदल कर भाव प्रदर्शित करने को आहार्य कहते हैं', अतः इसकी गिनती अनुभावों के अन्तर्गत नहीं की जानी चाहिए। इसे अभिनय का ही एक अंग मानना उचित है अथवा यों कहें, 'यह अभिनय का बीज रूप है तो अनुचित नहीं।'[5] डॉ० श्यामसुन्दरदास के मत से मानसिक अनुभाव का लक्षण इस प्रकार है—'स्थायिभाव के कारण उत्पन्न हुए अन्य भाव अथवा मनोविकार को मानसिक अनुभाव कहते हैं।[6] जब मानसिक अनुभाव का स्वरूप भावात्मक या मनोभावात्मक है, तब इसे शारीरिक विकार-प्रधान अनुभाव तत्त्व का अलग वर्ग किस प्रकार स्वीकार किया जाए? मनोभावों अथवा व्यभिचारी भावों में ही इनका अन्तर्भाव हो सकता है। इसी विचार को दृष्टि में रखते हुए आचार्य शुक्ल ने 'सात्त्विक और आहार्य' को कायिक के अन्तर्गत एवं मानसिक को मूलतः अनुभाव न मानकर संचारी (व्यभिचारी) की संज्ञा दी है। उनके मत से मानसिक को अनुभाव न मानने का कारण यह है कि 'अनुभाव किसी भाव का सूचक होता है, स्वयं सूच्य नहीं होता। मानसिक अवस्था सूच्य ही होती है, अतः संचारियों में रखी गई है।'[7]

---

१. र० मी०, पृष्ठ १७३ और २१९। २. साहित्यालोचन, पृष्ठ २२३।
३. का० द०, पृष्ठ ५८।
४. स चानुभावः कायिक मानसाहार्य सात्त्विक भेदाच्चतुर्धा—र० त०, पृष्ठ १०।
५. साहित्यालोचन, पृष्ठ २२४।
६. साहित्यालोचन, पृष्ठ २२३। ७. र० मी०, पृष्ठ २१९।

संस्कृत के आचार्यों में शारदातनय, शिंगभूपाल तथा श्रीमद्रूपगोस्वामी ने अनुभावों के विशिष्ट रूप से नये नामकरण किए हैं।[१] शारदातनयने अनुभावों को मनगात्रारम्भानुभाव, वागारंभानुभाव तथा बुद्ध्यारम्भावानुभाव नाम दिये हैं।[२] शिंगभूपाल 'मन' के स्थान पर 'चित्त' कहना अधिक उपयुक्त समझते हैं।[३] शेष को यथावत् स्वीकार करते हैं। श्रीमद्रूप-गोस्वामी अनुभावों के तीन अन्य नाम 'अलंकार, उद्भास्वर तथा वाचिक' देते हैं।[४]

मन तथा गात्रारम्भानुभाव

भाव प्रकाशनकार शारदातनय और शिंगभूपाल ने मानस अनुभावों को मन आरंभा-नुभाव एवं कायिकों को गात्रारम्भानुभाव कहा है। वे इन दोनों का सम्बन्ध स्त्रियों से स्वीकार करते हैं और दोनों की अलग-अलग दस-दस संख्या निर्धारित करते हैं यथा—उनके मानसा-नुभाव हैं—भाव, हाव, हेला, शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, प्रागल्भ्य, धैर्य तथा औदार्य और गात्रानुभाव हैं—लीला, विलास, विच्छिति, विभ्रम, किलकिंचित, मोट्टायित, कुट्टमित, विव्बोक, ललित तथा विकृत।[५] वे इन दोनों प्रकार के अनुभावों को सात्त्विक भी कहते हैं परन्तु आचार्यों द्वारा निरूपित सात्त्विक भाव को इनसे पृथक् रखते हैं।[१] इन्हें नायिकाओं के 'सात्त्विक अलंकार नाम देकर साहित्यदर्पणकार आदि ने इनके 'अंगज, अयत्नज तथा स्वा-भाविक अलंकार' नामक तीन भेद किए हैं। 'इनमें भाव, हाव, हेला तो सीधे-सीधे अंगज अलंकार हैं, शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, प्रगल्भता, औदार्य तथा धैर्य अयत्नज हैं।[६] वयः-सन्धि के कारण आकृति तथा शरीर में होने वाले परिवर्तन ही सात्त्विक अलंकार माने गये हैं और गात्रारम्भानुभावों को 'स्वभावज' अलंकार भी कहा गया है।

पुरुषों के गात्रारम्भानुभाव

ऊपर बताये गये नायिकाओं के अनुभावों (अलंकारों) को देखते हुए यह प्रश्न स्वा-भाविक है कि क्या पुरुषों में भी गात्रारम्भानुभाव नहीं होते? इस स्थिति पर आचार्यों ने विचार किया है और इसे ध्यान में रखकर धनंजय और शारदातनय ने पुरुषों में 'शोभा, विलास, माधुर्य, धैर्य, औदार्य, ललित, गाम्भीर्य तथा तेज' गात्रानुरम्भानुभाव स्वीकार किए हैं।[७]

---

१. भाव प्रकाशन, पृष्ट ६। २. र० सु०, पृष्ठ ४८।

३. उ० नी०, पृष्ठ २९९।

४. भाव प्रकाशन, पृष्ठ ८।१३। एवं रसार्णव सुधाकर, पृष्ठ ४८।६५।

५. भाव प्रकाशन, पृष्ठ २०। एवं रसार्णव सुधाकर, पृष्ठ ५८।२१५।

६. र० सि० स्व० वि०, पृष्ठ २४।

७. र० सि० स्व० वि०, पृष्ठ २४।

भानुदत्त ने शारीरिक के अन्तर्गत पुरुषों के गात्रारम्भानुभावों में 'बिब्बोक, विलास, विच्छिति तथा विभ्रम' का भी उल्लेख किया है।[1] उन्होंने 'लीला, विलास, विच्छिति, विभ्रम और ललित' को शरीर अर्थात् शरीरमात्राश्रित 'मोट्टायित, कुट्टमित, बिब्बोक और विहृत' को आन्तर अर्थात् मनोमात्राश्रित और 'किलाकिंचित्' को उभयाश्रित अर्थात् शरीर और आन्तर दोनों कहा है।[2] नृपति भोज ने 'हेला' तथा 'हाव' को स्त्री-पुरुष दोनों में माना है।[3] आचार्य हेमचन्द्र ने समस्त सात्त्विक भावों को स्त्री पुरुष दोनों में स्वीकार किया है।[4] डॉ० दीक्षित की राय है कि स्त्रियों के 'मौग्ध्य' के समानान्तर पुरुषों में अनुभाव 'सारल्य' को इसी सूची में और जोड़ लेना चाहिए।[5] परन्तु 'मौग्ध्य' को व्यापक अर्थ में लेकर पुरुषों के लिए भी गिना जा सकता है, पृथक् नामकरण की कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती।

वागारम्भानुभाव

वाक् द्वारा भाव के सूचक वागारम्भानुभाव या वाचिक अनुभाव कहे जाते हैं। इनके १२ भेद आचार्य मानते हैं—यथा (१) आलाप (चाटूक्ति), (२) विलाप (दुःखभरे वचन), (३) संलाप (क्षोभ और आवेग-विहीन धैर्यपूर्ण सम्वाद), (४) प्रलाप (व्यर्थ कथन), (५) अनुलाप (पुनर्पुनः कथन), (६) अपलाप (पूर्वोक्त का अन्यथा योजन), (७) सन्देश (प्रोषित-प्रेषित समाचार), (८) अतिदेश (प्रस्तुत वस्तु का अपर-अभिधेय से सूचन), (९) निर्देश (निदर्शन कराना अथवा वह यह मैं हूँ—जैसा कथन करना), (१०) उपदेश (उपकारार्थ शिक्षा के लिए कुछ कहना), (११) अतिदेश (अमुक ने कहा, इति), (१२) व्यपदेश (व्याज-पूर्वक आत्माभिलाष कथन)।[6]

बुद्ध्यारम्भानुभाव

रीतिवृत्ति तथा प्रवृत्तियों का 'बुद्ध्यारम्भानुभावों' में वर्णन किया गया है। इनके प्रयोग में बुद्धि की विशिष्ट आवश्यकता होने के कारण इन्हें बुद्ध्यारम्भानुभाव कहा जाता है। इन्हीं का अपर नाम आहार्यानुभाव भी दिया जा सकता है।

उद्भास्वरानुभाव

उज्ज्वल नीलमणि में अलंकारों के परिगणन में भाव, हाव, हेलादि तथा गात्रा-रम्भानुभाव के साथ 'मौग्ध्य' और 'चकित' नामक दो नवीन अनुभावों की परिगणना की गई है। वे नीवी स्रंसन, उत्तरीयस्रंसन, धम्मिलस्रंसन, गात्र-मोटन, अथवा अंग-भंग-पूर्वक काम प्रदर्शन, जृम्भा तथा घ्राणफुल्लता नामक 'उद्भास्वर' अनुभावों का वर्णन करते हैं और यह भी कहते हैं कि जनदेह से सम्बन्ध रखने वाले इन अनुभावों को 'मोट्टायित' एवं 'विलास' में अन्तर्भुक्त कर सकते हैं, परन्तु विशिष्ट शोभा के कारण इन्हें पृथक्तया कहा

१. ननु विब्बोक विलास, विच्छिति, विभ्रमाः पुरुषाणामपि सम्भवन्तीति चेत्। र० त० ६।६।
२. र० त०, ६।६।
३. रस० सि० स्व० वि०, पृष्ट २४।
४. वही, पृष्ठ २४।
५. वही, पृष्ठ २४।
६. भा० प्र०।

गया है।[1] इस विषय में डॉ० दीक्षित का कहना है कि 'ऐसे अनेकानेक भेद करना उचित नहीं, शास्त्र का अध्ययन करने वाला विद्यार्थी इनकी ऊहा भी कर सकता है।"[2]

सात्त्विक अलंकार

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि प्रायः विद्वानों ने अनुभावों के अन्तर्गत स्त्रियों तथा पुरुषों के सात्त्विक अलंकारों को भी गिना दिया है। प्रथमतः भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में, अध्याय २४ में इनका वर्णन प्राप्त होता है। वहां अभिनयात्मक अलंकारों के नाम से 'आलाप' प्रलाप' आदि का वर्णन किया गया है। और, स्त्रियों के २० सात्त्विक अलंकारों को १—अंगज, २—अयत्नज एवं ३—स्वभावज नामक तीन वर्गों में बांटा गया है। उत्तरवर्ती दशरूपक आदि ग्रन्थों में यह विभाजन स्वीकारा गया है। भरत मुनि ने अंगज अलंकारों में 'हाव, भाव तथा हेला' को, अयत्नजों में शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, प्रगल्भता, औदार्य, धैर्य को एवं स्वभावज में 'लीला' आदि को ग्रहण किया है। कुछ परवर्ती लेखकों ने इस संख्या में परिवृद्धि की है और वर्गीकरण भी नयी रीति से किया है। उदाहरणार्थ नृपति भोज ने अयत्नज अलंकार तो छोड़ ही दिए, अंगज में केवल दो स्वीकार किये तथा स्वभावजों में 'क्रीडित' और 'केलि' को और जोड़ा। शारदातनय सबको ही सात्त्विक नहीं मानते। ये तीनों अंगज और सातों अयत्नज अलंकारों को ही मानस या सात्त्विक अलंकार मानने के पक्ष में हैं, शेष स्वभावजों को शारीर। ये भी 'क्रीडित' और 'केलि' को स्वीकार करते हैं। भानुदत्त ने स्वभावजों को 'हॉव' नाम दिया है तथा वे उन्हें 'शारीर'--लीला, विलास, विच्छित, विभ्रम, तथा ललित, 'आन्तर'—मोट्टायित, कुट्टमित, बिब्बोक एवं विहृत तथा 'उभय' अथवा 'संकीर्ण' (मानस और शरीर दोनों)—किलकिंचित्, भेदों में वर्गीकृत करते हैं।[3] शारदातनय एवं शिंगभूपाल इन बीसों सात्त्विक अलंकारों को 'चित्तज' आदि की संज्ञा देते हैं। विद्यानाथ "शोभा, कान्ति, दीप्ति, औदार्य तथा प्रगल्भता" को तो अस्वीकार करते हैं, परन्तु 'कुतूहल, चकित तथा हास' तीन नये उपस्थित करते हैं।[4] विश्वनाथ ने इन तीनों को ग्रहण करके 'मद, तपन मौग्ध्य, विक्षेप, केलि को और जोड़कर कुल संख्या २८ कर दी है।[5]

---

१. उ० नी०, श्लोक ७०, पृ० ३२०। २. र० सि० स्व० वि०, पृ० २५।

३. र० तरं०, ६।६।

४. अथ श्रृंगारचेष्टा निरूप्यन्ते—

भावो, हावश्च हेला च माधुर्यधैर्यमित्यपि

लीला, विलासो विच्छितविभ्रमः किलकिंचितम्।

मोट्टायितं कुट्टमितं बिब्बोको ललितं तथा

कुतूहलं च विहृतं हास इत्यपि

एवं श्रृंगारचेष्टाः स्युरटादशविधा मताः। प्र० रु०, रस प्रकरण, पृ० १८०, १९५०, मैलापुरसंस्करण।

५. सा० द०, ३।८९-९२।

इनमें पहले दश (भाव, हाव, हेला, शोभा, कान्ति, रीति, माधुर्य प्रगल्भता, औदार्य, धैर्य) को इन्होंने पुरुषों में भी बताया है। पहले कहा जा चुका है कि रूपगोस्वामी ने 'मौग्ध्य, तथा 'चकित' का उल्लेख किया है।

हिन्दी में सात्त्विक अलंकार

रीतिकालीन आचार्यों ने 'हाव' नाम देकर इन पर विचार किया है। नन्ददास ने अंगजों में 'रति' को बढ़ाया। केशव ने 'हेला, मद, और बोध' को स्वभावजों में गिना है और १३ हावों को नायक-नायिका दोनों से सम्बद्ध माना है। बिहारीलाल ने इनका विभाजन अंतरंग और बहिरंग नाम से किया। कुछ लेखक 'बोधक, मद, आहार्य, तपन. मौग्ध्य और विक्षेप को भी अलंकारों में ही परिगणित करते हैं। कुछ लेखक 'उद्दीपक' और 'आहार्य' को भी अलंकार मानते हैं। हिन्दी में मुख्यतः चार नये नाम 'रति, बोधक, उद्दीपक और आहार्य' दृष्टिगोचर होते हैं।[१]

अनुभाव तथा चेष्टाएं

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि आचार्यों ने अनुभावों के अन्तर्गत अलंकारों की गणना करके 'हावों' को भी अनुभावों में ही अन्तर्भुक्त किया है। ये अलंकार स्त्री-पुरुषों दोनों में प्राप्त होते हैं। अतः अलंकारों से सम्बद्ध 'हाव' भी स्त्री-पुरुषों दोनों से सम्बद्ध सिद्ध होते हैं। स्त्री-पुरुष परस्पर आश्रय एवं आलम्बन होते हैं इसलिए इनसे सम्बन्ध होने का मतलब है उनका आश्रय एवं आलम्बन, दोनों से सम्बन्ध होना। परन्तु आचार्य शुक्ल ने अनुभाव के अन्तर्गत आश्रय की चेष्टाओं को ही मानकर विभावान्तर्गत चेष्टाओं को 'हाव' कहकर अनुभावों की श्रेणी से पृथक् कर दिया है। ये हावों को प्रभावर्धक अथवा शोभा-वर्धक ही मानते हैं, जबकि अनुभावों का उद्देश्य (आश्रय की चेष्टाओं का लक्ष्य) किसी भाव की अभिव्यक्ति करना होता है।[२]

अब प्रश्न उठता है कि हाव-सामान्य को अनुभाव कहा जाये और उनको आश्रय से सम्बन्धित न मानें तो क्या उन्हें आलम्बन से सम्बन्धित मानकर उद्दीपन के रूप में स्वीकार करें? डॉ० दीक्षित ने इस विषय में भानुदत्त का अनुसरण करते हुए समाधान किया है कि 'आलम्बन हो चाहे आश्रय, दोनों में ये चेष्टाएँ अनुभाव ही बनकर उपस्थित होती हैं, किन्तु आलम्बन के अनुभाव आश्रय में स्थायी भाव को विशेष रूप से उद्दीप्त करने में सहायक होते हैं, अतएव उस समय ये अनुभाव भी विषय बन जाने से उद्दीपन की श्रेणी में पहुँच जाते हैं। पृथक्ता बोध के लिए दो नामों का सहारा लिया गया है, अन्यथा हम इन्हें 'उद्दीप्त' तथा 'उद्दीपक अनुभाव ही कहना उपयुक्त समझते हैं। सम्भवतः शुक्लजी को भी यही मान्य था।[३]

---

१. र० सि० स्व० वि०, पृ० २६१।

२. आगरा युनिवर्सिटी सलेक्शन्स, इन हिन्दी प्रोज—द्वितीय संस्करण—पृष्ठ ६४।

३. र० सि० स्व० वि०, पृष्ठ २६।

सात्त्विक-भाव

स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, स्वरभेद, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय इन आठ भावों[1] को भरत मुनि ने ४९ भावों की परिगणना में पृथक् रूप से सात्त्विक संज्ञा दी है। 'सात्त्विक' शब्द 'सत्त्व' से सम्बन्धित है और भरत मुनि 'सत्त्व' नाम मनःप्रभवम् (मन से उत्पन्न) कहते हैं। मन की समाहित अवस्था के कारण 'सत्त्व' कहा जाता है अर्थात् जब भावों से मन की समाधि होती है, तभी 'सत्त्व' की निष्पत्ति होती है। रोमांच, अश्रु, वैवर्ण्यादि, उस 'सत्त्व' के स्वभाव में हैं जो यथाभाव (तदानुकूल्य) से उत्पन्न होते हैं। वह अन्यमनस्कता से करके नहीं दिखाये जा सकते।[2] उदाहरणतः वास्तविक दुःख और सुख के बिना रोबनरूप दुःख और हर्षरूप सुख का अभिनय नहीं किया जा सकता।[3]

दशरूपक,[4] प्रतापरुद्रीयम्[5] तथा रसरत्नप्रदीपिका[6] में भी भरत मुनि के इस मत का समर्थन किया गया है।

शिंगभूपाल[7] और शारदातनय[8] स्वीकार करते हैं कि यद्यपि भाव सभी सत्त्वज होते हैं

---

१. स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमांचः स्वरभेदोऽथ बेपथु।:
वैवर्ण्यमश्रु प्रलय इत्यष्टौ सात्त्विका मताः॥ ना० शा० ७।९४।

२. इह हि सत्त्वं नाम मनः प्रभवम्। तच्च समाहितमनस्त्वादुच्यते। मनसः समाधो सत्त्व-निष्पत्तिर्भवति। तस्य च योऽसौ स्वभावो रोमांचाश्रुवैवर्ण्यादिलक्षणो यथाभावोपगतः स न शक्योऽन्यमनसा कर्तुमिति। लोकस्वभावानुकरणत्वाच्च नाट्यस्य सत्त्वमीप्सितम्।
—ना० शा०, ७।९४।

३. को दृष्टान्तः—इह हि नाट्यधर्मिप्रवृत्ताः सुखदुःखकृता भावास्तथा सत्त्वविशुद्धाः कार्याः यथा सरूपा भवन्ति। तत्र दुःखं नाम रोदनात्मकं तत्कथमदुःखितेन सुखं चप्रहर्षात्मिकम-सुखितेन वाभिनेयम्।...वही।

४. पृथग्भावा भवन्त्यन्येऽनुभावत्वेऽपि सात्त्विकाः।
सत्त्वादेव समुत्पत्तेस्तच्च तद्भावभावनम्।—द० रू०, पृ० १२४।
परगतदुःखहर्षादि भावनायामत्यन्तानुकूलान्तः करणत्वं सत्त्वम्। वही, पृष्ठ १२५।

५. परगतसुखादिभावनाभावितान्तःकरणत्वं सत्त्वम्। ततो भावाः सात्त्विकाः।
—प्र० रू० पृष्ठ १५९।

६. यद्यपि एते यथा सम्भवं सर्वेषु रसेषु व्यभिचरन्ति तथापि व्यभिचारित्त्वमनादृत्य सत्त्वमात्र-संभवा भवन्ति इति सात्त्विका इति भिन्नतया गाणिताः। तच्च सत्त्व परगतदुःखादि-भावनायां अत्यन्तानुकूलान्तः करणत्वं मनःप्रभावः। तेन सत्त्वेन वृत्ता सात्त्विकाः। र० र० प्र०, पृ० १०।

७. सर्वेपि सत्त्वमूलत्वाद् भावा यद्यपि सात्त्विकाः।
तथाप्यमीषां सत्त्वैकमूलत्वात् सात्त्विकप्रथा। र० सु०, १।३१०।

८. भावानामपि सर्वेषां यैः स्वसत्ताविभाव्यते।
ते भावाः सत्त्वजन्मानः सात्त्विकाः इति दर्शिताः। भा० प्र०, पृष्ठ ३८।

और सभी को सात्त्विक साधारणतः कहा जा सकता है, परन्तु इन आठों को सात्त्विक कहकर विशिष्टतया पृथक् कर देने का कारण यही है कि इनका 'सत्त्व' मात्र से ही सम्बन्ध होता है। पुनः शारदातनय स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि मन स्वभावतः तत्तत् इन्द्रियगोचर विषयों को सत्त्वाधिष्ठानपूर्वक बुद्धि के योग से भोगता है और बुद्धि, ज्ञान एवं आनन्द के विभेद से सत्त्व त्रिधा होता है। परदुःखादि के सेवन से 'सत्त्व' की भावनायुक्त एवं दूसरे के सुख-दुःखादि के अनुभावन से चेतना की जो अनुकूलतापूर्वक तद्भाव-भावना होती है, वह 'सत्त्व' है, उससे निवृत्त भाव सात्त्विक कहलाते हैं।[1]

भरत मुनि की 'मन की समाहित' अवस्था से पृथक् भोजराज नृपति ने सात्त्विक को सत्त्वगुण से सम्बन्धित स्वीकार करके इसका आशय 'सत्त्वगुणयुक्त मन' ग्रहण किया है।[2] परन्तु अन्य आचार्यों ने इस पर आपत्ति की है कि 'सात्त्विक' भावों का आधार एकान्ततः 'सतोगुण' ठहराना, उपयुक्त नहीं बैठता क्योंकि वे रजोगुण एवं तमोगुण युक्त भावों—क्रोध एवं भय के साथ भी देखे जाते हैं।

परन्तु भोजराज ने 'शृंगार-प्रकाश' (पृष्ठ ३५४-६६, भाग २) में जैसा कि डॉ० राघवन ने उद्धृत किया है, सभी ४६ भावों को[3] मनःप्रभव मानकर सात्त्विक की संज्ञा दी है। 'शृंगार-प्रकाश' में भोजनृपति ने सात्त्विकों को 'वाह्य व्यभिचारी' भी कहा है।[4] अभिनवगुप्तपादाचार्य भी इन्हें 'बाह्य' बताते हैं। (बाह्याश्च वाष्प प्रभतयः।[5])

प्र० रू० के टीकाकार कुमारस्वामी ने अन्य विद्वानों का मत समझाते हुए कहा कि 'सत्त्व' ऐसी विशिष्ट सामर्थ्य से युक्त है कि वह बिना किसी अन्य की सहायता के भी रसानुभव करा सकता है। उसी से सम्बन्धित होने एवं आत्म-सामर्थ्य के कारण ये भाव 'सात्त्विक'

---

१. मनस्सत्त्वमधिष्ठाय तत्तदिन्द्रिय गोचरान्।
बुद्धिमाश्लिष्य विषयानुभुंक्ते स्वभावतः ॥
त्रिधा सत्त्वं भवेद् बुद्धि ज्ञानान्द विभेदतः।
तद्भावभावनात्मा स्यात्परदुःखादि सेवया ॥
परस्य सुखदुःखादेरनुभावेन चेतसः।
तद्भावभावनं येन भवेत्तदनुकूलतः ॥
तत्सत्त्वं तेन निवृत्तास्सात्त्विका इत्युदीरितः। भा० प्र०, प्रथम अधिकार, पृष्ठ १३।

२. रजस्तमोभ्यामस्पृष्टं मनः सत्त्वमिहोच्यते।
निर्वृत्तेऽस्य तद्योगात्प्रभवन्तीती सात्त्विकाः। स० कं०, ५।२०।

३. देखिए—राघवन् प्रबन्ध, पृष्ठ ४५१।

४. तत्र आभ्यन्तरा व्यभिचारिषु चिन्तौसुक्योवेगवितर्कादयः, बाह्याः स्वेदरोमांचाश्रुवैवर्ण्यादयः।
उद्धृत—नम्बर आफ रसाज, पृष्ठ १५६।

५. र० सि० स्व० वि०, पृष्ठ ३० पर उद्धृत।

कहलाते हैं ।[1] आचार्य हेमचन्द्र सात्त्विक शब्द के विषय में नवीन विचारों से युक्त दो बातें कहते हैं । वे व्यभिचारी भावों से इनकी तुलना करते हैं और कहते हैं कि व्यभिचारी भावों में ग्लानि, आलस्य, श्रम, निद्रा, मूर्छा आदि कुछ ऐसे भी व्यभिचारी हैं जो बाह्य कारणों से उत्पन्न होते हैं । परन्तु सात्त्विक भाव सदैव 'आन्तर' होते हैं । अतः सात्त्विक भाव एक प्रकार से व्यभिचारी भावों से श्रेष्ठ हैं । रसों से विशेषतयाः शृंगार से, इनका घनिष्ट सम्बन्ध है । रसों के विभाव ही इनके विभाव होते हैं । ये भी अनुभावों ारा व्यक्त किये जाते हैं, अतः ये स्वयं अनुभाव नहीं है ।[2]

दूसरे 'सत्त्व' शब्व का अर्थ है 'प्राण' । 'स्थायी' प्राण तक पहुंचकर दूसरा रूप धारण कर लेते हैं, जिसे सात्त्विक कहते हैं । व्युत्पत्ति से इसका अर्थ है—"जिसमें मन का 'सादन'[3] हो, उस सत्त्वगुण के उत्कर्ष और साधुत्व से उत्पन्न।" हेमचन्द्राचार्य शरीर धर्म बाह्य स्तम्भादि को आन्तरिक स्तम्भादि के व्यंजक अनुभाव ठहराते हैं ।[4] इनका ही अनुकरण रामचन्द्रगुणचन्द्र अपने नाट्यदर्पण में करते हैं ।[5] आचार्य हेमचन्द्र इन्हें आन्तर भाव कहने के पक्ष में तो हैं ही परन्तु यह भी स्वीकार करते हैं कि उनके लक्षण अनुभावों से भी मिलते हैं । स्वयं भरत मुनि ने इन्हें 'सात्त्विकाभिनय' के अन्तर्गत रखा है । विश्वनाथ कविराज[6] तथा भानुदत्त[7] एवं राम चन्द्र गुणचन्द्रे इन्हें अनुभाव ही ठहराते हैं । विश्वनाथ 'सत्त्व' को 'स्वात्म विश्राम' अर्थात्

---

१. केचित् भावान्तरनैरपेक्ष्येण रसापरोक्षीकरणलक्षणो बलविशेषः सत्त्वं तज्जन्याः सात्त्विका इत्याहुः ।—प्र० रु०, रत्नापण टीका, पृष्ठ १६० ।

२. ते च प्राणभूमि प्रसरयादिसंवेदनवृत्तयो बाह्यजड़रूपभौतिकनेत्र जलादिविलक्षणाविभावेन रत्यादिगतेनैवातिचर्वणागोचरेणाहृता अनुभावैश्च गम्यमाना भावा भवन्ति । काव्यानु०, पृ० १४४-४५ ।

३. सीदत्यस्मिन्मन इति व्युत्पत्तैः सत्त्वोगुणोत्कर्षात्साधुत्वाच्च प्राणात्मकं वस्तु सत्त्व तत्र भवा सात्त्विकाः । काव्यानु० पृष्ठ १४४ ।
तथा—रत्यादिश्चित्तवृत्ति विशेषाः पूर्व संविद्रूपा समुल्लसन्ति । तत आभ्यन्तरप्राणान् ते स्वरूपाध्यासेन कलुषयन्ति—वही, टीका, पृष्ठ १४४ ।

४. काव्यानुशासन, पृष्ठ १४५-४६ ।

५. अनुभावयन्ति परस्थाननवबोधयन्तिभावाः स्तम्भस्वेदाश्रु रोमाँच भ्रूक्षेपादयस्तैर्यथासम्भव-सत्तया निश्चयः । ना० द०, पृष्ठ १६० ।
अथवा, तत्रानुलिंगनिश्चयात् पश्चात् भावयन्ति गमयन्ति, लिंगिनं रसमित्यनुभावाः स्तम्भादय । वही, पृष्ठ १६२ ।

६. सा० द०, ३।१३४-५ ।

७. नन्वस्य सात्त्विकत्वं, व्यभिचारित्वं न कुतः सकलरससाधारण्यादिति चेत् । अत्र केचित् सत्त्वं नाम परगतदुःखभावनायामत्यन्ताऽनुकूलत्वम् तेन सत्त्वेन धृता सात्त्विका इति व्यभिचारित्वमनाहृत्य सात्त्विक व्यपदेश इति ।

रस का प्रकाश मानते हैं। उनके मत से 'सत्त्व' आन्तर धर्म होने के कारण सात्त्विक भी 'आन्तर' धर्म ही है तथापि रस के प्रकाशन होने के कारण ये अनुभाव की श्रेणी में आते हैं, केवल 'गोवलीवर्दन्याय' का सहारा लेकर इनका पृथक् वर्णन किया गया है। हेमचन्द्राचार्य के समान भानुदत्त इनकी तुलना व्यभिचारी भावों से करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार सात्त्विकों के विषय में सुख-दुःखादि की अनुकूलता बतायी जाती हैं, उसी प्रकार निर्वेदादि भी अनुकूलता-लक्षण युक्त होते हैं।[1]

यदि अनुकूलतादि के लक्षण को मानें तो उन्हें भी सात्त्विक ही मानना पड़ेगा। उन्होंने 'सत्त्व' शब्द का अर्थ प्राणीवाचक किया है और यहाँ इसका अर्थ दिया है—'जीवशरीर'। जीव-शरीर के धर्म ही सात्त्विक कहलाएंगे। अतः ये 'शारीर-भाव' है, स्थायी एवं व्यभिचारी आन्तर होते हैं, शारीर नहीं। उन्होंने नितान्त शारीरिक 'अक्षिमर्दन' आदि से भेद दिखाने के लिए 'सात्त्विक-भावों के लिए विकार और 'अक्षिमर्दन' आदि के लिए चेष्टा शब्द का प्रयोग किया है।[2] डॉ० मनोहर काले ने भानुदत्त का मत सात्त्विक के विषय में इस प्रकार दिया है—सात्त्विक भावों में शरीर की मूलसंघटना में अन्तर आ जाता है—जैसे स्वर बदलना, रोमांच होना, पसीना आना इत्यादि परन्तु अनुभावों में शारीरिक अवयवों की चेष्टाएं मात्र होती हैं।[3]

भक्ति रसामृतसिन्धु में आचार्य जीव गोस्वामी सात्त्विक की परिभाषा दो प्रकार से देते हैं—[4]

---

१. तन्न, निर्वेदस्मतिप्रभृतीनामपि सात्त्विकव्यपदेशापत्तेः न च
परदुःखभावनायामष्टावेते समुत्पद्यन्त इत्यनुकूल शब्दार्थः। अतएव
सात्त्विकत्वमप्येतेषामिति वाच्यम्। निर्वेदादेरपि परदुःखभावनायामप्युत्पत्तेरिति।
अत्रेदं प्रतिभाति—सत्त्वशब्दस्य प्राणिवाचकत्वादत्र सत्त्वं
जीवशरीरम्। तस्य धर्माः सास्विकाः। इत्थं च शारीरभावाः
स्तम्भादयः सात्त्विकभावा इत्यमभिधीयन्ते। स्थायिनो
व्यभिचारिणश्च भावा आन्तरतया न शरीरधर्मो इति।
—र० तरं० पृष्ठ ५७-५८।

२. न चांगाकृष्टिनेत्रमर्दनादीनामपि भावत्वापत्तिः। तेषाम् भावलक्षणभावात्। रसानुकूलोविकारो भाव इति हि तल्लक्षणम्। अंगकृष्टादयो हि न विकाराः किन्तु शरीरचेष्टाः प्रत्यक्षसिद्धमेतत्। अंगाकृष्टिरक्षिमर्दनं च पुरुषैरिच्छया विधीयते परित्यज्यते च। जृम्भा च विकारादेव भवति तन्निवृत्तौ निवर्तते चेति। र० तरं० पृष्ठ ६६।

३. हि० म० का० अध्य०, पृष्ठ ८५ से उद्धृत।

४. (१) चित्तं सत्त्वीभवत् पाणे न्यस्तातमानमुद्भटम्।
(२) प्राणस्तु विक्रियां गच्छन् देहं विक्षोभयत्यलम् तदा स्तम्भादयो भावा भक्तदेहे भवन्त्यमी। भ० र० सि०, पृष्ठ २०८।

१. सत्त्वप्रधान हुआ चित्त अपने को बलपूर्वक प्राणों के साथ संयुक्त करता है, और

२. (चित्त के वेग के कारण) विकार को प्राप्त होकर प्राण शरीर को अत्यन्त विक्षुब्ध कर देता है। तब शरीर में ये सात्त्विक भाव उत्पन्न होते हैं।

उन्होंने सात्त्विकों के तीन भेद किये हैं[३]:—स्निग्ध, दिग्ध एवं रूक्ष। रति भाव से उत्पन्न सात्त्विक भाव श्री जीवगोस्वामी के मत से 'स्निग्ध' हैं, वे इसके भी दो भेद करते हैं[४]—मुख्य एवं गौण—रति भाव के साथ-साथ उत्पन्न होने वाले मुख्य स्निग्ध सात्त्विक भाव[५] हैं—तथा रति भाव के उत्पन्न होने के उपरान्त उत्पन्न सात्त्विक भाव गौण-स्निग्ध हैं।[६] रति के बिना उत्पन्न परन्तु अन्त में रति के अनुगामी भावों से युक्त मन से उत्पन्न सात्त्विक भावों को दिग्ध सात्त्विक कहते हैं।"[७] रति शून्य विस्मय, आश्चर्य वार्तादि से उत्पन्न सात्त्विक भावों को रूक्ष सात्त्विकों की संज्ञा दी जाती है।[८]

हिन्दी के आचार्यों ने संस्कृत के आचार्यों का ही सहारा सात्त्विकों के निरूपण में लिया है।

डॉ० श्यामसुन्दर दास के अनुसार यही अनुभाव (शारीरिक तथा मानसिक) जब मन की अत्यन्त विह्वलकारी दशा से उत्पन्न होते हैं, तब सात्त्विक अनुभाव कहलाते हैं। इनका यह मत भरत मुनि तथा धनंजय के मत से प्रभावित है। साहित्यकौमुदीकार विद्याभूषण के मत 'स्तम्भ आदि सात्त्विक भाव अपने आप प्रकट होते हैं तो स्मित आदि अनुभाव नट के लिए प्रयत्न साध्य हैं' के अनुरूप आचार्य शुक्ल तथा विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने सात्त्विक भावों का स्वरूप निर्धारित किया है।[२]

आचार्य शुक्ल ने अनुभावों के अयत्नज एवं यत्नज के स्थान पर "अनैच्छिक' (इंवालण्टरी) एवं ऐच्छिक (वालनटरी) शब्दों का प्रयोग उचित माना है और वे सम्पूर्ण

---

(३) सत्त्वादस्मात् समुत्पन्ना ये भावास्ते तु सात्त्विकाः।
स्निग्धा दिग्धास्तथा रूक्षा इत्यमी त्रिविधाः मताः।

(४) स्निग्धास्तु सात्त्विका मुख्या गौणाश्चेति द्विधा मताः। वही, पृष्ठ २०६।

(५) आक्रमान्मुख्यया रत्या मुख्याः स्युः सात्त्विका अमी।

(६) रत्याऽऽक्रमणतः प्रोक्ता गौणास्ते गौणभूतयाः। वही, २।३।३।

(७) रतिद्वयविनाभूतैर्भावैर्मनस् 'आक्रमात्।
जने जात रतौ दिग्धास्ते चेद्रत्यनुगामिनः। भ० र० सि० पृष्ठ २०७।

(८) मधुराश्चर्य्यतद्वार्त्तोत्पन्नमुद्धविस्मयादिभिः।
जाता भक्तोपमे रूक्षा रतिशून्य जने क्वचित्॥ वही, २।३-७।

१. साहित्यालोचन, पृष्ठ २२४।

२. देखिए, हि० म० का० अध्य०, पृष्ठ ८६।

कायिक अनुभावों को ऐच्छिक और शेष अनैच्छिकों को सात्त्विक भाव कहने के पक्ष में हैं। 'प्रलय' को वे कायिक अनुभावों में ही रखने के पक्ष में हैं।[1] आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र साहित्यकौमुदीकार का सहारा लेते हुए कहते हैं—सात्त्विक अनुभाव वे हैं, जिन पर धारण-कर्ता का कोई अधिकार नहीं होता। भावों के उदय होने से ये स्वतः उद्भूत हो जाते हैं।[2] श्री रामदहिन मिश्र ने अनुभाव एवं सात्त्विक भावों को पृथक् करने वाले तत्त्वों का विवेचन नहीं किया और भोजनृपति एवं भानुदत्त की परिभाषा का समर्थन करते प्रतीत होते हैं।[3] डॉ० गुलाबराय संस्कृत के आचार्य विश्वनाथ (साहित्यदर्पणकार) के मत का अनुगमन करते हैं और सात्त्विकों को एक प्रकार के अनुभाव ही मानते हैं।[4] डॉ० राकेश गुप्त 'सात्त्विक' को भाव कहना अनुपयुक्त मानते हैं, वे इन्हें अनुभाव ही कहना संगत समझते हैं।[5] परन्तु उन्होंने भरत मुनि के 'भाव' शब्द का आशय एकान्ततः मनोभावात्मक (आधुनिक मनोविज्ञान के अर्थों में) ग्रहण किया है जबकि भरत मुनि के आशय से 'भाव' शब्द में मानसिक, बौद्धिक एवं शारीरिक तत्त्वों का अन्तर्भाव होता है। भाव-स्वरूप में इसका स्पष्टीकरण किया जा चुका है। अतः डॉ० राकेशगुप्त का यह आक्षेप इस स्थिति में विशेष संगत प्रतीत नहीं होता।

मराठी में रस-विमर्श लिखने वाले डॉ० वाटवे सात्त्विकों का मानसशास्त्र की कसौटी पर विवेचन करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि अनुभाव और भाव दोनों ही संवेगाभिव्यंजक तत्त्व (एक्सप्रेशन्स आफ इमोशन्स) हैं, भावनाएं नहीं हैं। उनके मत से 'अधिक से अधिक दोनों में यही अन्तर हो सकता है कि सात्त्विक भावों को भय, क्रोध, आनन्द, दुःख आदि की अत्यन्त उत्कटावस्था को प्राप्त भावनाओं के अभिव्यंजक रूप में माना जाए तो दूसरी ओर जब ये ही भावनाएं अधिक उत्कट न हों तब इनके कारण जो शारीरिक चेष्टाएं होती हैं, उन्हें अनुभाव कहा जाय।[6] मनोभावों के बाह्य अभिव्यंजक व्यक्ति की मानसिक स्थिति और भावोद्दीपक वस्तुओं पर, अपनी शिथिलता एवं तीव्रता के लिए, अवलम्बित होते हैं। उदाहरण के लिए, भय की उद्दीपक वस्तु बिच्छू, सांप, मगर, या प्रत्यक्ष वस्तु के आधार से व्यक्ति के मन में भय की भावना न्यूनाधिक रूप से व्यक्त होगी। इसी प्रकार निर्भीक एवं भीरु व्यक्ति इनसे न्यून और अधिक मात्रा में भय की अनुभूति करेगा। अतः स्वेद, रोमांच, तथा स्तम्भ को भय की उत्कटावस्था का 'अबुद्धिपूर्व' (इन्वालण्टरी) अभिव्यंजन माना जाये और साधारण भयावस्था के अभिव्यंजन 'नेत्र-विस्तार, कम्प आदि' को बुद्धिपूर्वक (वालण्टरी) अभिव्यंजन स्वीकार किया जाये।[7] डॉ० जोग भी इन्हें (सात्त्विक भावों को) अनात्मप्रेरित (इनवालण्टरी) अनुभाव कहने के पक्ष में है जो आकस्मिक एवं तीव्र भावनाओं के कारण होते हैं।[8]

---

१. र० भी०, पृष्ठ ४१७।
२. वा० वि०, पृष्ठ १४५।
३. का० द०, पृष्ठ ५९।
४. सि० अध्य०, पृ० १२८।
५. सा० स्ट० र०, पृ० १५६-१५७।
६. र० वि०, पृ० १०५।
७. वही, पृ० १०५-६।
८. अ० का० प्र०, पृ० ११६।

सात्त्विक भावों को भाव की श्रेणी में स्थान देने वाले आचार्यों के पक्ष को उपेक्षित न भी किया जाये तो भी व्यावहारिक दृष्टि से इस विचार का तिरस्कार नहीं किया जा सकता कि सात्त्विकों का प्रकटीकरण केवल शरीर के विकारों द्वारा ही हो पाता है। चाहे वे मूलरूप में मन की आकस्मिक स्थिति से उत्पन्न उत्कटावस्था के द्योतक ही हैं, तथापि बाह्य प्रकाशित रूप में अनुभाव ही बन कर प्रकट होते हैं। यह तथ्य सभी आचार्यों को स्वीकार है।

बाह्य सात्त्विक भावों के मूल में होने वाली विक्रिया

हेमचन्द्राचार्य ने 'सत्त्व' का अर्थ 'प्राण' करते हुए सात्त्विकों के मूल में होने वाली विक्रिया का विश्लेषण इस प्रकार किया है : प्राण में पृथ्वी का भाग प्रधान हो जाने पर स्तम्भ, जल भाग प्रधान हो जाने पर अश्रु, तेज भाग प्रधान हो जाने पर स्वेद, तेज की तीव्रता शून्य प्रधानता से वैवर्ण्य, (प्राण में) आकाश भाग प्रधान होने पर प्रलय तया वायु के भाग के प्रधानत्व से रोमांच, कम्प, स्वरभंग होता है। वायु इनमें क्रमशः मन्द, मध्य तथा उत्कृष्ट आवेशयुक्त रहता है। शरीरधर्म स्तम्भादि बाह्य अनुभाव इन आन्तरिक स्तम्भादि की व्यंजना करते हैं।[१] हेमचन्द्राचार्य के समान ही जीव गोस्वामी ने भी इनकी आन्तरिक प्रक्रिया पर प्रकाश डाला है।[२]

इन आचार्यों के ऊपर बताये सात्त्विक भावों के विषय में शरीर-शास्त्र एवं मनोविज्ञान यह स्वीकार करता है कि प्रतिवर्त्त (रिफ़्लैक्स) रूप में इन शारीरिक क्रियारूपी सात्त्विक भावों को करने वाले क्षेत्र पृथक्-पृथक् एवं अन्य हैं और सांवेगिक क्रिया करने की आज्ञा का स्रोत भी अन्य है। (इसे हाइपौथेलेमस कहते हैं।) प्रतिवर्त्त क्रिया करने वाले क्षेत्रों में स्थित विशिष्ट स्नायु को हटा देने पर प्रतिवर्त्त क्रियाएं बन्द हो जाती हैं, परन्तु सांवेगिक क्रियाएं बन्द नहीं होती। उदाहरणार्थ प्रतिवर्त्त अश्रु-श्रावी स्नायु को हटाने पर भी संवेग-जन्य अश्रु-श्राव नहीं रुकता क्योंकि इसका प्रचालन 'हाइपौथैलेमस' करता है।

साहित्याचार्यों ने बाह्यकारणों से उत्पन्न अश्रु आदि प्रतिवर्त्त क्रियाओं के रूप सात्त्विक भावों पर भी विचार किया है और संवेगजन्य क्रियाओं के रूप सात्त्विक-भावों का भी।[३] नटकर्म को दृष्टि में रखकर कि वे बिना मन की समाहित (अथवा एकाग्र) अवस्था के नहीं दिखाये जा सकते, इन क्रियाओं को सात्त्विक नाम दिया है। इस विशेषता को लक्षित करके ही उन्होंने कहा है कि बाह्य अश्रु आदि आन्तर (अश्रु आदि) भावों के ही अनुभाव हैं, अतः उन का अभिनय 'मानसिक अभिनय' से सम्बन्धित है।[४] आचार्यों द्वारा ऊपर-कथित 'पंचतत्त्वों' की प्रधानता से युक्त सात्त्विकों का शरीर-रचना-शास्त्र एवं मनोविज्ञान के प्रकाश में विचार करना आवश्यक हो जाता है।

---

१. काव्यानु० पृ० १४५-४६। २. भ० र० सि०, सात्त्विकभावप्रकरण।
३. देखिए—सात्त्विक भावों के विभाव, किसी भी रस ग्रंथ में।
४. "अब सात्त्विक (अर्थात् मानसिक) अभिनय का वर्णन करते हैं।" ना० द०, पृ० ३५८।

अश्रु

इनके श्राव का कारण चक्षुओं में स्थित श्राव-ग्रन्थियां हैं, जो नलिकामयी हैं। बाह्य-प्रतिवर्त्त क्रिया के रूप में जो अश्रु आते हैं, वे संवेगजनित अश्रु से भिन्न हैं। इन्हीं को रत्नाकर में उद्धव शतक में इस प्रकार आते हुए लिखा है 'वेग नलिका में धाय दृगन हमारे से फूटत फुहारे हैं।'

'अश्रु' के उपादानों का विश्लेषण किया जा चुका है। उसमें ९८ प्रतिशत जल तथा शेष प्रतिशत में अनेक रासायनिक द्रव्य होते हैं जिनमें क्षार (अंग्रेजी—ऐश) और शर्करा (अंग्रेज़ी शुगर) ये दो पदार्थ विशेष उल्लेखनीय हैं।[1]

जनसाधारण में एक विश्वास प्रचलित है कि हर्ष के अश्रु मधुर एवं शीतल होते हैं, जबकि दुःख के अश्रु खारे एवं तप्त होते हैं। सम्भवतः हर्ष में उसमें उत्साह के कारण क्षार-भाग कम और शक्तिवर्धक शर्करा-भाग अधिक हो जाता है, एवं अग्नि का प्रभाव-मन्द रहता हो जिससे जन-साधारण उन्हें मधुर एवं शीतल अनुभव करता है। जल-भाग तो इसमें प्रधान है ही जिसके लिए भारतीय आचार्य का कहना है कि इसमें 'सत्त्व' में जल तत्त्व अधिक होता है।

स्वेद

प्रतिवर्त्त क्रिया के रूप में आया स्वेद शरीर का तापमान ठीक रखने के लिए होता है। यह मिर्च-मिसालों को खाते समय गर्दन और चेहरे तक सीमित रहता है। भय, धबराहट, थकाव, मानसिक श्रम की अवस्था में उत्पन्न स्वेद माथे पर, हथेलियों पर, पदतल-भाग पर उपस्थित होता है। ये भाग बाह्य उष्णतादि से उत्पन्न स्वेद में प्रतिक्रिया नहीं करते और अंग्रेजी मुहावरे 'कोल्ड स्वैट' की अवस्था में प्रतिक्रिया करते हैं।[2] साधारणतः प्रस्वेद प्रतिक्षण आता रहता है और साथ ही सूखता भी जाता है। हमारा ध्यान विशेष अवस्थाओं में इस ओर जाता है। संवेग की भी अवस्था में यह उत्पन्न होता है और इसका कार्य प्रतिवर्त्त क्रिया की ही भाँति तापमान संतुलित रखना है।

भारतीय आचार्यों का यह कहना कि सत्त्व में 'अग्नि तत्त्व' की प्रधानता से 'स्वेद' उत्पन्न होता है, सारपूर्ण दृष्टिगत होता है। ग्रामीण भाषा में कहा भी जाता है—"जाको कोठा गरम होय है, वा कू पसीना बहुत आवै है।"

स्वरभंग

गले में स्थित स्वर-तंत्रियों में वायु अधिक भर जाने से स्वर-तंत्रिकाओं में स्वरझंकृति के लिए स्थान न रहने से स्वरभंग होता है, अथवा मस्तिष्क के चेष्टाधिष्ठान भाग में कोई

१. देखिए—'द फिज़ियोलोजिकल बेसिस आफ़ मेडिकल प्रेक्टिस'—सप्तम संस्करण, पृ० १३१४।

२. देखिये—वही, सप्तम संस्करण, पृ० ८८६-९०, १३०६।

चोट लगने से वाक्-भ्रंश होता है[1] जिसमें वाक्-प्रयत्न पूर्णता से नहीं होते। साहित्याचार्यों ने पहले ही विकार पर बल अधिक दिया लगता है परन्तु दूसरे प्रकार का विकार (भ्रंश) भी ध्यान देने योग्य है। संवेग की अवस्था दोनों ही प्रकार के विकारों को जन्म दे सकती है।

भारतीय आचार्यों का यह कहना कि सत्त्व में वायु-तत्त्व के उत्कृष्ट प्रवाह की प्रधानता होने से 'स्वर-भंग' उत्पन्न होता है, सारवान् प्रतीत होता है। रत्नाकर ने स्वर-तंत्रिकाओं की फूली अवस्था का यह वर्णन भी किया है, "गह्वर आयो गर्‌यो कढ़न न बैन पाये।"

कम्प

प्रतिवर्त्त क्रिया के रूप में शीत-कम्प उत्पन्न होता है। इस विषय में शरीर शास्त्र की व्याख्या यह है कि कड़े शीत के कारण रक्त के जल की पर्याप्त हानि होती है और मांस-पेशियों में रक्त के पहुंचने में कठिनाई होती है, अतः रक्त-प्रवाह को बनाये रखने के लिए कम्प की क्रिया होती है। संवेग की अवस्था में सम्भवतः लघु-मस्तिष्क का भाग प्रभावित होता है और शरीर के विभिन्न भागों को नियन्त्रण में नहीं रख पाता जिससे क्रियाओं में स्थैर्य और प्रतिवर्त्त क्रियाओं पर नियन्त्रण नहीं रह पाता।[2]

भारतीय आचार्य के 'वायु के मध्यम प्रवाह की प्राधानता' का इस अवस्था में यही अर्थ लिया जा सकता है कि हृदयगति के व्यतिक्रम से रक्त की पहुंच में अन्तर आ जाने से मांस-पेशियां अपने कार्य को स्थिरतापूर्वक नहीं कर पातीं और सत्त्व की प्रभावित अवस्था में, 'वायुवेग के मध्यम' होने के कारण, उनको नियन्त्रण में रखने में हम अपने को असमर्थ पाते हैं।

रोमांच

शीत की प्रतिवर्त्त क्रिया के रूप में रक्त-गाढ़ होने से त्वचा की पेशियाँ सिकुड़ती हैं और उनके साथ रोमांच होता है।

संवेग की अवस्था में हर्ष, भय आदि में हम अनुभव करते हैं कि हमारा हृदय 'धक्-सा' रह जाता है। इस प्रतिवर्त्त कर्म में समस्त त्वक्-पेशियां 'आसन्न-स्थिति' का सामना करने को तत्पर होती दिखती हैं। सर्प से सामना होते समय नेवले को अपने रोमों को खड़ा करते देखा गया है। बिल्ली के रोंगटे शिकार को देखकर खड़े हो जाते हैं। एकाएक हमारे शरीर पर सिहरन उत्पन्न करने वाले किसी कीट के रेंगने से रोंगटे अपने आप खड़े हो जाते हैं। यह सब प्रतिवर्ती कर्म हैं जिनमें आसन्न-स्थिति का सामना करने की तत्परता होती है। इसमें शक्ति-रोधन के द्वारा शक्ति-वर्धन की क्रियाओं में तत्पर उप-अनुकम्पिक स्वतन्त्र-स्नायु-संस्थान कार्य करता प्रतीत होता है। स्वतन्त्र स्नायु संस्थान का प्रचालन 'हाइपोथैलेमस' (या भारतीय आचार्य का सत्त्व) करता है, यह लिखा ही जा चुका है।

---

१. देखिए—सा० म० रू०, पृष्ठ १०४। २. देखिए—वही, पृष्ठ ८१-१३३।

भारतीय आचार्य के यह कहने में सार प्रतीत होता है कि रोमांच में 'सत्त्व' में वायु के मन्द प्रवाह का प्राधान्य होता है। वायु शरीर के रक्त का वाहक है और उप-अनुकम्पिक स्वतन्त्र-स्नायु संस्थान भी श्वास एवं रक्त की गति आदि को मन्द कर देता है।

वैवर्ण्य

शरीर शास्त्र एवं भेषजीयशास्त्र बताता है कि त्वचा-वाहिनियों में रक्त की संचार-मात्रा से वैवर्ण्य (काया कान्ति में अन्तर) आता है। यह वैवर्ण्य तीन प्रकार का हो सकता है। रक्ताभ, पीताभ एवं कलछोंह। हिन्दी में मुहावरे हैं—क्रोध से मुख लाल होना, भय से पीला पड़ जाना, तथा विषाद से कुढ़न आदि से 'मुंह पर मसि लगना'। रक्त को तीव्र गति से फेंकने के लिए अधिक प्राणवायु (आक्सीजन) की आवश्यकता होती है जो ज्वलनशील होती है। क्रोध को आचार्यों ने शास्त्र में ज्वलनशील कहा है।[1] आवेश की अवस्था में 'चेहरे का तमतमाना' देखा जाता है। इस अवस्था में अनुकम्पिक स्वतन्त्र-स्नायु संस्थान कार्य करता है। भय आदि की अवस्था में रक्त का संचार त्वक्-शिराओं में नहीं होता है, रुक जाता है। यह कार्य उप-अनुकम्पिक स्वतन्त्र-स्नायु संस्थान द्वारा होता है। कलछोंह-वर्ण की अवस्था में सम्भवतः त्वक्-शिराओं के रक्त का पर्याप्त परिशोधन नहीं होता और उसमें क्षारअंश की वृद्धि हो जाती है, अतः त्वचा कलछोंही दिखती है।

ऊपर हेमचन्द्राचार्य ने 'तेजस्' की मन्दता का वर्णन सम्भवतः पीताभ विवर्णता को लेकर ही किया दिखता है, और उनका उस अंश में कथन उपयुक्त है।

स्तम्भ

पूर्वचेष्टाधिष्ठान और चेष्ठाधिष्ठान (अंग्रेज़ी—प्रि० सेण्ट्रल मोटर कार्टेक्स एण्ड सेण्ट्रल मोटर कार्टेक्स) क्रमशः हमारी जटिल एवं सरल क्रियाओं पर नियन्त्रण रखते हैं। आकस्मिक परिस्थितियों में जब स्तम्भन होता है तब हाइपोथैलेमस से परिचालित उप-अनुकम्पिक स्वतन्त्र स्नायु-संस्थान द्वारा प्रभावित होकर ये भाग अपनी क्रियाएं रोक देने के लिए प्रेरित होते हैं।[2]

देखा गया है कि 'चेष्टाधिष्ठानों' के किसी भाग पर चोट लगने से हमारे शरीर के अंगों में स्थायी वा अस्थायी 'स्तम्भन' हो जाता है। इनको विद्युत् की क्षीण धाराओं से प्रभावित करने पर शरीर के विभिन्न अंगों में हरकतें होती हैं। ये भाग शिर की 'प्रान्तस्था' में रहते हैं और इनका 'अन्तर्मस्तिष्क' से सम्बन्ध जुड़ा होता है। हाइपोथैलेमस 'अन्तर्मस्तिष्क' का आधार-भाग है, यदि अन्तर्मस्तिष्क से सन्देश समाप्त हो जायें अथवा किसी क्रिया का

---

१. स्थायी भावों में क्रोध के लक्षण देखिए।

२. सा० म० रू०, पृष्ठ १०४।

प्रचालन वहाँ से बन्द हो जाये तो पूर्वचेष्टाधिष्ठान एवं चेष्टाधिष्ठान क्रमशः जटिल एवं सरल क्रियाओं को रोक देता है। ऐसी अवस्था में हम अपनी इन्द्रियों के विषयों की संज्ञा तो करते हैं, परन्तु उनमें प्रतिक्रिया का वेग नहीं रहता।

भारतीय आचार्य के मत से, स्तम्भ के अन्तर्गत सत्त्व में पृथ्वी-तत्त्व की प्रधानता से, यही अर्थ लिया जा सकता है, कि पार्थिव गुण, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, उसमें मुख्यतयाः संज्ञित होते हैं, परन्तु क्रिया का 'वेग' उसमें नहीं होता क्योंकि 'सत्त्व' (हाइपौथेलेमस) से क्रिया के लिए कोई सन्देश प्राप्त नहीं होते।

प्रलय

वृहद् मस्तिष्क चार खण्डों में विभाजित किया गया है। अग्रखण्ड, पार्श्वकपालखण्ड, पश्चकपालखण्ड और शंखखण्ड। इन में अग्रखण्ड जटिल विचार करने का काम, पार्श्वकपाल-खण्ड त्वक्-सम्वेदना प्राप्त करने का काम, शंखखण्ड श्रवण-सम्वेदनाएं प्राप्त करने का काम तथा पश्चकपालखण्ड दृष्टिसम्वेदनाएं प्राप्त करने का काम करता है। अग्रखण्ड में ही स्वाद और घ्राण की सम्वेदनाएं प्राप्त होती हैं।

इस अग्रखण्ड में चोट लगने या सूजन आने से व्यक्ति की संज्ञा लुप्त हो जाती है। एक व्यक्ति के शिर में बड़ी पीड़ा रहती थी और बाद में उसकी संज्ञा लुप्त हो गयी। आपरेशन करने पर देखा गया कि उसके अग्रखण्डों में सूजन आ गयी थी। तथा उसके अग्रखण्डों को निकाल देने पर उसकी संज्ञा तो लौट आयी, परन्तु उसमें जटिल विचारों एवं भावनाओं पर नियन्त्रण रखने की शक्ति न रह गयी थी।[1]

प्रलय (मूर्च्छा, अचेतनता) में हमारी सम्वेदनाशक्ति नष्ट हो जाती है और सम्वेद-नाओं का साहचर्य-कर्म भी समाप्त हो जाता है। चेष्टाधिष्ठान एवं पूर्वचेष्टाधिष्ठान का व्यवहार भी रुक जाता है। अर्थात् इन्द्रियजनित सम्वेदनाओं, उनके अर्थों का ग्रहण नहीं होता। फलतः तज्जनित कोई क्रिया भी नहीं होती।

तो भारतीय आचार्य के मत से सत्त्व में 'आकाश' तत्त्व की प्रधानता से क्या संवेद-नाओं और साहचर्यों का बन्द हो जाना अभिप्रेत है ? अर्थात् आकाश तत्त्व की प्रधानता स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, संस्कार (वेगादि), यत्न आदि गुणों को दबा देती है ? आकाश का गुण शून्य है। 'चित्त-शून्यता' प्रलय का दूसरा नाम है।

मनोविज्ञान स्वीकार करता है कि सांवेगिक आकस्मिक स्थितियों में आत्म-रक्षा के हित 'हाइपोथेलेमस' से प्रचलित स्वतन्त्र-स्नायु संस्थान से 'प्रलय' (मूर्च्छा) सम्पन्न होती है।

स्थायी-भाव का स्वरूप

भरत मुनि ने सामान्यतः भावों की संख्या ४९ गिनकर स्थायी भावों के रूप में

---

१. विस्तृत वर्णन के लिए देखिए—सा० म० रू०, पृष्ठ ८१-१३१।

रति, हास, क्रोध, शोक, उत्साह, भय, जुगुप्सा और विस्मय इन आठ भावों को निरूपित किया है और केवल इन आठ को ही स्थायी मानने के व्यावर्त्तक लक्षण इस प्रकार दिए हैं—[1]

१. ये आठ भाव ही रसत्व को प्राप्त होते हैं।

२. अल्प बुद्धिमान पुरुषों के समान अन्य विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव राजानुचरों के समान इनके आश्रय में रहते हैं।

३. भावों में स्थायी भाव 'स्वामी रूप' नरेन्द्रवत् होते हैं। उदाहरणस्वरूप भरत मुनि ने कहा है कि जिस प्रकार समान-लक्षण हाथ-पैर-उदर-शरीर के होते हुए भी पुरुष अपने-अपने कुलशील-विद्या-कर्म-शिल्प-विचक्षणत्व से राजत्व को प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार स्थायिभाव रसत्व को प्राप्त होते हैं। अन्य भाव परिजनरूप में रहते हैं। जिस प्रकार मनुष्यों में राजा और शिष्यों में गुरू को प्रतिष्ठा प्राप्त है, उसी प्रकार भावों में स्थायी महान् है।[2]

इन तीन व्यावर्त्तक लक्षणों की कसौटी पर अन्य भावों को भी स्थायी क्यों नहीं कहा जा सकता ? इसके उत्तर में भरत मुनि ने "आप्त-प्रमाण" का सहारा लेकर कहा है कि इनके (रसों और भावों के) नाम आप्तोपदेश से चले आये हैं।[3] अतः उनके स्थायित्व में शंका नहीं की जा सकती।

द० रू० में स्थायीभाव को 'लवणाकार' के समान कहा गया है जो अपने में अन्य भावों को सरिताओं के जल के समान मिलाकर आत्मभाव को प्राप्त करा देता है।[4]

धनंजय, विश्वनाथ, पण्डितराज जगन्नाथ के मत में स्थायी की प्रधानता इसीलिए है कि यह अन्य भावों से (विरोधी-अविरोधी दोनों से) नष्ट नहीं होता।[5] भानुदत्त के मत में यह दूसरे भाव को दबाने में समर्थ होता है, परन्तु स्वयं किसी से दबता नहीं।[6] नृपेन्द्र भोज का मत है—ये चिरकाल तक चित्त में अवस्थित रहते हैं और रसत्व को प्राप्त होते हैं।[7]

---

१. ना० शा०, अध्याय ७।७ के पश्चात् गद्य भाग।

२. यथा नराणां नृपतिः शिष्याणां च यथा गुरुः एवं हि सर्वभावानां भावः स्थायी महानिह।—ना० शा० ७।८।

३. वही, ६।१५-१७।

४. आत्मभावं नयत्यन्यान् सः स्थायी लवणाकरः। द० रू० ४।३४।

५. द० रू० ४।३४; सा० द० ३।१७४; रगंध०, पृष्ठ १२७।

६. पराऽनभिभाव्यो मनोविकारो वा सकलप्रधानो विकारो वा स्थायिभावः। र० त० पृष्ठ ११।

७. चिरंचित्तेऽवतिष्ठन्ते सम्बध्यन्ते अनुबन्धिभिः।
रसत्वं ये प्रपद्यन्ते प्रसिद्धाः स्थायिनोऽत्र ते। स० कं० ५।१६।

पण्डितराज जगन्नाथ आप्रबन्ध स्थिर रहने के कारण इन्हें स्थायी की संज्ञा देते हैं।[1] वामन झलकीकर इनमें 'अविच्छिन्न प्रवाह' की विशेषता देखते हैं।[2] साहित्यदर्पण की टीका में अन्य भावों से इनका सम्बन्ध स्रकसूत्र जैसा कहा है।[3] (यह विचार आचार्य अभिनवगुप्त 'अभिनव भारती' में भी प्रकट कर चुके थे।[4]) और यही आनन्दांकुर-कन्द होते हैं।[5] पण्डित-राज जगन्नाथ ने संगीत रत्नाकर का मत इनको व्यभिचारी भाव से व्यावर्त्तित करते हुए यह दिया है "भूयिष्ठ विभावों से उत्पन्न हुए इत्यादि स्थायीभाव होते हैं और स्तोक विभावों से उत्पन्न होने पर वही व्यभिचारी भाव होते हैं।"[6] अभिनवगुप्तपादाचार्य ने स्थायीभावों को प्राणी में जन्म से ही विद्यमान माना है,[7] हेमचन्द्राचार्य भी इसका समर्थन करते हैं,[8] और किसी भी प्राणी को इन वासनाओं से शून्य नहीं माना है।[9] तथा उनका सम्बन्ध पुरुषार्थ-चतुष्ठय से (शान्तरस को आठ रसों में जोड़ कर) सिद्ध किया है।[10]

उन्होंने रति को मुख्य रूप से काम से तथा गौण रूप से धर्म एवं अर्थ से, क्रोधी में क्रोध को अर्थ से सम्बन्धित बताया है तथा काम एवं धर्म में पर्यवसित होने वाले उत्साह को समस्त धर्मादि में तथा तत्त्वज्ञानजन्य निर्वेद को मोक्ष से सम्बन्धित कहा है।[11] कुछ विद्वान् औचित्य या उचित-विषय-निष्ठत्व भी स्थायी भाव का गुण बताते हैं।[12]

इस प्रकार विचार करने पर आचार्यों द्वारा कथित स्थायी भाव की निम्नलिखित विशेषताएं मानी गई हैं—

१. स्थायी भाव जन्मजात हैं और ये समस्त प्राणियों में वासनात्मक रूप से विद्यमान होते हैं।

---

१. तत्र आप्रबन्धं स्थिरत्वादमीषां भावानां स्थायित्वम्। रगंध०, पृष्ठ १२६।
२. अविच्छिन्न प्रवाहाः स्थायिभावाः। स्थायिभाव, का० प्र०, झलकीकर टीका।
३. स्रक्सूत्रवृत्त्या भावानामन्येषामनुगामकः।
न तिरोधीयते स्थायी तैरसौ पुष्यते परम्। सा० द०, ३।१७४ के पश्चात् टीका।
४. तस्मात् स्थायिरूप चित्तवृत्तिसूत्रस्यूता—अभि० भा०, पृष्ठ ४८१।
५. आनन्दांकुरकन्दोऽसौ भावः स्थायीति संमतः। सा० द०, ३।१७४।
६. रत्यादयः स्थायिभावाः स्युर्भूयिष्ठविभावजाः।
स्तोकैर्विभावैरुत्पन्नास्तएव व्यभिचारिणः। रगंध०, पृष्ठ १२८।
७ जात एव हि जन्तुरियतीभिः संविद्भिः परीतो भवति।—अभि० भा०, पृ० ४७६।
८. सामाजिकानां वासनारूपेण स्थितः स्थायीभावः। काव्यानु०, पृष्ठ ५७।
९. न ह्येतच्चित्तवृत्तिवासनाशून्यः प्राणी भवति।—अभि० भा०, पृष्ठ ४८०।
१०. तत्र पुरुषार्थनिष्ठाः काश्चित्संविद् एव प्रधानम्।—अभि० भा०, पृष्ठ ४७८।
११. स्थायिभाव एव तथा चर्वणापात्र मात्र पुरुषार्थनिष्ठाः काश्चित्संविद्। अभि० भा०।
१२. रस विमर्श पृष्ठ १३७।

२. स्थायी भाव स्थिर भाव होते हैं और मनोविकारों में सर्वप्रधान होते हैं। ये विरोधी अथवा अविरोधी, विजातीय अथवा सजातीय भावों से उच्छिन्न अथवा तिरोहित नहीं होते।

३. स्थायी भाव दूसरे भावों को आत्मसात् कर लेते हैं तथा स्वामी के सेवक की भांति अन्य भाव इनके प्रेरित एवं वशवर्ती होकर कार्य करते हैं।

४. स्थायी भाव व्यापक भाव होते हैं और इनमें चिरकालिकता, आप्रबन्ध स्थायित्व अथवा "अविच्छिन्नप्रवाहमयता" होती है।

५. 'रसत्व' स्थायीभावों को ही प्राप्त होता है अथवा चर्वणा, आस्वाद्यता, या आनन्दरूपता इनको ही प्राप्त होती है।

ऊपर एक में प्राचीनों द्वारा कथित स्थायीभावों के जन्मजात होने एवं समस्त प्राणियों में वासनात्मक रूप से विद्यमान होने का सिद्धान्त अधिक विश्वसनीय नहीं कहा जा सकता। आधुनिक खोजों ने यह प्रकाशित किया है कि बहुत-सी ऐसी जातियाँ हैं जिनमें 'युयुत्सा' आदि भावों की आरम्भ से ही शिक्षा न होने से वह प्रवृत्ति उनमें नहीं पाई जाती।[1] आधुनिक फैशन और विचारों को प्राप्त महिलाएँ 'वात्सल्य' नामक भाव का पोषण करती नहीं देखी जातीं और न उसकी प्रेरणा से ही प्रेरित होती हैं।[2] वास्तव में आज मनुष्य-जाति अति-प्राकृत जीवन व्यतीत कर रही है और किसी भी 'सहज-प्रवृत्ति' अथवा वासना को उसमें जन्मजात नहीं माना जा सकता।[3] आधुनिक मनोविज्ञान ने यह सिद्ध किया है कि जन्म के उपरान्त कुछ महीनों पश्चात् कार्य-कारण-ज्ञान उत्पन्न होने पर शिशु में क्रमात् किस प्रकार मनोभावों का विकास होता है।[4] फिर भी यह स्वीकारा जा सकता है कि कैसा ही मनुष्य अथवा मनुष्य समाज क्यों न हो, सुख-दुःखात्मक अनुभूतियों के परिणामस्वरूप इन स्थायीभावों में से एक न एक भाव से आविष्ट होता ही है। यह दूसरी बात है कि किसी में कोई भाव प्रधान हो और किसी में कोई दूसरा।[5] तो, भरत मुनि द्वारा आप्त-प्रमाण से कहे इन स्थायीभावों को हम व्यापक जन-सुलभत्व की दृष्टि से स्वीकार कर सकते हैं कि जिनकी परिधि में प्रायः मनुष्य अपने कार्यों में प्रवृत्त होता है। भरत मुनि ने इन्हें वैसे जन्मजात वासनात्मक रूप से विद्यमान

---

१. साइकलोजी—एल० नारमन कृत, पृष्ठ २९५—
'एग्रेसिवनेस वाज़ वन्स थाट टू बी युनिवर्सल, इन्बार्न एण्ड इनक्रेडिबिल—टू डे वी रियलायज़ देट मैन इज़ बाइ नेचर नाइदर वारलाइक नार पीसफ़ुल।—वही, पृष्ठ २८८।

२. साइकलोजी—एल० नारमन कृत, पृष्ठ २७८।

३. व्हाइल इंसटिंक्ट्स क्लियरली एग्ज़िस्ट इन एनीमल्स, दे आर आब्सक्योर्ड आर परहेप्स एवसेंट इन मैन। वही, पृष्ठ २७८।

४. फ़ा० ह्यू० एड०, पृष्ठ ३३० (फ़ाउन्डेशन आफ़ ह्यूमन एडजस्टमेंट)।

५. अभि० भा०।

कहीं नहीं कहा है। स्थायीभावों को भी उन्होंने स्वरूपतः अन्य भावों के समान ही मानकर उनके गुण और प्रभाव के कारण उन्हें अन्य भावों से ऐसे पृथक् किया है जैसे 'नरेन्द्र' नरों से होता है। इन भावों में प्रधानता होने के कारण कुछ आचार्यों ने इनका गुण 'उत्कटत्व' भी बताया है। ये अन्य भावों की अपेक्षा व्यापक होते हैं। अतः इनको 'सर्वजनसुलभत्व' से युक्त भी कहा गया है। भारतीय दृष्टि में काव्य को चतुवर्ग का साधन स्वीकार किया गया है अतः इनमें 'पुरुषार्थोपयोगित्व' के गुण का भी उल्लेख किया गया है। उत्कट रूप से आस्वाद्य बनाने के हेतु यह आवश्यक है कि इनका उपयोग पूर्ण औचित्य बरतते हुए, सामाजिक मान्यताओं और शील आदि के अनुसार, उचित आलम्बन के प्रति किया जाए। इनके प्रयोग में अनौचित्य आ जाने पर 'रस' के स्थान पर 'रसाभास' ही निष्पन्न होता हैं।

स्थायी एवं व्यभिचारी भाव

स्थायी भावों की श्रेणी में गिनाए गए भावों को व्यभिचारी भावों की श्रेणी में उतर-कर व्यवहार करते हुए स्वीकार किया गया है। स्वयं भरत मुनि ने श्रृंगार रस में त्रास, आलस्य, उग्रतादि व्यभिचारियों के निषेध के साथ-साथ स्थायी भावों की श्रेणी में आने वाले 'जुगुप्सा' भाव का भी, व्यभिचारी भाव कह कर, उपयोग निषिद्ध किया है।[1] इससे स्पष्ट है कि स्थायी भाव भी व्यभिचारी भाव की भाँति व्यवहार करते हुए पाये जाते हैं। अन्य आचार्यों द्वारा भी स्थायी भावों की श्रेणी में गिने गए भावों को व्यभिचारी भावों की भाँति उपयोग की स्वीकृति प्राप्त है। यथा, अभिनवगुप्तपादाचार्य ने[2] शांत-रस में अन्य सकल स्थायी भावों में परिगणित भाव व्यभिचारीवत् प्रयुक्त होते स्वीकार किए हैं। रामचन्द्र गुणचन्द्र ने स्थायियों को रसान्तरों के व्यभिचारी भाव तथा अनुभाव होते हुए स्वीकार किया है।[3] और भानुदत्त[4] एवं व्यक्तिविवेक के टीकाकार[5] ने हास को श्रृंगार में, रति को हास, करुण तथा शांत में, भय तथा शोक को करुण और श्रृंगार में, क्रोध को वीर में, जुगुप्सा को भयानक में

---

१. व्यभिचारिणस्त्रासालस्यौग्र्यजुगुप्सावर्जनम्। ना० शा०, ६—श्रृंगार प्रकरणम्।

२. तत्त्वज्ञानं तु सकलभावान्तरभित्तिस्थानीयं सर्वस्थायिभ्यः सर्वाः रत्यादिकास्स्थायिचित्त-वृत्तीर्व्यभिचारीभावयत्। अ० भा०, पृष्ठ ३३६।

३. तेनामी-स्थायिनः-रसान्तराणां व्यभिचारिणः अनुभावाश्च भवन्ति, तत्रैषामागन्तुकत्वेन स्थायित्वाभावात्। ना० द०, पृष्ठ १७६।

४. स्थायिनोपि व्यभिचरन्ति। हासः श्रृंगारे। रतिः शान्तकरुणहास्येषु, भयशोकौ करुण श्रृंगारयोः। क्रोधो वीरे, जुगुप्सा भयानके। उत्साहविस्मयौ सर्वरसेषु व्यभिचारिणौ।
—र० त०, पंचमतरंग।

५. स्थायिनामपि व्यभिचारित्वं भवति यथा रतेर्देवादि विषयायाः हासस्य श्रृंगारादौ, शोकस्य विप्रलंभश्रृंगारादौ, भयस्याभिसारिकादौ, जुगुप्सायाः संसारनिन्दादौ, शमस्यै कोपाभिहतस्य प्रसादोद्‌गमादौ॥ व्य० वि० टीका, पृष्ठ ११-१२।

तथा उत्साह एवं विस्मय को सभी रसों में व्यभिचारी का काम करते हुए कहा है। देवादि-विषयक होने पर रति व्यभिचारी भाव मात्र रह जाती है। पण्डितराज जगन्नाथ ने तो इसलिए इसे ३४वां व्यभिचारी भाव गिना है।[१] रसरत्न-प्रदीपिका में अल्लराज कहते हैं कि 'भय' तथा 'उत्साह' स्थायी भाव प्रायः व्यभिचारी के रूप में उपस्थित हो जाते हैं।[२] संक्षेप में कहा जा सकता है कि समयानुसार स्थायिभावों में गिने जाने वाले भाव भी व्यभिचारीवत् व्यवहार करते हैं।

स्थायी भावों की संख्या

स्थायी भावों की संख्या में भी संशोधन होता रहा है और आचार्यों ने अनेक बार आवश्यकतानुसार इसमें सुधार करने का प्रयत्न किया है। सबसे पहले 'शान्त-रस' की कल्पना होने पर कभी 'शम' स्थायी और कभी 'निर्वेद' स्थायी की कल्पना सामने आयी। इसका वर्णन यह कहकर होता रहा कि 'दृश्यकाव्य' में इसकी भावना असंभाव्य है, परन्तु शनैः शनैः यह स्वीकृति पा गया और अधिकांश आचार्यों से, शम-स्थायी की स्थापना करने वाले अभिनव-गुप्तपादाचार्य आदि को छोड़कर, निर्वेद को स्थायी स्वीकार कर लिया गया। कालान्तर में 'वत्सल' रस की स्थापना के लिए 'वात्सल्य' स्थायी की कल्पना की गई। वैष्णव भक्तों ने 'भक्ति' रस की प्रतिष्ठा की और देवविषयक 'रति' स्थायी की कल्पना की। नृपेन्द्रभोज ने तो 'गर्व, स्नेह, धृति तथा मति' नामक स्थायी भावों की कल्पना करके क्रमशः 'उद्धत, प्रेयस्, शांत तथा उदात्त' रसों के वाद को प्रस्तुत किया। संस्कृत साहित्य शास्त्र में इस प्रवृत्ति के विस्तारपूर्वक विवरण एवं विवेचन के लिए डॉ० राघवन् का 'नम्बर आफ रसाज' प्रबन्ध देखा जा सकता है। इस प्रवृत्ति को हिन्दी में भी आश्रय मिला और जैन कवि बनारसी दास ने अपने 'अर्ध कथानक' नामक आत्मचरित में "शोभा, आनन्द, कोमलता, पुरुषार्थ, चिन्ता, ग्लानि तथा वैराग्य" को ही स्थायी भाव स्वीकार कर लिया।[३] भारतेन्दु ने प्रमोदरस, बाबू गुलाबराय ने देशभक्तिरस, आचार्य शुक्ल एवं विश्वनाथ प्रसाद ने प्रकृतिरस की स्वतन्त्र स्थिति का समर्थन किया है। आधुनिक लेखकों में श्री इलाचन्द्र जोशी ने 'विषादरस' की कल्पना की है।[४] आधुनिक मराठी विचारक श्री आत्माराम राव जी देशपाण्डे अनिल ने अपने संस्कृत-प्रबन्ध 'प्रक्षोभ-रस-स्थापनम्' में प्रक्षोभरस की स्थापना पर बल दिया है और 'अमर्ष' को स्थायी होने में असमर्थ मानकर 'क्षोभ' स्थायी की कल्पना की है। इसी प्रकार श्री जावड़ेकर ने 'क्रान्तिस्थायी' की नवीन कल्पना करके 'क्रान्तिरस' की नींव जमाने का प्रयत्न किया है। श्री विद्याधर वामन 'भिड़े' ने उद्वेगरस की परिभाषा दी है, और 'उद्विग्नता' को इसका स्थायी भाव कहा है।

---

१. रगंध०, प्रथमाननम्।

२. रस-रत्न-प्रदीपिका, पृष्ठ २३, **रस० सि०** स्व० विश्लेषण, पृष्ठ ४८ पर उद्धृत।

३. देखिए, र० सि० स्व० वि०, पृष्ठ ४९। ४. देखिए, वही, पृष्ठ १४६।

परन्तु ऊपर बतायी गयी स्थायी भाव की परिभाषाओं पर ये स्थायी भाव नहीं ठहरते हैं और कुछ को तो प्रमाणिकता से भाव ही सिद्ध नहीं किया जा सकता है। यथा—शोभा, कोमलता, आदि गुण हैं न कि भाव। तथा कुछ के स्थायी भावों का पोषण नहीं किया गया—यथा, प्रकृति-रस के स्थायी भाव का।

संचारी भावों के समान ही स्थायी भावों की संख्या को अधिकाधिक विस्तार देने की चेष्टा होती रही है। साथ ही यह भी प्रयत्न चलता रहा है कि नवीन स्थायी भावों का प्राचीन आठ या नौ स्थायी भावों में ही किसी न किसी प्रकार अन्तर्भाव कर लिया जाये। स्थायी भावों को अभिनवगुप्तपादाचार्य[१] ने जन्मजात माना है और अनुगमन करते हुए हेमचन्द्राचार्य ने भी उनके मत को उद्धृत किया है।[२] ऊपर कहा जा चुका है कि भरत मुनि ने उनके विषय में ऐसा कोई मत व्यक्त नहीं किया। आधुनिक मनोविज्ञान स्वीकार करता है कि जन्म से शिशु में केवल एक भाव होता है और वह है 'उत्तेजना' (एक्सायटमेंट) जो क्रम से विभिन्न होती है और शिशु में पृथक्-पृथक् भावों की सृष्टि करती है।

आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने अपने परीक्षणों में नवजात शिशुओं में आरम्भ में 'सामान्य-उत्तेजन' (जनरल एक्साइटमेण्ट) ही पाया है। जब वे तीन महीने के होते हैं उनमें 'विषाद' और 'हर्ष' (डिस्ट्रेस एण्ड डिलाइट) तथा सामान्य उत्तेजन देखे जाते हैं। तीन से छः महीने की अवस्था में 'विषाद' में विशिष्टीकरण होता है और 'भय', 'जुगुप्सा' तथा 'क्रोध' भी (फियर, डिस्गस्ट एण्ड एंगर) देखे गए। छः से बारह महीने की अवस्था में 'हर्ष' में विभेद उत्पन्न हुए जिससे बड़ों के प्रति 'चाव वा उछाह' तथा 'स्नेह' (एलेशन एण्ड एफ़ैक्शन) संवेगों में जुड़ गये। बारह से अठारह महीने की अवस्था में बालकों के प्रति 'असूया' तथा 'स्नेह' (एनवी एण्ड एफ़ैक्शन फार चिल्ड्रन) दिखने लगे। अठारह से चौबीस महीने की अवस्था में 'हर्ष' (डिलाइट) में विभेद उत्पन्न होते देखा गया और 'आनन्द' (जॉय) दिखायी पड़ता है।[३]

स्थायी भावों की अवस्थाएं एवं गुण :

भारतीय आचार्यों ने इन स्थायी भावों में मन की चार अवस्थाएं स्वीकार की हैं—विकास, विस्तार, क्षोभ और विक्षेप। रति और हास में 'विकास', उत्साह और विस्मय में 'विस्तार', क्रोध और करुण में 'विक्षेप' तथा जुगुप्सा तथा भय में 'क्षोभ' बताया गया है।[४] परन्तु कोई-कोई आचार्य इनकी मनोऽवस्थाओं में सूक्ष्मता बरतते हुए रति को

१. देखिए हि० अभि० भार०, पृष्ठ ४७९—जातएव हि जन्तुरियतीभिः परीतो भवति।
२. काव्यानु० २।१८।
३. देखिए—फ़ंडामेंटल्स आफ ह्यूमन एड्जस्टमेंट, पृष्ठ ३३०।
४. काव्यार्थसंभदादत्मानन्दसमुद्भवः।
विकासविस्तारक्षोभविक्षेपैः स चतुर्विधिः ॥
श्रृंगारवीरबीभत्सरौद्रेषु मनसः क्रमात्।
हास्याद्भुत भयोत्कर्ष करुणानां त एव हि ॥ द० रू०, ४।४४।

परस्परास्थाबन्ध, हास को चेतो-विकास, शोक को वैधुर्य, क्रोध को तैक्ष्ण्य-प्रबोध, उत्साह को स्थेय-संरंभ, भय को वैक्लव्य, जुगुप्सा को संकोच एवं विस्मय को विस्तार तथा शम को तृष्णाक्षय कहते हैं।[1] भारतीय-आचार्यों ने इन के विभावों के गुण क्रमशः ललित एवं ललिताभास, स्थिर एवं विचित्र, खर एवं रूक्ष-तथा निन्दित एवं विकृत कहे हैं।[2] अतः क्रमशः ललित एवं ललिताभास, स्थिर एवं विचित्र, खर एवं रुक्ष तथा निन्दित एवं विकृत जाति गुण इन स्थायियों के गुण होंगे। वैसे एक-एक स्थायी भाव के अनेक गुण मात्रा एवं अवस्था भेद से हो सकते हैं। अकेले रति के भेद अनुराग के ही ६४ भेद नृपेन्द्र भोज ने अपने श्रृंगार प्रकाश में गिनाये हैं।[3] भावप्रकाशनकार शारदातनय ने भी स्थायी भावों के गुणों का पृथक्-पृथक् वर्णन किया है और कहा है कि कभी-कभी स्थायियों के गुण भी स्थायी भाव हो जाते हैं। यह किसी विशिष्ट अवस्था में व्यक्ति अथवा समाज में अभ्यासजन्य हो सकता है।[4] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी चिड़चिड़ापन आदि को आलम्बनों के प्रति 'शीलदशा' में लक्षित किया है।[5] स्थायीभावों के इन स्थायी गुणों के परीक्षण एवं विवेचन का कार्य स्वयं एक शोध-स्तरीय कार्य है और इसमें आधुनिक वैज्ञानिक पद्धति से शोध करना महत्त्व की वस्तु होगी। पाश्चात्य मनोवैज्ञानियों ने अपने समाज में प्रचलित मानवीय गुणों आदि पर कार्य किया है।

स्थायीभाव का लक्षण करते हुए अभिनवगुप्तपादाचार्य ने कहा है कि 'ग्लानोऽयमित्युक्ते' की अवस्था में इसके हेतु के विषय में प्रश्न उठता है। इससे 'ग्लानि' की अस्थायिता सूचित होती है। परन्तु "राम उत्साहशक्तिमान" कहने पर इसके हेतु के विषय में प्रश्न नहीं उठता।[6] व्यभिचारी भाव संस्कार रूप से (वेग, भावना तथा स्थितिस्थापक संस्कार) आवश्यक रूप में शेष नहीं बने रहते। इसके विपरीत स्थायिभाव विलीन-प्रायः हो जाने पर भी संस्कार रूप से अवश्य विद्यमान रहते हैं।[7] जो चित्तवृत्तियां बारम्बार के और सामाजिक अभ्यास के कारण स्थिर एवं संस्कारवती हो जाती हैं, उन्हें 'स्थायी भाव' कहना उपयुक्त है। ऊपर बता चुके हैं कि शोधकर्ताओं ने पाया कि 'युयुत्सा' एवं 'शिशु-कामना' जैसी भावनाएँ भी समाज-विशेष अथवा व्यक्ति-विशेष में स्थायी भाव नहीं हैं। मन की विकास, विस्तार, क्षोभ एवं प्रक्षेप अवस्थाएं संदिग्ध नहीं हैं। ये न्यायशास्त्र के अनुसार उसकी क्रियाओं की द्योतक हैं। न्यायशास्त्र के अनुसार मन के आठ गुण हैं—संख्या, परिणाम, पृथकत्व,

---

१. काव्यानु०, २।(८४ पृष्ठ)।

२. देखिए, ऊपर विभाव विवेचन।

३. देखिए, श्रृं० प्र०, पृष्ठ २२।

४. 'गुणा-भवन्ति कुत्रापि स्थायिनोऽपि कदाचन' भा० प्र०, ३—अधिकार, पृष्ठ ६९।

५. रस-मीमांसा, पृष्ठ १८६।

६. अभि० भा०, पृष्ठ ४८१। **७. देखिए**—अभि० भा०, पृष्ठ ४८०।

संयोग विभाग, परत्व, अपरत्व एवं संस्कार ।[1]

संख्या के रूप में आचार्यों ने इन स्थायियों की संख्या आठ स्वीकार की है । 'शम्' को 'नाट्यवादी' आचार्यों ने स्वीकार नहीं किया है । शारदातनय ने इसके विषय में तर्क दिया है कि विक्रियाजनक होने पर ही 'रस' की परिणति है, अन्यथा नहीं । अतः 'शम्' को स्थायी नहीं स्वीकार कर सकते ।[2]

स्थायी भावों का क्रम

भरत मुनि ने स्थायी भावों का क्रम ना० शा० के सातवें अध्याय में इस प्रकार दिया है—

(१) रति, (२) हास, (३) शोक, (४) क्रोध, (५) उत्साह, (६) भय, (७) जुगुप्सा एवं (८) विस्मय ।

का० प्र०, काव्यानु०, ना० द०, प्र० रू० एवं सा० द० में भी यही क्रम है ।[3] परन्तु द० रू० में क्रम—(१) रति, (२) उत्साह, (३) जुगुप्सा, (४) क्रोध, (५) हास, (६) विस्मय, (७) भय, (८) शोक है ।[4] भा० प्र० में क्रम (१) रति, (२) हास, (३) उत्साह, (४) विस्मय, (५) क्रोध, (६) शोक, (७) जुगुप्सा तथा (८) भय है । र० सु० में भी यही क्रम ग्रहण किया गया है ।[5] रगंध० में यह क्रम है—(१) रति, (२) शोक, (३) (निर्वेद), (४) क्रोध, (५) उत्साह, (६) विस्मय, (७) हास, (८) भय, (९) जुगुप्सा ।[6] जिस प्रकार पाश्चात्य मनोवैज्ञानियों ने संवेगों के विकास का क्रम और अवस्था ऊपर बतायी है, वैसा कोई उल्लेख भारतीय आचार्यों ने नहीं किया । इनके विषय में बौद्धिक संगति बिठाने को तर्क दिए गए हैं—यथा अभिनवगुप्त का यह कथन " (मनुष्य) दुःख के सम्पर्क से द्वेष करने वाला तथा सुखास्वाद में तत्पर होता है ।" इस नियम से (१) प्रत्येक व्यक्ति अपने भीतर उत्कर्ष प्राप्त रमण करने की इच्छा से युक्त है (रति), (२) रमणेच्छा के कारण दूसरे का उपहास करता है (हास), (३) प्रियवस्तु के वियोग से दुःखी होता है (शोक), (४) उस (वियोग) के कारणों के प्रति क्रोध करता है (क्रोध), (५) शक्ति न होने पर उनसे डरता है (भय), (६) किसी को प्राप्त करने की इच्छा करता है (उत्साह), (७) कभी अनुचित रूप विषय के प्रति घृणा से भर जाता है (जुगुप्सा), और (८) अपने और दूसरे के कार्यों से विस्मित होता है (विस्मय)[8], परन्तु इससे उनके किसी विशेष क्रम की समीचीनता सिद्ध नहीं होती ।

---

१. प्रशस्तपादभाष्यम्, मनः प्रकरणम्, वाराणसी-सं० १८८५ ।

२. विक्रियाजनका एव रसा इति—अष्टौ रसा भरतमते । भा० प्र०, पृष्ठ २५ ।

३. वही, क्रमशः ४।२९; अध्याय २, पृष्ठ ६९; ३ विवेक सूत्र, पृष्ठ १६५; रस-प्रकरण पृष्ट २२१; ३।१७५ ।

४. द० रू०, ४।३५ । ५. भा० प्र०, ३ अध्याय ।

६. र० सु०, २।१०४ । ७ रगंध०, प्रथमाननम् ।

८. हि० अभि० भा०, पृष्ठ ४७९ ।

इन भावों को परिमाण रूप में भी नापा जा सकता है, पाश्चात्य मनोवैज्ञानियों ने मानसिक तरंगों के वैद्युतिक चित्र लिये हैं जिनसे भावों के परिमाण का द्योतन होता है। परिमाण की दृष्टि से कोई भाव अपने गुण, क्रिया आदि में अन्य से किस प्रकार पृथक् है, इसका विवेचन उन विद्युत् तरंगों को देखकर किया जा सकता है। किन-किन संयोगों से इनकी उत्पत्ति है और वे किस प्रकार विभक्त हैं तथा दिक्-काल के अनुसार उनकी व्याप्ति की सीमा कहां तक है, इसका निर्णय विभावों और उनसे उत्पन्न व्यभिचारी भावों द्वारा होता है। संस्कार (वेग, भावना तथा स्थितिस्थापक) भी वैद्युतिक तरंगों की शक्ति और यत्न को वेखकर जाना जा सकता है। मनोवैज्ञानियों ने संवेगों के वैद्युतिक चित्र लिये हैं; वे तत्सम्बन्धी ग्रन्थों में देखे जा सकते हैं।

न्याय-वैशेषिक दर्शन में बुद्धि, सुख-दुःख, इच्छा-द्वेष और यत्न—ये छः आत्मा के गुण कहे गए हैं जिनका प्रत्यक्ष यह 'मनस्' से करता है। सांख्यदर्शन[1] में ये गुण बुद्धि के कहे गये हैं और बुद्धि को अन्तःकरण का एक भाग माना गया है।

इन भावों को सुख-दुःखात्मक, इच्छा-द्वेषात्मक, बुद्धि एवं प्रयत्न के वर्गों में विभाजित कर के भी देखा जा सकता है। पहले चार—रति, हास, उत्साह एवं विस्मय—ये सुखात्मक तथा इच्छात्मक तथा दूसरे चार—क्रोध, शोक, जुगुप्सा एवं भय, ये दुःखात्मक एवं द्वेषात्मक हैं। बुद्धि (बोध) और यत्न तो यथायोग्य सब में ही मिलता है।

निस्संदेह प्रयोग एवं संस्कार को दृष्टि में रखकर स्थायि भावों की स्थापना के लिए कसौटियां उपस्थित की जा सकती हैं। सामाजिक संस्कार, विचारधारा और मानस की व्यापकता को दृष्टि में रखकर उनके स्थायित्व को देखा जा सकता है और युगानुरूप विश्व-जनीनता उनके स्थायित्व की कसौटी हो सकती है।

४. व्यभिचारी भाव

क. व्यभिचारी शब्द के कोशगत एवं व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ

व्यभिचारी शब्द के कोषगत अर्थ

व्यभिचारी शब्द के मूल में 'व्यभिचर' धातु है, जिसके अर्थ मोनियर विलियम्स के कोश में इस प्रकार दिये गए हैं—

अभिचर्—व्यभिमुखतापूर्वक आचरण करना, अभिदूषण करना, उल्लंघन करना, क्षति पहुंचाना (महाभारत), जादू-टोना वा तन्त्राभिचार करना, मर्यादा-लंघन करना, नियम-भंग करना, भटक कर विलीन हो जाना।[2]

---

१. 'न्याय-सिद्धान्त मुक्तावली', पृष्ठ १४६, लेखक—डॉ० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री।

2. To act in an unfriendly way towards, sin against, offend, injure, (MBH) to bewitch, practise sorcely, to go beyond, transgress, deviating, to come to naught.

व्यभिचारिन्—भ्रमणशील, भटकनेवाला वा नियमरहित वा अपसारक (हरिवंश पुराण, कथासरित् सागर), पथ-भ्रष्ट, अविहित-कर्मा, चरित्र-विहीन, आवारा वा चंचल, दुश्शील, दुराचारी (महाभारत), परिवर्तनशील, अस्थिर (महाभारत), पर-गामी, उल्लंघी, नियम-रहित, अनियमित, अनवस्थित अप्रधान वा गौण अर्थ युक्त[1] (मो० वि० कोश),

व्यभिचारि—ता—

संज्ञा—नियमोल्लंघन, नियम-वाह्यता, नियम राहित्य, वैविध्य परिवर्तन, चंचलता, मन वा तन की अनित्य अवस्थाएं जो संख्या मैं (उपालम्भ सहित) चौंतीस बतायी जाती हैं।[2]

'व्यभिचारी' शब्द की व्युत्पत्ति

सबसे पहले भरत मुनि ने व्यभिचारी शब्द की व्युत्पत्ति के अनुसार व्याख्या की है। उनकी व्याख्या है कि वि+अभि—ये दो उपसर्ग चर् धातु में लगे हैं।[3] इन दोनों में 'वि' उपसर्ग का अर्थ विविध और 'अभि' उपसर्ग का अर्थ आभिमुख्य है। चर् धातु में लगा 'इन्' प्रत्यय कर्तृत्व का अर्थ देता है। अतः वि+अभि+चर्+इन=व्यभिचारी का अर्थ हुआ 'विविध आभिमुख्य से जो (भावों को) रसों पर ले आते हैं, उन्हें व्यभिचारी भाव कहते हैं।'

ख. व्यवच्छेदन

ये भावों को रसों की स्थिति पर किस प्रकार ले आते हैं, इस विषय में उनका कथन है कि जिस प्रकार यह सूर्य अमुक नक्षत्र को वासर पर ले आता है, और वह उसके द्वारा बाहुओं अथवा कन्धा पकड़कर नहीं लाया जाता, किन्तु लोक में इसी प्रकार कहा जाता है, इसी प्रकार व्यभिचारियों को भी जानना चाहिए।[4] आगे उन्होंने व्यभिचारी भावों को

---

1. Going astray, straying or deviating or diverging from (Hariv., Katha-saritsagar) following bad courses, doing what is improper, profligate, wanton, unchaste, faithless to wards (MBH), changeable. inconstant (MBH) violating, breaking, irregular, anomalous, having a non-primitive or secondary meaning—Moniar William San. Eng. Dictionary, Ist edition.
   Noun—anything transitory (as feelings)
२. व्याभिचारि—ता
   noun, the state of going apart or astray, deviation, alteration, change, variablity, transitory state (of mind or body and said to be thirtyfour in number.)
३. व्यभिचारिण इति कस्मात्। उच्यते वि अभि हत्येतावुपसर्गौ चरतौ धातुः (चरतिर्धातुः) विविधामुख्येन रसेषु चरन्तीति व्यभिचारिणः। चरन्ति नयन्तीत्यर्थः। ना० शा०, ७।२२।
४. कथम् नयन्ति? उच्यते—यथा सूर्य इदं नक्षत्रममुं वासरं नयतीति। न च तेन बाहुभ्यां स्कन्धेन वा नीयते। किं तु लोकप्रसिद्धमेतत्। यथेदं सूर्यो नक्षत्रमिदं व नयतीति एवमेते व्यभिचारिणः इत्यवगन्तव्याः। ना० शा०, ६।२२ गद्य।

'परिजनभूताः' और स्थायियों को 'स्वामिभूताः' कहा है और सामान्य लक्षणों में तुल्य होने पर भी 'कुलशीलविद्याकर्मशिल्पविचक्षण' होने से विशिष्ट भावों को नरेन्द्रवत् (स्थायी) और अन्यों को अनुचरवत् (व्यभिचारी) कहा है।[1] भरत मुनि के पश्चात् द० रू० में धनंजय तथा धनिक ने इसकी व्याख्या की है। उन्होंने 'वि' के लिए त्रिविध के स्थान पर 'विशेष' अर्थ दिया है और स्थायिभाव का स्पष्ट उल्लेख करके उसे वारिधि का उपमेय ठहराकर व्यभिचारियों को उसमें 'उन्मग्न-निमग्न' होने वाले कल्लोलों की भांति कहा है।[2] उन्होंने भरत मुनि के रस पर ले जाने का अर्थ छोड़ कर 'चरन्तो' को अभिमुखता से चलने वाले के अर्थ में सीमित कर दिया है। धनिक ने अपनी टीका में और स्पष्ट करने के लिए कहा है—जैसे वारिधि के रहते हुए ही कल्लोलों का उद्भव और विलय होता है, ठीक वैसे ही रत्यादि स्थायियों के रहते हुए ही अविर्भाव और तिरोभाव द्वारा आभिमुख्य से चलते रहते 'निर्वेद' आदि व्याभिचारी भाव हैं।[3]

संचारी भाव व्यभिचारी भाव का पर्याय

आगे चलकर पुनः एक बार अभिनवभारतीकार ने भरत के निकट रहते हुए व्याख्या की। उन्होंने व्यभिचारी के लिए संचारी का पर्याय से प्रयोग भी किया। संचारी की व्युत्पत्ति है सम्+चर्+इन् अर्थात् जो स्थायियों को दीप्तमान करके संचारित करें और स्वयं उनमें संचरण करें, उन्हें संचारी भाव कहते हैं। संचारी भाव स्थायित्व को प्राप्त नहीं होते।[4]

अभिनवभारतीकार ने स्थायी भाव एवं व्यभिचारी भावों को क्रमशः माला के सूत्र तथा रत्नों से उममित किया है। उनके मतानुसार व्यभिचारी भाव—विद्युत्-उन्मेष-निमेष के समान ही अस्थिर रह कर स्थायी-सूत्र में प्रकट और तिरोहित होकर 'वैचित्र्य' उत्पन्न करते हुए उसे रस की ओर ले चलते हैं। उनके द्वारा प्रयुक्त 'आवहन्ति' पद विशेष ध्यान देने योग्य है।[5]

---

१. देखिए, ना० शा० सप्तमोध्याय, ७ श्लोक के पश्चात् का गद्य।

२. विशेषादाभिमुख्येन चरन्तो व्यभिचारिणः।
स्थायिन्युन्मग्ननिमग्नाः कल्लोला इव वारिधौ।

३. यथा वारिधौ सत्येव कल्लोला उद्भवन्ति विलीयन्ते च तद्वदेव रत्यादौ स्थायिनि सत्येवाविर्भाव तिरोभावाभ्यामाभिमुख्येन चरन्तो वर्त्तमाना निर्वेदादयो व्याभिचारिणो भावाः। द० रू०, ४।७।

४. दीपयन्तः प्रवर्त्तन्ते ये पुनः स्थायिनं रसम्।
ते तु संचारिणो न स्थायित्वमागताः। र० स्व० वि०, पृष्ठ ३५ पर उद्धृत।

५. ऐते च व्यभिचारिणो विद्युदुन्मेषयुक्तयैव स्थायिसूत्र मध्ये प्रकटयन्तस्तिरोदधतश्च तद्वैचित्र्यमावहन्ति न तु स्थिराः। अभि० भा०, काव्यप्रकाश टीका में उद्धृत—पृष्ठ ९२।

'संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुम' में 'संचारी' शब्द के निम्नलिखित अर्थ दिये हैं—

(१) गमनशील, घूमने फिरने वाला, (२) परिवर्तनशील (३) चंचल, अदृढ़, (४) दुर्गम, (५) दुरधिगम्य, (६) प्रभावित, प्रभावान्वित।

काव्यप्रकाश में मम्भटाचार्य ने व्यचिचारी भावों को सहकारी कहा है।[1]

हेमचन्द्राचार्य ने अभिनवभारतीकार का ही अनुसरण करते हुए कहा है—जो भाव स्थायिरूप चित्तवृत्ति सूत्र में तो होते हैं परन्तु जो अपने उदायास्तमय-वैचित्र्य के सैंकड़ों हज़ारों धर्मों को देते हुए स्थायी को विचित्र बनाते हुए प्रभासित करते हैं, वे व्यभिचारी कहे जाते हैं।[2] उन्होंने 'स्थायीधर्मोंपजीवनेन' तथा 'स्वधर्मार्पण' न कह कर व्यभिचारियों के 'उपकारिता' एवं 'तद्गतता' धर्म को भी लक्षित किया है।[3]

गुणचन्द्र रामचन्द्र के मत से 'आभिमुख्य' का अर्थं 'पोषकत्वम्' है और उसके अनुसार वे कहते हैं कि वे रसोन्मुख स्थायीभाव के प्रति विशेष प्रकार के आभिमुख्य से चरण करते, व्यवहार करते हैं।[4]

आगे उन्होंने अभिनवभारतीकार[5] का अनुसरण करते हुए, उनको व्यभिचारी कहे जाने के दो कारण और दिए हैं[6]—

(१) कभी कोई 'व्यभिचारी' स्थायी के होते हुए भी नहीं होता; नियम भंग करते हैं, अत, 'व्यभिचारी' कहलाते हैं।

(२) अपने विभाव के होने पर भी 'न होने' से तथा विभाव के न होने पर भी 'होने से' वे 'व्यभिचारी' (नियम तथा कारण से रहित) कहलाते हैं। यथा, रसायन प्रयोग-कर्त्ताओं को ग्लानि, आलस्य, श्रम आदि नहीं होते।

---

१. सहकारी यानि व्यभिचारिणः —का० प्र०, ४।२७-२८।

२. तस्मात् स्थायिरूपचित्तवृत्तिसूत्रस्यूता एवामी स्वात्मानमुदयास्तमयवैचित्र्यशतसहस्रधर्माणं प्रतिलभमाना स्थायिनं विचित्रयन्ततः प्रतिभासन्ते इति व्यभिचारिणः उच्यन्ते। —काव्यानु०, अध्याय २, पृष्ठ ८४।

३. विविध आभिमुख्येन स्थायीधर्मोपजीवनेन स्वधर्मार्पणेन च चरन्तीति व्यभिचारिणः। काव्यानु०, पृष्ठ ८६।

४. रसोन्मुखं स्थायिनं प्रति विशिष्टेनाभिमुख्येन चरन्ति वर्ततन्ते इति व्यभिचारिणः। आभिमुख्यं च पोषकत्वम्। ना० द० २।

५. ये पुनरमी ग्लानिशंका प्रभृतयश्चित्तवृत्तिविशेषास्ते। समुचितविभावाज्जन्ममध्येऽपि न भवन्त्येव। अभि० भा०, पृष्ठ ४८०।

६. यद्वा व्यभिचरन्ति स्थायिनि सत्यपि केऽपि कदापि न भवन्तीति व्यभिचारिणः, स्वविभाव-व्यभिचारिणः भावेऽभावात्, अभावेभावाच्च। रसायनमुपयुक्तवतो हि ग्लानिआलस्य श्रम, प्रभृतयो न भवन्त्येव। ना० द०, कारिका, ११०, तृतीय विवेक।

विश्वनाथ ने द० रू० की परिभाषा यथावत् ग्रहण कर ली है।[1]

शिंगभूपाल ने व्यभिचारी का लक्षण द० रू० का आधार ग्रहण करते हुए किया है और उनकी ज्ञेयता वाग्-अंग-सत्त्व युक्त बतायी है। भाव की गति को संचारित करने वाले बताकर उन्हें संचारी नाम से भी अभिहित किया है। वे स्थायिवारिधि का उर्मिवद्-वर्धन करते हैं और तद्रूपता को प्राप्त होते हैं।[2]

साहित्य कौमुदीकार ने व्यभिचारी और संचारी का प्रकृत्यनुसार लक्षण करते हुए कहा है—जो भाव की गति को संचारे, वह संचारी है, और यही जब विशेष आभिमुख्य से स्थायी के प्रति चले या रहे तो व्याभिचारी होता है।[3]

शारदातनय ने उन्हें 'अनवस्थित जन्मानः' कहा है और स्थायियों को रस-निष्पत्ति में ले जाने वाला बताया है, और कहा है कि वे 'रस' को अनेक भेद वाला बनाते हैं। उन्होंने भरतमुनि, धनंजय तथा रामचन्द्र गुणचन्द्र का समन्वित मत ग्रहण किया है।[4]

रसप्रदीपकार उन्हें स्थायी का उपकार करके उत्तम रस तक ले जाने वाला कहते हैं।[5]

---

१. विशेषाभिमुख्येन चरणाद् व्यभिचारिणः।
स्थायिन्युन्मग्ननिमग्नास्त्र्यस्त्रिंशच्च तद्भिदाः॥ सा० द०, ३।१४०।

२. व्यभीत्युपसर्गौ द्वौ विशेषाभिमुख्यत्वयोः।
विशेषेणाभिमुख्येन चरन्ति स्थायिनं प्रति॥
वागंगसत्त्वयुक्ता ये ज्ञेयास्ते व्यभिचारिणः।
संचारयन्ति भावस्य गति संचारिणोऽपि ते॥
उन्मज्जन्तो निमज्जन्तः स्थायिन्यम्बुनिधाविव।
उर्मिवद् वर्धयन्त्येनं यान्ति तद्रूपतां च ते। र० सु०, द्वितीय विलास।

३. संचारयन्ति भावस्य गतिमिति संचारी। विशेषेणाभिमुख्येन स्थायिनं प्रति चरति इति व्यभिचारी। सा० कौ० ४।७, उद्धृत र० स्व० वि०, पृष्ठ ३७।

४. अनवस्थित जन्मानोभूयोभूय, स्वभावतः।
स्थायिना रसनिष्पत्तौ चरंतो व्यभिचारिणः॥ भा० प्र०, प्रथम अधिकार, प्रष्ठ ४।
आविर्भूय तिरोभूय चरद्भिश्चान्तरान्तरा।
ये रसो भिद्यतेऽनेकस्ते स्मृता व्यभिचरिणः॥ भा० प्र० २-अधिकार, पृष्ठ ३९।

५. ये तूपकर्त्तुमायान्ति स्थायिनं रसमुत्तममुपकृत्य च गच्छन्ति ते मता व्यभिचारिणः।
—रस० प्रदीप, पृष्ठ १८, उद्धृत—र० स्व० वि०, पृष्ठ ३७।

संगीत रत्नाकर के अनुसार 'स्तोक' विभाव से उत्पन्न होने वाले भाव को व्यभिचारी भाव कहते हैं—

रत्यादयः स्थायिभावाः स्थूभूयिष्ठविभावजाः ।
स्तोकैर्विभावैरुत्पन्नास्त एव व्यभिचारिणः ॥ उद्धृत रगंघ०, पृष्ठ १२८ ।

पण्डितराज जगन्नाथ इन्हें भी व्यंजित होने पर भाव की संज्ञा देते हैं ।

'व्यभिचार्यञ्चितो भावः'— रगंघ०, पृष्ठ २६६ ।

हिन्दी के प्राचीन परम्परावादी आचार्यों ने 'रस-सिद्धान्त' में कोई नवीन परिष्कार नहीं किया और न उनमें मौलिकता की कोई प्रवृत्ति ही शेष रह गयी थी । परम्परापालन में ही उन्होंने अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझी और परम्परा भी उन्होंने दो प्रकार से पालन की । एक तो संस्कृत के किसी आचार्य के प्रसिद्ध ग्रन्थ पर आधारित विचारों को ग्रहण करके; दूसरे ऐसे किसी प्रसिद्ध हिन्दी आचार्य की उक्ति को ग्रहण करके जो स्वयं संस्कृत के किसी आचार्य पर अवलम्बित था परन्तु लोक में जिसके काव्य-कौशलपूर्ण आचार्यत्व की प्रसिद्धि हो चुकी थी । अनुकरण का यह क्रम 'हरिऔध' जैसे वरिष्ठ आचार्यों में भी पाया जाता है जिन्होंने अपने लक्षण के हेतु 'रस-कुसुमाकर' में दिए लक्षण को यथावत् उद्धृत करके अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ ली जैसे कि 'भानुकवि' ने रसरत्नाकर में संचारी भाव की परिभाषा 'जगद्विनोद' में दी गयी पद्माकर भट्ट की परिभाषा को शब्दशः उतारकर प्रस्तुत कर दिया है । संस्कृत के आचार्यों में भी अपने पूर्ववर्त्ती प्रसिद्ध आचार्यों का परम्परित अनुकरण ऊपर देखा जा चुका है । फिर भी यहां इस वस्तु-स्थिति को स्पष्ट करके रखना आवश्यक है । व्यभिचारी और संचारी को इन आचार्यों ने पर्याय से प्रयोग किया है ।

आचार्य केशवदास सब रसों में बिना नियम उत्पन्न होने वाले भावों को व्यभिचारी पद की संज्ञा देते हैं ।[1] चिन्तामणि अपने 'कविकुलकल्पतरु' में दशरूपककार के लक्षण को भाषा में अनुदित करके उपस्थित करते हैं—यथा, संचारी उन्हें कहना चाहिए जो विशेष रूप से शोभापूर्वक स्थायी भाव के अभिमुख हों और जो सदैव स्थायी भाव में स्थिर रहते हैं और इस प्रकार प्रकट होते हैं जिस प्रकार समुद्र में कल्लोल ।[2] कुलपति मिश्र अपने 'रस-रहस्य'

---

१. भाव जु सब ही रसन में उपजत केशव राय ।
बिना नियम तिन सो कहें व्यभिचारी कविराय ॥ र० प्रि०, ६।११ ।

२. जे विशेष ते थाई को अभिमुख रहें बनाइ,
ते संचारी वर्णिए कहत बड़े कवि राय ।
रहत सदा थिर भाव में प्रकट होत इहिं भाँति ।
ज्यों कल्लोल समुद्र में त्यों संचारी जाति ।।क० कु० क०, ७।८-६ ।

में नवों रस के साथ सुशोभित होने वाले भावों को संचारी भाव कहते हैं। वे साथ रहकर स्थायी भावों की शोभा बढ़ाते हैं।[1] यह मत भरत और मम्मट के व्यभिचारी भावों के सहकारित्व को दृष्टि में रखकर दिया गया है। महाकवि देव ने अपने 'भाव विलास' में रसतरंगिणी के लेखक भानुदत्त का आश्रय लिया और भाव को द्विविध विभाजित करके—आन्तर और शारीर—लिखा है एवं सकल रसों में संचार करने वाले भावों की संचारी-संज्ञा दी गई है। आपने सात्त्विक-शारीर-भावों को भी संचारियों का ही एक भेद माना है।[2] देव की भांति रस-प्रबोध के रचयिता गुलाम नबी भी व्यभिचारियों की परिभाषा के लिए 'रसतरंगिणीकार' के पूरी तरह ऋणी हैं। हो सकता है, उन्होंने अपनी परिभाषा संस्कृत से सीधे न लेकर देव के 'भाव-विलास' से ग्रहण की हो।[3] 'रस-पीयूष,' 'निधि' के लेखक सोमनाथ इन्हें 'रस संगी' भाव कहते हैं।[4] परन्तु सोमनाथ ने 'श्रृंगार-विलास' में स्पष्ट करके मम्मट की परिभाषा के अनुकूल 'रस-सहचर' नाम ही दिया है।[5] भिखारीदास ने अपने 'रस-सारांश' में व्यभिचारी भाव की जो परिभाषा दी है, वह भरत के 'नाट्य-शास्त्र', विश्वनाथ के 'साहित्यदर्पण' तथा केशवदास की 'रसिक प्रिया' तथा पण्डितराज जगन्नाथ के 'रगंध०' पर अवलम्बित है। उनके मत से ये सब रसों में संचरण करते हैं तथा इनके भी सात्त्विकादि बहुत से अनुभाव तथा विभावादि होते हैं। ये नियम रहित होते हैं, जहां जैसे बन आता है, बिना नियम सब रसों में रहते हैं, स्थायी में उत्पन्न होकर उसको आश्रय बना कर सेवकवत् व्यवहार करते हैं। इन्हें व्यभिचारी और संचारी नामों से अभिहित किया जाता है। और,

---

१. संचारी तेंतीस गिनाए। नवहु रस के संग सुहाये। र० र०, ३।१८।
थिर भावनि को और कों प्रकटें ते अनुभाव।
संचारी जो हि साथ ह्वै बहुत बढ़ावै दाव। र० र०, ३।१२।

२. सकल रसनि में संचरे संचारी कउ नाम।
ते शारीरऽरु आन्तर द्विविध कहत भरतादि।
स्तम्भादिक सारीर अरु आन्तर निर्वेदादि। भा० वि०, पृष्ठ १४।
मिलाइए—रस तरंगिणी—वेंकटेश्वर प्रेस संस्करण—
विकारश्च द्विविधः आन्तर शारीरश्च आन्तरेपि द्विविधः स्थायीभावो व्याभिचारी भावश्चेति सात्त्विकस्तु सात्त्विक भावादिः। र० त०, प्र० तरंग, ८।९।

३. व्यभिचारी तिन को कहें कोविद बुद्धि अपार, बहु रस के सब रसनि में जिनको होय संचार।—र० प्र०, १७ पद्य।
व्यभिचारी हैं द्वै विधिः तन व्यभिचारी—मन व्यभिचारी—र० प्र०, १९ पद्य।
अष्ट स्वेद आदिक तेई तन व्यभिचारी जान। तेंतिस निरवेदादि सो मन-व्यभिचारी मान।"—र० प्र०, २० पद्य।

४. संचारी तेंतीस यह रससंगी पहिचानि —र० पी० नि०, ७।२० पद्य।
५. संचारी सो जानि जो रस सहचर ह्वै दरसाय। श्रृं० वि० ११।१२।

इस प्रकार भिखारी दास ने सब रसों में संचार होने को तथा नियम राहित्य को दृष्टि में रख कर दोनों नामों को अपनी परिभाषा में स्थान दिया है।[1]

पद्माकर भट्ट ने अपने 'जगद्विनोद' में भरत के अनुसार उनके स्थायी के प्रति आभिमुख्य तथा नवरसों में संचरण को प्रथम कहकर दशरूपककार की 'समुद्र कल्लोलवत्' उपमा का अनुवाद दिया है तथा अभिनवगुप्तादि के अनुसार स्थायी भाव में स्थिरता को आधार मानकर भेद किया है कि स्थायी भाव भी, रस निष्पत्ति पर्यन्त स्थिर न रहने पर, संचारियों की कोटि में पहुँच जाता है। स्थायी रस-निष्पत्ति पर्यन्त स्थिर रहता है। इसके विपरीत संचारी स्थिर नहीं रहता, दोनों में इतना ही भेद है।[2] 'नव-रस-तरंग' के लेखक बेनी प्रवीन भी व्यभिचारी भावों के सब रसों में रहने और स्थायी को प्रकट करने में प्रभाव-पूर्वक सहायता देने का मत उपस्थित कर 'समुद्रकल्लोलवत्' उनके आचरण करने की उपमा का अनुवाद प्रस्तुत करते हैं।[3] 'काव्य-विलास' के लेखक प्रताप साहि भी संचारी भावों को सब रसों में संचार करने वाला तथा सदैव रस का पोषण करने वाला आन्तर भाव मानते हैं।[4] भानुकवि ने, जैसा ऊपर कहा गया है, जगद्विनोद में दिए पद्माकर भट्ट के मत को शब्दशः उद्धृत करके संचारियों का लक्षण बताकर अपने कर्त्तव्य की इतिश्री कर ली है।[5] यही

---

१. अब संचारी कहत हों जो सब में संचार।
सात्त्विकादि बहु होत हैं इनहुं में अनुभाव।
अरु विभाव कछु नेम नहिं जहं ज्यों ही बनि आव॥
बिना नियम सब रसनि में उपजे थाई ठाउ।
चर विभिचारी कहत हैं अरु संचारी नाउ॥—र० सा०, पद्य ४८१-८३।

२. थाई भाव को चितै अभिमुख रहें सिताव,
जे नवरस में संचरे ते संचारी भाव। जगद्वि, ४।१।
थाई भावन में रहत या विधि प्रकट बिलात।
ज्यों तरंग दरियाव में उठि उठि तिनहि समात॥ वही ४।२।
थिर है थाई भाव तब परिपूरण रस होत।
थिर न रहत रस रूप लौं संचारिन के गोत॥ वही ४।१३।
थाई संचारिन को है इतनोई भेद॥ वही ४।४।

३. सबल रसन में होत हैं तै विभिचारी भाव।
येऊ थाई भाव को जाहिर करत प्रभाव॥
थाई भावहिं में बसें अपने बारहिं वार।
ज्यों कल्लोल समुद्र में त्यों इनको निरधार॥ न० र० त०, छन्द ३०९-१०।

४. सकल रसन में संचरै तसंचारी भाव।
पुष्ट करत रस को सदा कहत सुकवि मन-भाव॥ का० वि०, ३।२७।

५. देखिए, र० रत्ना०, भानुकवि विरचित, पृष्ठ ८४-८६।

क्रम उन्होंने 'काव्य-प्रभाकर' में भी अपनाया है।[1] 'रस-कुसुमाकर' के रचयिता श्री प्रतापनारायण सिंह जू ने लक्षण गद्य में दिया है, यही इनकी मौलिकता समझनी चाहिए। उसे ज्यों का त्यों उद्धृत करना समीचीन होगा।

जो भाव रस के उपयोगी होकर जल के तरंग की भाँति उसमें संचरण करते हैं, उनको संचारी भाव कहते हैं। इनके तेंतीस भेद हैं जिनका यथाक्रम वर्णन किया जाता है।'
—र० कु०, तृतीय कुसुम।

'काव्य-कल्पद्रुम' के रचयिता कन्हैयालाल पोद्दार के मत में संचारी भाव अनुचर या दास हैं, और परस्पर-विरोध अथवा अविरोध से घटते बढ़ते रहते हैं। रस की निष्पत्ति न होने पर स्थायी-संचारी भेद नहीं रहता बल्कि वे सामान्यतः भाव संज्ञा के ही अधिकारी हैं।[2] 'रस-कलश' के रचयिता अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने विस्मयक रूप से अपने संचारी-लक्षण को, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, 'रस', 'कुसुमाकर' का लक्षण शब्दशः उद्धृत करके उपस्थित किया है।[3] श्री उपाध्याय हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी में हिन्दी विभाग में उच्च पद पर आसीन थे। उनकी भी यह दशा देखने पर यही सिद्ध होता है कि हिन्दी की प्राचीन परम्परा के आचार्यों से मौलिकता पूर्णतया विलुप्त हो चुकी थी और स्वतन्त्र चिन्तन को उन्होंने तिलाँजलि दे दी थी तथा वे विषय को अनुकरण और अनुपालन तक ही सीमित रखे थे।

नवीन परम्परा में संचारी (व्यभिचारी) भाव का स्वरूप

इस प्रकार भरतोत्तर युग में 'व्यभिचारी भावों' को 'संचारी भाव' संज्ञा भी दी जाने लगी और वे क्रमशः चित्तवृत्ति या मनोभाव रूप में ही ग्रहण किये जाने लगे। पहले वे निरे चित्तवृत्ति रूप या मनोभावात्मक ही नहीं माने जाते थे, अपितु रस में सहायता पहुंचाने वाले 'व्यभिचारी भाव' जैसा कि 'भाव-चिन्ता' में विवेचित किया गया है, कहलाते थे। और प्राचीन परम्परावादी हिन्दी आचार्यों ने संस्कृत के आचार्यों का या तो अनुकरण किया या अनुवाद देकर संतोष किया, उन्होंने भी इनको 'मन-भाव' ही माना। मुख्यरूप से वे भानुदत्त की 'रसतरंगिणी' से प्रभावित हुए जिन्होंने उन्हें विविध (सब रसों) रसों में संचरण करने के कारण संचारी कहा था।[4] इस प्रकार भरतोत्तर युग में व्यभिचारी या संचारी भावों को मनोभाव स्वरूप प्रतिपादित किया जाने लगा। भरतमुनि के परिगणित तैंतीस व्यभिचारी भावों में निहित अनेक शारीरिक अवस्थाओं को भी आधुनिक मानस शास्त्र की दृष्टि से मनोभाव (आन्तर) रूप ही सिद्ध किया गया। उदाहरणार्थ, 'मरण' को नाट्यदर्पणकार ने तो मानसिक

---

१. देखिए, 'काव्य-प्रभाकर', भानुविरचित, षष्ठ मयूख।
२. देखिए, का० कल्प०, चतुर्थ स्तवक।
३. देखिए, 'रस-कलश', पृष्ठ २६। ४. देखिए, 'रस-तरंगिणी', पृष्ठ ५।

और शारीरिक दोनों अवस्थारूप प्रतिपादित किया था,[१] परन्तु पण्डितराज जगन्नाथ ने 'मरण' को शारीरिक अवस्थारूप नहीं माना है। वरन् इसे चित्तवृत्तिरूप ही सिद्ध कियाहै।[२]

'भाव का स्वरूप' में विवेचन किया जा चुका है कि भरत मुनि प्रयुक्त भावशब्द का अर्थ एकान्ततः मनोभाव नहीं है। उन्होंने सामान्यतः रस-परिपोषक सभी तत्त्वों को भाव रूप में ग्रहण किया है।[३] परन्तु जैसे-जैसे भाव शब्द का अर्थ मनोभाव या चित्तवृत्ति संस्कृत साहित्यशास्त्र में रूढ़ होता गया जैसे-जैसे व्यभिचारी भावों को भी एकान्ततः मनोभाव रूप सिद्ध किया गया। हिन्दी के प्राचीन परम्परावादी काव्यशास्त्री आचार्यों ने संस्कृत के विवेचन को ही आदर्श माना और व्यभिचारी भावों को यहां भी मनोभाव रूप माना गया।

भरतमुनि द्वारा परिगणित तेंतीस व्यभिचारी भावों में सभी मनोभाव (इमोशन) स्वरूप नहीं हैं। वे (पाश्चात्य मनोविज्ञान की दृष्टि से) शारीरिक क्रियाएं ही स्पष्ट रूप में अधिक हैं। उदाहरणार्थ—श्रम, आलस्य, विबोध, निद्रा, अपस्मार, व्याधि तथा मरण शारीरिक अवस्थाएं हैं, तथा मति, वितर्क, स्मृति, चिन्ता और शंका अन्तःकरणवृत्ति याने बौद्धिक या ज्ञानात्मक अवस्थाएं हैं।[४] ऐसी स्थिति में सभी व्यभिचारी-भावों को मनोभावात्मक (मन के क्षणिक वेग से युक्त) सिद्ध करना कहां तक संगत है? यदि व्यभिचारीभाव मनोभावात्मक नहीं हैं तब इसका वास्तविक रूप क्या है? इन प्रश्नों का समाधान आधुनिक हिन्दी के आचार्यों ने और अन्य भारतीय भाषाओं के भी आचार्यों ने देने का प्रयत्न किया है जिनमें यहाँ मराठी आचार्यों के कार्य का उल्लेख भी उनकी मौलिकता की दृष्टि से किया जायेगा।

आचार्य शुक्ल ने स्थायी भावों और व्यभिचारी भावों (संचारी भावों) की व्यावर्त्तक कसौटी 'रस' स्वीकार की है जो संस्कृत के आचार्यों की परम्परा में ही है। उनका कथन है कि "साहित्य के आचार्यों का सारा भाव-निरूपण रस की दृष्टि से—अर्थात् किसी भाव की व्यंजना से श्रोता या दर्शक में भी उसी भाव की सी प्रतीति के विचार से—किया गया है। अतः जो भाव ऐसे हैं जिन्हें किसी पात्र को प्रकट करते देख या सुनकर दर्शक या श्रोता भी उन्हीं भावों का सा अनुभव कर सकते हैं, वे तो प्रधान भावों में रखे गये हैं, शेष भाव और मन के वेग संचारियों में डाले गये हैं। जैसे किसी आलम्बन के प्रति आश्रय को शोक या क्रोध करते देख उस आलम्बन के मर्मस्पर्शी स्वरूप और 'भाव' की विशद् व्यंजना के बल से श्रोता या दर्शक को उक्त दोनों भावों का रसरूप में परिणत अनुभव होता है, अतः वे प्रधान भावों की श्रेणी में रखे गए। पंर आश्रय को किसी बात की शंका, किसी से ईर्ष्या, किसी पर गर्व, किसी से लज्जा प्रकट करते देख कर श्रोता या दर्शक को भी शंका, ईर्ष्या, गर्व, लज्जा आदि का अनुभव न होगा, दूसरे भावों का हो तो हो। इसी से ये भाव सदा प्रधान, न माने

---

१. व्याध्यादेर्मृत्युसंकल्पो मरण विकलेन्द्रियम्। ना० द०, सूत्र १६८।

२. रोगादिजन्या मूर्च्छारूपा मरण प्रागवस्था मरणम्।—रंगध०, मरण भावध्वनि।

३. देखिए, 'भाव-चिन्ता'।

४. देखिए, र० मी, पृष्ठ २०६।

जाकर संचारी माने गये हैं। पर उससे यह मतलब नहीं किये भाव सदा प्रधान भावों के द्वारा प्रवर्त्तित होकर अनुचर के रूप में ही आया करते हैं, स्वतन्व रूप में आते ही नहीं। ये स्वतन्त्र रूप में अपने निज के अनुभावों के सहित भी आते हैं पर पूर्ण रस की अवस्था को नहीं प्राप्त होते—अर्थात् ऐसी दशा को नहीं पहुंचते जिसमें श्रोता या दर्शक भी आश्रय में उनकी विशद व्यंजना देख उनका अनुभव हृदय में करने लगें। सारांश यह कि प्रधान (प्रचलित प्रयोग के अनुसार स्थायी) भाव वही कहा जा सकता है जो रस की अवस्था तक पहुंचे—

'रसावस्थः परं भावः स्थायितां प्रतिपद्यते। साहित्यदर्पण, तृतीय परिच्छेद।'[1]

आचार्य शुक्ल के मतानुसार 'भावों के स्वरूप के भीतर ही वह वस्तु है जिसके अनुसार प्रधान और संचारी विभाग हो जाता है। वह वस्तु है आलम्बन। आलम्बन या तो सामान्य होता है या विशेष। जो सामान्य आलम्बन होगा उसके प्रति मनुष्य मात्र का—कम से कम सहृदय मात्र का—वही भाव होगा जो आश्रय का है। जो विशेष आलम्बन होगा उसके प्रति श्रोता या दर्शक स्वभावतः उसी भाव का अनुभव न करेगा जिसे व्यंजित करता हुआ आश्रय दिखाया गया है—दूसरे भाव का अनुभव वह कर सकता है। इस विभेद को ध्यान में रख कर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रधान भावों (प्रचलित अर्थ में स्थायी) की गिनती में वे ही भाव रखे गए हैं जिनके आलम्बन 'सामान्य' हो सकते हैं, शेष भाव या मनोवेग संचारियों की श्रेणी में डाले गये हैं क्योंकि उनमें से किसी-किसी के स्वतन्त्र विषय भी होंगे तो श्रोता या दर्शक का ध्यान उनकी ओर प्रवृत्त नहीं रहेगा।

गिनाए हुए संचारियों की सूची से ही पता चल जाता है कि उनका क्षेत्र बहुत व्यापक है। संचारी के अन्तर्गत **'भाव' के पास तक पहुंचने वाले**[2] अर्थात् स्वतन्त्र **विषययुक्त** और **लक्ष्ययुक्त** मनोविकार और मन के क्षणिक वेग ही नहीं बल्कि शारीरिक और मानसिक अवस्थाएं तथा स्मरण, वितर्क आदि अन्तःकरण की और वृत्तियाँ भी आ गई हैं।'[3]

आचार्य शुक्ल की दृष्टि में "भारतीथ साहित्यकों की स्थायी-संचारी-व्यवस्था भी सम्बन्ध-व्यवस्था ही है, पर विशेष प्रकार की। वह अधिकार व्यवस्था के रूप में ही है। मनोविज्ञानियों की ऊपर लिखी सम्बन्ध-व्यवस्था में मूल या जनक भाव स्व-प्रवर्तित अन्य भाव के उदय के समय अपना स्वरूप विसर्जित कर देता है, जैसे, जिससे हमारा प्रेम है, उसे पीड़ित करने वाले पर जिस समय हमें क्रोध आएगा उस समय रति-भाव की अनुभूति के लिए कोई अवकाश चित्त में न रहेगा। पर साहित्य में रति के जो संचारी कहे गए हैं, उनके प्रतीति-काल में रति का आभास बना रहेगा। नायिका मान-समय में जो क्रोध प्रकट करेगी वह ऐसा बलवान् न होगा कि 'रति भाव' को सर्वथा हटा सके।"[4]

---

१. देखिए, रस मीमांसा, पृष्ठ २०३-२०४।

२. आचार्य शुक्ल ने 'वि+अभि+चारिन्'=व्यभिचारी का यह नवीन और मौलिक अर्थ दिया है जो भरतादि से कुछ भिन्न और विलक्षण है।

३. उद्धृत र० मी०, पृष्ठ २०५। ४. वही पृष्ठ १९९।

यह कौन-सी व्यवस्था है जिसके अनुसार 'भावों' को ऐसा अविचल पद, मनो-वैज्ञानिकों की सम्बन्ध-व्यवस्था के विपरीत, प्राप्त रहता है कि स्व-प्रवर्त्तित आगन्तुक भावों के आ जाने से उनका स्वरूप सर्वथा तिरोहित नहीं होता। बात वास्तव में यह है कि मनोविज्ञान में वर्णित सम्बद्ध भावों के विषय यदि प्रवर्त्तक भाव के आलम्बनों से भिन्न हों तो भी आश्रय का ध्यान उन्हीं की ओर रहता है। पर संचारियों का विषय यदि भाव के आलम्बन से भिन्न हुआ तो भी उनकी ओर ध्यान मुख्यतः नहीं होता, अर्थात् वे विषय आलम्वन नहीं कहे जा सकते।[1]

आगे चल कर आचार्य शुक्ल संचारी भाव को प्रधान भाव का परिपोषक बताते हुए निम्नलिखित शर्तें उपस्थित करते हैं।

एक भाव दूसरे भाव का संचारी हो कर तभी आ सकता है जब : (१) उसका विषय भी वही हो जो प्रधान भाव का आलम्बन है और उसकी अपनी कोई गति या प्रवृत्ति न हो। (२) आलम्बन से उसका विषय भिन्न हो, उसकी कोई अपनी गति या प्रवृत्ति न हो और वह स्वयं ऐसा हो कि प्रधान भाव के साथ उसका कोई रूपान्तर लगा रहता हो, (३) उसकी गति या प्रवृत्ति वही हो जो प्रधान भाव की है।[2]

सार रूप में स्पष्ट है कि शुक्लजी संचारी और स्थायी भाव में अधिकार व्यवस्था रूप अंगागि-भाव सम्बन्ध मानते हैं। इन्होंने परम्परागत तैंतोस संचारी भावों (व्यभिचारी भावों) को इस कसौटी पर कस कर स्थायी भाव के निकट तक पहुंचने में समर्थ संचारी भावों को ही संचारी-वर्ग में स्थान दिया है और अन्य संचारियों के संचारित्व का प्रतिषेध किया है। उदाहरणार्थ, आलस्य को इन्होंने संचारी भाव नहीं माना है, क्योंकि इसका किसी भाव के साथ 'प्रत्यक्ष सम्बन्ध' नहीं या 'सीधा-लगाव' नहीं है।[3]

सामान्यतः शुक्लजी ने प्रधान भाव या स्थायी भाव को केन्द्र-बिन्दु मानकर इसके निकट पहुंचने में सहायक, पाश्चात्य मनोविज्ञान सम्मत अनेक शारीरिक और मानसिक अवस्थाओं तथा अन्तःकरण की वृत्तिवों को भी संचारी भावों में (पर्यायरूप व्यभिचारी भावों में) अन्तर्भूत कर लिया है।

शुक्लजी के समान पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने भी संचारियों को (व्यभिचारियों को व्यापक रूप में ही ग्रहण किया है। उन्होंने परम्परागत सभी संचारियों को मनोविकार-स्वरूप नहीं माना है। इनका मत है कि इनमें कुछ तो बुद्धि की वृत्तियां हैं और कुछ शरीर के धर्म हैं। मति, वितर्क आदि बुद्धि की वृत्तियां हैं और मरण, आलस्य, निद्रा, अपस्मार

---

१. र० मी०, पृष्ठ १९९।
२. वही, पृष्ठ २३७।
३. वही, पृष्ठ १२४-२२५

और व्याधि आदि शरीर के धर्म हैं। ऐसी स्थिति में यह मानना पड़ेगा कि संचारी शब्द से शास्त्रकारों का तात्पर्य स्थायी भाव में सहायक होने वाली वृत्तियों या स्थितियों से है।[1] अत: इनके विचार में संचारीगत मानसिक, बौद्धिक एवं शारीरिक अवस्थाओं को 'भाव' कहना उपलक्षण मात्र है।[2] संचारी भाव स्थायी भाव में सहायक होने वाली वृत्तियां या स्थितियां हैं, सभी मनोभाव (संवेग) स्वरूप नहीं हैं। आचार्य शुक्ल और पण्डित विश्वनाथ का मत प्राचीन संस्कृत परम्परा में है।[3]

संचारी विषयक प्रस्तुत दृष्टिकोण का पण्डित रामदहिन मिश्र ने प्रत्याख्यान किया है। इनके मत से सभी संचारी भावों का स्वरूप मनोभावात्मक या चित्तवृत्ति रूप ही है क्योंकि इनके मत में 'संचरणशील अर्थात् अस्थिर मनोविकारों या चित्तवृत्तियों को संचारी भाव कहते हैं।'[4] इन्होंने डॉ० वाटवे, मराठी के 'रस-विमर्श' के लेखक का, तथा 'वाङ्मय-विमर्श' के प्रणेता पंडित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का प्राचीन आचार्यों की उक्तियां देकर खण्डन किया है।[5] श्री रामदहिन मिश्र का दृष्टिकोण हि० म० का० अध्य० के लेखक डॉ० काले के मतानुसार अनुदार तथा परम्परा में रहने का आग्रही ही अधिक दिखता है, लेकिन तर्क को तर्क की कसौटी अथवा नवीन प्रमाण के माध्यम से नहीं परखा गया। और इसी दृष्टिकोण को लेकर आपने समस्त भावों को जिनमें अनेक को पाश्चात्य पद्धति से प्रभावित आधुनिक मनोवैज्ञानिकों की कसौटी शारीरिक अवस्था रूप ठहराती है, मनोभावरूप या चित्तवृत्ति रूप ही सिद्ध किया है। मरण, श्रम, निद्रा आदि शारीरिक अवस्था रूप संचारियों के मूल में भी इन्होंने मनोभाव की ही स्थिति स्वीकार की है।[6] श्री रामदहिन मिश्र ने भरत के व्यापक 'भाव स्वरूप' को दृष्टिगत नहीं रखा है। परिणामत: अभिनवगुणप्तादि आचार्यों के अनुसार भाव का चित्तवृत्तिरूप[7] अर्थ ग्रहण करके संचारियों को मनोभावात्मक ही मान लिया है। डॉ० नगेन्द्र ने 'भाव' को मूलत: मनोभावरूप ('इमोशन' रूप) ही माना है, अत: इन्होंने संचारियों को भी 'इमोशन' का पर्याय सिद्ध किया है। इनके मत में परम्परागत तैंतीस संचारियों में से उनको भाव कहना असंगत होगा जिनमें शारीरिक क्रियाएं अधिक हैं और

---

१. 'वाङ्मय विमर्श', पृष्ठ १४८। २. वही, पृष्ठ १४८।

३. ना० द० में सात्त्विक भावों को व्यभिचारी भाव बताकर इस स्थिति की ओर प्रच्छन्न रूप से संकेत है। देखिए ना० द०, सूत्र-१७५ की कारिका-१२१। हास्य रस के निरूपण में वहां 'आवेग', जड़ता, सम्भ्रम के साथ स्तम्भ, अश्रु, गद्‌गद्, रोमांचादि को 'व्यभिचारी' संज्ञा दी गई है।

यथा व्याभिचारिणश्चास्य आवेग-जड़ता संभ्रम-स्तम्भ-अश्रु-गद्‌गद्-रोमांचादय इति।

४. का. द. पृष्ठ ८०। **५.** वही, पृष्ठ ६७।

६. वही, पृष्ठ ८३-८४। **७.** देखिए, पीछे भाव-चिन्ता।

मानसिक-विकार गौण हैं। उदाहरण के लिए अपस्मार, निद्रा आदि। स्वप्न और मरण को भी भाव कहना इनके मत में असंगत है।

'साइक्लोजिकल स्टडीज इन रस' के प्रणेता डॉ० राकेश गुप्त ने इन सब स्थायी और संचारी भावों की सन् १९४३ तक उपलब्ध (पाश्चान्य विचारप्रणाली पर आधारित) आधुनिक मनोविज्ञान के आलोक में छान-बीन की है और अपना निष्कर्ष निम्नलिखित रूप में उपस्थित किया है।[२]

(क) भरत के आठों स्थायी-भाव मनोविकार हैं।

(ख) तैंतीस संचारियों में चौदह मनोविकार हैं।[३]

(ग) चार अमनोविकारात्मक अनुभूतियां हैं।[४]

(घ) पांच शारीरिक सम्वेदन के अनुभाव हैं।[५]

(ङ) शेष दस को भाव या अनुभूति नहीं कहा जा सकता।[६]

इनके अतिरिक्त स्नेह, वात्सल्य, भक्ति मनोविकार हैं तथा शम अमनोविकरात्मक है। डॉ० राकेश गुप्त ने 'भाव' की भरत मुनि प्रणीत परिभाषा स्वीकार न करके उसे संस्कृत के भरतोत्तर-युगीन 'मनोभाव या चित्तवृत्ति' के ही अर्थ से सम्बन्धित करके देखा है। फिर अपनी समीक्षा में उन्होंने 'व्यभिचारी' शब्द के व्युत्पत्तिजन्य अर्थ पर भी विचार करने का प्रयत्न नहीं किया है। अतः उन्होंने पाश्चात्य मनोविज्ञान की कसौटी पर इन भावों को खरा न उतरते देख कर असन्तोष व्यक्त किया है। मराठी में डॉ० वाटवे ने भी इस प्रकार का प्रयत्न किया था और उन्होंने भी इसी प्रकार का असन्तोष अपनी छान-बीन के उपरान्त प्रकट किया था।

बाबू गुलाबराय का मत भरत मुनि की परम्परा का पालन करता हुआ यह है कि साहित्य के भाव से मनोविज्ञान का शुद्ध भाव अभिप्रेत नहीं है, अपितु वे अपनी प्रवृत्यात्मकता के कारण मनोवेगों के व्यापक रूप होते हैं।[७] वह संचारी की परिभाषा करते हुए साहित्य-दर्पणकार विश्वनाथ तथा हिन्दी के केशवदास के मतों का आधार ग्रहण करते हैं। विशेष रूप से संचारियों का लक्षण स्पष्ट करने के लिए वह कहते हैं कि संचारी भाव गतिमान

---

१. री. भूमिका, पृष्ठ ८०। २. देखिए-सा० स्ट० रस०, द्वितीय चेप्टर।

३. वे हैं—निर्वेद, शंका, हर्ष, दैन्य, उग्रता, चिन्ता, त्रास, असूया, अमर्ष, गर्व, व्रीडा, आवेग, विषाद, औत्सुक्य।

४. वे हैं—धृति, स्मृति, मति, तर्क।

५. वे हैं—अपस्मार, श्रम, ग्लानि, आलस्य, व्याधि।

६. वे हैं—मद, निद्रा, सुप्त, विरोध, मरण, अवहित्था, उन्माद, जड़ता, चपलता, मोह।

७. सि० अध्य०, पृष्ठ १८८।

संस्थान मनोवेग की गति के पद हैं। और संचारी भावों के कारण ही कभी-कभी रस की पहचान की जा सकती है जैसे वीर और रौद्र में आलम्बन तथा उद्दीपन प्रायः एक होते हैं किन्तु उनके संचारी अलग-अलग होते हैं। वीर में धृति और हर्ष होते हैं; रौद्र में मद, उग्रता चपलता आदि होते हैं।[१] बाबू गुलाबराय का विचार संस्कृत के ऊपर बताए हुए शारदातनय के विचार से मेल खाता है।[२]

इस प्रकार हिन्दी के आधुनिक समीक्षकों के व्यभिचारी भावों के स्वरूप के विषय में दो भिन्न-भिन्न मत दृष्टिगोचर होते हैं। एक मतानुसार, व्यभिचारी भाव का स्वरूप एकान्तः मनोभावात्मक नहीं है, वरन् व्यभिचारी से तात्पर्य रस या स्थायी भाव की उसके अधीन रह कर परिपोषक वृत्तियों या अवस्थाओं से है। इसमें शारीरिक, बौद्धिक और मानसिक सभी अवस्थाओं का समावेश हो जाता है। दूसरे मतानुसार, व्यभिचारी भाव का स्वरूप मनोभावात्मक है, चित्तवृत्ति रूप है। परन्तु इस मत के समर्थकों का परम्परागत तैंतीस व्यभिचारियों के प्रति भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण है। कतिपय ने सभी व्यभिचारियों को, चाहे वे शारीरिक अवस्थारूप हैं चाहे बौद्धिक अवस्थारूप, मनोभावात्मक या चित्तवृत्तिरूप ही मान लिया है, तो कतिपय ने शारीरिक अवस्थारूप व्यभिचारियों को व्यभिचारी वर्ग से पृथक कर देना उपयुक्त माना है।

मराठी के आधुनिक काव्यशास्त्र में इस विषय पर गम्भीर विवेचन हिन्दी के आधुनिक समीक्षकों की ही भांति प्राप्त है। डॉ० के० ना० वाटवे ने पाश्चात्य मानसशास्त्र का आधार ग्रहण करके 'भाव' को मनोविकार स्वरूप (संवेग रूप) प्रतिपादित किया है। अतः व्यभि-चारी भावों को भी भावनरूप सिद्ध किया है। फलतः इन्होंने परम्परागत तैंतीस व्यभिभारी भावों की सूची को दोषपूर्ण माना है, क्योंकि इसमें सभी व्यभिचारी भाव भावनारूप नहीं हैं। उनके शब्दानुवाद में इनमें कपितय शारीरिक अवस्थाएं हैं। कतिपय भावनाओं की तीव्रता के दर्शक प्रकार हैं, कतिपय प्राथमिक, कतिपय संमिश्र तो कतिपय ज्ञानात्मक अवस्थाएं हैं।[३]

डॉ० वाटवे ने पाश्चात्य मानसशास्त्र की दृष्टि से स्थायी भाव को स्थिरवृत्ति (सेंटि-मेण्ट) रूप माना है अतः व्यभिचारी भाव को इन्होंने 'साधित भावना' (डिराइव्ड इमोशन) के समतुल्य माना है। फलतः इन्होंने परम्परागत व्यभचारियों में से शारीरिक और बौद्धिक अवस्थारूप अनेक व्यभिचारियों के पृथक् अस्तित्व का प्रत्याख्यान किया है। वे मनोभावात्मक यथा औत्सुक्य, दैन्य, हर्ष, धृति, चिन्ता, निर्वेद आदि को ही व्यभिचारी भाव मानने पर विशेष बल देते हैं। इनका विचार है कि भरत मुनि ने मानस व्यापारगत बौद्धिक, भाव-नात्मक और शारीरिक परिवर्तनों को संलग्न देखकर सबका व्यभिचारी भावों में ही समावेश

१. सी. अध्य., पृष्ठ १८८।
२. देखिए पाद टिप्पणी ३ पृष्ठ ११० पर। ३. हि. म. का. अध्य०, पृष्ठ ७१ से उद्धृत
३. 'रस विमर्श' पृष्ठ १३१।

कर दिया, क्योंकि प्राचीन काल में शरीर और मन का परस्पर सम्बन्ध ज्ञान इतना स्पष्ट नहीं हो सका था, जिससे मानस-व्यापारगत बौद्धिक और भावनात्मक भेद को और देह-व्यापारगत मानस और शरीर के भेद को स्पष्ट किया जा सकता।[१]

डॉ० वॉटवे के प्रस्तुत दृष्टिकोण को श्री जोग ने पूर्णरूप से स्वीकार नहीं किया है। आपके मत में व्यभिचारी भावों के अन्तर्गत शारीरिक अवस्थाओं का समावेश दोषयुक्त नहीं है। "संचारी भावों की सूची में एक बात स्पष्ट हो जाती है कि संस्कृत साहित्यशास्त्रज्ञों ने 'मानस-सृष्टि' का बहुत सूक्ष्म चिन्तन किया था। प्रमुख भावनाओं[२] को स्थायी भावों में स्थान देने के उपरान्त उनकी दृष्टि इनके अतिरिक्त अन्य अनेक 'सूक्ष्म और तरल' भावनाओं तथा मानसावस्थाओं के अन्वेषण की ओर गई है। स्थायी या प्रमुख भावनाओं की तुलना में, प्रस्तुत भावनाएं यद्यपि सूक्ष्म और तरल हैं तथापि इनके वर्णन के बिना मनोवस्था का सच्चा चित्र उपस्थित किया नहीं जा सकता। इस तथ्य को दृष्टिगत रखकर ही संस्कृत के आचार्यों ने सम्पूर्ण मानसावस्थाओं को एकत्रित करके व्यभिचारी भावों की सूची बनाई है। आधुनिक मानसशास्त्र में शारीरिक अवस्था का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। ग्लानि, मद, उन्माद, जड़ता आदि शारीरिक प्रतीत होने वाली अवस्थाओं को भी आचार्यों ने व्यभिचारी भावों की सूची में समाविष्ट कर दिया है। मनोविज्ञान के दृष्टिकोण से भी विचार किया जाय तो उनकी धारणाएं उपयुक्त लगती हैं। आज के मनोविज्ञान में चेतनावस्था के साथ (कॉन्शस के साथ) अवचेतनावस्था (अनकांशस) को भी महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। यदि इस सृष्टि से निद्रा, सुप्त (स्वप्न) अपस्मार, मोह, प्रबोध (बिबोध) आदि व्यभिचारियों पर विचार किया जाए तो उनकी वास्तविकता सहज ध्यान में आ सकती है।"[३] अतः श्री जोग के मत में व्यभिचारियों की सूवी में शारीरिक अवस्थाओं का समावेश दोषयुक्त नहीं है क्योंकि उनकी पृष्ठभूमि में मनोभाव की स्थिति अनिवार्यतः होती है।[४]

श्री द० के० केलकर के मत में स्थायी भाव और व्यभिचारी भाव की व्यावर्त्तक कसौटी मानवशास्त्र प्रस्तुत नहीं कर सकता। स्थायी और व्यभिचारी के पृथक्-पृथक् स्वरूप को भारतीय रस परम्परा में ही समझना चाहिए। जो भाव अत्यन्त उत्कट रूप में काव्य में अभिव्यक्त हुए हैं तथा जिन्हें सहृदय पाठक बार-बार मन में आवृत्त करना चाहता है, जिनका आस्वाद लेना चाहता है वे ही स्थायी हैं, तदितर भाव संचारी हैं। स्थायी भाव और

१. वही, पृष्ठ ३१।
२. 'प्रमुख भावना' शब्द आचार्य शुक्ल के 'प्रधान भाव' से अत्यन्त मेल खाता है। यह दर्शनीय है।
३. अभि० का०, पृ० १२१।
४. ऊपर दिए आचार्य शुक्ल के मत से यह मत समतुल्य है। वे भी उन्हीं शारीरिक अवस्थाओं को व्यभिचारियों में स्थान देने के पक्ष में हैं जो किसी मनोभाव से प्रेरित अथवा संलग्न हों।

व्यभिचारी भावों का व्यवच्छेदक-तत्त्व 'आस्वाद्यमानता और उत्कटता' हा है।[1] सामान्यतः श्री केलकर के मत में व्यभिचारी भावों का स्वरूप मनोवृत्ति रूप ही है।[2]

स्थायी भाव के स्वरूप निर्धारण की प्रस्तुत कसौटियां व्यभिचारियों पर भी घट जाती हैं। रति-शोक आदि स्थायी भाव जन्मजात होते हैं। अतः यदि इसी कारण इन्हें व्यभिचारियों से पृथक् समझा जाय जैसा कि प्राचीनों का मत है[3] तो व्यभिचारियों में भी अनेक भाव ऐसे हैं जिन्हें आधुनिक मानसशास्त्र की खोज के साक्ष्य के बल पर जन्मजात सिद्ध किया जा सकता है। उदाहरणार्थ 'औत्सुक्य' व्यभिचारी को मानवशास्त्र 'औत्सुक्य' सहजप्रवृत्ति या मूल प्रवृत्ति (क्यूरियोसिटी इंस्टिंक्ट) मानता है।[4] सार्वत्रिकता की कसौटी भी स्थायी भाव और संचारी भाव दोनों पर समान रूप से घटती है। हर्ष, स्मृति, व्रीड़ा, मोह, दैन्य, मद, गर्व असूया, आलस्य, औत्सुक्य आदि मनोवृत्तियों का प्रत्येक मनुष्य को थोड़ा-बहुत अनुभव होता है। ग्लानि, आलस्य आदि मनोवृत्तियों को रसमूलक स्थायीभाव का स्वरूप इसलिए प्राप्त नहीं हो सकता क्योंकि इनमें 'आनन्दांकुरत्व' और 'उत्कटत्व' की स्थिति नहीं आ सकती।[5] इस प्रकार श्री द० के० केलकर 'आनन्दांकुरत्व-हीन' तथा 'उत्कटत्वविहीन' स्थायी से इतर मनोवृत्तियों को व्यभिचारी भाव मानते हैं। शारीरिक अवस्था रूप व्यभिचारियों को मनोवृत्ति-रूप कैसे मान लिया जाए, इसकी समीक्षा उन्होंने नहीं की।

वस्तुतः परम्परागत समस्त व्यभिचारियों को मनोभाव या चित्तवृत्तिरूप मानकर स्थायी भावों से इन्हें अलग कर सकने वाली व्यावर्त्तक कसौटी निश्चित करना कठिन है। जन्मजातता, सार्वत्रिकता, उत्कटता, आस्वाद्यमानता आदि ऐसे तत्त्व हैं जो स्थायी भावों के साथ-साथ अनेक व्यभिचारी भावों पर मी घटित होते हैं। स्तोक विभावादि से अपरिपुष्ट होने पर जिस प्रकार स्थायी भाव व्यभिचारियों की कोटि में उतर जाते हैं,[6] उसी प्रकार नृपेन्द्र भोज के मत से अनेक परिपुष्ट व्यभिचारी भाव स्थायित्व की कोटि तक पहुंच सकते हैं।[7]

---

१. काव्यालोचन, पृष्ठ १४२। २. वही, पृष्ठ १४२।

३. देखिए अभिनवगुप्त तथा हेमचन्द्राचार्य के मत क्रमशः अभि० भारती, पृष्ठ ४७६ तथा काव्यानु० में २ अध्याय पर।

४. देखिए, सा० मनो० रू०, पृष्ठ २४१। मूल प्रवृत्तियों का सिद्धान्त मैक्डूगल ने प्रतिपादित किया था। देखिए, मनोविज्ञान का इतिहास, पृष्ठ २७६।

५. काव्यालोचन, पृष्ठ १४२।

६. रत्यादयः स्थायिभावाः स्यूभूंयिष्ठविभावजाः स्तोकैः विभावैरुत्पन्नास्त एवं व्यभिचारिणः, शार्गंदेव-संगीतरत्नाकर, न० र०, पृष्ठ ११६ पर उद्धृत।

७. देखिए, श्रृंगारप्रकाशकार का मत—नं० र०, पृष्ठ ७० पर उद्धृत।

सामान्यत; जिन व्यभिचारी भावों का स्वरूप शारीरिक अथवा बौद्धिक अवस्थारूप है, मनोभावात्मक (=संवेगात्मक) नहीं है, वे व्यभिचारी सर्वत्र व्यभिचारी ही बने रहेंगे, क्योंकि उनमें उत्कट भावना के अभाव के कारण स्थायित्व की स्थिति पूर्णतया निष्पन्न नहीं हो सकती। उदाहरणार्थ, श्रम, आलस्य, ग्लानि, मद आदि शारीरिक अवस्थारूप व्यभिचारी भावों में तथा स्मृति, वितर्क, मति आदि बौद्धिक अवस्थारूप व्यभिचारियों में भावनातत्त्व का अभाव है। साहित्य में इनका वर्णन प्रायः अन्य भावों की परिपुष्टि के लिए आता है। परन्तु इनके अतिरिक्त अन्य मनोभावप्रधान व्यभिचारियों में से किसी व्यभिचारी भाव को यदि किसी समर्थ कवि द्वारा उत्कट या परिपुष्ट रूप प्रदान किया जाता है तो उसे स्थायित्व की संज्ञा प्रदान करने में परम्परागत तेंतीस व्यभिचारियों की संख्या बाधक नहीं बननी चाहिए। इसीलिए हिन्दी मराठी के कई समीक्षकों ने परम्परागत व्यभिचारी भावों में से कई एक में रस-परिणति की क्षमता का समर्थन किया है।[1] डॉ० काले का विचार है कि सामान्यतः प्राचीन आचार्यों की व्यभिचारी विषयक मान्यताएं असंगत नहीं हैं। उनका आधार तत्कालीन साहित्य रहा है। उन्होंने संचरणशील, अस्थिर वा अपरिपुष्ट भावों को व्यभिचारी की संज्ञा दी है और इनकी सूची में शारीरिक, बौद्धिक तथा भावनात्मक तत्त्वों को न्यूनाधिक रूप में समाविष्ट किया है। भरत मुनि के समय 'निर्वेद' व्यभिचारी का परिपुष्ट या उत्कट रूप नहीं मिलता था। सम्भवतः इसी कारण निर्वेद स्थायी पर आधृत शान्त रस का विवेचन भरत-निरूपित आठ रसों में नहीं हुआ है। भरत मुनि के अनुसार 'निर्वेद' व्यभिचारी भाव मात्र है। कालान्तर में 'निर्वेद' भाव का परिपुष्ट चित्रण काव्य में उपलब्ध होने पर परिणामतः 'निर्वेद' व्यभिचारी उद्‌भटाचार्य प्रभृति के ग्रन्थों में 'स्थायी भाव' की कोटि तक पहुँचकर शान्त-रस की प्रतिष्ठापना में सहायक हुआ है।[2]

यह निर्विवाद है कि भरत मुनि का और उनसे पहले के नाट्यवेद के आचार्यों का जिनके द्वारा व्यभिचारी भावों का विवेचन और निरूपण हुआ है, दृष्टिकोण रंगमंचीय रहा है। इसलिए इनके द्वारा निरूपित व्यभिचारी भावों को आधुनिक मानसशास्त्रीय मनोविकार रूप सिद्ध करना संगत नहीं है। इसके लिए दो कारण सहज ही सामने आते हैं, एक तो यह कि आधुनिक मानस-शास्त्र का दृष्टिकोण अभारतीय है, और उसमें जो बटखरे उपस्थित किए जाते हैं, उनकी असंदिग्धता में विश्वास करके नितान्त भिन्न दृष्टि से विचार किए हुए पूर्व विषय को उनसे तोलना अनुपयुक्त है। भारतीय दृष्टिकोण से विचारित इन व्यभिचारी भावों की तह में जाने के लिए कम से कम भरत मुनि के युग में निर्भ्रान्त रूप से स्थापित मानवीय एषणाओं और मानवीय प्रकृति के गुणों को देखे बिना विचार करने को उद्यत होना उनके

---

१. देखिए, हि० म० का० अध्य०, स्थायी-भाव स्वरूप।
इस पर विस्तारपूर्वक चर्चा डॉ० राघवन् ने अपने प्रबन्ध 'रसों की संख्या' में की है।
स्थायी भाव के प्रसंग में इस पर विचार किया गया है।

२. हि० म० का० अध्य०, पृष्ठ ७४।

साथ न्याय करना नहीं है। आज भी अद्यतन पाश्चात्य मनोविज्ञान का दृष्टिकोण भारतीय दर्शन में विचारित तीन एषणाओं[1] से परे मानवीय कार्यकलाप और स्वभाव की विविधता को नहीं ढूंढ पाया है। और, भरत मुनि के द्वारा भावों के निरूपण में इन एषणाओं और त्रिगुणात्मक[2] प्रकृति का व्यवहार हुआ है, जो मानव ही नहीं पशु-पक्षी जगत् के समस्त व्यवहार को परिव्याप्त करने में समर्थ है। दूसरे, व्यभिचारी भावों को आधुनिक मानस-शास्त्रीय मनोविकार-स्वरूप सिद्ध-असिद्ध करना ही अनुचित है, जब तक कि प्रत्येक शब्द की 'निरुक्ति' स्पष्ट न कर दी जाए। भरत मुनि से लेकर आज तक इन शब्दों के अर्थ में विकास और संकोच होना सहज है। प्रचलित धारणाओं के अनुसार, उसके अंग्रेजी भाषा के अनुवादित अर्थ ग्रहण करके उन पर विचार करके दिया निर्णय वैज्ञानिक किस तरह कहा जा सकता है ? भरतोत्तर आचार्यों द्वारा प्रतिपादित स्वरूप, उनका मनोभाव या चित्तवृत्ति स्वरूप, हमें व्यभिचारी भावों के नामों की अर्थच्छायाओं को स्पष्ट करके देखने पर ही समझ में आ सकता है।

व्यभिचारी-भावों के स्वरूप प्रतिपादन में मूलतः भरत मुनि का दृष्टिकोण समझना आवश्यक है। इस दिशा में श्री दि० के० वेडेकर ने कुछ अध्ययन किया है। इनके मत में व्यभिचारी भावों की सूची को अपूर्ण और सदोष सिद्ध करने का आधुनिक समीक्षकों का प्रयास उपयुक्त नहीं है। उदाहरणार्थ 'मरण', व्यभिचारी भाव, 'नाट्य-भाव' मात्र है, वह वास्तविक मृत्युरूप शारीरिक अवस्था नहीं है। समान बात इसमें इतनी ही है कि यह लौकिक, शारीरिक अवस्था के समानान्तर है।[3] श्री वेडेकर के मत में सभी व्यभिचारी भाव 'नाट्यधर्मी' पदार्थ हैं, इन्हें वास्तविक लोकधर्मी भाव समझना 'असंगत' है।

आधुनिक मानवशास्त्र का उपयोग हम इन नाट्यधर्मी 'व्यभिचारी भावों' की सामर्थ्य की, उनका 'व्युत्पत्तिजन्य' अर्थ और स्वरूप जानने के पश्चात्, परिव्याप्ति देखने में कर सकते हैं कि ये भाव क्या आज भी आज के संकुल जीवन और विविधतापूर्ण जीवन को दृष्टि में रखते हुए जीवनोचित भावों को 'रसावस्था' तक परिपुष्ट कर सकते हैं, और यदि नहीं तो किन-किन व्यभिचारी भावों या भावों का समावेश 'रस-सिद्धान्त' को, समग्र जीवन को चित्रित करने में समर्थ बनाने को और जोड़ने की आवश्यकता है। आधुनिक मानसशास्त्र व्यभिचारी भावों को परखने और सुव्यवस्थित करने में सहायक हो सकता है। खण्डन-मण्डनात्मक निर्णय देने में नहीं, क्योंकि काव्य का क्षेत्र समग्र-अनुभूति की रसोत्पादकता का, विश्वासोत्पादकता का और अनुकरण के माध्यम से परसंप्रेषणता का है, जबकि मानस-शास्त्रीय संवेगों और अनुभूतियों की विवेचना का क्षेत्र विश्लेषणात्मकता और अनुभूति तथा भावों को खण्ड-खण्ड करके देखने का है। दोनों की दिशाएं पृथक् हैं, दोनों की विधाएं पृथक् हैं।

---

१. वित्तैषणा, पुत्रैषणा एवं लोकैषणा।

२. सत्त्व-रजस्-तमस्।

३. दे० रस सिद्धान्ताचें स्वरूप, नवभारत—नव०-दि० १६५०।

क्या व्यभिचारी भावों के भी व्यभिचारी भाव हो सकते हैं ?

इस विषय में कुछ विस्तारपूर्वक विवेचन करना आवश्यक है। भरत मुनि ने अपने व्यभिचारी भावों के निरूपण में कहीं भी व्यभिचारी भावों के व्यभिचारी भावों का वर्णन नहीं किया है, जहाँ अन्य व्यभिचारी भावों का उनके साथ वर्णन किया है, वहाँ उन्होंने या तो उन्हें कारण माना है या कार्य अर्थात् उन्हें विभाव-अनुभाव ही स्वीकार किया है।[1] ऐसा ही मत धनंजय तथा अभिनवगुप्त का है। और पण्डितराज जगन्नाथ भी इसी मत के हैं। अन्य आचार्यों ने भी इस विषय में प्रायः उपर्युक्त विचार का समर्थन ही किया है क्योंकि उन्होंने नियत स्थायी भाव ही स्वीकार करके उनकी रसनिष्पन्नता की सामर्थ्य बतायी है। परन्तु कुछ आचार्य ऐसे भी हैं जो रसों की परम्परागत संख्या में वृद्धि करते हैं और उनके अन्य स्थायी भाव भी बताते हैं। ऐसी अवस्था में भरत के सूत्र[2] के अनुसार उनके भी 'व्यभिचारी भावों' का संयोग होगा। तभी रस-निष्पत्ति हो सकती है, इस विचार से स्वतः उनके व्यभिचारी भाव होंगे। अभिनव भारती में स्वयं अभिनवगुप्तपादाचार्य ने इस मत का उल्लेख करके प्रत्याख्यान किया है।

"...व्यभिचारिणामपि च व्यभिचारिणो भवन्ति, यथा निर्वेदस्य चिन्ता, श्रमस्य निर्वेद इत्यादि निरूपयन्ति सच्चासत्।"[3]

स्वयं रामचन्द्र गुणचन्द्र ने अभिनवगुप्तपादाचार्य के मत की पुष्टि की है, परन्तु उन्होंने अपर-रसों की सम्भावना बतायी है। यद्यपि इनका अन्तर्भाव भी अपर रसों में बताया गया है।

"सम्भवन्ति त्वपरेऽपि—यथा गर्धस्थायी लौल्यःआर्द्रतास्थायी स्नेहः,
आसक्तिस्थायि व्यसनञ्च, अरतिस्थायि दुःखञ्च, संतोषस्थायि सुखमित्यादि।
—ना० द० तृतीय विवेक, पृष्ठ ३०६।

भोज भी व्यवहार रूप से, यद्यपि परमार्थ रूप से आधारतः एक ही रस अहंकार या शृंगार या अभिमान को स्वीकार करते हैं, ४९ भावों को उपचार रूप में रस मानते हैं जो अहंकार या शृंगार या अभिमान के परिपोषक हैं।[4] पण्डितराज जगन्नाथ ने जहाँ व्यभिचारियों के केवल विभाव और अनुभाव होने की बात कही है, वहाँ यह भी कहा है कि उनके व्यभिचारी भाव होने पर तो वे प्रधान (स्थायी) ही हो जायेंगे। तात्पर्य यह हुआ कि व्यभिचारी भाव

---

१. देखिए भरत मुनि के 'नाट्यशास्त्र' का अध्याय-७।

२. विभावानुभावव्यभिचारीसंयोगात् रस-निष्पत्तिः।

३. अभि० भा०, अध्याय ७, पृष्ठ ३४६।

४. नं० र०, पृष्ठ ११९।

की स्थिति तक सीमित रहने के लिए उनके विभाव और अनुभाव ही हो सकते हैं, व्यभिचारी नहीं।[1]

आचार्य शुक्ल रस-मीमांसा में यह स्वीकार करते दिखते हैं कि संचारी भावों के प्रधान या स्वतन्त्र रूप में आने पर उनके अन्तर्गत भी संचारी भाव आ सकते हैं।[2]

इस विषय को पण्डितराज जगन्नाथ ने भी उठाया है और उसका समाधान यह कह कर दिया है कि प्रकरणादिवश किसी भाव के प्रधान होने पर 'विभावानुभाववद्' कोई अन्य व्यभिचारी भाव उसकी व्यंजकता में सहायक हो तो उसमें कोई आपत्ति नहीं है, अर्थात् ऐसा हो सकता है।[3]

पण्डितराज जगन्नाथ व्यभिचारी के 'विभावपद' से अपना अभिप्राय बताते हैं कि विभाव-पद से व्यभिचारी भाव के **साधारण निमित्तकारण** का ग्रहण समझना चाहिए।

ग—संचारी भावों के निर्माता उपादान एवं गुण आदि

ऊपर संचारी-भाव के व्यवच्छेदन के उपरान्त उनके निर्माता उपादान एवं गुण आदि का संग्रह इस प्रकार किया जा सकता है :

संचारी भावों के निर्माता उपादान स्थायी भावों की ही भांति संचारी भावों के लिए भी विभावों और अनुभावों की आवश्यकता है। स्थायी भावों के विभाव 'प्ररूढ़', 'भूयिष्ठ' अथवा 'बहु' होते हैं जबकि संचारी भावों के विभाव 'अप्ररूढ़', 'स्तोक' या 'अल्प' होते हैं। अतः स्थायी भाव बलवत्तर, व्यापक तथा दीर्घ-कालिक होते हैं, जबकि संचारी भावों के विभाव सात्त्विक-प्रायः अमूर्त्त, गुण, कर्म, परिस्थिति आदि होने से क्षीण, सीमित एवं अस्थिर होते हैं।

संचारी भावों के भी सात्त्विक अनुभाव होते हैं। परन्तु स्थायी भावों में जहाँ प्रत्येक के साथ सात्त्विक अनुभाव रहते है, वहाँ व्यभिचारी (संचारी) भावों में बहुत-सों के अनुभावों में भाव नहीं देखे जाते। यथा मति, वितर्क आदि में।

एक स्थायी भाव के लिए अन्य स्थायी भाव विभाव नहीं होता जबकि एक संचारी (व्यभिचारी) भाव के लिए अन्य संचारी (व्यभिचारी) भाव विभाव हो सकता है। इसी प्रकार

---

१. विभावानुभावौ चात्र व्यंजकौ, न त्वेकस्मिन् व्यभिचारिणि ध्वन्यमाने, व्यभिचार्यन्तरं व्यंजकतयाऽवश्यमपेक्ष्यते, तस्यैव प्राधान्यापत्तेः।

२. र० मी०, पृष्ठ २०४।

३. प्रकरणादिबलात् कस्मिंश्चिद्भावे प्रधाने सति, तद्भावस्य व्यंजिका या सामग्री तयैवाविना-भावित्वेन यतो व्यज्यमानोऽपरो भावो भवति, तस्मात् स्वल्पतया भासमानोऽप्यपरो व्यभिचारिभावः प्रधानभावस्यांगमेव भवति, न त्वंगीति। विभावानुभाववद् व्यभिचार्यन्त-रस्य भावव्यंजकतांगीकारे न तत्प्राधान्यापत्तिः अतएव गर्वादौ भावऽगिनि व्यभिचार्यन्तरस्या-मर्षस्य, अमर्षादौ चांगिनि गर्वस्यांगत्वं न विरुद्धमित्यभिप्रायः। रगंध०, पृष्ठ २७०-७१।

एक सात्त्विक भाव के लिए अन्य सात्त्विक-अनुभाव विभाव नहीं होता। परन्तु एक संचारी (व्यभिचारी) भाव का दूसरा संचारी (व्यभिचारी) भाव अनुभाव हो जाता है।

संचारी (व्यभिचारी) भावों का अन्तःकरण के चारों अंगों से सम्बन्ध है। स्थायी भाव केवल सुख-दुःख, इच्छा-द्वेष जनित ही हैं। संचारी (व्यभिचारी) भावों को राग-द्वेष, सुख-दुःख, बुद्धि एवं यत्न, इच्छा-विरति सभी जन्म देते हैं। वे केवल आत्मा के गुणों से ही नहीं, मन के भी सभी गुण-धर्मों से उत्पन्न होते हैं।

स्थायी भावों एवं सात्त्विक अनुभवों में सत्त्वगुण, रजोगुण एवं तमोगुण से युक्त प्रकृति मुख्यतया कार्य करती है और उनमें अहंकार के साथ बुद्धि भी उन-उन प्रकृति गुणों से पृथक् एवं सम्मिलित रूप में प्रभावित हो जाती है। संचारी (व्यभिचारी) भावों में इन गुणों, बुद्धि और अहंकार का पृथक्तः एवं क्षणिक रूप देखा जाता है। स्थायी भावों में प्रकृति के गुणों का, संचारी (व्याभिचारी) भावों की तुलना में, दीर्घकालिक योग रहता है। संचारी (व्यभिचारी) भावों में मन के विशिष्ट कर्म और बुद्धि व अहंकार से प्रभावित चेतना मुख्यतया दिखती हैं।

संचारी (व्यभिचारी) भावों के गुण—संचारी (व्यभिचारी) भाव, अनुत्कट, अनियमित, अनवस्थित, चंचल, अप्रधान वा गौण, स्थायी भावों के सहचर वा पोषक होते हैं। वे स्थायी भावों के शासन में रह कर उनका अनुचरवत् उपकार करते हैं. तथा उनको वैचित्र्य एवं विशिष्टता प्रदान करते हैं। वे उन्हें तरंगित करके गतिशील बनाते हैं, तथा उनको संदीप्त करते हैं एवं अन्य संचारी (व्यभिचारी) भावों को भी उनके उपकार के लिए उत्पन्न करते हैं। स्थायी भावों से सामाजिक का तादात्म्य होता है जबकि संचारी (व्यभिचारी) भावों से उसका तादात्म्य होना आत्रश्यक नहीं है। वे स्वतन्त्र-विषय-युक्त भी होते हैं। सामान्य विषयालम्बन से स्थायी भावों की भांति सदैव बद्ध नहीं होते। रस मूलक स्थायीभाव सदैव मूर्त्त विभाव से ही उत्पन्न होते हैं, जो नेत्रों के समक्ष प्रायः विद्यमान होता है। प्रिय-अप्रिय की स्मृत्ति भी पहले नेत्रों के समक्ष मूर्त्त बनकर उपस्थित होती है, तभी स्थायी भावों की विभाव रूप हो सकती है। संचारी (व्यभिचारी) भावों के लिए सदैव मूर्त्त विभावों की आवश्यकता नहीं होती। वे अमूर्त्त विभावों से, बाह्य रूप में उद्दीपनों से—गुण, कर्म, परिस्थिति आदि से उत्पन्न होते हैं तथा स्वयं आश्रय के आन्तर कारणों से भी। वे सूक्ष्म, तरल, चटुल और क्षण-भंगुर एवं मानसिक स्थितियां हैं। उनकी व्यापकता सीमित, शक्ति क्षीण, एवं अवधि अपेक्षाकृत अल्प होती है।

संचारी (व्यभिचारी) भाव मन के विविध कर्मों, अवस्थाओं, चैतसिक धर्मों एवं बुद्धि के व्यापारों को लक्षित कराते हैं। मन की विह्वलावस्था में उनमें शारीरिकता भी दिखायी देती है, यथा व्याधि, अपस्मार, निद्रा, मरण आदि में।

घ. संख्या और वर्गीकरण

संचारी (व्यभिचारी) भावों की संख्या

भरत मुनि ने व्यभिचारी भावों की संख्या तैंतीस मानी है। संस्कृत साहित्यशास्त्र

में रसावयवों के नवीन उद्भावन वर्गीककण में 'आप्तप्रमाण' या मुनिवचन के पालन का नियम कुछ सीमा तक बाधक रहा हैं, फिर भी लगभग दो हजार वर्ष के संस्कृत-साहित्य-शास्त्र के इतिहास में परम्पराभिन्न चिन्तन करने वाले आचार्यों का एकान्त अभाव नहीं है। यद्यपि भरत मुनि प्रतिपादित तेंतीस व्यभिचारी-संख्या के नियमन का पण्डितराज जगन्नाथ तक के आचार्यों ने प्रयत्न किया ही है तथापि कतिपय नवीन संचारियों (व्यभिचारियों) का उद्भावन अवरुद्ध नहीं हुआ। इसमें परिवर्तन के बहुत से प्रयत्न संस्कृत काल से लेकर आज तक होते रहे हैं। नृपेन्द्र भोज ने 'ईर्ष्या', 'शम', 'स्नेह' का और परिगणन करके उन्हें संचारी (व्यभिचारी) भावों में बढ़ाने की आवश्यकता बताई और 'अपस्मार' और 'मरण' को अमान्य ठहराकर बहिष्कृत करना चाहा।[१] हेमचन्द्राचार्य ने 'दम्भ', 'उद्वेग', 'क्षुधा-तृष्णा'[२] तथा रामचप्द्र गुणचन्द्र ने 'क्षुधा', तृष्णा', 'मैत्री', 'मुदिता', 'श्रद्धा', 'दया', 'उपेक्षा', 'रति', 'सन्तोष' 'क्षमा', 'मार्दव', 'आर्जव' तथा 'दाक्षिण्य' आदि[३] को सम्भाव्य व्यभिचारियों में स्थान दिया है। अग्निपुराण में 'निद्रा', 'सुप्त' तथा 'मरण' को छोड़ दिया गया है।[४] तथा 'शम' को स्थान दिया है और केवल ३१ संचारी (व्यभिचारी) भाव गिनाये गये हैं। सागरनन्दी ने संख्या तो तेंतीस ही रखी है परन्तु उन्होंने 'सुप्त' के स्थान पर 'शौच' नवीन संचारी (व्यभिचारी) भाव का उद्भावन आवश्यक माना है।[५] तथा 'भय' के स्थान पर 'त्रास' को स्थायी भाव 'भयानक' का रस माना है।

भानुदत्त ने कामदशाओं को संचारी (व्यभिचारी) मानने के साथ 'छल' नामक नवीन व्यभिचारी की कल्पना की है। भानुदत्त के अनुसार नायिका के दस स्वभावज अलंकारों में से 'मोट्टायित', 'कुट्टमित', 'विब्बोक' तथा 'विहृत' आन्तरविकार के रूप में तथा 'किलकिंचत्' उभयात्मक होने के कारण व्यभिचारी भाव माने जायेंगे।[६] कामदशाओं में से 'अभिलाष', 'गुणकथन', तथा 'प्रलाप' क्रमशः 'औत्सुक्य', 'स्मृति' तथा 'उन्माद' में अन्तर्भुक्त मान ली गयी हैं। रूप गोस्वामी ने 'हरिभक्ति-रसामृत-सिन्धु' (पृष्ठ २२६) में ३३ व्यभिचारियों के अतिरिक्त 'मात्सर्य', 'उद्वेग', 'दम्भ' 'ईर्ष्या', 'विवेक', 'निर्णय', 'क्लैव्य', 'क्षमा', 'कुतुक', 'उत्कण्ठा', 'विनय', 'संशय', तथा 'धार्ष्टय' १३ नवीन व्यभिचारी भाव और गिनाये हैं। पण्डित राज जगन्नाथ ने भी इन नवीन व्यभिचारियों का उल्लेख किया है।[७]

---

१. रस० स्व० वि०, पृष्ठ ४०-४१, एवं हि० म० का० अध्य०, पृष्ठ २५।
२. वही, पृष्ठ ४१ एवं वही, पृष्ठ २५।
३. ना० द०, तृतीय विवेक, कारिका, १२७-२९।
४. अ. पु. का. ३।३९ : २२-३४।
५. र० सि० स्व० वि०, पृष्ठ ४१।
६. वही, पृष्ठ ४१।
७. रगंध०, पृष्ठ ३३५, भावध्वनि, प्रथमाननम्।

संस्कृत के अनेक आचार्यों ने इस नवीन प्राप्त होने वाले संचारी (व्यभिचारी) भावों का परम्परागत तेंतीस संचारियों (व्यभिचारियों) में ही अन्तर्भाव भी बताया है। यथा 'क्लैव्य' का 'दैन्य' में, 'ईर्ष्या' का 'अमर्ष' में (रूप गोस्वामी और जगन्नाथ), 'दम्भ' का 'अवहित्थ' में (हेमचन्द्र, रूप गोस्वामी और जगन्नाथ), 'उद्वेग' का 'निर्वेद' में (रूप गोस्वामी तथा जगन्नाथ), 'क्षुत्तृष्णा' का 'ग्लानि' में (हेमचन्द्र-रामचन्द्रगुणचन्द्र), 'छल' का 'अवहित्थ' में (भानुदत्त), 'मात्सर्य' का 'असूया' में (रूप गोस्वामी तथा जगन्नाथ),[1] 'कुतुक-उत्कंठा' का 'औत्सुक्य' में, 'विनय' का व्रीडा में 'संशय' का 'तर्क में, 'धाष्ट्र्य' का 'चपलता' में (रूप गोस्वामी)[2] 'निर्वेद' में 'शम' और 'रति' में 'स्नेह' का और 'अरति' का 'निर्वेद' में अन्तर्भाव सहज दिखाया जा सकता है।

इसी प्रकार 'मैत्री', 'श्रद्धा' तथा 'दाक्षिण्य' का स्थायी रति में, 'दया', 'संतोष', 'क्षमा' का 'धृति' में तथा 'मुदिता' का 'हर्ष' में तथा 'मार्दव और' 'आर्जव' का 'निर्वेद' स्थायी में अन्तर्भाव सहज हो सकता है। इस प्रकार अधिकांश नवोद्भावित संचारी (व्यभिचारी) भावों को परम्परागत संचारी (व्यभिचारी) भावों में अन्तर्भाव करके संस्कृत आचार्य दिखाते आ रहे हैं, क्योंकि उन्हें परम्परा और मुनिवचन का पालन करना है।

प्राचीन हिन्दी में इनमें कुछ नाम बदले गए, और केवल दो आचार्यों ने नवीन संचारियों (व्यभिचारियों) का उद्भावन-सा दिखाने का साहस किया अन्यथा अन्यों ने भरत मुनि की परम्परा का अनुकरणपूर्वक पालन किया है। देव ने 'छल' का नाम केवल भानुदत्त के अनुकरण पर ही लिया और केशव ने इन नामों में तीन प्रकार का हेरफेर किया और दो नये नाम जोड़े हैं जो इस प्रकार हैं—

१—भरत के 'औत्सुक्य', 'सुप्त', 'विबोध' और 'वितर्क' को केशव ने क्रमशः 'उत्कण्ठा', 'स्वप्न', 'प्रबोध' तथा 'तर्क' कहा है। यह कोई बड़ा वैषम्य नहीं है। 'सुप्त' को 'स्वप्न' विश्वनाथ आदि ने भी कहा है तथा 'वितर्क' को 'तर्क' धनंजय ने। 'औत्सुक्य' और 'उत्कण्ठा' तथा 'विबोध' और 'प्रबोध' पर्याय मात्र हैं।

२—भरत परम्परा में ही नये शब्दार्थ में स्थापना : 'अमर्ष' और 'असूया' के स्थान पर केशव ने 'कोह', जो हिन्दी में तब 'हलके कोप' के अर्थ में प्रयुक्त होता था, और 'असूया' को 'निन्दा' लिख दिया।

३—नवीन में केशव ने 'आधि' और 'विवाद' दो व्यभिचारी भाव और जोड़े हैं।[3]

'आधि' का भी अन्तर्भाव 'व्याधि' में ही किया जा सकता है तथा 'विवाद' को 'अमर्ष' 'तर्क' में ही अन्तर्भुक्त किया जा सकता है क्योंकि 'अमर्ष' को केशव ने 'कोह' लिखा। अतः उन्हें 'विवाद' की कल्पना और करनी पड़ी।

---

१. हिन्दी साहित्य कोश, रगंध०, पृष्ठ ३३५ तथा रस० स्व० वि०, पृष्ठ ४१।
२. वही, रस० स्व० वि०, पृष्ठ ४१।
३. देखिए—'केशव और उनका साहित्य', पृष्ठ १८२।

आधुनिक काल में अनेक समीक्षकों को भरत मुनि की परम्परा के एकान्त पालन की प्रवृत्ति अनुपयुक्त प्रतीत हुई। फलतः इन्होंने परंपरा-भिन्न अनेक नवीन संचारी (व्यभिचारियों) का उद्‌भावन किया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'तुलसीदास की भावुकता' शीर्षक के अन्तर्गत 'चकपकाहट', 'उदासीनता', 'क्षोभ' तथा 'अनिश्चय' को, ('रस-मिमांसा' के पृ० २१५-२१६ पर) 'आशा' 'निराशा' तथा 'विस्मृति' (पृष्ठ २२७ पर) 'अधैर्य' तथा 'संतोष', 'असंतोष' और 'पटुता', 'मृदुलता' और 'अधैर्य को (पृष्ठ २२२ पर) नवीन व्यभिचारियों के रूप में स्पष्टतया प्रतिपादित किया है। पण्डित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने शुक्ल जी के समान नवीन संचारियों (व्यभिचारियों) का स्पष्ट रूप से प्रतिपादन नहीं किया है, तथापि इन्होंने 'दया', 'दाक्षिण्य', 'उदासीनता' आदि भावों के संचारित्व की सम्भावना व्यक्त की है।[१] इनमें उदासीसता को शुक्ल जी ने भी व्यभिचारी भाव माना है। इसी परम्परा में रामदहिन मिश्र ने 'काव्य-दर्पण' में 'आशा', 'निराशा', 'पश्चात्ताप', 'विश्वास' तथा 'दया-दाक्षिण्य' और 'सरलता' को संचारियों में गिनने का समर्थन किया है।[२] इनमें 'दया-दाक्षिण्य' और 'सरलता' (आर्जव) का ऊपर रामचन्द्र गुणचन्द्र पहले ही उल्लेख कर चुके हैं। और, आचार्य शुक्ल के 'चपकपाहट' का 'आवेग' में, 'उदासीनता' का 'निर्वेद' में, 'अनिश्चय' का 'शंका' में अन्तर्भाव आचार्य रामदहिन मिश्र ने दिखाया है।[३] हिन्दी के अतिरिक्त और भी कुछ उल्लेखनीय विद्वान्‌ हैं जिन्होंने नवीन संचारी (व्यभिचारी) भावों की उद्‌भावना की है। यथा—डॉ॰ वाटवे ने 'आशा', 'निराशा', 'पश्चात्ताप', 'आश्चर्य' और 'विश्वास' इन पांच व्यभिचारी भावों को खोजा है। आचार्य रामदहिन मिश्र सम्भवतः इनसे ही प्रभावित हैं।[४] इनकी नवीनता और उपयुक्तता का समर्थन श्री जोग भी करते हैं और परम्परागत तेंतीस संचारियों में समाविष्ट कर लेने का सुझाव देते हैं।[५]

संस्कृत-हिन्दी के तथा इतर समीक्षकों द्वारा आविष्कृत इन नवीन संचारियों (व्यभिचारियों) में से अनेक का परम्परागत संचारियों में अन्तर्भाव दिखाना कठिन नहीं है। भरत मुनि द्वारा प्रतिपादित व्यभिचारी संख्या पर्याप्त समृद्ध है और इनके परवर्ती आचार्यों ने भी नवीन व्यभिचारियों की उद्‌भावनाएं की हैं। फिर जब तक प्रत्येक व्यभिचारी भाव का स्वरूप और छाया स्पष्टतः निश्चित नहीं कर ली जाती, तब तक इस प्रकार के प्रयास से विरत रहना ही उचित होगा। यह स्वरूप निर्धारण अगले प्रकरण में किया जाएगा।

इस प्रकार, यद्यपि संचारी (व्यभिचारी) भावों की परम्परित संख्या तेंतीस ही है, और स्थायी भाव भी व्यभिचारी हो सकते हैं; और अनुभाव भी व्यभिचारी हो सकते हैं; इसलिए, इन समस्त आन्तर और बाह्य भावों में आन्तर-भावों को ही संचारियों (व्यभिचारियों) की

---

१. वाङ्मय-विमर्श, पृष्ठ १४७। २. का० द०, पृष्ठ ९१।

३. क० द०, पृष्ठ ९०। ४. रस-विमर्श, पृष्ठ १२९।

५. अभि० का० प्र०, पृष्ठ १०१।

संख्या में गिनकर देखना आवश्यक है। व्यभिचारी भावों की संख्या प्रायः सब आचार्यों ने अनिर्दिष्ट बताई है। परन्तु उपलक्षण से इन्हें ३३ कहा गया है।[1] हमें संचारी (व्यभिचारी) भावों की संख्या की पूर्ण परिमिति को ध्यान में रखने के लिए यह देखना उचित होगा कि मानव जीवन की, मानस शास्त्रानुसार बतायी सब परिस्थितियों को घेर कर, अभिव्यक्ति में उनकी उपादेयता ठहरती है या नहीं, और उन परिस्थतियों को घेरने के लिए कम से कम कितने संचारी (व्यभिचारी) भावों की आवश्यकता है। यों अनन्त और अतिसूक्ष्म व्यभिचारी भावों की गणना करके उपस्थित नहीं किया जा सकता, उनमें से कुछ प्रमुख एवं व्यापक भावों को ही कवि या कलाकार चित्रित करके दिखा सकता है, और दिखाता है।

यहां संक्षेप में मानव जीवन की अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियों का सिंहावलोकन करके उनके सन्दर्भ में इन संचारी (व्यभिचारी) भावों पर दृष्टिपात करेंगे।

मानव जीवन को सामान्य और असामान्य मनोविज्ञान के द्वारा निरखा-परखा जा सकता है। सामान्य मानव के जीवन को परखने के लिए सामान्य मनोविज्ञान की सहायता ली जाती है। मानव के जितने भी प्रयत्न हैं, उनको १—इच्छाजनित, २—द्वेषजनित तथा ३—सामान्य जीवनधारणोपयोगी वर्गों में बांटा जा सकता है।[2] सामान्यतः इनके लिए कुछ प्राथमिक भावों, कुछ अंग-प्रसारक भावों, कुछ अंग संहारक भावों, कुछ बलवर्धक भावों और कुछ ज्ञानात्मक भावों की आवश्यकता है। प्राथमिक भावनाओं तथा अंग-प्रसारक और अंग-संहारक भावों में इच्छाद्वेषपूर्ण प्रयत्न आ जाते हैं। बलवर्धक भाव इनमें उभयस्थ होकर सहायक होते है और ज्ञानात्मक भाव उनमें विशेष अवस्थाओं में स्थिति-स्थापन करते हैं। स्थायी, व्यभिचारी और सात्त्विक भावों की समस्त संख्या इनमें उपयोगी दिखती है।

असामान्यः मानव-जीवन के चित्रण में भी नाट्यशास्त्र के ये व्यभिचारी (संचारी) भाव अत्यन्त उपयोगी दिखते हैं। असामान्य मनोविकृतियुक्त व्यक्ति आधुनिक काल में ही नहीं पाये जाते और न तज्जनित व्याधियां और मनोविकृतियां भी आधुनिक काल में ही देखी जाती हैं, वे आदिम युगों में भी थीं। यह आधुनिक मनोविज्ञानियों ने अपनी शोध द्वारा सिद्ध कर दिया है। यहां इस विषय में एक उद्धरण देना समीचीन लगता है, जिससे लेखक का मनोवैज्ञानिक रोगों के चित्रण में भी इनका उपयोग दिखाना दूरारूढ़ कल्पना न जान पड़े।

'मनोवैज्ञानिक रोग आधुनिक सभ्यता और संस्कृति के ही परिणाम नहीं। इनके लक्षण तथा उपचार के सम्बन्ध में मिश्र, यूनान, रोम और भारत आदि देशों के इतिहास में अत्यन्त प्राचीन काल से ही उल्लेख मिलता है। भारतीय आयुर्वेद शास्त्रीय ग्रन्थों तथा बाइबिल के विवरण से तो यह भी प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में इन रोगों के जो लक्षण होते थे, वही आज भी हैं। आधुनिक युग में भी मनोवैज्ञानिक व्यतिक्रम केवल सभ्य समाज में ही नहीं होते, बल्कि जाति-विज्ञानात्मक अध्ययन के आधार पर यह स्पष्ट हो चुका है कि

---

१. अभि० भा०, और ना० द०।

२. देखिए—'प्रशस्तपादभाष्यम्', प्रयत्न गुण के भेद।

आदिवासियों और असभ्यजातियों में भी मानसिक दुर्बलता, मनोविकृति, मनोस्नायुविकृति और अपराध आदि जैसी असामान्यताएं उसी प्रकार होती हैं, जैसी सभ्य जाति के लोगों में।"[1]

अभियोजन

जब किसी संवेगात्मक आघात अथवा विकलता के कारण मनोवैज्ञानिक संतुलन में विघ्न उपस्थित हो जाता है, तो व्यक्ति विभिन्न प्रकार के सुरक्षात्यक उपायों का आश्रय लेता है।[2] इन उपायों का सामूहिक नाम अभियोजन दिया जाता है।

सामान्य व्यक्ति भी अपनी विकलताओं के प्रभाव को कम करने, आन्तरिक शान्ति बनाये रखने और कष्ट-प्रद अनुभवों के प्रति कुछ हद तक अपना अभियोजन करने के लिए मनोरचनाओं का उपयोग करता है। परन्तु मनोरचनाओं का अतिरजित उपयोग असामान्यता का द्योतक है।

इन उपायों के मनोवैज्ञानिक पक्ष के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार की मनोरचनाएं (मेंटल मेकेनिज्म) आती हैं।

इनमें हैं—१. कल्पना तरंग (फैण्टेसी), दिवा स्वप्न आदि। ३. प्रतिपूर्ति, ३. तादात्म्य (आइडेण्टीफिकेशन), ४. प्रक्षेपण (यह अवहित्था में लिया जा सकता है।), ५. युक्तिकरण (राशनलाइजेशन, यह 'वितर्क' के बहुत समीप है) पराङ्मुखता (इसमें ब्रीडा, भीरुता, एकाकीपन आते हैं जो प्रायः एक ही भाव की विभिन्न छायाएं हैं), ६. पलायन (ना० शा० का 'त्रास'), ७. चुनावपूर्ण विस्मृति (सलेक्टिव फारगेटिंग) यह दो प्रकार से होती है—एक दमन से, दूसरे शमन से। जानबूझकर किसी कष्टप्रद स्मृति को भूल जाना शमन है और अपने आप कोई कष्टप्रद स्मृति स्मरण-क्षेत्र से बहिष्कृत हो जाये तो उसे दमन कहेंगे।[3] (इन दोनों ही अवस्थाओं को ना० शा० के 'अपस्मार' के अन्तर्गत रखा जा सकता है), ८. उन्नयन (सबलिमेशन, यह 'धृति' के अन्तर्गत आ जायेगा), ९. वास्तविकता से बचना (रियलिटी, इवेज़न, यह 'निर्वेद' और 'जड़ता' के द्वारा अभिव्यक्ति किया जा सकता है), १० विपर्यय (डिस्प्लेसमेंट, यह 'मोह' की ही एक अवस्था है) ११. व्याधि आदि तथा १२. किसी वस्तु की प्रतिक्रिया का निर्माण (यह व्यक्तिगत स्वभाव से युक्त 'उग्रता' में डाला जा सकता है)।

द्वन्द्वात्मक अवस्थाएं

अनेक परस्पर विरोधी इच्छाएं अथवा प्रेरणाएं उत्पन्न होकर मानसिक सन्तुलन नष्ट कर सकती हैं। इस प्रकार द्वन्द्वात्मक अवस्था में व्यक्ति अनिर्णय और किसी प्रकार के व्यवहार करने न करने के सोच-विचार में (किंकर्त्तव्यविमूढ़ता) में पड़ जाता है। जितनी देर

---

१. 'असामान्य मनोविज्ञान', पृष्ठ १४६ (प्रका० चौखंभा), विद्याभवन, वाराणसी, १९६०सं०)
२. 'असामान्य मनोविज्ञान', पृष्ठ ८१। ३. वही, पृष्ठ ९०।

तक अनिर्णयात्मक स्थिति रहेगी, व्यक्ति की दशा तनावपूर्ण होती जायेगी। अन्ततोगत्वा, कभी **'विवेकपूर्ण'** और कभी **'आवेगात्मक'** निर्णयों द्वारा यह गत्यवरोध समाप्त हो जाता है। अधिकांश द्वन्द्वात्मक स्थितियों में व्यक्ति इसी पद्धति द्वारा अपनी प्रेरणाओं का समाधान कर लेता है। इन अवस्थाओं को ही रस-शास्त्र में **भाव-सन्धि, भाव-शान्ति, भावोदय** द्वारा बताया गया है।

परन्तु कुछ व्यक्तियों में अपने द्वन्द्वों का इस प्रकार समाधान कर लेने की क्षमता नहीं होती। ऐसे लोग या तो विभिन्न प्रयासों द्वारा सभी परस्पर विरोधी इच्छाओं की प्रतिपूर्ति का निष्फल प्रयत्न करते हैं अथवा दीर्घकाल तक अनिश्चितावस्था में बने रहते हैं। बिहारी ने अपने इस दोहे में ऐसी ही तनावपूर्ण अवस्था और अनिश्चयजन्य आकुलता का सुन्दर वर्णन किया है,

पिय बिछुरन को दुसह दुख, हर्ष जात प्यौसार।
दुर्योधन लों देखियत तजत प्रान यहि बार॥

दोनों ही प्रकार की प्रतिक्रियाएं—असफल प्रयास या अनिश्चयावस्था—व्यक्ति में असामान्यता (एवनार्मलिटी) उत्पन्न कर सकती हैं। विफलता (फ्र.स्ट्रेशन) के कारण हैं—प्रतिस्पर्धा, महत्त्वाकांक्षा, सामाजिक बाधाएं, ईति, भयादि।[1]

विफलता की प्रतिक्रिया तीन प्रकार से होती है—१. प्रयत्नवृद्धि से, २. प्रयत्न के रूप में परिष्कार से, तथा ३. अभीष्ट में परिवर्तन से।

इनसे भी असफलता प्राप्त होने पर व्यक्ति में हीनभावना (दैन्य), परनिन्दा (असूया), शंका द्वेष, पराङ्मुखता (निर्वेद), गर्व, चिन्ताशीलता, वितर्क आदि उत्पन्न हो जाते हैं।

द्वन्द्वों, विफलताओं अथवा हीन-भावनाओं का उत्तम समाधान सदैव उपलब्ध नहीं होता। ऐसी स्थिति में व्यक्ति या तो स्थायी रूप से तनावपूर्ण स्थिति में विषमयतया अभियोजित (माल-एडजेस्टेड) तथा अपर्याप्तता की भावना से संत्रस्त बना रह सकता है अथवा अचेतन मनोरचनाओं द्वारा आंशिक संतोष प्राप्त करने का यत्न करता है। (भावशवलता की अवस्था)। कुछ प्रमुख मनोरचनाओं के नाम इस प्रकार हैं—कल्पनातरंग, प्रतिपूर्त्ति, तादात्म्य, प्रक्षेपण, युक्तिकरण, और उन्नयन।[2]

शरीर रचनागत सीमाओं, व्यक्तित्व-गठन, अथवा स्नायु-दैहिक दोषों के कारण कुछ व्यक्ति अपना व्यवस्थित एवं प्रभावशाली अभियोजन कर सकने में असमर्थ होते हैं। जीवन की समस्याओं के प्रति उनका दृष्टिकोण अस्त-व्यवस्त, आवेगात्मक, और अपर्याप्त होता है।

---

१. देखिए—असामान्य मनोविज्ञान, पृष्ठ ७१-७३।
२. 'असामान्य मनोविज्ञान', अध्याय ४।

आन्तरिक संतुलन बनाये रखने के लिए ऐसे लोग कुछ रक्षात्मक और पलायनवादी उपायों का आश्रय लेते हैं, जिनके अन्तर्गत व्यामोह, अवस्तुबोधन (दोनों ही ना० शा० की दृष्टि से मोह के अंग हैं) परावर्तन (मिला० चापल्य) मनोवैज्ञानिक अक्षमता (मिला० ग्लानि) स्मृति-ह्रास (मिला० अपस्मार), विचारभ्रष्टता (मिला० वितर्क आदि) और अनेक असामान्य प्रतिक्रियाएं आ जाती हैं।

संवेगात्मक व्यक्तिक्रम

सामान्य व्यक्तियों की भांति मानसिक रोगियों की संवेगात्मक प्रतिक्रियाओं का भी उनकी आवश्यकताओं, अन्तर्द्वन्द्वों और अभियोजन से घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। मानसिक रोगियों में लक्षित होने वाले रागात्मक व्यक्तिक्रम के अन्तर्गत आकुलता (एंजाइटी, मिला० चिन्ता+औत्सुक्य), विषाद (डिप्रेशन), विरक्ति (अपैथी, मिला० निर्वेद) और अतिरंजित आह्लाद (हर्ष) प्रमुख होते हैं।

विषज आंगिक प्रतिक्रियाओं में, चेतना का धूमिल होना (=मोह), व्यग्रता, संवेगात्मक अस्थिरता (=चापल्य), विमूढ़ता (स्ट्रपर=जड़ता) प्रमुख होते हैं। इनमें थकान (मिला० श्रम), शक्तिह्रास (मिला० ग्लानि) और चिन्ता भी कारण होते हैं।

मनोस्नायु-विकृतियां[1]

संवेगात्मक व्यतिक्रम और मानसिक द्वन्द्व के कष्टतर अनुभव पूर्वप्रवत्यात्मक तत्त्वों को उद्दीप्त करके प्रकट कर देते हैं। इनसे उन्माद (समस्त भेदों सहित), आकुल अवस्थाएं (=आधियां) और भय आदि उत्पन्न हो जाते हैं।

मनोविकृतियां

मनोविकृत्ति उस गम्भीर स्थिति को कहते हैं जिसमें मानसिक सांवेगिक क्रियाओं के बिलकुल अस्त-व्यस्त हो जाने के कारण व्यक्ति अपनी देख-रेख की शक्ति तथा सामाजिक अभियोजन सर्वथा खो बैटता है।[2] मनोविकृतियों के दो भेद हैं—

१. **क्रियात्मक व्यतिक्रमयुक्त मनोविकृतियां**

इनमें प्रमुख हैं—(१) मनोविकलता, (२) उत्साह-विषाद मनोविकृति, (३) स्थिर व्यामोह, (४) नष्टार्तवकालीन अवसाद। इनके कारण हैं—प्रतिकूल शरीर रचना, जीवन के प्रतिकूल अनुभाव आदि।

२. **मानसिक व्याधियां**

ये आंगिक अथवा विषज विकृति से प्रत्यक्षतः सम्बन्धित अथवा उनके कारण होती हैं। ये विषज-आंगिक मनोविकृतियां कहलाती हैं। इनमें मुख्य हैं—

---

१. वही, अध्याय ८।
२. देखिए, 'असामान्य मनोविज्ञान', **अध्याय १३**, पृष्ठ २६८।

(१) जरामनोभ्रशंता, (२) मस्तिष्क धमनी काठिन्ययुक्त मनोविकृति, (३) मद्यज मनोविकृति।

इन सबको ना० शा० में 'व्याधि', जिनमें 'अधि' भी है, के अन्तर्गत रखा गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ये व्यभिचारी (संचारी) भाव सामान्य और असमान्य व्यक्ति तथा उनके सरल तथा जटिल दोनों प्रकार के शारीरिक-मानसिक सहायों को और कर्मों को चित्रित करने में समर्थ हैं और मानव-जीवन को समग्रतया घेरकर विविध आभिमुख्य से उसे 'रस' निष्पति की ओर ले जाते हैं।

संचारी (व्यभिचारी) भावों का वर्गीकरण

संचारी (व्यभिचारी) भावों के वर्गीकरण का प्रयत्न प्राचीन परम्परा में भी हुआ है और नवीन परम्परा में भी। चित्तवृत्ति द्विविध रूप है। प्रवृत्ति-मूलक और निवृत्तिमूलक। अतः समस्त भावों के साथ व्यभिचारी भाव भी प्रवृत्ति और निवृत्ति मूलक दो भागों में बांटे जा सकते हैं और फिर प्रवृत्ति-निवृत्तिमूलक (उभयात्मक) व्यभिचारी भाव भी हो सकते हैं, यथा निर्वेद, मति स्मृति, धृति आदि। सुख-दुःखात्मकता के विचार से भी इनके दो विभाग किए जाते हैं, जो प्रवृत्ति-निवृत्ति के ऊपर ही आधारित हैं।

काम-अर्थ-धर्म-मोक्ष इस चतुर्वर्ग को घेरते हुए मानवीय कार्य-कलाप भारतीय दृष्टि से देखे जाते हैं, जिनकी तीन एषणाएं, वित्त—पुत्र—लोक एषणाएं, ठहराई गई हैं। वित्तैषणा से तात्पर्य समस्त आत्मसुख को घेरकर व्यापक रूप में ग्रहण किया जाना चाहिए।[1] पुत्रैषणा से आत्मरक्षक प्रवृत्ति स्वीकार की जाती है[2] और लोकैषणा का आधुनिक मानसशास्त्र में परम अहं के रूप में विवेचन होता है।[3] मनुष्य की यह उदात्त प्रवृत्ति है जो उसे कीर्ति का इच्छुक, धर्म और नीति का परिपालक तथा इहलोक और परलोक का साधक बनाती है। पहली दो एषणाएं सामान्य-मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन को घेरकर चलती हैं तो तीसरी उसके 'स्व' को लगाम लगाती है और उसे वश में रखती है तथा उसके 'स्व' मात्र से भिन्न बाह्य जगत-सम्बन्ध का नियमन करती है।

समस्त भावों को रामचन्द्र गुणचन्द्र ने जड़-अजड़ दो भागों में विभाजित किया है। अर्थात् समस्त भाव चेतन-अचेतन स्वरूप हैं। इनमें स्थायि-भाव केवल 'चेतन स्वरूप' है।

---

१. फ्रायड ने केवल काम-वासना (यौन-तृप्ति) पर ही बल दिया था।

२. बाद के ग्रन्थों में फ्रायड ने संशोधन करके मृत्यु से भय को भी स्थान दिया। यही आत्म-रक्षार्थक-एषणा वास्तव में पुत्रैषणा है 'पुत्र' की व्युत्पत्ति का भावार्थ है, पुन्नाम नरक से त्राण करने वाला। पुंस धातु का अर्थ 'कष्ट-पीड़ा देना' आदि है।

३. मनोविश्लेषण सिद्धान्त में यह 'परम अहम्' पहरेदार की तरह बताया गया है—देखिए—मनोविज्ञान का इतिहास, पृष्ठ २१९-२२०।

निर्वेदादि व्यभिचारी भाव हैं अजड़ (ज्ञानरूप होने से) और व्याधि आदि रूप व्यभिचारी भाव जड़ात्मक (शरीर धर्म होने से) होते हैं।[१]

यहाँ पर 'ज्ञान' और 'चेतना' पर भी विचार करना समीचीन होगा। आधुनिक मानस शास्त्र ज्ञान (बुद्धि आदि) को चेतन से पृथक् स्वीकार करना है। भारतीय 'दर्शन' में भी इन पर विचार किया गया है। न्यायशास्त्र के अनुसार 'ज्ञान' चेतन आत्मा का गुण है, और चेतन से पृथक् उसका अस्तित्व स्वीकार किया गया है। नैयायिक गुण और गुणी का भेद अर्थात् ज्ञान और आत्मा का भेद मानते हैं परन्तु वेदान्ती गुण और गुणी का भेद नहीं मानते हैं। इसलिए उनके मत में 'ज्ञान' चेतन का गुण नहीं चेतन-स्वरूप ही है। इस सिद्धान्त से ही प्रभावित होकर नाट्यदर्पणकार ने समस्त स्थायिभावों को ज्ञान-स्वरूप होने से चेतन ही माना है और धैर्यादि रूप (मानस) अनुभावों को अजड़ तथा स्वेदादि रूप (शारीरिक) अनुभावों को जड़ात्मक माना है और निर्वेदादि (ज्ञानरूप) व्यभिचारी भावों को अजड़ तथा व्याधि आदि (शरीर धर्म होने से) जड़ माने गए हैं। अतः इनके मत में ये अजड़ (ज्ञानरूप, चेतन) तथा जड़ (अचेतन) होते हैं।

भाव-प्रकाशकार ने सांख्यकारिका का आधार लेकर विस्तार में जाकर इनकी कारण-कार्य से क्रियादि पर विचार किया है। उनके मत को यहां ज्यों का त्यों अनुवाद करके उपस्थित करना समीचीन होगा।

"आत्मा के दो भेद हैं। संविद्-प्रकाशानन्दात्मा और अहंकाराभिमानात्मा। संविद् (ज्ञान) प्रकाश और आनन्दस्वरूप आत्मा स्वानुभूति से जानी जाती है और अहंकाराभिमान-स्वरूप आत्मा बाह्यार्थों (रूप-रस-गंध-स्पर्श-शब्द तथा बाह्य प्रपंच) में प्रकाशित होती है। अब अहंकाराभिमानादि का स्वरूप कहा जाता है। परमात्मा की ज्ञान-प्रभा, आनन्द-प्रभा, क्रिया-प्रभा दिखायी देती है। ज्ञान-प्रभा से चैतन्य मणि जीव की शरीर व्यापिनी व्यापना सर्वतः फूटती है। परमात्मा की वही सब वस्तुओं में उत्थित चेतना होती है और जीवों में (पुरुषों में) समूचे रूप में आनन्दप्रभासा भी है। वही अभिव्यक्त होती हुई उनमें सुख-विषयक होती है। क्रिया-प्रभा प्राण होती है और वह देहों में प्रवर्तित होता है। ज्ञान-प्रभा और आनन्दस्वरूपा से 'सत्त्व' से उत्तम शक्ति होती है जो मनोमय-विज्ञानमय-आनन्दमय कोषों की अधिष्ठाता कही जाती है। ये कभी मिले और कभी पृथक् रहते हैं। सत्त्व विशाल है उसके उदर में रजोगुण की स्थिति है। रजोगुण के उदर में तमोगुण की स्थिति कही जाती है। आत्मा के उदर में मन की स्थिति है जिससे वे सम्मिलित और फिर नैरन्तर्य से भी जाने जाते हैं। सत्त्व के मध्य-आसपास रजोगुण और उसके मध्य-आसपास तमोगुण कहा जाता है। तन्मात्राओं के साथ पंचभूत, दस ज्ञानेन्द्रिय और दस कर्मेन्द्रियों सहित उभयात्मक (कर्म और ज्ञानात्मक) मन है जो अहंकार से युक्त है। जो तन्मात्राएँ हैं उनकी विकृतियाँ दस इन्द्रियाँ

---

४. देखिए—ना० द०, कारिका ११०, पृष्ठ ३०४।

कही जाती हैं। अकेले अहंकार की विकृति मन है। प्रकृति की विकृति होती है 'महतत्त्व' (बुद्धि) उसकी भी त्रिधा विकृति होती है। सात्त्विकी, राजसी और तामसी। विषयों को निश्चय करने वाली को 'बुद्धि' कहते हैं जो अपने अंशों से (व्यष्टि में उसके अंश पांच विज्ञानेन्द्रियां हैं) सब जीवों की उपकारिका है। ये पांचों ज्ञानेन्द्रियाँ विषय के तद्वद् आलोचन आदि में सहायक हैं। और मन भी उसकी सहायता वैसे-वैसे संकल्प से करता है।

अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) अवभास को आलोचन कहते हैं और परोक्ष (अप्रत्यक्ष) अवभास को संकल्प कहते हैं। मन अहंकार और अभिमान से संकल्प द्वारा महत् विकृति-बुद्धि का उपकार करता है और ज्ञाता-ज्ञेय सम्बद्ध से देश-काल का निबन्धन करता है। 'मेरा है' ऐसा जो भाव है, उसका ग्रहण ही 'अभिमान है' क्रिया का हेतुभूत होने से 'राजसी' महत्-विकृति प्राण कही जाती है, जो अपने अंशों (पंच प्राणों—उदान, व्यान, समान, प्राण, अपान) से जीवों की चेतना (चित्तवृत्ति) में स्थित होकर उनका उपकार करता है। मन, समस्त कर्मेन्द्रियों के अपने-अपने विषयों में "मैं करूँ" आदि संकल्प से, उसकी सहायता करता है। तामसी विकृति सृष्टि की अवस्था में सतत परिणाम से काल होती है। उसके भी परिणाम क्षणादि हैं और उससे ही सब जीवों का परिणाम प्रवृत्त होता है। वह काल 'स्पन्दरूप' से सब पदार्थों को 'परिणामयित' करता रहता है। और वेत्ता को, वित्ति को वेद्य को (=ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय को) अनुगृहीत करता है। अहंकार के भी, सत्त्वादिगुण-भेद से, तीन भेद होते हैं। सत्त्वादि गुण भेद से सात्त्विक वैकारिक इन्द्रियादि हैं, वह इन्द्रिय-प्रकृति होता है। भूतादि तामस हैं, शब्दादि तन्मात्राएँ उसकी प्रकृति हैं। राजस और सात्विक (तेजस्) का वह भी उपकार करता है। अहंकार की जो वृत्ति है उसे अभिमान कहा जाता है। वह अभिमान-स्वरूप वृत्ति (क्रिया-दशा) उन-उन इन्द्रियों में गोचर होती है जो बाह्यार्थों (रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द आदि बाह्य प्रपंच) को आलम्बन बनाती हुई शृंगारादि रसात्मकता को पहुंचती हैं और विभादि के भेद से भेदमयी होती हैं। विभाव अपने स्थायिभाव में उत्पन्न सत्त्वानुभाव और व्यभिचारियों का आश्रय पाकर ललित हो जाते हैं।"[१]

उपर्युक्त विवेचन से 'महत्तत्त्व' अहंकार की ही सृष्टि है। जो त्रिधा-सात्त्विक राजसी और तामसी है। सात्त्विक+राजस से दशेन्द्रियां और मन की सृष्टि होती है तथा राजस+तामस से पंच तन्मात्राओं की सृष्टि होती है और इन पंच-तन्मात्राओं से पंचभूतों की सृष्टि होती है। मूल प्रकृति 'अविकृति' है किसी की विक्रिया नहीं है। परन्तु महत्तत्त्व, अहंकार और पंचतन्मात्राएं ये सात प्रकृति-विकृति हैं। प्रकृति भी हैं (अर्थात् किसी को उत्पन्न भी करती हैं) और विकृति अर्थात् किसी से स्वयं भी उत्पन्न हैं। त्रिगुणात्मक होने से प्रकृति भी त्रिधा है। सत्त्व का गुण प्रकाश, ज्ञान और आनन्द है; रजस् चल (चंचलतापूर्ण), इष्ट (रागपूर्ण) और उपष्टंभक (संघर्षी) है; तथा तमस् प्रमाद, आलस्य और निद्रा और अज्ञान से परिपूर्ण है।

अतः समस्त भावों को सांख्य के अनुसार त्रिधा, सात्त्विक, राजस और तामस में

१. देखिए, भा० प्र०, २ अधिकार।

विभाजित किया जाना युक्त है। ज्ञानात्मक, आनन्दात्मक, प्रकाशात्मक जितने भाव हैं, यथा निर्वेद, विबोध, मति, हर्ष. स्मृति, धृति आदि 'सात्त्विक' हैं और जितने रागात्मक चांचल्य और संघर्ष उपस्थित करने वाले भाव हैं वे 'राजस' हैं ; यथा—रति, चपलता, असूया, अमर्ष आदि। जो मोहात्मक, आलस्यात्मक और निद्रात्मक भाव हैं, वे सब 'तामस' हैं। जैसे, निद्रा, मोह, जड़ता और अपस्मार आदि।

इन त्रिगुणों का सम्मिलित और नैरन्तर्य सम्बन्ध भी है और ये पृथक्-पृथक् भी अवभासित होते हैं। अतः ऊपर लिखे गए विशिष्ट-विशिष्ट गुण की अधिकता से वह-वह नाम उसे प्राप्त होता है।

उपयोग के अनुसार पृथक्त्व और सम्मिलन की दृष्टि से भी व्यभिचारियों (संचारियों) के भेद किए गए हैं। वे द्विविध हैं—स्वतन्त्र और परतन्त्र। परपोषकता को प्राप्त भाव परतन्त्र होते हैं और उसके अभाव में अर्थात् जो परपोषक नहीं होते, वे स्वतन्त्र होते हैं। यथा—'क्रोध' का अंग 'निर्वेद' परतन्त्र है और 'निर्वेद भाव ध्वनि' स्वतन्त्र है। इसी प्रकार 'श्रृंगार' का पोषक 'विषाद' परतन्त्र है और 'विषाद भाव ध्वनि' स्वतन्त्र है।[1]

दो पूर्वापर भावों की शान्ति (नाश) और उदय (उत्पत्ति) की तथा दो तुल्य भावों की सन्धि (मिश्रण) का और अनेक परस्पर विरोधी और उदासीन भावों के व्यामिश्रण की अवस्थाओं को भी दृष्टि में रखकर उनका वर्गीकरण किया जाता रहा है जो आनन्द-वर्धनाचार्यादि का सर्वमान्य और बहु-समीक्षित वर्गीकरण है। इनको क्रमशः भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि और भावशवलता नाम दिया गया है। भावों के बाह्य और आन्तर—बाहर दिखने वाले और भीतर ही मन की चित्तवृत्ति—दो भेद रसतरंगणीकार भानुदत्त ने किए हैं।[2] सात्त्विक भावों को उन्होंने बाह्य-भावों में शेष को आन्तर-भावों में वर्गीकृत किया है।

भावों का एक प्राचीन दार्शनिक स्तर का वैज्ञानिक वर्गीकरण भी प्राप्त है। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने असंग के दर्शन के विवेचन में उनकी योगाचार-भूमि का संक्षिप्त परिचय दिया है। उसमें असंग ने भावों को दो वर्गों में विभाजित किया है। योगाचार भूमि के अन्तर्गत 'मनभूमि' में उन्होंने 'मन के सहाय' तथा 'मन के कर्म' के अन्तर्गत इनका संक्षिप्त परिचय दिया है। नाट्य के रस-शास्त्रीय भावों में तथा उनके दिए कुछ भावों में विस्मयकर सादृश्य है। उन्हें यहां ज्यों का त्यों उद्धृत किया जाता है।

(सी) आलम्बन—मन का आलम्बन (विषय) पांचों इन्द्रियों के पांचों विज्ञान—जिन्हें धर्म भी कहा जाता है—हैं।

---

१. र० सु० द्वितीय विलास, पृष्ठ १४०-१४१।

२. देखिए—र० त०, प्रथम तरंग।

(डी) सहाय—मन के सहाय (साथी) बहुत हैं,[१] जिनमें से कुछ हैं—मनस्कार, स्पर्श, **संज्ञा, चेतना, स्मृति, प्रज्ञा, श्रद्धा, लज्जा,** निर्लज्जता, अलोभ, अद्वेष, अमोह, पराक्रम, उपेक्षा, अहिंसा, राग, **सन्देह, ईर्ष्या,** शठता, हिंसा आदि चैतसिक धर्म।

(इ) कर्म—पहिला है अपने पराये विषयों सम्बन्धी क्रिया जो कि क्रमशः ६ आकारों में प्रकट होती है—(१) मन की प्रथम क्रिया विषय के सामान्य स्वरूप की विज्ञप्ति, (२) फिर उसके तीन कालों की विज्ञप्ति, (३) फिर क्षणों के क्रम की विज्ञप्ति, (४) फिर प्रवृत्ति या अनुवृत्ति शुद्ध-अशुद्ध धर्म-कर्मों की विज्ञप्ति, (५) फिर इष्ट-अनिष्ट फल का ग्रहण, (६) दूसरे विज्ञान-समुदायों (चेतना-समुदायों) का उत्थापन। दूसरी तरह लेने पर मन के विशेष (वैशेषिक) कर्म होते हैं—(१) विषय की विकल्पना, (२) विषय का उपनिध्यान (चिन्तन), (३) मद में होना, (४) उन्माद में होना, (५) निद्रा में जाना, (६) जागना (विबोध), (७) मूर्च्छा खाना (प्रलय), (८) मूर्च्छा से उठना, (९) कायिक-वाचिक कर्मों को करना, (१०) वैराग्य करना,[२] (११) वैराग्य छोड़ना. (१२) भलाई की जड़ों को काटना, (१३) भलाई की जड़ों को जोड़ना, (१४) शरीर छोड़ना (मरण), (१५) शरीर में आना (उत्पत्ति)।

इन कर्मों में से कुछ के होने के बारे में असंग कहते हैं—

पुरबिले कर्मों से अथवा शरीरधातु की विषमता, भय, मर्मस्थान में चोट और भूत-प्रेत के आवेश से उन्माद (पागलपन) होता है।

शरीर की दुर्बलता, परिश्रम की थकावट, भोजन के भारीपन आदि कारणों से निद्रा होती है।[३]

वातपित के बिगड़ जाने, अधिक मल-त्याग और खून के निकलने से मूर्च्छा होती है।[४]

ऊपर दिये मन के सहाय (साथी) और मन के कर्मों में भी समस्त भावों का वर्गीकरण किया जा सकता है। यह तो स्पष्ट ही है कि आधुनिक मनोविज्ञान में भाव न स्वीकार किये जाने वाले कुछ भाव भी, यथा मरण, उन्माद, मद, निद्रा आदि भी मन के कर्म

---

१. इनमें संज्ञा को बोध, प्रज्ञा को मति, पराक्रम को उत्साह, उपेक्षा को गर्व, सन्देह को शंका, ईर्ष्या को असूया, हिंसा को उग्रता के समकक्ष सहज ही माना जा सकता है।

२. वैराग्य करना, निर्वेद माना जा सकता है।

३. भरत मुनि के 'निद्रा' के लक्षण से मिलाइए।

४. द० दि०, पृष्ठ ७२०-२१ से उद्धृत।

अर्थात् मनोवृत्ति में भारतीय चिन्तन में बहुत पहले से परिगणित हैं। 'योगाचर भूमि' के प्रकाश में उन पर स्वतन्त्र रूप से शोध किया जाए तो भारतीय मनोशास्त्र उपस्थित होगा।

आचार्य शुक्ल ने परम्परागत तेंतीस व्यभिचारी भावों को पांच वर्गों में विभक्त किया है। कुछ नये नये व्यभिचारी भावों की भी उद्भावना उन्होंने की है—उन्हें भी इन्हीं वर्गों के अन्तर्गत रखा है। इनके पांच वर्ग और तदन्तर्गत संचारी (व्यभिचारी) भाव निम्नलिखित प्रकार से हैं—

१. स्वतन्त्र विषययुक्त भाव :

तीन—गर्व, लज्जा (ब्रीड़ा), असूया।

प्रस्तुत तीनों संचारी (व्यभिचारी) भाव मनोविकार हैं। इनके विषय प्रधान भाव के आलम्बन से स्वतन्त्र हो सकते हैं इनमें इनके कारणों की ओर जितना ध्यान रहता है उतना इनके विचारों की ओर नहीं रहता। इनके विषय आलम्बन पद को प्राप्त नहीं होते क्योंकि इन संचारियों (व्यभिचारियों) में कारण विषयगत नहीं होता, आश्रयगत होता है।[1]

२. मन के वेग

सात—आवेग, अमर्ष, अवहित्था, औत्सुक्य, त्रास, हर्ष और विषाद।

ये संचारी (व्यभिचारी) भाव स्वतन्त्र रूप में बहुत कम आते हैं। अधिकतर किसी भाव के कारण उत्पन्न होकर उसी के अन्तर्गत उद्भूत और विलीन होते हैं। जैसे—भय, आश्चर्य, हर्ष आदि के कारण आवेग, लज्जा (ब्रीड़ा) के कारण अवहित्था, रति के कारण औत्सुक्य, शोक-दुःख आदि के कारण ग्लानि आदि साथ-साथ उत्पन्न होते हैं। अतः शुक्लजी ने इन्हें मनोवेगों के अन्तर्गत रखा है।[2]

३. अन्तःकरण वृत्तियां

इनमें पांच परम्परागत हैं—शंका, स्मृति, मति, वितर्क और चिन्ता तथा तीन नवीन उद्भावित हैं—आशा, निराशा और विस्मृति।

मराठी के डॉ वाटवे की भांति आचार्य शुक्ल ने भी शंका, स्मृति, मति, वितर्क और चिन्ता इन पांचों अन्तःकरण वृत्तियों को धारणा या बुद्धि के व्यापार स्वरूप ही माना है। इनके मत में काव्य में इनका ग्रहण यहीं तक समझना चाहिए जहां तक वे प्रत्यक्ष रूप में भावों के द्वारा प्रेरित प्रतीत हों। अन्यथा यों ही प्रसंग आने पर कोई बात सोचने लगना या किसी बात का स्मरण करना काव्यान्तर्गत न होगा। प्रत्यक्ष रूप में कहने का अभिप्राय यह है कि भाव प्रधान रूप से परिपुष्ट हो जिससे श्रोता या दर्शक का ध्यान भाव पर रहे, इन अन्तःकरण व्यापारों और इनके व्योरों पर नही।[3]

---

१. र०, मी०, पृष्ठ २०७-२०८।
२. वही, पृष्ठ २०८। ३. र० मी०, पृष्ठ २११।

४. **मानसिक अवस्थाएं**

इनमें बारह परम्परागत हैं—दैन्य, मद, जड़ता, उग्रता, मोह, स्वप्न, अलसता, (आलस्य), उन्माद, चपलता, निर्वेद, धैर्य और ग्लानि। चार नवीन उद्भावित हैं—मृदुलता, सन्तोष, असंतोष और अधैर्य।

वे अलसता का बहिष्कार भी करने के पक्ष में हैं। मानसिक अवस्थाओं के भी शुक्लजी ने दो वर्ग किए हैं, (क) प्रकृतिगत तथा (स) आगन्तुक।

शुक्लजी के शब्दों में—

"आगन्तुक रूप में ही वे व्यभिचारो भाव होते हैं क्योंकि उनका किसी भाव के कारण प्रकट होना स्पष्ट रहता है। किसी मानसिक अवस्था की एक स्थिर-प्रणाली का प्रकृतिस्थ हो जाना चाहे मूल में किसी भाव के कारण ही हो, पर अभिव्यक्ति काल में उस भाव के साथ उस अवस्था का प्रत्यक्ष सम्बन्ध न दिखायी देने से वह स्वतन्त्र ही कहा जाएगा। इस प्रकार की प्रकृतिगत मानसिक अवस्थाएं रस की बंधी लीक पीटने वाले फुटकरिये कवियों के काम की चाहे न हों, पर चरित्र-चित्रण में बड़े मतलब की हैं, क्योंकि स्वतन्त्र होकर ये मानसिक अवस्थाएं शील का रूप ग्रहण कर लेती हैं। जैसे दुष्ट की उग्रता, बालकों की चपलता, ज्ञानियों की धीरता आदि उनके प्रकृतिगत भाव हैं।"[१]

५. **शारीरिक अवस्थाएं**

ये छः हैं—श्रम, अपस्मार, मरण, निद्रा, विबोध और व्याधि। इस वर्ग में शुक्ल जी ने नवीन भाव की उद्भावना नहीं की हैं। डॉ० वाटवे ने इस वर्ग के व्यभिचारी भावों को शारीरिक अवस्था रूप मानकर इनको अलग कर देना आवश्यक समझा है। शुक्लजी के मत में 'भाव द्वारा समुपस्थित शारीरिक अवस्था का ग्रहण संचारियों के अन्तर्गत इसलिए हुआ है कि उनमें भी भाव की तीव्रता या व्यापकता के अनुभव में सहायता मिलती है। जो शारीरिक अवस्था किसी भाव के प्रभाव से नहीं उपस्थित हुई, यों ही अन्य प्राकृतिक कारणों से उपस्थित हुई है, उसे भाव के संचारियों में नहीं ले सकते।"[२]

इस वर्गीकरण के अतिरिक्त शुक्ल जी ने विरोध तथा अविरोध के विचार से भी व्यभिचारी भावों का निम्नलिखित प्रकारों से विभाजन किया है—

१. **सुखात्मक वर्ग में**

नौ—गर्व, औत्सुक्य, हर्ष, आशा, मद, संतोष, चपलता, मृदुलता, धैर्य (धृति)।

२. **दुःखात्मक वर्ग में**

अठारह—लज्जा—(व्रीड़ा), असूया, अमर्ष, अवहित्था, त्रास, विषाद, शंका, चिन्ता, नैराश्य, उग्रता, मोह, अलसता, उन्माद, असंतोष, ग्लानि, अपस्मार, मरण, व्याधि।

---

१. र०मी०, पृष्ठ २१७। २. र० मी०, पृष्ठ २३०-२३१।

३. **उभयात्मक वर्ग में**

सात—आवेग, स्मृति, विस्मृति, दैन्य, जड़ता, स्वप्न, चित्त की चंचलता (चापल्य)।

४. **उदासीन वर्ग में**

पांच—वितर्क, मति, श्रम, निद्रा, विवोध।

शुक्लजी के शब्दों में "सुखात्मक भावों के साथ सुखात्मक संचारी और दुःखात्मक भावों के साथ दुःखात्मक संचारी अविरुद्ध होंगे। इसी प्रकार सुखात्मक के साथ दुःखात्मक संचारी और दुःखात्मक के साथ सुखात्मक संचारी विरुद्ध होंगे। उभयात्मक संचारी सुखात्मक भी हो सकते हैं और दुःखात्मक भी। जैसे 'आवेग', 'हर्ष' में भी हो सकता है और 'भय' में भी।"[१] ऊपर बताए चौथे वर्ग 'उदासीनता' के संचारियों की विशेषताओं तथा उसके पृथक् वर्गीकरण करने की आवश्यकताओं का शुक्लजी ने विवेचन नहीं किया है। इस वर्ग के पांच संचारियों में, उनके द्वारा पहले वर्णित दो 'मति' और 'वितर्क', अन्तःकरण वृत्तियां, ज्ञानात्मक वा बौद्धक अवस्थाएं हैं। शेष तीनों 'श्रम, निद्रा, विबोध', शारीरिक अवस्थाएं हैं। इनमें मति और वितर्क का भी तो उभयात्मक वर्ग में सहज ही समावेश किया जा सकता है, इनमें कोई असंगति प्रतीत नहीं होती, क्योंकि अन्ततः ये सभी दुःखात्मक या सुखात्मक भाव की व्यंजना करने के ही साधन हैं अथवा सुखात्मक और दुःखात्मक भावों से ही उत्पन्न होते हैं। अतः व्यभिचारी (संचारी) भावों का पृथक् 'उदासीन' वर्ग बनाना विशेष उपादेय प्रतीत नहीं होता, फिर उदासीन होने पर वे भाव के अंग कहां रह जाते हैं। किसी भाव के उत्पन्न न होने या किसी भाव को उत्पन्न न करने पर अथवा अंग न रहने पर तो वे संचारी (व्यभिचारी) भावों की कोटि में ही जैसा कि ऊपर बताया गया है, नहीं आ सकते।

डॉ राकेश गुप्त ने मनोविज्ञान के अनुसार समस्त व्यभिचारी भावों[२] की छानबीन करके उन्हें निम्नलिखित वर्गों में विभाजित किया है—[३]

१. मनोविकार
२. अमनोविकारात्मक अनुभूतियां
३. शारीरिक संवेदन, अनुभाव
४. जो न भाव हैं न अनुभूति।

हिन्दी से इतर कुछ अन्य विद्वानों ने भी व्यभिचारी भावों के व्यापक वर्गीकरण का प्रयत्न किया है, यथा डॉ के० ना० वाटवे ने अपने वर्गीकरण में पाश्चात्य मानस-शास्त्र की प्राथमिक तथा संमिश्र वर्गीकरण की प्रणाली को आधार बनाकर उनका विभाजन

---

२. वही, पृष्ठ २००।
२. समस्त स्थायीभावों को उन्होंने मानसिक अवस्थास्वरूप माना है।
३ सा० स्ट० र०, द्वितीय चेप्टर।

किया है और समस्त संचारी (व्यभिचारी) भावों को विभिन्न छः वर्गों में निम्नलिखित रीति पर विभाजित किया है—

१. शारीरिक अवस्था के प्रदर्शक

१. ग्लानि, २. मद, ३. श्रम, ४. आलस्य, ५. जड़ता, ६. मोह, ७. निद्रा, ८. सुप्त, ९. अपस्मार, १०. प्रबोध, ११. व्याधि, १२. उन्माद, १३. मरण।

२. भावनाओं की तीव्रता

१. चपलता, २. आवेग, ३. उग्रता

३. प्राथमिक भावना

१. शंका, २. अमर्ष, ३. त्रास, ४ गर्व।

डॉ वाटवे के मतानुसार, इस वर्ग के व्यभिचारी भाव पर्याय भेद से स्थायी भाव ही ठहरते हैं। 'शंका' या 'त्रास' का अर्थ ही 'भय' है। इसमें अधिक से अधिक यही अन्तर है कि एक में प्रत्यक्ष विषय से 'भय' उत्पन्न होता है तो दूसरे में चिन्तन से। 'अमर्ष' का अर्थ 'क्रोध' है। 'गर्व' तो मानसशास्त्र की मूलप्रवृत्ति 'आत्म-महत्त्व-स्थापन' (सेल्फ एज़र्सन) की सहचर भावना है।[1]

४. संमिश्र भावना (ब्लेंडेड)

१. व्रीडा, २. असूया।

५. ज्ञानात्मक मनोवस्था (काग्नेटिव मेंटल कंडीशन)

१. मति, २. वितर्क, ३. अवहित्थ, ४. स्मृति, ५. मति, ६. वितर्क।

६. साधित भावना (डिराव्हड)

१. औत्सुक्य, २. दैन्य, ३. विषाद, ४. हर्ष, ५. धृति, ६. चिन्ता, और ७. निर्वेद।

डॉ वाटवे के मत में प्रस्तुत साधित भावनाएं ही वास्तविक 'व्यभिचारी' भाव हैं।[2] आपको परम्परागत व्यभिचारी भावों की सूची में पुनरुक्ति, अपूर्णता और परम्परापालन का दोष दिखायी देता है। उनके मत से ये इस प्रकार हैं :—

क—पुनुनक्ति दोष

दैन्य, विषाद और निर्वेद में, शंका और त्रास में तथा हर्ष और धृति में अधिक अन्तर नहीं है।

ख—अपूर्णता दोष

पूर्वोक्त साधित भावनाओं से सम्बद्ध व्यभिचारियों में 'आशा, निराशा, पाश्चाताप, आश्चर्य, विश्वास' आदि कतिपय भावनाओं का समावेश करना अपेक्षित है।

---

१. रस विमर्श, पृष्ठ १२६।　　　　　　२. वही, पृष्ठ १२६।

ग—परम्परापालन

प्राचीन आचार्यों ने व्यभिचारी भावों की सूची में परम्परा का यथावत् अनुसरण करके, आवश्यक वस्तु-सूक्ष्म-परीक्षण को उठाकर, रख दिया है और वस्तु के सूक्ष्म परीक्षण की ओर ध्यान नहीं दिया गया। उदाहरणार्थ, परम्परापालन के लिए ही पण्डितराज जगन्नाथ ने 'मरण' का अर्थ 'मरण से पूर्व की मनोवस्था' प्रतिपादित किया है, और मरण के व्यभिचारीत्व का समर्थन किया है।

डॉ वाटवे का यह मत है कि वास्तव में देखा जाए तो मृत्यु से पूर्व 'आशा', 'निराशा' 'सुख', 'दुःख' आदि में से कोई भी भावना सम्भव है, यही स्थिति 'सुप्त' अर्थात् स्वप्नानुभव की है।[१] 'श्रम' और 'जड़ता' तो शारीरिक अवस्थाएं मात्र हैं। श्रम (फेटीग) में 'कार्बन डायाक्सायड' और 'लैक्टिक एसिड' इन दो क्षार पदार्थों का संचय स्नायु और रक्त में होता, है, अतः इन्हें भावना की अपेक्षा शारीरिक अवस्थाएं कहना ही उपयुक्त है।[२] इसी प्रकार 'स्मृति', 'मति' तथा 'अवहित्था' को बौद्धिक व्यापार मानकर डॉ वाटवे ने इन्हें संचारी (व्यभिचारी) वर्ग में स्थान देना अनुपयुक्त माना है।[३]

डॉ० जोग ने शारीरिक अवस्था रूप संचारियों (व्यभिचारियों) के बहिष्कार का समर्थन नहीं किया है,[४] इसी प्रकार श्री दि० के० वेडेकर ने भी परम्परागत ३३ व्यभिचारी भावों की सूची को सदोष नहीं माना है, क्योंकि इनके मत में भरत मुनि प्रतिपादित व्यभिचारी भाव मूलतः नाट्य-धर्मी पदार्थ हैं। इन्होंने ३३ व्यभिचारियों को तीन वर्गों में विभाजित किया है। इनके मत से इनका शारीरिक, ज्ञानात्मक वर्गीकरण करना इसलिए उपादेय है कि "इन नाट्यधर्मी पदार्थों का लौकिक पदार्थों से समानान्तरता का स्पष्टीकरण मात्र हो सके।"[५]

इन्होंने तैंतीस व्यभिचारी भावों के जो तीन वर्ग किए हैं, वे इस प्रकार हैं—

१. शारीरिक अवस्था के समानान्तर व्यभिचारी भाव—१४

मरण, व्याधि, ग्लानि, श्रम, आलस्य, निद्रा, स्वप्न, अपस्मार, उन्माद, मद, मोह, जड़ता, चपलता, प्रबोध।

२. ज्ञानात्मक मनोवस्था के समानान्तर व्यभिचारी भाव—३

स्मृति, मति और वितर्क।

३. भावनात्मक मनोवस्था के समानान्तर व्यभिचारी भाव—१६

हर्ष, अमर्ष, धृति, उग्रता, आवेग, विषाद, निर्वेद, औत्सुक्य, चिन्ता, शंका, असूया, त्रास, गर्व, दैन्य, अवहित्थ और व्रीडा।

---

१. रस विमर्श, पृ० २२९। २. वही, पृष्ठ २२९।
३. वही, पृष्ठ २२९-३०। ४. अभिनव काव्य प्रकाश, पृष्ठ १२१।
५. रस सिद्धान्तांचे स्वरूप, नवभारत, दिसम्बर १९५०।

आपने परम्परागत व्यभिचारी भावों के बहिष्कार की अपेक्षा उनको यथावत् स्वीकार करके उनकी मूलभूत उत्पत्ति के कारणों को खोजने का प्रयत्न किया है। आपका मत है कि भरत मुनि ने नाट्यान्तर्गत विविध घटनाओं के अनुरूप ३३ व्यभिचारी भावों की गणना की है। विविध घटनाओं के अनुरूप तेंतीस व्यभिचारी भावों की संख्या बढ़ायी जा सकती है। परन्तु नाट्य-परम्परा में ३३ संख्या को कुछ विशिष्टता प्राप्त रही है। प्राचीन साहित्य में ३३ संख्या का पर्याप्त प्रयोग हुआ है। ३३ कोटि देवताओं के संकेत से तो सभी परिचित हैं। यद्यपि आज यह बताना कठिन है कि ३३ संख्या की निर्णायक कसौटी क्या थी, तथापि नाट्य के 'यज्ञीय' उद्गम के निकट ही इसका अनुसन्धान करना अपेक्षित है।[१]

इनके मत में पूर्वोक्त तीन वर्गों में विभाजित व्यभिचारी 'राम-रावण-युद्ध', 'अमृत-मंथन', आदि नाट्यान्तर्गत घटनाओं से सम्बद्ध है। 'मरण', 'स्वप्न', जैसी घटनाएं, 'हर्ष', 'अमर्ष', 'व्रीडा' इत्यादि भावनाएं (आधुनिक अर्थ में) तथा 'स्मृति', 'वितर्क आदि बौद्धिक व्यापार रामायणादि नाट्यकाव्यों में वर्णित ही हैं। इन सबकी रसानुकूल सूची भरत मुनि ने 'व्यभिचारी भाव' नाम से प्रस्तुत की है।[२]

न्याय शास्त्र में 'मन' का आठवां गुण संस्कार है। संस्कार के तीन भेद हैं[३]—(१) वेग, (२) भावना तथा (३) स्थिति स्थापक। हमारे मत में व्यभिचारी भावों का एक वर्गीकरण संस्कार को भी दृष्टि में रखकर नीचे लिखे प्रकार से किया जा सकता है—

१. **वेगात्मक व्यभिचारी भाव**

(१) आवेग, (२) चपलता, (३) असूया, (४) अमर्ष (५) उग्रता, (६) मद, (७) उन्माद, (८) ग्लानि, (९) हर्ष, (१०) त्रास, (११) मरण।

२. **भावात्मक व्यभिचारी भाव**

(१) औत्सुक्य, (२) निर्वेद, (३) चिन्ता, (४) विषाद, (५) मोह, (६) विबोध, (७) शंका, (८) वितर्क, (९) स्मृति, (१०) मति, (११) गर्व।

३. **स्थिति-स्थापक व्यभिचारी भाव**

(१) धृति, (२) दैन्य, (३) श्रम, (४) आलस्य, (५) निद्रा, (६) स्वप्न, (७) व्रीडा, (८) अवहित्था, (९) जड़ता, (१०) व्याधि, (११) अपस्मार।

समस्त स्थायी भाव भावनात्मक हैं जिनमें सुख-दुःख, इच्छा-द्वेष की भावनाएं रहती हैं तथा समस्त सात्त्विक भावों को स्थिति-स्थापक वर्ग में स्थान देना चाहिए। वे परिस्थितियों के, शारीरिक स्थिति-स्थापना के, संस्कार से युक्त कर्म ही हैं।

---

१. रस सिद्धान्ताचे स्वरूप—नवभारत, दिसम्बर, १९५९। २. वही।

३. देखिए—'प्रशस्तपादभाष्यम्', गंगानाथ झा ग्रन्थमाला ग्रन्थ १, (१९६३, वाराणसी संस्करण), पृष्ठ ६४६।

५. **निष्कर्ष**

ऊपर संचारी (व्यभिचारी) भावों की परिभाषाओं का सिंहावलोकन करने पर इनके विषय में तीन आचार्यों की परिभाषाएं ही प्रमुख और आधाररूप दिखायी देती हैं। वे हैं— १. भरतमुनि, २. धनंजय और ३. अभिनवगुप्तपादाचार्य।

भरत मुनि ने उन्हें स्थायी को रस तक ले जाने वाला कहा है तथा स्थायी के साथ उनका सम्बन्ध स्वामी और परिजन, शासक तथा शासित का सा बताता है। स्पष्ट है कि संचारी (व्यभिचारी) स्थायियों के अधीन रह कर वर्त्तन करते हैं। सामान्य लक्षण में वे उन्हें तथा स्थायी भावों को तुल्य बताते हुए भी उनके विभाव, जन्म का कारण, और संस्कार (कुलशील), उनके बोध, कर्म और कौशल तथा सामर्थ्य (कर्म-शिल्प-विचक्षणता) में भेद करते हैं जिनसे वे स्थायियों के आश्रित होकर कार्य करते हैं। अपनी अल्प बोधगम्यता, स्तोक विभावों (हीनकुल) तथा अल्प सामर्थ्य के कारण ये स्थायी भावों का स्वामित्व स्वीकार करते हैं और उनके आश्रित रहकर व्यवहार करते हैं। अर्थात् गुण संस्कारों में वे स्थायी भावों से पृथक् हो जाते हैं।

धनंजय ने स्थायी तथा व्यभिचारियों को क्रमशः समुद्र एवं कल्लोल से उपमित किया है। अर्थात् वे स्थायी भाव का ही अंग हैं और अंगी से अभिन्न होकर भी उसमें पृथक् दिखते हैं। जैसे "गिरा अरथ जल वीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न।" जैसे समुद्र की तरंगों द्वारा समुद्र को गति प्रदान होती है और समुद्र के शान्त दिखने पर उसमें अन्तर्प्रवाहित होती रहती हैं, उसी प्रकार व्यभिचारी भाव भी स्थायी भाव को सक्रिय बनाते हैं। और, इन कल्लोलों के कारणों का विचार नहीं किया जा सकता। वे अनवस्थित-जन्मा होती हैं और समुद्र के विभिन्न स्वभावों का उद्घाटन करने में सहायक होती हैं।

आचार्य अभिनवगुप्तपादाचार्य ने स्थायी-व्यभिचारियों की तुलना क्रमशः स्रक्-सूत्र एवं मणिरत्नों से की है। माला का सूत्र माला के रत्नों में पिरोया होने और उनको व्यवस्थित रखने का आधार होने पर भी स्वतः मनोरम तथा आस्वाद्य नहीं होता, न वह स्वयं माला ही कहलाने योग्य होता है। माला (रस) को वह तभी प्राप्त होता है जब उसमें मणि-रत्नों की विविध एवं विचित्र चमक-दमक शोभा देती है। आचार्य अभिनव गुप्त की उपमा में स्थायी भाव (स्रक्-सूत्र) तथा व्यभिचारी भाव (मणि रत्नादि) स्पष्टतः भिन्न जातीय ठहरते हैं। स्रक्-सूत्र उनका व्यस्थापक एवं अवलम्ब होता हुआ भी माला की (रस की) शोभातिशयता अथवा रमणीयता में गौण है। उनकी रमणीयता मणि रत्नों (व्यभिचारी भावों) से ही होती है। स्थायी भाव के साथ यदि संचारी (व्यभिचारी) भाव न हो तो स्थायी भाव भी 'भाव' मात्र (वस्तुध्वनि मात्र) रह जायेगा, रस कोटि तक न पहुंचेगा। विभाव और अनुभाव स्थायी एवं व्यभिचारी दोनों के होते हैं। संचारियों (व्यभिचारियों) के योग से ही वह उससे भिन्न होता है और उनसे युक्त होकर ही वह रसत्व को प्राप्त होता है।

अन्य आचार्यों के मत इन तीनों मतों की ही व्याख्या हैं। उनके स्वभाव, गुणों एवं कर्मों को निम्नलिखित रूप में उपस्थित किया जा सकता है—

संचारी (व्यभिचारी) भावों का स्वभाव

स्थायी भाव का आभिमुख्य (आनुकूल्य) तथा पोषण एवं स्वधर्म-अर्पण से उसका संजीवन व्यभिचारी भावों का स्वभाव है। वे अल्प विभाव से जन्म लेते हैं, किंचित् कारण से उत्पन्न हो सकते हैं। पुनः उनके भाव और अभाव का निश्चित नियम कहीं है, अर्थात् वे नियम रहित एवं अनवस्थित जन्मा हैं। एक व्यभिचारी दूसरे व्यभिचारी का या तो विभाव हो सकता है, अथवा अनुभाव, अर्थात् कारण अथवा कार्य हो सकता है, व्यभिचारी नहीं। वे स्थायी भावों में संचरण करते और उनका संचार करने वाले हैं।

संचारी (व्यभिचारी) भावों का गुण

वे क्षणिक होते हैं, अर्थात् अपने उदय के तीसरे क्षण ही विनष्ट हो जाते हैं। अस्थिरता उनका विशिष्ट गुण है। अर्थात् न वे वासना रूप होते हैं न आप्रबन्ध स्थिर रहते हैं। स्थायी की भांति उत्कटता वा दृढ़ता भी उनमें नहीं होती। जलतरंगों की भांति उनका उदयअस्त होता है।

वे स्थायी के उपकारक तथा विचित्रता, विविधता एवं विशेषतापूर्वक पथ-प्रदर्शन करके उसे रस-दशा तक पहुंचाने वाले हैं। स्थायी भावों की गति का भी संचार वही करते हैं और रस के भेदक भी वही हैं।

स्थायीभावों और संचारी (व्यभिचारी) भावों की व्यावर्त्तक कसौटी विभाव है। स्वल्प विभाव से स्थायी भी व्यभिचारी की कोटि में उतर जाता है। एक संचारी (व्यभिचारी) दूसरे संचारी (व्यभिचारी का कार्य और कारण हो सकता है परन्तु संचारी (व्यभिचारी) नहीं हो सकता। सात्त्विक भाव भी व्यभिचारी की संज्ञा को प्राप्त होते हैं। अग्निपुराणकार ने तो उन्हें स्पष्टतया व्यभिचारी ही कहा है।

नाट्य शास्त्र की दृष्टि से प्रस्तुत ये तेंतीस व्यभिचारी भाव नाट्यधर्मी पदार्थ हैं। इनमें निहित शारीरिक क्रिया और बौद्धिक अवस्थारूप सभी व्यभिचारियों का महत्त्व है, क्योंकि वे सभी रस-निष्पत्ति में सहायक तत्त्व हैं। इनके पृथक्करण की विचारधारा मूलतः भरत मुनि के दृष्टिकोण के तो प्रतिकूल है ही, काव्यशास्त्र की दृष्टि से भी समीचीन नहीं दिखायी देती, विशेषतः जब तक यह सिद्ध न कर दिया जाए कि इनका रस-निष्पत्ति में उपयोग नहीं है।

ऊपर के अध्ययन से यह भी स्वतः स्पष्ट है कि आधुनिक साहित्य समीक्षकों ने प्रायः—

१. भावों के मूलार्थ को स्पष्ट करने वाली उनमें प्रयुक्त धातुओं पर विचार नहीं किया है। भारतीय साहित्यशास्त्र एवं दर्शन के किसी शब्द के भावार्थ का

आधार उसमें प्रयुक्त 'धातु' पर निर्भर होता है। उन शब्दों की धातुओं पर विचार किये बिना उनका मूलार्थ और तत्सम्बन्धी अर्थ निर्भ्रान्त एवं स्पष्ट रूप से प्रकट नहीं हो सकता। ऐसी अवस्था में उनके स्वरूप का निर्णय हुए बिना उनके विषय में व्यवस्था देना अयुक्त होगा।

२. 'भाव' शब्द की व्याख्या एवं परिभाषा संस्कृत साहित्यशास्त्रियों की मान्य व्याख्या एवं परिभाषा के अनुसार नहीं की है।

३. 'भाव' शब्द की परिभाषा पर पाश्चात्य मनोविज्ञान की मान्यताओं का आरोप कर दिया गया है जो सर्वांशतः 'भाव' पर लागू नहीं हो सकतीं, और इसीलिए उनके आधार पर मान्य तुला पर 'भाव' से युक्त 'संचारी भाव' (व्यभिचारी भाव) को भी नहीं तोला जा सकता।

४. अत्यन्त संकीर्ण परीक्षण सामग्री के बल पर अपने निष्कर्ष निकाले हैं। परीक्षण सामग्री की अव्याप्ति से उस पर आधारित निष्कर्ष भी अव्याप्ति दोष से ग्रस्त हो गए हैं।

५. भारतीय दार्शनिकों की (मनो-) विज्ञान (योगादि) सम्बन्धी सामग्री का कहीं कोई आधार इनके अध्ययन-विवेचन के लिए ग्रहण नहीं किया और न उनका कोई हवाला ही कहीं दिया है। ऐसा लगता है, मानो उन्होंने यह मान लिया है कि नाट्यशास्त्र के ये भाव भारतीय दर्शन अथवा योगशास्त्र से असम्बद्ध हैं। (परन्तु स्थिति वास्तव में ऐसी नहीं है।)

६. भारतीय दार्शनिक की दृष्टि से मन के विविध कर्मों, सहायों (सहचरों) आदि का वर्णन भी नहीं किया है। यथा—मरण, स्वप्न, मूर्च्छा आदि को उपनिषदों, योगाचारभूमि प्रभृति ग्रन्थों में (और ये ग्रन्थ भारतीय दार्शनिकों के उपजीव्य ग्रन्थ हैं) मन का विशिष्ट कर्म कहा गया है। इन आधुनिक समीक्षकों ने अन्तः-करण (मनस्) की वृत्तियों में 'बुद्धि' को भी स्थान नहीं दिया है, जबकि भार-तीय दर्शनाचार्य के अनुसार मनस् को (अन्तःकरण को) मन (मननशक्ति), बुद्धि, चित्त (एवं कहीं-कहीं अहंकार भी) अंगों में विभाजित करके देखा जाता है।

७. संचारी भावों (व्यभिचारी भावों) का वर्गीकरण आधुनिक काल में विविध प्रकार से किया गया है। परन्तु उसमें भी भारतीय परम्परित-चिन्तन को उपेक्षित कर दिया है, और पाश्चात्य वर्गीकरण की रीति को ही आधार बनाया गया है जो इनके सम्बन्ध में अनुपयुक्त है। इन संचारी-भावों (व्यभिचारी-भावों) को भार-तीय-दर्शन, यथा योगाचारभूमि, सांख्य के तीन प्रकृति गुणों एवं न्यायशास्त्र के आधार पर वर्गीकृत करके देखना उपयुक्त होगा।

८. संचारी-भावों (व्यभिचारी-भावों) की संख्या में संशोधन वा परिवर्धन के लिए भावन-व्यापार की दृष्टि से उनके विभावों और अनुभावों का पृथक्तः वर्णन नहीं किया गया। उसके लिए इनका वर्णन आवश्यक है। वैसे, स्थूलतः यह देखने में आता है कि इन ४९ भावों के द्वारा (समयानुसार सात्त्विक एवं स्थायी भी व्यभिचारी हो सकते हैं) मानव के समग्र जीवन को स्पष्टतया अभिव्यंजित किया जा सकता है।

इसलिए संचारी (व्यभिचारी) भावों के स्वरूप के विषय में—कि वे मनोविकार हैं या नहीं, कि वे किस वर्ग के हैं, कि उनकी संख्या कितनी है, अथवा कितनी होनी चाहिये, कि क्या उनके नामों में पुनरुक्ति हुई है आदि के विषय में उपर्युक्त रीति से ही 'भाव'—शब्दार्थ, तत्तत् 'भाव' के धात्वर्थ, विस्तृत अध्ययनीय सामग्री, भारतीय दर्शन और तत्प्रसूत परम्परा, अन्तःकरण के विविध अंगों आदि को दृष्टि-पथ में रखकर ही निर्णय किया जा सकता है, अन्यथा वह सारा अध्ययन एवं विवेचन अनधिकृत मापदण्ड से किया गया होने के कारण तथा उपयुक्त एवं मान्य परम्परा से छिन्न होने के कारण क्रमशः विच्युत् एवं अयुक्त होगा।

अगले प्रकरण में प्रत्येक संचारी (व्यभिचारी) भाव का पृथक्तः अध्ययन प्रस्तुत किया जायेगा, (जिसके आलोक में यह स्वतः सिद्ध होगा कि अमुक संचारी-भाव (व्यभिचारी-भाव) मनोविकार है या नहीं, अथवा वह किस प्रकार का मनोविकार है) जो इस प्रबन्ध का प्रमुख उद्देश्य है।

———

द्वितीय प्रकरण

संचारी (व्यभिचारी) भावों का विश्लेषणात्मक अध्ययन

१. प्रकरण संगति

प्रथम प्रकरण में संचारी-भाव (व्यभिचारी-भाव) के सामान्य-स्वरूप की चिन्ता के लिए भाव, रस और उसके उपादानों का पृथक्-पृथक् अध्ययन किया जा चुका है जिसके अन्तर्गत व्यभिचारी भावों के स्वरूप का सामान्य अध्ययन प्रस्तुत हो चुका है। अब यहाँ यह आवश्यक हो जाता है कि प्रत्येक संचारी (व्यभिचारी) भाव के स्वरूप का पृथक्-पृथक् अध्ययन करके उसके वास्तविक स्वरूप को उपस्थित किया जाये। इसी दृष्टि से इस प्रकरण को संचारी भावों (व्यभिचारी-भावों) का विश्लेषणात्मक अध्ययन' नाम से अभिहित किया गया है।

इसके लिए, आगे, प्रत्येक संचारी (व्यभिचारी) भाव की व्युत्पत्ति, उसके कोशगत अर्थों का अध्ययन करके तदुपरान्त ऐतिहासिक कालक्रम में भारतीय आचार्यों के विश्लेषण को उपस्थित किया जायेगा। इससे किसी विशेष व्यभिचारी भाव के अर्थ-विकास एवं अर्थ-संकोच का भी सहज ही परिचय प्राप्त होगा तथा उसके विषय में विभिन्न आचार्यों के मत का स्रोत, उसके प्रभावक मत का प्रत्यय भी स्वतः हो जायेगा। खण्डन-मण्डन की अनावश्यक प्रवृत्ति से बच कर किसी विशिष्ट व्यभिचारी-भाव के विषय में विशिष्ट आचार्यों के मत को उभारकर रख देने का, जिससे उसकी उपयुक्तानुपयुक्तता का स्वतः भान हो, प्रयत्न ही यहां किया जायेगा।

पुनः, प्रत्येक संचारी-भाव (व्यभिचारी-भाव) के विषय में व्यक्त मतों का 'सार' अध्ययन के अन्त में प्रस्तुत करके प्रत्येक व्यभिचारी-भाव का निरूपण उपस्थित किया जायेगा। इस प्रकार आचार्यों के प्रति सादर भाव रखते हुए, अनावश्यक खण्डन-मण्डन की वृत्ति से बचकर हमारा यह अध्ययन प्रत्येक संचारी-भाव (व्यभिचारी-भाव) का सम्यक्-स्वरूप-विश्लेषण उपस्थित करेगा।

इस अध्ययन में, 'रस' शास्त्र के आद्याचार्य भरत मुनि के प्रति समादर बरतने के लिए, संचारी-भावों (व्यभिचारी-भावों) का क्रम नाट्य-शास्त्र के अनुसार रखा गया है, जिसके क्रमानुसार हम प्रत्येक संचारी-भाव (व्यभिचारी-भाव) का स्वरूप-विश्लेषण प्रस्तुत करेंगे।

२. संचारी (व्यभिचारी) भावों का स्वरूप-विश्लेषण

(१) निर्वेद

'विद्' धातु में 'नि' उपसर्ग-पूर्वक तथा 'घञ्' प्रत्यय के योग से 'निर्वेद' शब्द की व्युत्पत्ति होती है। कृदन्त रूप में 'निर्विद्' तथा 'निर्वण्ण' शब्द प्राप्त होते हैं। आप्टे के कोश में 'निर्विण्ण' शब्द के निम्नलिखित अर्थ दिये गये हैं[१]—

(१) अवमनस्क, उदासीन, (२) भय अथवा शोक से अभिभूत, (३) दुःख से क्षीण, (४) अवभानित, (५) किसी से विरक्त, (६) विघटित, ह्रासित, (७) दीन तथा (८) ज्ञात।

'निर्विद्' का अर्थ है[२]—किसी से असन्तुष्ट अथवा विरक्त होना।

आप्टे के कोश में 'निर्वेद' के निम्नलिखित अर्थ दिये गये हैं[३]—

(१) विरक्ति, (२) संतृप्ति, (३) नैराश्य, आशा-त्याग, (४) दैन्य, (५) दुःख, (६) पूर्ण वैराग्य, (७) आत्मधिक्कार वा आत्म-तुच्छता-बोध, तथा (८) अवमान।

मोनियर विलियम्स ने 'निर्-विद्' के अर्थ दिये हैं[४]—जानना, बोध करना, अवगत करना, किसी वस्तु की यथार्थ धारणा करना।

भरत मुनि ने 'निर्वेद' के अर्थ नहीं दिये हैं, परन्तु उसके विभावों का वर्णन करके उसकी व्याप्ति की सीमा बांधी है : यह दारिद्रय, शाप-पाप-मानाधिक्षेप-आक्रुष्ट-क्रोध-ताडन-इष्ट-जनवियोग व तत्त्वज्ञानादि से उत्पन्न होता है। आनुवंश्य आर्या जो उन्होंने उद्धृत की है, में इष्टजनवियोग से, दारिद्र्य से व्याधि तथा दुःख से अथवा अन्य का वैभव देखने से 'निर्वेद' की सम्भावना बतायी गयी है, तथा योगी की सी, ध्यान-रति की ओर, इसकी स्थिति

---

१. निर्विण्ण—1. despondent, 2. overcome with fear or sorrow, 3. ematiated with grief, 4. abused, degraded, 5. disgusted with anything, 6. impaired, decayed, 7. humble 8. known.

२. निर्विद्— To be dissatisfied or disgusted with.

३. निर्वेद— 1. disgust, loathing, 2. satiety, cloy, 3. despair, depression of spirits, despondency, 4. humiliation, 5. grief 6. Complete indifference to worldly objects, 7. self disparagement or humiliation, 8. shame.

४. निर्-विद्— To know, understand, perceive, learn, bedome or be acquainted with, be conscious of, have a correct notion of.

पर विशेष बल दिया गया है।[1]

असंग मुनि ने इसे मन का विशेष कर्म निरूपित किया है (दे०, द० दि०, पृष्ठ ७२१)।

अग्निपुराणकार ने 'वैराग्य' के उदय और मन के खेद को 'निर्वेद' कहा है।[2] धनंजय ने 'निर्वेद' स्वावमानन कहा है जो तत्वज्ञान, आपदा, ईर्ष्या, आदि से उत्पन्न होता है।[3] काव्यानुशासनकार भी इसे 'स्वावमानना' बताते हैं।[4] नाट्यदर्पणकार की दृष्टि में 'निर्वेद' क्लेश और तत्त्व-धी से उत्पन्न 'वैरस्य' नाम है।[5] उन्होंने क्लेश के अर्थ दारिद्रय-व्याधि-अपमान-ईर्ष्या-भ्रमाक्रोश-ताडन-इष्ट-वियोग परविभूति दर्शनादि बताये हैं। भावप्रकाशनकार ऊपर बताये समस्त कारणों से 'निर्वेद' की उत्पत्ति मानते हुए उसे क्लेश-ईर्ष्या-अवबोध आदि से उत्पन्न मानते हैं। वह उसे "ज्ञान के विनिर्गम से शून्यचित्तत्ता" नाम देते हैं। उनके मत से तत्त्वावबोधज 'निर्वेद' योगियों की अनुपादेयता को प्राप्त होता है।[6] साहित्य-दर्पणाकार ने भी 'निर्वेद' को धनंजय, हेमचन्द्राचार्य के अनुसार 'स्वावमानन' ठहराया है।[7] उज्जवलनील-मणिकार ने 'निर्वेद' को महार्त्ति, विप्रयोग तथा ईर्ष्या से उत्पन्न 'आत्मधिक्कार' रूप बताया है।[8] रसतरंगणीकार ने भी 'निर्वेद' को 'स्वावमान' अथवा संसार के प्रति हेयत्व-बुद्धि ही

---

१. तत्र निर्वेदोनाम दारिद्र्य शाप (पाप) मानाधिक्षेपाक्रुष्टक्रोधताडनेष्टजनवियोगोवा तत्त्वाज्ञानादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते।

श्लोकः दारिद्रयेष्टजनवियोगेषु निर्वेदोनाम जायते। आनुवंश्य आर्या :

इष्टजनवियोगाद्दारिद्र्याद् व्याधिस्तथा दुःखात्।
परवृद्धिं वा दृष्ट्वा निर्वेदो नाम संभवति॥
वाष्पपरिप्लुतः नयनः पुनः पुनः श्वासदीनमुखनेत्रः।
योगीव ध्यानरतो भवति हि निर्वेदवान् पुरुषः॥ ना० शा०, ७।२३-२५।

२. वैराग्योदयर्मनः खेदो निर्वेद इति कथ्यते—अग्नि० पु०, २२।

३. तत्त्वज्ञानापदीर्ष्यादेनिर्वेदः स्वावमाननम्।—द० रू०, ४।६।

४. रोगाधिक्षेपताडनदारिद्र्येष्टवियोगावमानतत्त्वज्ञानादिभ्यःस्वावमाननारूपो निर्वेदः।
—काव्यानु०, दूसरा अध्याय।

५. निर्वेदस्तत्त्वधीः क्लेशैर्वैरस्य श्वास-तापकृत्....परविभूतिदर्शनोदयः।
तत्त्वज्ञानादिभिर्विभावैर्यद् वैरस्य स निर्वेदः। —ना० द०, ३।१८३

६. दारिद्र्य व्याधिर्दुःखेष्टजनवियोग पर-वृद्धिभिः।
ईर्ष्यात्तत्वावबोधाभ्यां निर्वेदो नाम जायते॥
तत्त्वावबोधजो योगिष्वनुपादेयतां ब्रजेत्।—भा० प्र०, पहला अधिकार।
निर्वेद शून्यचित्तत्वं वेदोवित्तविनिर्गमात्।—वही, दूसरा अधिकार।

७. तत्त्वाज्ञानापदीर्ष्यादेः निर्वेदः स्वावमाननम्। सा० द०, ३।१४२।

८. देखिए, उज्वलनीलभणि, व्यभिचारी भाव।

कहा है।[१] रसगंगाधरकार ने 'निर्वेद' को द्विविध रूप में विभाजित करके देखा है। उन्होंने नीच पुरुषों में आक्रोशन, अधिक्षेप, व्याधि-ताडन-दारिद्र्य-इष्ट-विरह-परसम्पद्दर्शनादि से और उत्तमों में अवज्ञा आदि से उत्पन्न 'विषय-विद्वेष' नाम्नी चित्तवृत्ति को 'निर्वेद' कहा है।[२]

चिन्तामणि कविकुलकल्पतरु में तत्त्वज्ञान, दुःख ईर्ष्यादिक एवं हानि से उत्पन्न निष्फलता-ज्ञान को 'निर्वेद' कहते हैं।[३] भवानी विलास के लेखक देव के मत में 'आत्मापमान-पूर्वक तत्त्वज्ञान' का नाम 'निर्वेद' है।[४] कुलपतिमिश्र रस-रहस्य में 'निर्वेद' को खेद और उदासीनता से युक्त मानते हैं।[५] रस-प्रबोध के लेखक गुलामनवी 'निर्वेद' को 'ध्यान-सोच और अधीनता' से युक्त ठहराते हैं।[६] रसपीयूषनिधि में सोमनाथ ने 'जगत् के प्रति वैराग्य को और तत्त्वज्ञान को' निर्वेद बताया है।[७] यही मत श्रृंगार-विलास में भी उद्धृत है (दे० श्रृं० वि० छन्द-२०) रस-सारांश के लेखक भिखारीदास 'निर्वेद' को 'विराग मन' (वैरस्य) मानते हैं।[८] जगद्विनोद के लेखक पद्माकर भट्ट 'निर्वेद' को विपत्ति, ईर्ष्या, ज्ञान से उत्पन्न खेद के कारण 'आत्मनिन्दा' निरूपित करते हैं।[९] 'नवरसतरंग' में वेनीप्रवीन 'निर्वेद' को मन के शोक और विचारोपरान्त 'आत्म-तन-निन्दा' मानते हैं। वे इसे ज्ञानमूलात्मक ठहराते हैं।[१०] प्रताप-साहि 'काव्यविलास' में खेद और विषयोदासीनता वृत्ति को जो तत्त्वज्ञ होती है, 'निर्वेद'

---

१. स्वावमानं निर्वेदः संसारे हेयत्व बुद्धिर्वा निर्वेदः।—र० त०, पृष्ठ ७२।

२. नीचपुरुषेष्वाक्रोशानाधिक्षेप-व्याधि-ताडन-दारिद्र्येष्ट जनविरह-परसम्पद्-
दर्शनादिभिः उत्तमेषु त्ववज्ञादिभिर्जनिता विषय-विद्वेषाख्या...चित्तवृत्ति निर्वेदः।
—रगंध० १, भाव ध्वनि।

३. तत्त्वज्ञान दुख ईर्ष्यादिक निःफलता ज्ञान।
होति हानि-संसार में सो निर्वेद बखान॥ क० कु० क० त० ७।१४॥

४. चिन्ता अश्रु प्रकाश करि अपनोई अपमान।
उपजहिं तत्त्वज्ञान जहं सो निर्वेद बखान॥ मा० वि०, पृष्ठ २९॥

५. जेहि जेहि विधि संसार सुख देखत उपजे खेद।
उदासीनता जगत में, जहां सु है निर्वेद॥ र० रह० ३।१२॥

६. ध्यान सोच आधीनता आंसू-स्वास-उसास।
उठि चलिबो सरबस तजो ये अनुभाव प्रकाश॥ र० प्र० छन्द ८०१॥

७. झूठो जग प्रभु सत्य है—यह निरवेद विचार। र० पी० नि० ७।२०॥

८. निरवेद विराग मन मानिये—र० सा० छन्द ५००।

९. उर उपजै कछु खेद विपत्ति ईर्ष्या ज्ञान।
ताही ते निज निदरिबो सो निरवेद बखान॥ जगद्वि०

१०. निज तन को निदरै जहां मन में सोच विचारि।
ज्ञान-मूल निरवेद है कहत सुधी निरधारि॥ न० र० त० छन्द ३१२॥

बताते हैं।[१] रसरत्नाकार में भानुकवि संसार के तिरस्कार को 'निर्वेद' कहते हैं।[२] इन्होंने इसके नाम का अंग्रेजी अनुवाद भी दिया है। रस कुसुमाकर में श्री प्रतापनारायणसिंह ने यह लक्षण दिया है—विपत्ति, ईर्ष्या, ज्ञानादि से स्व-शरीर अथवा सांसारिक पदार्थों के तिरस्कार को 'निर्वेद' संचारी कहते हैं।[३] कन्हैयालाल पोद्दार काव्यकल्पद्रुम में 'निर्वेद' की यह परिभाषा देते हैं—तत्त्वज्ञान के कारण या इष्ट-वस्तु के वियोग आदि से प्राप्त हुई आपत्ति और ईर्ष्यादि के कारण अपने आपको धिक्कारने को 'निर्वेद' कहते हैं। तत्त्वज्ञान के कारण यह शान्त-रस का स्थायी होता है तथा अन्य कारणों से 'व्यभिचारी' होता है।[४] ऊपर दी हुई यही परिभाषा अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने भी दी है।[५] पण्डित रामदहिन मिश्र भी दारिद्रय, ईर्ष्या, अपमान, आपत्ति, व्याधि, इष्ट-जन-वियोग, तत्वज्ञान आदि के कारण उत्पन्न अपने को कोसने वा धिक्कारने को 'निर्वेद' कहते हैं।[६] बाबू गुलाब राय के मत में तत्त्वज्ञान के कारण जो आत्मधिक्कार उत्पन्न होता है, उसे 'निर्वेद' कहते हैं।[७] डा० राकेशगुप्त की परिभाषा दशरूपककार पर अवलम्बित है। वे इसे मन की दुःखात्मक अनुभूति की अवस्था मानते हैं जो नैराश्य अथवा गर्म-मिजाजी से उत्पन्न होती है।[८]

निर्वेद के अनुभाव

भरतमुनि के अनुसार इसके अनुभाव हैं—संप्रधारणा, वाष्प-परिलुप्त नयन, पुनः पुनः श्वासोच्छवास, दीन-मुख-नेत्र, आदि।[९] धनंजय के अनुसार चिन्ता, दीनता, अश्रु निश्वास तथा वैवर्ण्य।[१०] हेमचन्द्राचार्य ने रोदन, श्वसन और अनुपादेयता आदि को अनुभाव कहा है।[११] नाट्यदर्पणाकार ने इसे चिन्ताश्रु, वैवर्ण्य, दैन्यादि का कारक माना है।[१२] शारदातनय ने अन्तर्वाष्प का उद्गम, ध्यान और मुहुर्मुहु निश्वास, स्वात्मावमानना, दैन्य, विवर्णता और गद्गद्त्व इसके अनुभाव बताये हैं।[१३] भानुदत्त इसके अनुभाव स्वेदप्रकाश, चिन्ताश्रु, तापादि बताते हैं।[१४] कविराज विश्वनाथ तथा पण्डितराज जगन्नाथ भी प्रायः इन्हीं अनुभावों का

---

१. लखि संसार असार जहं जिय में उपजत खेद।
उदासीनता विषय ते सो कहिये निरवेद॥ का० वि०, ३।३१॥

२. तिरस्कार संसार सौं सो निर्वेद कहात।
निर्वेद डिस्गस्ट फार वर्ल्डली प्लेज़र्स। र० रत्ना०, पृष्ठ ८४।

३. र० कु०, 'निर्वेद' संचारी।
४. का० क०, चतुर्थ स्तवक।
५. र० क०, संचारी भाव।
६. का० द०, पृष्ठ ६७।
७. सि० अध्य०, पृष्ठ १३१।
८. सा० स्ट० र०, पृष्ठ १३४।
९. ना० शा०, ७।२३-२५।
१०. द० रू०, ४।७।
११. काव्यानु०, पृष्ठ ९६।
१२. ना० द०, ३।१८३।
१३. भा० प्र०, पृष्ठ १५।
१४. र० त०, पृष्ठ ७२।

वर्णन करते हैं।[१] रीतिकालीन हिन्दी आचार्यों ने न्यूनाधिक इन्हीं अनुभावों का वर्णन किया है तथा आधुनिक आचार्यों ने भी।[२]

'निर्वेद' के उपरिलिखित अध्ययन का सार निम्नलिखित है—

विभाव—'निर्वेद' के विभाव आपदा, ईर्ष्या, क्लेश, वियोग, तत्त्वज्ञान एवं वैराग्य हैं।

लक्षण —वस्तु को हेय और नगण्य मानकर वैरस्य, उदासीनता एवं शून्यचित्तता का नाम 'निर्वेद' है।

यह एक प्रकार से वास्तविक स्थिति को नकारने अथवा उससे पराङ्मुख होकर उसे अस्वीकारने की सी प्रवृत्ति है। पाश्चात्य मनोविज्ञान का 'रिप्रेशन' (दमन) भी इसका अंग है और 'विलिटिलिंग' (अवमानना) का भी इसमें समावेश है। बौद्ध दार्शनिक असंग के अनुसार इसे मन का विशेष कर्म कहना उपयुक्त होगा।

अनुभाव—इसके आन्तरिक अनुभाव हैं—चिन्ता, ध्यान, निराशा, दीनता आदि और बाह्य अनुभाव हैं—आत्मनिन्दा, धिक्कार, अश्रु, विश्वास, वैवर्ण्य, गद्गद्त्व, स्वेद एवं तापादि।

(२) ग्लानि

'ग्लानि' शब्द की व्युत्पत्ति आप्टे के कोश में इस प्रकार की गयी है—'ग्लै' धातु + भावे 'नि'। आप्टे के कोश में 'ग्लै' धातु के निम्नलिखित अर्थ दिये गये हैं—[३]

(१) घृणा करना, (२) थक जाना, (३) हिरास होना, उदास होना, (४) मूर्च्छित, होना, मुरझाना।

आप्टे के कोश में 'ग्लानि' के अर्थ इस प्रकार दिये हैं—[४]

(१) क्षय, थकान, श्रम आदि, (२) निष्प्रभता, मुरझान, ढल जाना, घटती, (३) दुर्बलता, कमजोरी, (४) अरुचि, उदासी, खिन्नता, रुग्णता।

मोनियर विलियम्स के संस्कृत-अंग्रेजी कोश में उपयुक्त अर्थों में मनुस्मृति, सुश्रुत, तथा महाभारत आदि ग्रन्थों में 'ग्लानि' शब्द का प्रयोग दिखाया गया है।

---

१. सा० द०, ३।१५२।

२. देखिए, ऊपर पाद टिप्पणियों में दिए हुए लक्षण।

३. 1. To feel aversion or dislike, be unwillig or dis-inclined to do any-thing, 2. To be fatigued or wearied, feel tired or exhausted, 3. To despond, sink in spirits, be dejected, 4. To wane, to fade, faint away.

४. 1. Exhaustion, languor, tired, fatigued, 2. decay, decline, 3. debility, weakness, 4. displeasure, unwillingness, sickness.

भरतमुनि 'ग्लानि' को वान्तविरिक्त, व्याधि, तप-नियम-उपवास, मनस्ताप, अतिपान, मद-सेवन, अतिव्यायाम, मार्ग गमन आदि से उत्पन्न होने वाली बताते हैं।[१]

बौद्ध दार्शनिक असंग के अनुसार इसे मन के विशिष्ट कर्म के अन्तर्गत वर्गित किया जा सकता है, क्योंकि उनके अनुसार कायिक-वाचिक कर्म करना और मूर्च्छादि में जाना मन का विशेष कर्म है। (देखिए, द० दि०, पृ० ७२१)

धनंजय ने इसे 'निष्प्राणता' रूपा कहा है, जो निधुवन कलाभ्यासादि से तथा श्रम, तृट, क्षुधा, वमनादि से उत्पन्न होती है। अग्नि पुराण में इसे 'मन-पीडादिजन्मा अवसाद' बताया गया है जो शरीरगा होती है।[३] हेमचन्द्र ने इसे 'बलापचय' कहा है जो व्याधि, मनस्ताप, निधुवन-उपवास-क्षुत्पिपासा-अध्वलंघन-निद्राच्छेद-अतिपानतप-वृद्धावस्था-कलाभ्यासादि के कारण होता है।[४] रामचन्द्रगुणचन्द्र ने इसे 'अशक्ति-सामर्थ्याभाव' कहा है जो अनेकधा काया और मन के दुःख, कायक्लेश तथा मनस्ताप से उत्पन्न होती है।[५] शारदातनय ने 'ग्लानि' का निर्वहण इस प्रकार किया है "जो वाणी-मन-काय-कर्मों को मुरझा दे (ग्लपन कर दे), वह ग्लानि है।"[६] यह विरेक, वमन, जागरण, अतिमार्ग-गमन, उपवास, मनस्ताप, भूख-प्यास आदि से होती है। कविराज विश्वनाथ भी इसे रति-आयास, मनस्ताप, क्षुत्पिपासादि से सम्भव 'निष्प्राणता' कहते हैं।[७] भानुदत्त ने इसे 'निर्बलता अथवा निस्सहता' कहा है।[८] पण्डितराज जगन्नाथ इसे आधि-व्याधिजन्य 'बलहानि' से उत्पन्न दुःख विशेष-दुखात्मक चित्तवृत्ति

---

१. ग्लानिर्नाम वान्तविरिक्त व्याधिततपोनियमोपवासमनस्तापातिपानमदसेवनातिव्यायामाध्वगमन..., ना० शा०, ७।२६।

२. रत्याद्यायासतृट्-क्षुद्भिर्ग्लानिर्निष्प्राणतेह च। द० रू०, ४।१०।
टीका—निधुवनकलाभ्यासादि-श्रम-तृट्-क्षुद्वमनादिभिर्निष्प्राणतारूपा ग्लानिः।
—द० रू० ४।१०।

३. मनः पीड़ादिजन्मा च सादो ग्लानिः शरीरगा। अ० पु०, २२वां अध्याय।

४. व्याधि मनस्तापनिधुवनोपवास क्षुत्पिपासाध्वलंघननिद्राच्छेदातिपानतपो-जराकलाभ्यासादिभ्यो बलापचयो ग्लानिः। काव्यानु० पृष्ठ ९३।

५. ग्लानिः पीड़ा जराऽऽयासैः अशक्तिः। पीड़ा व्याधि-वमन-विरेकक्षुत्पिपासादिभिरनेकधाकाय-मनोदुःखम्, आयासो व्यायामसुरतादिभिः कायक्लेशः पीड़ाजराऽऽयासैरुपलक्षणादन्यैश्च। निद्रोच्छेदमनस्तापदिभिर्विभावैर्याशक्तिः सामार्थ्याभावः सा ग्लानिः।
—ना० द० ३।१८४।

६. वाङ्मनःकायकर्माणि ग्लानिर्ग्लापयतीति यत्। भा० प्र०, पृष्ठ २८।

७. रत्यायासमनस्तापक्षुत्पिपासादि सम्भवा।
ग्लानिर्निष्प्राणता कम्पकार्श्यानुत्साहदिकृत्। सा० द०, ३।१७०।

८. ग्लानिर्निर्बलता निस्सहता वा।—र० त०, पृष्ठ ७५।

विशेष मानते हैं ।[१] रसार्णवसुधाकर और प्रतापरुद्रीयं में भी यही लक्षण दिये हैं और ग्लानि के 'बलापचय' तथा 'निष्प्राणता' अर्थ ही दिये हैं, जो ऊपर बताये कारणों से होती हैं, और अनुत्साह तथा अरति का कारण होती हैं ।

चिन्तामणि इसे रत्यादिक से होने वाली 'निर्बलता' बताते हैं ।[३] देव इसे निर्बलता से उत्पन्न अंगों को शिथिल करने वाली बताते हैं ।[४] कुलपति मिश्र ग्लानि को आधि-व्याधि से उत्पन्न बल हानि बताते हैं ।[५] गुलामनवी ने इसे 'संभालने में न आने वाली निर्बलता' कहा है ।[६] सोमनाथ ने इसे तन-मन के दुःख से उत्पन्न 'क्षीणता' कहकर निरूपित किया है ।[७] भिखारीदास ने इसे 'पार न बसाने वाली दुर्बलता' और 'असह्य दुखकारिणी' बताया है ।[८] पद्‌माकर भट्ट ने भूख-प्यास-रति-श्रम से 'अंग-विह्वलता को ग्लानि कहा है ।[९] बेनी प्रवीन भी इसे रति-श्रम से उत्पन्न 'अति निरबलताई' मानते हैं ।[१०] प्रतापसाहि भी इसे व्याधि, तृषा, रति आदि से जनित 'बल की हानि' निरूपित करते हैं ।[११] भानुकवि ने इसे अंग्रेजी में 'लेंगर' कहा है तथा इसे आधि-व्याधि के दुःख से उत्पन्न मन में उत्पन्न होने वाला बताया है ।[१२] प्रतापनारायणसिंह जू इसे इन शब्दों में निरूपित करते हैं, 'निर्बलतासे शिथिलता अथवा

---

१. आधिव्याधि जन्य बलहानिप्रभवो वैवर्ण्य-शिथिलांगत्व-दृग्भ्रमण-चित्तवृत्ति-विशेषो ग्लानिः ।—रगंध०, भावध्वनि, पृष्ठ २८३ ।

२. आधिव्याधि-जरा-तृत्णा-व्यायाम-सुरतादिभिः निष्प्राणता ग्लानिः । र० सु० २।१२-१३ ।
ग्लानिर्बलस्यापचयो वैवर्ण्यारति कारणम् । प्र० रू०, पृष्ठ २४३ ।

३. रत्यादिक ते होत कछु जो निर्बलता जानि ।
वैवर्णादिक सों कहु बहुरि सु ग्लानि बखानि । क० कु० क० त०, ७।१९ ।

४. भूख' प्यास अरु सूरत सम निरबल होय शरीर ।
शिथिल होय अवयव सबै ग्लानि कहत सो धीर ।। भा० वि०, पृष्ठ ३० ।

५. आधि व्याधि तें जो भई बल की हानि ग्लानि । र० र०, ३।१९ ।

६. रति-गतादि ते निबलता नहिं संभार ग्लानि ।
छीन वचन कम्पादि ते जान लेत हैं जान ।। र० प्र०, छं० ८०४ ।

७. तन मन दुख तें दीनता होत सुग्लानि अपार । र० पी० नि०, ७।२० ।

८. ग्लानि जानि जहं बल न बसावे—दुरबलता असहन दुख ल्यावै । र० सा०, छं० ४८५ ।

९. भूखहिं ते कि पियास तें के रति श्रम ते अंग ।
विह्वल होत ग्लानि सों, कंपादिक स्वर भंग ।। जगदि०, छं० ४।१४ ।

१०. रति श्रम ते अति होत है, निरबलताई अंग ।
तहाँ ग्लानिहि जानिये, कविताई परसंग ।। न० र० त०, छं० ३१४ ।।

११. व्याधि-तृषा रति आदि ते बल की हानि ग्लानि । का० वि०, ३।३२ ।

१२. आधि-व्याधि के दुःख सो उपज ग्लानि मन मांहि । र० रत्ना०, पृष्ठ ६५ ।

असहनशीलता के खेद को ग्लानि कहते हैं।'[१] कन्हैयालाल पोद्दार इसे मन-काय-व्यापिनी स्वीकार करते हुए आधि-व्याधि से उत्पन्न मानते हैं तथा 'शरीर का वैवर्ण्य (अंगशैथिल्य) और कार्य में अनुत्साहपूर्ण दुःख' निश्चित करते हैं।[२]

अयोध्यासिंह इसे मनस्ताप, श्रम, दुःख, क्षोभ आदि से उत्पन्न हृदयजनित विकलता, शिथिलता अथवा असहनशीलता कहते हैं।[३] रामदहिन मिश्र इसे श्रम, मनस्ताप, भूख-प्यास आदि से मन की मुरझाहट, मलिनता, खिन्नता आदि को ग्लानि कहते हैं।[४] बाबू गुलाबराय के मत में रत्यादि या अन्य लज्जाजनक कार्यों से उत्पन्न 'मन की शिथिलथा या असामर्थ्य का भाव' ग्लानि है। आपके मत में ग्लानि और श्रम दोनों में शैथिल्य रहता है परन्तु ग्लानि मानसिक अधिक होती है। ग्लानि में अनौचित्य के ज्ञान से शारीरिक शैथिल्य आता है। श्रम में भौतिकता अधिक होती है। बाहर का प्रभाव भीतर मन पर पड़ता है।[५] डॉ० राकेश गुप्त भी 'चरम-निश्शक्तता' को जो साहित्यदर्पण के लक्षण पर अवलम्बित हैं, ग्लानि कहते हैं और बाह्य देह विकारों को उस स्थिति का प्रकाशन मात्र मानते हैं।[६] आचार्य शुक्ल 'किसी भाव के वेग के कारण जो मानसिक शैथिल्य होता है, उसे ग्लानि कहते हैं।' अपने लक्षण के लिए वे साहित्यदर्पण का सहारा लेते हैं और उसे मानसिक-अवस्था में वर्गित करते हैं। वे 'ऊब' और अरुचिजन्य शैथिल्य को भी 'ग्लानि' ही कहते हैं।[७]

ग्लानि के अनुभाव

भरत मुनि ने भूख-पिपासा और निद्राच्छेद आदि अनुभावों से इसका अभिनय बताया है।[८] कार्श्य, कम्प और मन्द गमन भी इसके अनुभाव हैं।[९] क्षीणवचन, नेत्र-विकार, दीनसंचार श्लथ भाव से बार बार अंगों का निदेशन ग्लानि को बताता है।[१०] धनंजय के अनुसार वैवर्ण्य, कम्प, अनुत्साह, क्षाम-वाक्य-अंग-क्रियाएं हैं। शेष अनुभाव निर्वेद के अनुसार जानने का निर्देश दिया गया है।[११] हेमचन्द्र वैवर्ण्य के साथ क्षाम-नेत्र-कपोल तथा उक्ति और अंग शैथिल्य तथा कम्प एवम् दीन-संचार और अनुत्साह से इसका वर्णन करना बताते हैं।[१२] रामचन्द्र-

१. देखिए, र० कु०, तृतीय कुसुम।
२. देखिए, का० क०, चतुर्थ स्तवक।
३. र० क०, पृष्ठ ३०।
४. का० द०, पृष्ठ ६८।
५. सि० अध्य०, १३३।
६. साइ० स्ट० र०, पृष्ठ १३४।
७. र० मी०, पृष्ठ २२५।
८. क्षुत्पिपासा निद्राच्छेदादिभिरनुभावैरभिनयः प्रोक्तव्यः। ना० शा०, ७।२६।
९. वही, ७।२६।
१०. वही, ७।२७।
११. वैवर्ण्य कम्पानुत्साहक्षामांगवचनक्रियाः।
अस्यां च वैवर्ण्यकम्पानुत्साहादयोऽनुभावाः शेषं निर्वेदवदूह्यम्। द० रू०, ४।१०।
१२. वैवर्ण्यक्षामनेत्रकपोलोक्तिश्लथांगत्वप्रवेपनदीनसंचारानुत्साह आदिभिवर्णयेत्।
काव्यानु०, पृ० ९३।

गुणचन्द्र भी कार्श्य-कम्प से क्षामवाक्य-मन्दोत्क्षेप को, वैवर्ण्य-अनुत्साहादि को उपलक्षण बताते हैं।[१] शारदातनय ऊपर बताए इसके अनुभावों के साथ अक्षि-संचार और श्वसनादि को भी बताते हैं।[२] धनंजय ने इन्हें ही 'शेषं निर्वेद-वदूह्यम्' कहकर संकेतित किया है। भानुदत्त निर्व्यापार दृग्भ्रमादि इसके अनुभाव बताते हैं।[३] कविराज विश्वनाथ 'कम्प-कार्श्यागुत्साह' आदि पर बल देते हैं।[४] शार्ङ्गधर ने भी इनको लक्षित करके 'ताप' पर विशेष बल दिया है तथा विद्यानाथ 'अरति' को इसका अनुभाव ठहराते हैं।[५] पण्डितराज जगन्नाथ भी दृग्भ्रमण कहकर अपने अनुभावों को इनकी सीमा पर ले आते हैं।[६] चिन्तामणि ने वैवर्ण्यादिक, देव ने अवयव-शैथिल्य, गुलाम नवी ने क्षीण-वचन-कम्पादि, सोमनाथ ने क्षीणता, भिखारी दास ने दुर्बलता और असहनशीलता, पद्माकर ने वैवर्ण्य और कम्पादि इसके अनुभाव कहे हैं। (पीछे पाद-टिप्पणी में दिये पद देखिए) हरिऔध[७] अनुत्साह, घृणा, उपेक्षा आदि, रामदहिन मिश्र भी अनुत्साहादि ही इसके अनुभाव बताते हैं।[८]

'ग्लानि' के उपरिलिखित अध्ययन का सार निम्नलिखित है—

विभाव—ग्लानि के विभाव हैं—कायक्लेश वा मनस्ताप (मानसिक क्षोभ एवं दुःख), क्षुधा-पिपासादिकृत, आधि-व्याधिजन्य बल हानि अथवा लज्जाजनक कार्य जिसके अनौचित्य का ज्ञान हो।

लक्षण—क्षयात्मक, अवसादात्मक, निष्प्रणातारूप, बलापचयात्मक, अशक्तिरूप, दुःखात्मक, खिन्नतारूप, मन-काय-वाणी के कर्मों को मुरझाने वाली चित्त-वृत्ति का नाम ग्लानि है।

अनुभाव—ग्लानि के आन्तर अनुत्साह, अरति, उपेक्षा आदि हैं तथा बाह्य अनुभाव अंग-शैथिल्य, मंद-संचार, निर्व्यापार, दृग्भ्रमादि एवं कम्प, वैवर्ण्य, ताप, क्षाम आदि (तथा निर्वेद के उपरिकथित अनुभाव भी) हैं।

(३) शंका

'शंका' की व्युत्पत्ति 'शंक्' धातु में कृत्प्रत्यय 'अ' के साथ 'टाप्' के योग से है।

---

१. ना० द०, ३।१६४।

२. कम्पानुत्साह वैवर्ण्यमन्दपदक्रमैः क्षामवाक्याक्षिसंचार कार्श्यांगश्वसनादिभिः ॥
भा० प्र०, पृ० १५।

३. र० त०, पृष्ठ ७४। ४. सा० द०, ३।१७०।

५. अत्र क्षामांगवचनक्रिया तापानुत्साहवैवर्ण्यनयनभ्रमणादयः।—र० सु० २।१३।
वैवर्ण्यारतिकारणम्—प्र० रु०, पृष्ठ २४३।

६. वैवर्ण्य शिथिलांगत्व-दृग्भ्रमण-आदि हेतुः। रगंध०, पृष्ठ २८४।

७. देखिए, र० क०, पृष्ठ ३०। ८. का० द०, पृष्ठ ६८।

आप्टे के कोश में 'शंक्' धातु के निम्नलिखित अर्थ दिए गए हैं[१]—

(१) सन्देह करना, अनिश्चित होना, हिचकिचाना, संशयपूर्ण होना, (२) भयित होना, डरना, भीत होना, (३) दोषी मानना, अविश्वास करना, (४) समझना, प्रत्यय करना, कल्पना करना, सम्भावना करना, दोषानुमान करना, भय मानना, (५) आपत्ति उठाना, सन्देह वा आपत्ति उपस्थित करना।

'शंका' के अर्थ वहाँ इस प्रकार दिए हैं[२]—

(१) सन्देह, अनिश्चय, (२) हिचकिचाहट, शुबहा, शक, (३) अविश्वास, अप्रतीति, भ्रम, (४) डर, आशंका, भय, त्रास, (५) आशा प्रत्याशा, (६) ख्याल, सम्भावना, उत्प्रेक्षण।

भरत मुनि ने 'शंका' को 'चोरी-लूट-खसोट-राजापराध, पाप कर्मों आदि से उत्पन्न सन्देहात्मक वृत्ति' निरूपित किया है। उन्होंने 'शंका' के दो भेद माने हैं—(१) आत्मसमुत्था, (२) पर-समुत्था। उनके मत से यह स्त्री और नीच जनों में होती है।[३] असंग ने सन्देह को मन के सहायों के अन्तर्गत गिनाया है। (देखिए द० दि०, पृष्ठ ७२०) और इसे चैतसिक धर्म कहा है, अतः उनके अनुसार शंका को मन की सहाय कहना उचित होगा। अग्निपुराण में इसे "शंकाऽनिष्टागमोत्प्रेक्षा' कहा है। (देखिए अ० का० भा० ३।२२)। धनंजय ने शंका को 'अनर्थप्रतिभान कहा है तथा उन्होंने भी उसे पर-क्रौर्य से और स्वदुर्नय से द्विविध उत्पन्न बताया है।[४] हेमचन्द्र ने अनिष्ट उत्प्रेक्षा को शंका कहा है और 'स्वस्मिन्' और 'परस्मिन्' द्विविध रूप में स्वीकार किया है।[५] रामचन्द्र गुणचन्द्र इसे स्व-पर दौरात्म्य से उत्पन्न 'दोलनं' कहते हैं। 'दोलन' का अर्थ उन्होंने क्षोभ-सन्देह से चेत का 'अनवस्थित्व' बताया है।[६]

---

१. To doubt, be uncertain, hesitate, be doubtful, 2. to dead fear, be afraid, 3. to auspect, mistrust, distrust, 4. to think, believe, fancy, imagine, think probable, suspect, 5. to start an objection, raise a doubt or objection.

२. 1. Doubt, uncertainly, 2. Hesitation, scruple, 3. Suspicion, distrust, misgiving, 4. fear, apprehension, dread, alarm, 5. hope, expectation, 6. presumption.

३. चौर्याभिग्रह नृपापराध पापकर्मकारणादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते सन्देहात्मिका वृत्तिः स्त्री-नीचानाम्—ना० शा०, ७।२८।
द्विविधा शंका कार्या हि आत्मसमुत्था च परसमुत्था च। ना० शा०, ७।३०।

४. अनर्थ प्रतिभा शंका परक्रौर्यात्स्वदुर्नयात्।—द० रू०, ४।११।

५. शंकानिष्टोत्प्रेक्षा, चोर्योदिः स्वपरयोः शंका पार्श्वविलोकनादिकृत्। काव्यानु० १, पृ० ८५।

६. शंका स्व-पर दौरात्म्याद् दोलनं श्यामतादियुक्। दौरात्म्यमकार्यकरणम्। उपलक्षण-त्वाच्चास्य सादृश्यादयोऽपिविभावाः ग्राह्याः। दोलनं क्षोभ-संदेहाभ्याम्-अनवस्थित्वं चेतसः। —ना० द०, ३।१८६।

शारदातनय ने भी इसे स्त्री नीच प्रकृति में आश्रय लेने वाली बताया है और सन्देहरूपा कहा है तथा भरत मुनि की ही भांति 'स्वात्मोत्था' एवं 'परोत्था' द्विविध विभाग किए हैं।[1] शारदातनय ने 'शंका' का निर्वहण 'शं सुखं कुत्सयति या सा शंकेत्यभिधीयते', भाव प्रकाशन पृष्ठ २८, कह कर किया है। शिंगभूपाल 'शंका' 'स्वानिष्टोत्प्रेक्षणं' और विद्यानाथ इसे 'अनिष्टाभ्यागमोत्प्रेक्षा' कहकर निरूपित करते हैं।[2] शिंगभूपाल 'स्वकार्यजनित' शंका को स्वोत्था कहते हैं। कविराज विश्वनाथ इसे 'अनर्थ का तर्कण' परिभाषित करते हैं।[3] भानुदत्त ने इसे 'उत्कटकोटिक अनिष्ट प्रतिसंधान अथवा अनिष्ट हानि का विचार' कहा है।[4] पण्डितराज जगन्नाथ इसे 'भविष्य की अनिश्चित स्वानिष्ट चिन्तनात्मक चित्तवृत्ति' कहकर निरूपित करते हैं।[5]

चिन्तामणि के मत में 'अवनीति अथवा बुराई से दबने पर मन में जो 'संकोच' उत्पन्न होता है, उसे 'शंका' कहते हैं।[6] देव 'अपराधादि वा अनीति से उत्पन्न कम्प को अथवा छिपाव करने को' शंका कहते हैं।[7] परन्तु यह लक्षण तो अनुभावों पर आश्रित है। कुलपति मिश्र इसे 'इष्टवस्तु की हानि की सम्भावना' कहते हैं।[8] गुलामनवी इसे स्वापराध या अवगुण से अथवा कुछ 'चवाव' देखकर उत्पन्न मानते हैं। परन्तु इन्होंने भी इसका अर्थ प्रकट नहीं किया।[9] सोमनाथ इसे 'इष्टवस्तु की हानि का भय' कहकर निरूपित करते हैं।[10] भिखारी

---

१. चोर्याभिग्रहपापादिकर्मक्ष्मापापराधजा शंका सन्देहरूपा स्यात् स्त्रीनीच प्रकृतिश्रिता
स्वात्मोत्था व परोत्थेति सा पुनर्द्विविधा भवेत्।—भा० प्र०, १ अधिकार।

२. शंका चौर्यापराधादे स्वानिष्टोत्प्रेक्षणं मतम्।—र० सु०, २।२६।
स्वकार्यं जनिता स्वोत्था। र० सु०, २।२८।
अनिष्टाभ्यागमोत्प्रेक्षा शंका।—प्र० रू०, पृष्ठ २४४।

३. परकौर्यात्मदोषाद्यैः शंकानर्थस्य तर्कणम्। —सा० द०, ३।१६१।

४. र० त०, पृष्ठ ७५।

५. किमनिष्ट मम भविष्यतीत्याकारचित्तवृत्तिविशेषः शंका।—रगंध०, प्रथमाननम्।

६. कौनौ कै अवनीति के दबनि बुराई हेत।
जो मन में संकोच सो संका कहें सचेत॥ क० कु० क० त०, ७।२३।

७. अपराधादि अनीति करि कंपै करै छिपाव।
ताही को शंका कहैं, सबै कविन के राय॥ भा० वि०, पृष्ठ ३०।

८. वस्तु भावती हानि को, उर पुनि शंका मानि। र० र०, ३।१६।

९. निज ते कछु अवगुन भये कै चवाव कछु देखि।
उपजै संका जानिये इत उत लखन विसेखि॥ र० प्र०, ६।१०।

१०. वस्तु चाहती हानि भय ताको संक बताय। र० पी० नि०, ७।२२।

दास इसे 'इष्टहानि' के भय से उत्पन्न दिन रात चित्त पर चढ़े रहने वाला 'विचार' बताते हैं।[१] पद्माकर भट्ट ने इसे 'हृदय का अति शोच' ठहराया है जो स्वानय अथवा दुर्जन की क्रूरता का भान कर उत्पन्न होता है।[२] वेनी प्रवीन इसे 'अनिश्चित भविष्य-भय-रूप' मानते हैं।[३] प्रतापसाहि भी इसे 'स्वापराध का आन्तरिक भय' स्वीकार करते हैं।[४] भानुकवि ने इसका अंग्रेजी नाम 'एप्रिहेन्शन' दिया है। परन्तु हिन्दी में कारण बताये हैं, अर्थ नहीं बताया।[५] प्रतापनारायण सिंह जी इसे 'विषम अनिष्ट या इष्ट हानि का विचार' परिभाषित करते हैं।[६]

कन्हैयालाल इसे 'अनिष्ट सम्भावना' मानते हैं।[७] अयोध्यासिंह उपाध्याय इसे 'इष्ट हानि का विचार' स्वीकार करते हैं।[८] आचार्य शुक्ल के मत से शंका तो भय का ही वितर्क-प्रधान रूप है जो आलम्बन के दूरस्थ होने पर प्रकट होता है। इसमें वेग नहीं होता और न आलम्बन उतना स्फुट होता है। इसका प्रादुर्भाव या तो स्वतन्त्र रूप में होता है अथवा भय की स्थायी दशा में, भावदशा में नहीं होता जबकि अनिष्टकारी या अनिष्ट बिलकुल पास आया रहता है। वितर्क और शंका में भेद यह है कि वितर्क में अनुमान का गमन इष्ट और अनिष्ट दोनों पक्षों में बारी-बारी से हो सकता है, पर 'शंका' में 'भय' के लेश के कारण अनुमान अनिष्ट पक्ष में ही जाया करता है।[९] बाबू गुलाबराय के मत में शंका 'भावी अनर्थ की चिन्ता' है।[१०] राकेश गुप्त ने पण्डितराज जगन्नाथ की परिभाषा को स्वीकार किया है।[११] "इष्ट-हानि और अनिष्ट का अन्देशा होना" शंका संचारी है, यह रामदहिन मिश्र का मत है (का० द०, पृष्ठ ६८)।

शंका के अनुभाव

भरतमुनि के अनुसार शंका के अनुभाव हैं—बार-बार देखना, मुंह छिपाना, मुख-सूखना, जीभ-परिलेहन, मुख-निर्वर्णता, कम्प, ओष्टशुष्कता आदि। कोई कोई आकार-संवरण

---

१. संका इष्ट हानि भय पाई। तेहि विचार दिन रैन गंवाई। र० सा० छं०, ४८६।

२. कै अपनी दुर्नीति कै दुवन क्रूरता भानि।
आवै उर में सोच अति सो संका पहचानि ॥ जगद्वि० ४।१४।

३. कहा कहै हमको कोऊ यह भय मन में होय।
संका तासों कहत हैं पण्डित ग्रन्थ बिलोई ॥ न० र० त०, छं० ३१६ ॥

४. डर जिय निज अपराध को सोई संका जानि। का० वि०, ३।३२।

५. इष्टहानि दुर्नीति तें हो मन में अति शंक। र० रत्ना०, संचारी भाव।

६. देखिए—र० कु०, तृतीय कुसुम।

७. का० कल्प०, चतुर्थ स्तवक

८. र० क०, पृष्ठ ३१।

९. र० मी०, पृष्ठ २१५।

१०. सि० अध्य०, पृष्ठ १३२।

११. साइ० स्ट० र०, पृष्ठ १३५।

की भी इच्छा करते देखे जाते हैं।[१] धनंजय के मत से कम्प, शोष, अभिवीक्षा तथा वर्ण और स्वर भेद हैं।[२] हेमचन्द्राचार्य भी सात्त्विकों में "मुख-ओष्ठ-कण्ठ-शोषण, गात्रक्रम्पन, स्वर-मुख-वर्णभेद" पर बल देते हैं।[३] इसी प्रकार रामचन्द्रगुणचन्द्र भी उपर्युक्त समस्त अनुभावों का संकलन करते हैं।[४] शारदातनय ने स्वरभेद के साथ 'अश्रु' का उल्लेख और किया है।[५] 'अवकुण्ठन' की ओर उन्होंने विशेष ध्यान दिया है तथा आकार संवृत्ति भरतमुनि की ही भांति उल्लिखित की है। तथा "तारापुटभ्रूदृष्टीनां विकारानिंगितं विदुः" के द्वारा अधिक स्पष्टता देने का प्रयत्न किया है।[६] कविराज विश्वनाथ ने संक्षेप में "वैवर्ण्य-कम्प-वैस्वर्य-पार्श्वविलोकास्यशोषकृत्' कहा है। भानुदत्त ने इसके अनुभाव 'कम्प-क्रिया-गोपन आदि' बताये हैं।[७] पण्डितराज जगन्नाथ अनुभावों में वैवर्ण्यादि को स्थान देते हैं। चिन्ता और शंका का भेद करते हुए वह कहते हैं कि शंका भययुक्त होने के कारण कम्पादि उत्पन्न करती है जबकि चिन्ता से ऐसा नहीं होता।[८] रीतिकालीन आचार्यों ने प्रायः विभावों का वर्णन किया है, अनुभावों का नहीं।[९] अयोध्यासिंह इसके लक्षण 'विवर्णता-कम्प-स्वरभंग इधर-उधर दृष्टिपात-मुंहसूखना आदि' लिखते हैं।[१०]

'शंका' के उपरिलिखित अध्ययन का सार निम्नलिखित है—

विभाव —स्व-दुर्नय और पर-दुर्नय शंका के विभाव हैं। इसकी उत्पत्ति के लिए विभाव अस्फुट एवं दूरस्थ होता है। इसके आश्रय अस्थिर-चित्त एवं तुच्छ स्वभाव वाले होते हैं।

लक्षण —इस सन्देहरूपा चित्तवृत्ति से मन संकुचित एवं अनवस्थित हो जाता है। इसमें वेगहीन, वितर्क-प्रधान एवं अनिश्चित भय रहता है जो भावी अनिष्ट की अनिश्चित सम्भावना करता है। असंग के अनुसार यह मन की सहाय और चैतसिक धर्म है।

अनुभाव—इसके आन्तर अनुभाव हैं—अनिष्ट चिन्तन, बेचैनी, चित्त-अस्थैर्य जिसमें अवहित्था और वितर्क का भी अंश रहता है। इसके बाह्य अनुभाव हैं—कम्प, वैवर्ण्य, स्वरभंग, मुख-शोषादि तथा पुतलियों का संचालन, बार-बार देखना, क्रियागोपन, अवगुण्ठनादि।

---

१. ना० शा०, ७।२८-३०।
२. द० रू०, ४।११।
३. काव्यानु०, २ अध्य०, पृष्ठ ९१।
४. ना० द०, ३।१८६।
५. स्वरभेदोऽश्रु –भा० प्र०, १ अधिकार।
६. भा० प्र०, १ अधिकार।
७. र० त०, पृष्ठ ७५।
८. रगंध०, प्रथमाननम्।
९. देखिए, ऊपर दी गई पाद-टिप्पणी के दोहे।
१०. देखिए, र० क०, पृष्ठ ३१।

(४) **असूया**

'असूया' के मूल में 'अस्' धातु है एवं उसमें कण्ड्वादिगण का 'यक्', तत्पश्चात् 'अ' प्रत्यय, जो स्थिति वा सत्ता-द्योतक है, पुनः स्त्री-प्रत्यय 'टाप्' का योग हुआ है।

आप्टे के कोश में 'अस्' धातु के निम्नलिखित अर्थ दिए हैं[1]—

१—ईर्ष्या करना, डाही होना, २—बट्टा लगाना, ३—बड़बड़ाना, अनख दिखाना, नाखुश होना, घृणा करना, असन्तुष्ट होना या नाराज होना।

'असूया' के निम्नलिखित अर्थ दिए गए हैं[2]—

१—ईर्ष्या, असहिष्णुता, डाह, २—अपवाद, लांछन, डाह, जलन, ३—क्रोध, रोष।

भरतमुनि इसे अनेक अपराधों, द्वेष और परैश्वर्य-सौभाग्य-मेधा-विद्या-लीलादि से उत्पन्न मानते हैं।[3] बौद्ध दार्शनिक असंग के अनुसार यह चैतसिक धर्म है और मन के सहायों में परिगणित है (देखिए द० दि०, पृष्ठ ७२०) धनंजय ने इसे 'ईर्ष्या' भी कहा है और परोत्कर्ष-अक्षमा-वृत्ति कहकर स्पष्ट किया है तथा गर्व, दौर्जन्य तथा मन्यु (१—क्रोध, रोष, कोप, २—दुःख, शोक, ३—दुर्दशा, तुच्छता) से उत्पन्न होता बताया है।[4] अग्निपुराणकार 'असूया' को 'मत्सर' नाम देकर स्पष्ट करते हैं।[5] हेमचन्द्राचार्य ने इसे 'अक्षमारूपा' ही कहा है।[6] रामचन्द्रगुणचन्द्र ने इसे "सद्गुणों को क्षय करने वाली और दोषदर्शिनी" कह कर स्पष्ट किया है और इसके विभाव वही बताते हैं जो ऊपर बताए गए हैं।[7] शारदातनय ने इसका निर्वचन इस प्रकार किया है—

"असूर्याति यथा सूयाऽ (न्या) यापयेत्सूयतेऽन्यथा।
साऽसूयेति समाख्याता सर्वत्र रस-कोविदैः॥
असूया सा यया याति प्राणिनामसुरुत्थितः। भा० प्र०, पृष्ठ २८।

---

१. 1. to envy, to be jealous of 2. to detract from, 3. to murmur, grumble at, be displeased with, scorn, be discontented with or angry with.

२. 1. Envy, intolerance, jealousy, 2. calumny, detraction, 3. anger, indignation.

३. असूया नाम नानापराधद्वेषपरेश्वर्यसौभाग्यमेधाविद्यालीलादिभिर्विभावैरुत्पद्यते।
—ना० शा०, ७।३१।

४. परोत्कर्षाक्षमा असूया गर्वदौर्जन्यमन्युजा। द० रू०, ४।१७।

५. स्यादसूया च मत्सरः। अ० पु० का० ३।२३।

६. असूया-अक्षमा।—काव्यानु०, पृष्ठ ८५।

७. द्वेषादेः सद्गुणाक्षान्तिरसूया दोषदर्शिनी। ना० द०, ३।१८७।

(असूया वह है जिससे न्यायान्याथ चला जाये, अथवा जिससे प्राणियों की 'असु' शक्ति अन्यथा उत्थित होकर चलती है, वह असूया है।)

शिगभूपाल इसे गुण में भी दोषारोपरूपा स्वीकार करते हैं और "परसौभाग्य-सम्पत्ति-विद्या-शौर्यादि" से उत्पन्न मानते हैं।[1] विद्यानाथ इसे "परोत्कर्ष की असहिष्णुता' कहते हैं।[2] भानुदत्त ने इसके विभाव दुर्जनता, मन्यु आदि बताये हैं तथा इसे "परोत्कर्षा असहिष्णुता अथवा परअनिष्ट की चिकीर्षा बताया है।[3] कविराज विश्वनाथ ने इसे "उद्धता-पूर्वक अन्य के गुण और ऋद्धि के प्रति असहिष्णुता" बताया है।[4] पडितराज जगन्नाथ इसे 'परनिन्दादिकारिणीभूत चित्तवृत्ति-विशेष' कहते हैं, और 'परोत्कर्षदर्शनादिजन्य' मानते हैं तथा इसको अन्य नाम 'असहन वा असहिष्णुता' देकर स्पष्ट करते हैं।[5]

केशव ने इसे 'निंदा' नाम दिया है, (देखिए रसिक प्रिया ६।१३)। चिन्तामणि ने 'ईर्ष्या' नाम से अभिहित किया है तथा 'असहनशीला-वृत्ति' माना है। देव इसे अधिकार (योग्यतादि) न सहने वाली मन की दुष्टता बताते हैं जो क्रोध, कुबोध तथा विरोध से उत्पन्न होती है।[7] देव ने 'कुबोध' शब्दको स्थान देकर समस्त पूर्वाग्रहों को भी इसके कारणों में समेट लिया है और व्यापक स्तर पर पहुंच गए हैं। कुलपति मिश्र इसे 'पर-भले को अनसहिबो' कहकर अवकाश ले लेते हैं।[8] गुलामनवी ने इसे विभावादि से वर्णित किया है और 'असूया' नाम दिया है।[9] सोमनाथ ने भी इसे केशव की भांति 'निन्दा' नाम दिया है और 'पर-शुभ दर्शन अक्षमता' बताया है।[10] परन्तु 'श्रृंगार विलास' में 'असूया' नाम भी दिया है।[11]

---

१. गुणेऽपि दोषारोपः स्यादसूया।—र० सु०, २।८४-८५।

२. परोत्कर्षा सहिष्णुत्वमसूया परिकीर्तिता। प्र० रू०, पृष्ठ २४४।

३. परोत्कर्षासहिष्णुता परानिष्टचिकीर्षा वा असूया। तत्र विभावा मन्युदौर्जन्यादयः।
—र० त०, पृ० ७६।

४. असूयान्यगुणर्द्धीनामौद्धत्वादसूयासहिष्णुता। सा० द०, ३।१६६।

५. परोत्कर्षदर्शनादिजन्य परिनिन्दादिकारिणीभूताश्चित्तवृत्तिविशेषाऽसूया।
इमामेवासहनादिशब्देर्व्यवहरन्ति।—वही। —रगंध०, प्रथमाननम् भावध्वनि।

६. जो समृद्धि पर गुनन की उत्तर सही न जाय।
भ्रू भंगादि ईर्ष्या बरनी बुद्धि बनाय। क० कु० क० त०, ७।४०।

७. क्रोध, कुबोध, विरोध तें सहै न यह अधिकारु।
उपजै जहं जिय दुष्टता, सु असूया अवधारु॥ भा० वि०, पृ० ३१।

८. अनसहिबो पर-भले को, नहीं असूया होय। र० र० ३।२०।

९. परगुन दरब बिलोकि कै होत असूया आनि।
जोग कथन उपवाचन तें प्रकट लीजिए जानि। र० प्र०, छं० ८२०।

१० सुभ न लखि सकै और को सो निन्दा सरसानि। र० पी० नि० ७।२१।

११. पर को भलौ न लखि सकै सु बह असूया जानि। श्रृं० वि०, छं० २२।

भिखारीदास इसे 'ईर्ष्या' नाम से ही परिलक्षित करते हैं। इससे 'परभदेस' ही मन में जगह पाता है तथा दूसरे का गुन-गर्व सहन नहीं होता।[१] पद्माकर भट्ट इसे 'पर-सुखासहनशीलता' मानते हैं।[२] बेनी प्रवीन इसे 'अन्य की अति समृद्धि के प्रति असहिष्णुता' परिलक्षित करते हैं।[३] प्रतापसाहि इसे 'परोत्कर्षासहन' कहते हैं।[४] भानुकवि ने इसका अंग्रेजी पर्याय 'एन्वी' दिया है तथा 'परसुखासहन' बताया है।[५] प्रतापनारायण सिंह जी इसे 'दूसरे के उत्कर्ष का असहन वा उसके हानि पहुंचाने की इच्छा' परिभाषित करते हैं।[६] कन्हैयालाल पोद्दार इसे 'दूसरे का उत्कर्ष देखकर उसकी निन्दा करना' कहकर निरूपित करते हैं।[७] अयोध्यासिंह उपाध्याय इसे "दूसरे के उत्कर्ष का असहन और उसके हानि पहुंचाने की इच्छा" निर्धारित करते हैं।[८] रामदहिन मिश्र के मत में यह 'परोन्नति का असहन और उसकी हानि की चेष्टा' है।[९] आचार्य शुक्ल इसे स्वतन्त्र विषययुक्त भावों की श्रेणी में रखते हैं।[१०] बाबू गुलाबराय इसे "दूसरे विशेषकर सपत्नी के सुख-वैभव से ईर्ष्या" वाक्यांश से निरूपित करते हैं।[११] इसमें ईर्ष्या की इस विशिष्टता की ओर प्रच्छन्न संकेत मिलता है कि ईर्ष्या-असूया समानपदीय अथवा समान माने हुए, परिचित व्यक्ति के ही प्रति हो सकती है। डॉ० राकेश गुप्त ने रस-गंगाधरकारका ही लक्षण अपने विवेचन का आधार बनाकर इसे 'परोत्कर्ष से उत्पन्न असुख वा खेद' कहा है।[१२]

असूया के अनुभाव

इस भाव में एक विशेषता सर्वत्र दिखाई पड़ती है कि इसमें किसी सात्त्विक-भाव का प्रस्फुटन नहीं होता। और, सब अनुभाव प्रयत्न-साध्य हैं। नीचे स्पष्टता के लिए अनुभावों का वर्णन किया गया है।

भरतमुनि इसके अनुभाव 'दोष प्रख्यापन, गुणोपघात, चक्षुःप्रदान, उत्कटमुख, अधोमुख-भृकुटीक्रिया, अवज्ञान-कुत्सनादि' बताते हैं।[१३] धनंजय इसके अनुभाव संक्षेप में दोषोक्ति, अवज्ञा, भृकुटिमन्युक्रोधेंगित आदि बताते हैं।[१४] हेमचन्द्र इसे 'अवज्ञादिकृत' कहकर समाप्त करते हैं।[१५] रामचन्द्र गुणचन्द्र इसके अनुभावों में 'सद्गुणाज्ञान-क्रियादि' इसके विशिष्ट धर्म

१. इरषा पर-भदेस जिय आवै। सहि न जाइ गुन गर्व परावे॥ र० सा०, छं०-४६३।
२. सहि न सके सुख और को, वह असूया जानि।
क्रोध, गर्व, दुख, दुष्टता, ये सुभाव अनुमान। जगद्वि, २।१७।
३. सही जात नहिं और की अति समृद्धि जेहिं ठौर।
सोई असूया जानिये वचन व्यंग्य तेहि ठौर॥ न० र० त०, छं० ३२०॥
४. पर उत्कर्ष न चित्त सहै यहै असूया भाव। का० वि०, ३।३३।
५. सहि न सकै सुख और को यहै असूया जानि। र० रत्ना०, संचारी भाव।
६. र० कु०, ३ कुसुम—संचारी भाव। ७. का० कल्प०, चतुर्थ स्तवक।
८. र० क०, पृ० ३२। ९. क० द०, पृष्ठ ६८। १०. र० मी०, पृष्ठ २०७।
११. सि० अध्य०, पृष्ठ १३३। १२. सा० स्ट० र०, पृष्ठ १३७।
१३. ना० शा०, ७।३१-३२। १४. द० रू० ४।१७। १५. काव्यानु०, २।६७।

बताते हैं तथा दोषों और वंचकतादि को, न होते हुए भी, देखना बताते हैं, तथा भ्रू-भंग, अवज्ञा, अनुभाव मानते हैं।[१] शारदातनय ने भी भरतमुनि द्वारा बताये अनुभावों का ही वर्णन किया है।[२] कविराज विश्वनाथ ने इसके अनुभाव 'दोषोद्घोष, भ्रूविभेद, अवज्ञा, क्रोध-इंगितादि' कहकर वर्णन किए हैं।[३] भानुदत्त ने इसके अनुभाव कोप-चेष्टा दोषाद्भावन आदि कहे हैं।[४] पण्डितराज जगन्नाथ ने 'परनिंदादि क्रोधेंगितादि तथा निजअधरदंशनादि' इसके अनुभाव कहे हैं।[५]

असूया के उपरिलिखित अध्ययन का सार निम्नलिखित है—

विभाव—असूया पूर्वाग्रहों से जनित, क्रोध, कुबोध, एवं विरोध से युक्त गर्व, दौर्जन्य अथवा द्वेष से उत्पन्न होती है।

लक्षण—असूया परिचित के परोत्कर्ष को न सह सकने वाली, अक्षमारूपा, न्याय-युक्तता को तिलांजलि देने वाली सद्गुण-क्षय-कारी, परदोष-दर्शनी, पर-निन्दा तथा पर-अनिष्ट-चिकीर्षा है। बौद्ध दार्शनिक असंग के अनुसार यह चैतासिक धर्भ है और मन के सहायों में परिगणित है।

अनुभाव—असूया के अनुभाव हैं—दोषारोप, निन्दा, कुत्सना, अवज्ञान, आत्म-अनुपकारक के प्रति क्रोध-रोष, सद्गुण-ज्ञान अपहरण तथा भृकुटि-भंग एव अधरदंशन आदि। द्रष्टव्य है कि इसमें कोई सात्त्विक अनुभाव उदय नहीं होता।

(५) मद

'मद' की व्युत्पत्ति है—'मद्' धातु के साथ 'अच्' कर्मवाच्य प्रत्यय का योग, अथवा भावे 'घञ्' प्रत्यय का योग।

आप्टे के कोश में 'मद्' धातु के निम्नलिखित अर्थ दिये गए हैं[६]—

(१) पिये होना या नशे में चूर होना, (२) उन्मत होना, पागल होना, (३) विलास करना या धूम मचाना, (४) आनश्चित होना या उल्लसित होना, आनन्दपूर्ण संतृप्ति प्राप्त करना, (६) चरम सुखोपभोग करना।

'मद्' का व्युत्पत्ति-जन्य अर्थ हुआ—

---

१. ना० द०, ३।१८७। २. भा० प्र०, १।
३. सा० द०, ३।१६६। ४. र० त०, पृष्ठ ७६।
५. रगंध०, १।३२५।
६. 1. To be drunk or intoxicated, —Shishupalwadha, 2. To be mad, 3. to revel in, 4. to be glad or rejoiced, 5. to satisfy, to delight, gladden, 6. to enjoy supreme felicity.

नशे वा प्रसन्नता वा धूम मचाने वा आनन्द वा सुखोपभोग का विषय।

आप्टे के कोश में मद (मद+अच्) के निम्नलिखित अर्थ दिये गये हैं—

(१) मतत्ता, पियक्कड़ता, मतवालापन, (२) पागलपन, बेहोशी, (३) प्रचण्ड या सघन आवेश, लम्पट वा चंचल लालसा, (४) मदजल, (५) प्रेम, कामना, ललक, (६) गर्व, घमण्ड, मिथ्याहंकार, (७) हर्षातिरेक, चरमानन्द, (८) शराब से उत्पन्न सुस्ती, दुर्बलता, (९) मधु, (१०) कस्तूरी, (११) शुक्र, (१२) सोम, (१३) सुन्दर वस्तु, (१४) सरिता (१५) सुन्दरता।[१]

मो० वि० के कोश में मद के निम्नलिखित अर्थ दिये गये हैं। कोष्ठक में उन पुरातन ग्रन्थों के नाम, जिनमें वह प्रत्युक्त है, दिये गये हैं—

(१) आल्हाद, चुहल, हर्षोन्माद, आनन्दसंमोह, उत्तेजना, अनुप्रेरण, मत्तता, (आत्रेय ब्राह्मण), (२) सघन लालसा (महाभारत), (३) कामेच्छा या भोग, लम्पटता, मदक्षरता, मद (महाभारत), (४) गर्व, घमण्ड, ढिठाई, गुमान, मिथ्याहंकार, (५) मादक पेय, सोम, मदिरा (ऋग्वेद), मधु [रघुवंश], मदजल [महाभारत], कस्तूरी, सुन्दर वस्तु।

भरतमुनि ने 'मद' को 'मद्य' के उपयोग से उत्पन्न बताया है और कार्य से तरुण, मध्यम तथा अवकृष्ट बताया है और अनुभाव में पंचविध कहा है—गाना, रोना, हंसना, परुष वचन कहना और सोना। उनकी सम्मति में उत्तमसत्त्व सोता, गाता और हंसता है। मध्यम प्रकृति परुष वचनों का अभिधान करता है एवम् अधम प्रकृति रोता है। असंग मुनि ने इसे मन का विशेष कर्म कहा है (दे०, द० दि०, पृष्ठ ७२०)। धनंजय के मत में 'हर्षोत्कर्ष' का नाम 'मद' है, और, यह उत्तम-मध्यम-अधम में क्रमशः नींद-हास-रोदन से दृष्टव्य है, पान से

---

१. 1. Intoxication, drunkenness, inebriety —Kadambari, 2. Madness, insanity, 3. ardent passion, wanton or lustful passion, lasciviousness, lust, —Shishupal Wadha, 4. Rut, ichor, —Chandralok, 5. love, desire, ardour, 6. pride, arrogance, conceit, 7. Repture, excessive,, delight, 8. spirituous languor, —Shukraniti, 9. Honey, 10. Musk, 12. semen virile, 12. soma, 13. any beautiful object, 14. river, 15, beauty.

—Apte's San. Eng. Dictionary.

२. Hilarity, rapture, excitement, inspiration, intoxication, —Ar. Brahmana, ardent passion for, —Maha; sexual desire or enjoyment, wantonness, lust, ruttishness, rut —Maha; pride, arrogance, presumption, conceit of or about any exhilarating or intoxicating drink, soma, wine, verile—Lexion; musk, any beautiful object.

—M.W. San. Eng. Dictionary.

३. मदो नाम मद्योपयोगादुत्पद्यते। स च त्रिविधः पंचविध भावश्च। ना० शा०, ७।३३-४१।

यह उत्पन्न होता है।[१] अग्निपुराण में इसे 'मदिरादि' के उपयोग से उत्थित 'मन-संमोहन' बताया गया है।[२] हेमचन्द्र भी इसे 'मद्यपान से उत्पन्न आनन्द और संमोह का संगम' कहते है।[३] रामचन्द्रगुणचन्द्र भी इसे 'मद्य' से उत्पन्न 'आह्लाद और मद' का मिश्रण कहते हैं।[४] और मनोरंजन के लिए किया हुआ 'मद्यपान' मद व्यभिचारी हुआ करता है; ऐसा मद्यपान कार्य में विघ्न डालने वाला होता है। अतः उसे भयादि से उतार देने का परामर्श वे भारत मुनि की ही भांति देते हैं।[५]

शिंगभूपाल ने भी इसे 'आनन्दसम्मोह-संभेद' कहा है और मदिराकृत बताया है[६] तथा विद्या ने इसे 'मोहहर्ष' की अभिव्यक्ति करने वाला कहते हैं।[७]

शारदातनय ने इसे मद्य के उपयोग के साथ-साथ स्पष्ट रूप से ऐश्वर्य विद्या तथा उच्च कुल में जन्म से एवम् उत्तम स्त्री के रमण आदि से भी उत्पन्न माना है।[८] मद्योपयोगज 'मद' को ही वे भरतमुनि की भांति तरुण, मध्यम और अवकृष्ट त्रिधा विभाजित करते हैं और उपर्युक्त पंचकरण बताते हैं। तथा उसके भेद मानवी प्रकृति के आधार पर ज्येष्ठ, मध्य और कनिष्ठ प्रकृति निश्चित करते हैं।[९] उन्होंने 'मद' शब्द का निर्वहण इस प्रकार किया है—

"ण शब्दार्थो मतिमानेस्तद्ददानातखण्डनान्मदः" भा० प्र०, पृष्ठ २८।

कविराज विश्वनाथ इसे "संमोहानन्द संभेद" बताते हैं तथा मद्य के उपयोग से ही

---

१. हर्षोत्कर्षो मदः पानात्स्खलदंगवचोगतिः
निद्राहासोऽत्ररुदितं ज्येष्ठमध्यामादिषु। द० रू० ४।२१।

२. मदिराद्युपयोगोत्थं मन समोहनं मदः। अ० पु० का०, ३।२३।

३. मद्योपयोगान्मदः। काव्यानुः। पृ० ८८। मद्यपानान्दसंमोहयोः संगमो मदः। काव्यानु०, पृष्ठ ८६।

४. ज्येष्ठादौ मुन्मदौ मद्यात् निद्राहास्याश्रुकृत् क्रमात्। ना० द०, ३।१८८।

५. यत्र पुनः पात्रं पीतमद्यमेव प्रविशति, तस्य त्रासादिना मदोऽपनेयोन्यथा कार्यव्याघातः स्यादिति ना० द०, पृष्ठ ३३४।
मिलाइए—कार्यो मदक्षयो वै यः खलु पीत्वा प्रवोष्टस्य ते।
स त्रासाच्छोकाद्वा भयाच्च हर्षाच्च कारणोपगतः।
वक्रोक्त्यापि हि कार्यो मदप्रणाशस्तथोनज्ञैः। (तथा तज्जैः) ना० शा०, ७।३६-४०।

६. यदस्त्वानन्दसम्मोहसम्भेद मदिराकृत्। र० सु०, २।१६।

७. मदिरादिकृतो मोहहर्षव्यक्तिकरो मदः। प्र० रु०, पृष्ठ २४५।

८. मद्योपयोगादैश्वर्याद्विद्यया चापि जन्मतः।
उत्तमस्त्रीपरिष्वंगान् मदः सम्पद्यते नृणाम्। भा० प्र०, पृष्ट १६।

९. भा० प्र०, पृष्ठ १६-१७।

मानते हैं।[१] भानुदत्त ने मद को हर्षोत्कर्ष कहकर परिभाषित किया है और दुःख से असंभिन्न सुखानुभव को "उत्कर्ष" नाम कहकर दुःख से भिन्न और सुखानुभव से पृथक् किया है।[२] पण्डितराज जगन्नाथ इसे मद्यादि के उपयोग से उत्पन्न मानते हैं और उल्लास नाम देते हैं।[३]

चिन्तामणि ने इसे "धन, विद्या, रूप और आसव-यौवन और जाति" से उत्पन्न माना है। इनके लक्षण में ध्यान देने की बात यह है कि "आसवपान" को एक सामान्य, प्रमुख नहीं, और चतुर्थ कारण बताया गया है।[४] देव इसे 'आसवपान' से उत्पन्न 'हृदयोत्थित हर्ष' कहते हैं। संमोहन का लक्षण उन्होंने गौण रखा है अथवा छोड़ दिया दिखता है।[५] कुलपति मिश्र इसे 'अति आनन्द से उत्पन्न मोह' निरूपित करते हैं।[६] गुलामनवी इसे चिन्तामणि की भांति और शारदातनय के अनुसार "मदिरा, विद्या, द्रव्य तथा यौवनोद्भव" से उत्पन्न मानते हैं।[७] सोमनाथ इसे "विनोद की मत्तता" कहते हैं। तथा श्रृंगार-विलास में इसे "मोद-मोहित" मन की वृत्ति बताते हैं।[८] भिखारीदास इसे "गर्व और परितृप्ति तथा मत्तता" का मिश्रण मानते हुए दिखते हैं।[१०] पद्माकर भट्ट इसे धन, जौवन, रूपादि के अथवा चतुर्थ स्थान पर 'मदपान' के कारण उत्पन्न मानते हैं।[११] बेनी प्रवीन ने इसी प्रकार इसका वर्णन किया है।[१२] प्रताप साहि ने सामान्य रूप से "मादक-सुख सम्मोह" से उत्पन्न स्वभाव को मद

---

१. संमोहानन्द सम्भेदो मदो मद्योपयोगजः। सा० द०, ३।१४६-१४७।

२. हर्षोत्कर्षो मदः दुःखासम्भिन्न सुखानुभव उत्कर्षः। र० त०, पृष्ठ ७७।

३. मद्याद्युपयोगजन्मा उल्लासाख्यः शयनहसितादिहेतुश्चित्तवृत्तिविशेषो मदः। रगंध० प्रथमानन।

४. धन-विद्या रूपोद्भव आसव जोवन जात।
उपजत है मद मोद तित बढ़ति अलस गत बात। क० कु० क०, ७७।

५. सो मद जहं आसव पिये हर्ष होय हिय बीच।
नींद हास रोदन करै उत्तम मध्यम नीच॥ भा० वि०, पृष्ठ ७.५२।

६. मोह जु अति आनन्द ते मद कहिए पुनि सोय। र० र०, ३।३०।

७. मदिरा विद्या दरव तै जीवन आये गात।
उपजत है मद हाव तिहं कढ़त असल गत बात॥ र० प्र०, छंद।

८. मद विनोद की मत्तत्ता। र० पी० नि० ७।२३।

९. मोहि जाइ मन मोद तें मद कहियतु हैं ताहि। श्रृं० वि०, छं २१।

१०. मद बातें जहं गरवै की सी, अति गति मति लखि परति छकी सी। र० सा०, छं० ४८७।

११. धन जोवन रूपादि तें कै मदादि के पान।
प्रकट होत मद भाव तहं और गति बतरान॥ जगद्वि०, ४।२०।

१२. नामहि लक्षण जानिये, बरनत हैं सब कोय।
धन जोवन ते रूप ते आसव ते मद होय॥ न० र० त०, छंद ३२२।

कहा है।[१] भानुकवि ने इसे अंग्रेजी "इन्टोक्सीकेशन" कहा है और सामान्य विभाव मात्र दिए हैं।[२] प्रताप नारायण सिंह जू ने "मदिरादिक सेवन से हर्षाधिक्य सहित क्षोभ को (व्याकुलता को) मद संचारी" कहा है।[३] कन्हैयालाल पोद्दार इसे "मद्य-पानादि से अंग और वचनों की स्खलित गति" कहते हैं। इसमें विभाव और अनुभाव मात्र दिये हैं।[४] अयोध्यासिंह उपाध्याय इसे हेमचन्द्र की भांति "मोह के साथ आनन्द का मिश्रण" बताते हैं।[५] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के मत में "मद नामक अवस्था या तो मद्यपान आदि के कारण होती है अथवा प्रेम की उमंग या अभिमान आदि के कारण" उन्होंने अपना लक्षण कविराज विश्वनाथ के मत का आलम्बन लेकर उपस्थित किया है।[६] रामदहिन मिश्र ने मद को "बेहोशी और आनन्द के मिश्रण की अवस्था" कहा है।[७] इनका मत ऊपर बताये आचार्य हेमचन्द्र के मत का ही अनुवाद है। बाबू गुलाबराय इसे इस प्रकार निरूपित करते हैं—"सम्मोहन और आनन्द के मेल की मानसिक अवस्था, इसमें नशे की सी अवस्था होती है।"[८] डॉ० राकेश गुप्त इसमें "अति आनन्द" नहीं देखते और मात्र मद्य-पान से उत्पन्न मानते हैं। इनके मत में यह कोई अनुभूति नहीं है। वे पोद्दार के मत को समीचीन मानते हैं।[९]

मद के अनुभाव

भरतमुनि के अनुसार स्मित-वदन, मधुर राग, धृष्टतन, किंचिताकुलित वाक्य, सुकुमार विद्धगति, यह तरुण मद और उत्तम प्रकृति में पाये जाते हैं। स्खलित और घूर्णित नयन, स्रस्त-व्याकुलित बाहु-विक्षेप, कुटिल व्याविद्ध गति, मध्यम मद और मध्यम प्रकृति में पाये जाते हैं। स्मृतिनाश, उलटी, हिचकी, थूक-कफ, अधम मद और अधम प्रकृति में पाये जाते हैं।[१०] हेम-चन्द्राचार्य उत्तमों में नींद, स्मित-गान, किंचित् आकुल वाष्प, स्खलित-गति, मंजु-भाषण, रोमोद्गम आदि लक्षित करते हैं। मध्यमों में हास्य-गीत-स्रस्ताकुलभुजक्षेप, व्याविद्ध-कुटिल गति आदि, और अधमों में अस्मृति, घुमेर, लड़खड़ाती चाल, रोना, वमन, गला बैठना, थूकना

---

१. मादक सुख सम्मोह ते मद कहियत सौभाव। का० वि, ३।३३।

२. मद उपजै धन रूप तें कै जोवन मदपान। र० रत्ना०।

३. र० कु०—तृतीय कुसुम।

४. का० कल्प, चतुर्थ स्तवक।

५. जिसमें मोह के साथ आनन्द का मिश्रण हो, उस दशा को मद कहते हैं। र० क०, पृष्ठ ३४।

६. र० मी०, पृष्ठ २१८।

७. का० द०, पृष्ठ ६६।

८. सि० अध्य०, पृष्ठ १३१।

९. सा स्ट० र०, पृष्ठ १३८।

१०. ना० शा०, ७।३५-४३।

आदि का वर्णन करते हैं।[1] रामचन्द्र गुणचन्द्र ने भी प्रायः यही अनुभाव वर्णन किये हैं।[2] शारदातनय ने इनका वर्णन "विभावानुसार" किया है। मद्यज तरुण मद में कहीं से कहीं वाक्य आरम्भ करके अन्य किसी बात को किसी के कहना और किसी को देखना, पैरों को आगे रखकर चलाना, कुछ पसीने का आविर्भाव तथा हर्ष से उत्फुल्ल आनन तथा अस्पष्ट वर्ण उच्चारण—ये तरुण मद में होते हैं। मध्य मद में स्खलन-पूर्वक विलम्ब-गमन, व्याविद्ध-पदसंचार, श्लथमान भुजाक्षेप, शून्य का आलंबन ढूंढ़ना, पद-पद पर स्मृति-नाश तथा शून्य को लक्ष्य करके वचन कहना और सहारा लेना; अपकृष्ट (अधम) मद में संज्ञा-अलाभ, पद-पद पर गमन-असामर्थ्य, पादना, वमन करना, थूकना, हिचकी लेना, भारी कण्ठ ध्वनि, नष्ट-स्मृति, जर्जर-भाषण बताये हैं। उत्तम प्रकृति सोते हैं, मध्यम प्रकृति नाचते गाते हैं और अधम रोते-हंसते हैं। विद्या, आभिजात्य, सम्पत्ति से उत्पन्न मद के अनुभाव अनुत्तर-भाषण, अवज्ञा-गर्भित वाक्य, तथा मित्रों का भी अनादर बताये हैं। उत्तम-स्त्री-रति से उत्पन्न मद में आँखों में हर्ष और राग, सौरभ्य (महक), अंगलावण्य से जनित अहंमति और अनादर होते हैं।[3]

तरुण मद में घूर्णित अक्षि-तारक, क्षाम-उपान्त विलोचन, विकसित चक्षु अपांग होते हैं। मध्यमद में अनवस्थित अक्षितारक तथा आकुंचित उभय-पुट और बरौनियां थिकरती हुई होती हैं। अधम मद में पलक मारना-खोलना, विकृत भीतर फटे हुए तारक, अधोवलोकन अनुभाव होते हैं।

शिंगभूपाल भी मद्यज 'मद' के ही अनुभावों का वर्णन करते हैं।[4]

मद के उपरिलिखित अध्ययन का सार निम्नलिखित है—

विभाव—मद्य-सेवन, ऐश्वर्य, विद्या, रूप, उच्चकुल में जन्म, उत्तम-स्त्री-रमण, प्रेम-तरंग, अभिमान आदि। मद्य-सेवन को आधुनिक मनोविज्ञान[5] में विशिष्ट-सभ्यता-जन्य प्रेरकों में गिना गया है।

---

१. काव्यानु०, पृष्ठ ९६। २. ना० द०, ३।१८८।

३. भा० प्र० १, पृष्ठ १६-१८।

४. दृष्टि स्मेरा मुखे रागः सस्मिताकुलितं वचः।
ललिता विद्धगत्याद्याश्चेष्टाः स्युस्तरुणे मदे॥
मध्यमे तु मदे वाचि स्खलन दृशि घूर्णिता।
गमने विकृति बाह्योर्विक्षेप ग्रस्तादयः॥
अपकृष्टे तु चेष्टा स्युर्गतिभंगो विसंज्ञता।
निष्ठीवन मुहुर्मुहुः श्वासोहिक्काछर्द्यादयो मतः। र० सु०, २।१७-२१।

५. साइ०, एल० नोरमन कृत, पृष्ठ २९।

लक्षण—'मद' मन की ऐसी कर्मगत स्थिति है जिससे आनन्द एवं संमोह होता है। इसमें परितृप्ति, गर्व, हर्ष, उल्लास, ललक और मत्तता का मिश्रण होता है जो मति-खण्डक स्थिति तक पहुंचता है। बौद्ध दार्शनिक असंग के अनुसार यह मन का विशेष कर्म है।

अनुभाव—इसके मद्य-पान जनित अनुभाव हैं—उत्तम जन में—हास्य-गीतादि; मध्यम जन में—जल्पना, बकना; अधम जन में—रूदन आदि।

मद्यपान जनित मद की तीन अवस्थाएं है—तरुण, मध्यम एवं अधम। आचार्यों ने तरुण में हास्य-गीतादि अनुभाव-रूप कहे हैं, मध्यम में स्खलित वचन और घूर्णित नयन, स्रस्तता, बाहु-विक्षेप, कुटिल और व्याविद्धगति अनुभाव बताये हैं तथा अधम में घुमेर, लड़-खड़ाती चाल, रोदन, स्मृति-नाश, वमन, पर्द्दन, हिचकी, थूक-कफ, स्वरभंग आदि अनुभाव कहे हैं। अर्थात् व्यक्ति-व्यक्ति[1] के अनुसार 'मद' की अवस्थाएं और अनुभाव होते हैं।

६. श्रम

'श्रम' के मूल में 'श्रम्' धातु है, तथा उसमें भावे 'घञ' प्रत्यय का योग है।

आप्टे ने अपने कोश में 'श्रम्' धातु के निम्नलिखित अर्थ दिये हैं[2]—

१. उद्योग करना, कष्ट उठाना, खटना, (२) तपस करना, देह-निग्रह, (३) थकित होना, असमर्थ होना, (४) पीड़ित होना, दुखी होना।

'श्रमः' के निम्नलिखित अर्थ दिये गये हैं[3]—

(१) मेहनत, आयास, उद्योग, यत्न, (२) थकान, क्लान्ति, निशक्तता, (३) दुःख, क्लेश, (४) तपस्या, निग्रह, (५) अभ्यास, व्यायाम, (६) गहन अध्ययन।

मोनियर विलियम्स ने इसके 'थकान', 'क्लांति' एवं 'निशक्तता' अर्थ महाभारत में देखे हैं और देह के साथ-साथ मानसिक प्रयत्न भी अर्थ बताये हैं। (यथा—अफर्ट आइदर वाडिली आर मेण्टल)—देखिए, मोनियर विलियम्स का संस्कृत-अंग्रेजी कोश।

---

१. साइ०, एल० नोरमन कृत पृष्ठ २६।

२. 1. To exert oneself, take pains, toil, labour, 2. to perform austerities, mortify the body —Kumarsambhava, 3. to be wearied or distressed—Meghdoot.

३. 1. Toil, labour, exertion, effort, —Raghuvamsha, 2. weariness, fatigue, exhaustion, —Raghuvamsha, 3. Affliction, distress, —Mahabharat, 4. austerity, mortification of the body,—Kumarsambhava, 5. exercise, military drill, —Kadambari, 6. Hard study. —Apte's San. Eng. Dictionary

भरतमुनि इसे व्यायाम सेवनादि से उत्पन्न मानते हैं ।[१] धनंजय इसका अर्थ 'खेद' देते हैं और अध्वरगमन, इत्यादि से संभावित कहते हैं।[२] अग्निपुराण में इसे अन्तस और शरीर में उठे 'क्लम' का नाम दिया गया है जो क्रियातिशय से जन्मता है ।[३]

हेमचन्द्र भी इसे 'शरीर-मन-खेद' संज्ञा देते हैं और व्यायाम आदि जनित कहते हैं ।[४] रामचन्द्र-गुणचन्द्र इसे 'साद'—अंगादि का शोष संज्ञा देकर स्पष्ट करते हैं तथा रत्यादि से उप्पन्न मानते हैं ।[५] शारदातनय ने इसका निर्वहण 'अंगों को जो शृणित करे (हानि करे) उसे श्रम कहते हैं' कहकर किया है ।[६] कविराज विश्वनाथ भी इसे 'खेद' संज्ञा देते हैं ।[७] भानुदत्त इसे 'आयास से उत्पन्न पराभव' नाम 'श्रम' कहते हैं ।[८] शिंगभूपाल इसे 'मानस-खेद' कहते हैं।[९] विद्यानाथ का भी यही मत है ।[१०] पण्डितराज जगन्नाथ बहुत शरीर व्यापार से उत्पन्न 'खेद' दुःखाभिन्न चित्तवृत्ति की संज्ञा देते हैं ।[११]

देव के अनुसार अति रति, अति गति से जहाँ अति तन खेद उत्पन्न हो, उसे श्रम कहते हैं ।[१२] कुलपतिमिश्र ने इसे अति उतावलिपूर्वक कार्य से उत्पन्न अंग-शैथिल्य कहा है तथा यह अंगों में अलसता उत्पन्न करता है ।[१३] गुलाम नवी इसे रति, गति, अति बलकृत मन का 'खेद' मानते हैं ।[१४] सोमनाथ ने श्रम को 'शिथिलता रूप' कहा है ।[१५] भिखारीदास ने इसे परिश्रम

---

१. श्रमो नाम व्यायामसेवनादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते । ना० शा०, ७।४६ ।

२. श्रम खेदोध्वररत्यादेः । द० रू०, ४।१२ ।

३. क्रियातिशयजन्मान्तः शरोरोत्थक्लमः श्रमः । अ० पु० का०, ३।२४ ।

४. व्यायामा ध्वगत्यादिभ्यो मनः-शरीर-खेदः श्रमः । काव्यानु०, पृष्ठ ९३ ।

५. श्रमो रतादिभिः सादः । ना० द०, ३।१८६ ।

६. शृणाति हन्ति योंऽगानि स श्रमः परिकीर्तितः । भा० प्र०, पृष्ठ २८ ।

७. श्रमः खेदो रत्यध्वगत्यादेः । सा० द०, ३।१४६ ।

८. आयासप्रभव पराभवः श्रमः । र० त०, पृष्ठ ७९ ।

९. श्रमो मानस खेदः । र० सु०, २।१४-१५ ।

१०. श्रमः खेदोऽध्वरत्यादेर्जातः । प्र० रू०, २४५ ।

११. बहुत शारीर व्यापार जन्मा निश्वासागंसम्मर्द निद्रादिकारिणीभूतः खेदः विशेषः श्रमः । रगंघ०, पृष्ठ २९२ ।

१२. अति रति अति गति ते जहां उपजै मन अति खेद ।
सो श्रम जामैं जानिये निरसहता अरु स्वेद ॥ भा० वि०, पृष्ठ ३३ ।

१३. बहुत उतावलि काज ते श्रम जु शिथिलता संग ।
उठि न सकै ऐंडाय तन, जहां सु आलस अंग ॥ र० र०, ३।२१ ।

१४. रति गति के अति बल किये खेद होत जो आइ ।
सोई श्रम स्वेदाति जो मन में होत लखाई ॥ र० प्र० ।

१५. सिथिलाई श्रम रूप । र० पी० नि०, ७।२४ ।
शिथिल होत कछु काज तें अंग सुश्रम पहिचानि । शृं० वि०, छंद २४ ।

करने से उत्पन्न कहा है ।[१] पद्माकर भट्ट इसे 'अति खेद' बताते हैं ।[२] बेनी प्रवीन ने केवल विभाव और अनुभाव बताये हैं ।[३] प्रताप साहि 'प्रयास से उत्पन्न खेद' से श्रम मानते हैं ।[४] भानुकवि ने इसे अंग्रेजी में 'वेयरीनेस' कहा है और विभस्वादि ही दिये हैं ।[५] प्रताप नारायण सिंह जू इसे 'किसी कार्य के करने से संतोष सहित अनिच्छा को' 'श्रम' संचारी कहते हैं ।[६] कन्हैयालाउ पोद्दार इसे 'थक जाना' निरूपित करते हैं ।[७] अयोध्या सिंह उपाध्याय इसे अति कार्य अथवा गमनादि से उत्पन्न 'शैथिल्य' नाम देते हैं ।[८] आचार्य शुक्ल कविराज विश्वनाथ के विपरीत इसका अर्थ 'क्रिया का निरन्तर साधन' लेते हैं और ऐसी ही अवस्था में उसे संचारी मानने को तत्पर हैं अन्यथा नहीं । शैथिल्य में उनके मत में यह संचारी नहीं रहता ।[९] राम दहिन मिश्र आयास से उत्पन्न खेद को 'श्रम' नाम देते हैं ।[१०] बाबू गुलाब राय के मत में 'श्रम रति, मार्ग गमन की थकावट जो श्वास और निद्रा लाती है, उससे उत्पन्न मानसिक अवसाद को श्रम कहते हैं, थकावट चाहे भौतिक हो किन्तु वह एक मानसिक स्थिति पैदा कर देती है ।'[११] राकेश गुप्त अपने मत के लिए धनंजय को आधार बनाते हैं और इसे मानसिक अवस्था 'ग्लानि' की ही भांति नहीं मानते । इनके मत में 'ग्लानि' और 'श्रम' में प्रकार का नहीं मात्रा का ही अन्तर दिखता है ।[१२]

श्रम के अनुभाव

भरत मुनि ने शरीर सहलाना, श्वास लेना, मुख-बिगड़ना, जृम्मा, अंगमर्दन, मन्द-पद-रखना आदि बताये हैं ।[१३] धनंजय ने स्वेद और जोड़ा है ।[१४] हेमचन्द अंगड़ाई को और युक्त करते हैं ।[१५] शारदातनय भी लगभग यही अनुभाव बताते हैं, परन्तु स्वेद को उन्होंने नहीं गिनाया । मन्द सीत्कार का विशेष उल्लेख किया है ।[१६] पण्डितराज जगन्नाथ ने सामान्य रूप से निश्वासादि का उल्लेख किया है ।[१७] स्वेद का उल्लेख शिंगभूपाल ने भी नहीं[१८] किया, परन्तु विद्यानाथ ने विशेष रूप से इधर ध्यान दिया है ।[१९]

---

१. श्रम उत्पत्ति परिश्रम कीन्हें । र० सा०, ४८६ ।

२. अति रति अति गति ते जहां, सु अति खेद सरसाय ।
सो श्रम तहां सुभाव ये, स्वेद उसास मनाय ॥ जगद्वि०, ४।२३ ।

३. केलि कलादिक ते जहां स्वेद होत तन माहिं ।
ताही सों श्रम कहत हैं सकल कवि न के नाह ॥ न० र० त०, ३२८ ।

४. रति प्रयास गति खेद तें श्रम जह श्रम जहि सोई । का० वि०, ३।३४ ।

५. अति गति ते जब काहु के हौवै श्रम गंभीर । र० रत्ना० ।

६. र० कु० ३ कुसुम । ७. का० कल्प०, चतुर्थ स्तवक ।

८. र० क०, पृष्ठ ३३ । ९. र० मी०, पृष्ठ २३० । १०. का० द०, पृष्ठ ६६ ।

११. सि० अध्य०, १३१ पृष्ठ । १२. ना० शा०, ७।४१ । १३. सा० स्ट० र०, पृष्ठ १३५ ।

१४. द० रू०, ४।१२ । १५. काव्यानु०, पृष्ठ ६३ । १६. भा० प्र०, १ अधिकार ।

१७. रगंघ०, १ आनन, । १८. र० सु०, २।१४-१५ । १९. प्र० रु०, पृष्ठ २४५ ।

'श्रम' के उपरिलिखित अध्ययन का सार निम्नलिखित है—

विभाव—शारीरिक एवं मानसिक क्रियातिशय अथवा आयास।

लक्षण—'श्रम' वह प्रत्यनोपरान्त मनस्थिति है, जिससे अन्तर और बाह्य अंगों की श्लथिति होती है। इसमें सन्तोष सहित अनिच्छा की वृत्ति होती है और क्रियातिशय से अंगादि का शोष होता है एवं मनः खेद उत्पन्न होता है।

अनुभाव—इसके आन्तरिक अनुभाव आलस्य, शैथिल्य, निद्रा आदि हैं। इसके बाह्य अनुभाव के रूप में मन्दगति, जृम्भा, स्वेद, मन्द-सीत्कार, शरीर-संवाहन आदि देखे जाते हैं।

(७) आलस्य

'आलस्य' के मूल में 'आ' उपसर्ग पूर्वक 'लस्' धातु है तथा उसमें कृत्प्रत्यय 'अ' लगाकर तदुपरान्त कर्म वा भाव अर्थ का द्योतक 'ष्यञ्' प्रत्यय जोड़ा गया है।

आप्टे ने अपने कोश में 'अलस्' धातु का अर्थ 'न लसति व्याप्रियते' दिया है तथा विशेषण 'अलस' के अर्थ इस प्रकार दिए हैं[१]—

१. निष्क्रिय, ऊर्जा रहित, मन्द, सुस्त, २. थकित, क्लांत, अस्फूर्त, ३. मृदु, कोमल, ४. मन्द, चेष्टाविहीन।

'अलस' का भाव 'आलस्य' है। इसके अर्थ आप्टे ने इस प्रकार किए हैं[२]—

१. निरुद्योग, प्रमाद, २. ऊर्जा का अभाव।

मोनियर विलियम्स ने भी 'आलस्य' को उपर्युक्त अर्थों में महाभारत, मनुस्मृति सुश्रुत, यजुर्वेद, याज्ञवल्क्य स्मृति में प्रयुक्त पाया है। (देखिए मोनियर विलियम्स का संस्कृत-अंग्रेज़ी कोश)।

भरतमुनि इसे स्वभाव, श्रम, व्याधि, सौहित्य (भोजनोपरांत परिपूर्णता तथा संतोष) खेद, गर्भादि विभावों से समुत्पन्न मानते हैं।[३] धनंजय भी इसे श्रम-गर्भादि से उत्पन्न कहते है।[४] अग्निपुराण में चित्त की जिस वृत्ति में क्रियाद्वेष हो उसे "आलस्य' परिभाषित किया

---

१. 1. Inactive, without energy, lazy, idolent, 2. tired, fatigued, languid, 3. soft, gentle, 4. slow, dull.

२. 1. Idleness, sloth; want of energy,—Bhagwatgita, Sushrut.

३. आलस्यं नाम स्वभाव-खेद-श्रम-व्याधिसौहित्यगर्भादिविभावैः समुत्पद्यते। ना० शा०, ७।४२।

४. आलस्यं श्रमगर्भादेः। द० रू०, ४।२७।

गया हैं।[१] हेमचन्द्राचार्य इसे 'पुरुषार्थ के प्रति अनादर' कहते हैं तथा भरतमुनि द्वारा कथित विभावों की परिगणना करते हैं।[२] रामचन्द्र गुणचन्द्र इसे 'कर्मानुत्साह' कहकर परिभाषित करते हैं,[३] और विभावों के लिए भरतमुनि का अनुसरण करते हैं। शारदातनय भी इसे भरत-मुनि के गिनाये विभावों से उत्पन्न मानते हैं और आलस्य शब्द का निर्वहण 'अंगानां यदनुल्लास-स्तदालस्यमुदाहृतम्' 'अंगों में जहाँ उल्लास न हो' कह कर किया है।[४] शिंगभूपाल इसे 'कृच्छ्रात् क्रियोन्मुखत्वं कहकर स्पष्ट करते हैं।[५] विद्यानाथ 'मन्दोद्यमत्वमालस्यं' परिलक्षित करते हैं।[६] कविराज विश्वनाथ[७] आलस्य की परिभाषा 'जाड्य-विशेष' बताकर करते हैं। भानुदत्त ने इसे 'उत्थानादि में अक्षमता' कहा है।[८] पण्डितराज जगन्नाथ इसे 'चेतना की क्रिया-अनुन्मुखता' कहकर वर्णन करते हैं।[९] जड़ता में कार्याकार्य की विवेकशून्यता होती है, इसमें ऐसा नहीं होता। ग्लानि में असामर्थ्य होती है, आलस्य में सामर्थ्य होते हुए भी अनुन्मुखता होती है।

चिन्तामणि इसे भरतमुनि की रीति से विभाव और अनुभावों से परिलक्षित करते हैं।[१०] देव इसे 'तन की अक्षमता' बताते हैं।[११] कुलपति मिश्र ने इसे अनुभावों द्वारा और तन की न उठने की वृत्ति को लक्षित करके बताया है।[१२] गुलाम नवी भी इसे इसी प्रकार उल्लि-खित करते हैं।[१३] सोमनाथ ने केवल अनुभाव वर्णन किये हैं और 'आलस' नाम दिया है।[१४] भिखारीदास का लक्षण भी स्पष्ट नहीं है।[१५] पद्माकर भट्ट ने हिन्दी नाम 'अलसानि' देकर

---

१. श्रृंगारादि क्रियाद्वेषश्चित्तस्यालस्यमुच्यते। अ० पु० का०, ३।२४।

२. आलस्यं पुरुषार्थेष्वनादरः। काव्यानु०, २ अध्याय। ३. कर्मानुत्साह आलस्यं। —ना० द०, ३।२१४।

४. भा० प्र०, पृष्ठ १८।

५. र० सु० २।६०।

६. प्र० रु०, पृष्ठ २४६।

७. आलस्यं श्रमगर्भाद्यैर्जाड्यं जृम्भासितादिकृत्। सा० द, ३।१५५।

८. उत्थानाद्यक्षमत्वंमालस्यम्। र० त० पृष्ठ ८०।

९. अतितृप्ति-गर्भ-व्याधि-श्रमादिजन्या चैतसः क्रियाऽनुन्मुखताऽऽलस्यम्। रगंध०, १ आननम्।

१०. निद्रादिक ते होत है उत आलस अंगराह।
नैन अधकुले भांति यह बरनत सब कविराई॥ क० कु० क०, ७।७०।

११. बहु भूषादिक भाव ते कारज करो न जाय।
सो आलस्य जहां रहै तन अक्षमता छाय॥ भा० वि०, पृष्ठ ३४।

१२. उठ न सके एंडाइ तन जहां सु आलस अग। र० र०, ३।२१।

१३. व्याधि खेद गरभादि ते आलस उपजै आन।
उठिबे को असामरथता ते मन लीजै मान॥ र० प्र०, छंद ८७०।

१४. अति अंगराई जंभाईबो सो आलस ठहरानि। र० पी० नि, ७।२३।

१५. आलस गर्भ परिश्रम ठावै। जागत घरीक तन छावै। र० सा०, छंद ४६०

इसे स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है।[1] बेनीप्रवीन ने भी इसे केवल विभाव अनुभावों के द्वारा स्पष्ट करने का प्रयास किया है।[2] प्रताप साहि ने इसे, केवल विभाव बताकर, वर्णन करने का प्रयत्न किया है।[3] भानुकवि ने इसका अंग्रेजी नाम 'इन्डोलेन्स' दिया है और इसे स्पष्ट करने में असमर्थ रहे हैं।[4] प्रताप नारायण सिंह जू इसे स्पष्ट करते है—कार्य में समर्थ होते हुए भी उत्साहहीन होने को आलस्य संचारी कहते हैं।[5] अयोध्यासिंह उपाध्याय 'श्रान्ति और जागरणादि से जनित निश्चेष्टा तथा सामर्थ्य होने पर भी उत्साहहीनता को' आलस्य कहते है,[6] राम दहिन मिश्र के मत में 'जागरणादि से उत्पन्न अवसाद वा उत्साहहीनता, गर्भ, व्याधि आदि के कारण कार्यशैथिल्य आलस्य है।'[7] आचार्य शुक्ल के अनुसार "शारीरिक या मानसिक क्रिया में तत्पर न होने की प्रवृत्ति जिस अवस्था में हो वह असलता" है।[8] बाबू गुलाबराय आलस्य को "श्रम गर्भाधि से उत्पन्न जड़ता की मानसिक स्थिति" निरूपित करते है।[9] डॉ० राकेश गुप्त ने "आलस्य" के लिए धनंजय का लक्षण स्वीकार किया है और भानुकवि की भांति इसे अंग्रेजी में "इन्डोलेन्स" कहा है। वह इसे ग्लानि और श्रम की भांति शारीरिक चेतना मानते हैं।[10]

आलस्य के अनुभाव

भरत मुनि के मत से निद्रा, तन्द्रा सर्वकर्म-विद्वेष-शयनादि इसके अनुभाव हैं। शारदातनय ने शिर-शूल की ओर विशेष ध्यान दिया है तथा अक्षि-विमर्दन और स्तम्भ को भी परिगणित किया है।[11]

'आलस्य' के उपरिलिखित अध्ययन का सार निम्नलिखित है—

विभाव—आलस्य के विभाव श्रम, व्याधि, खेद, शोक, सौहित्य, गर्भ, जागरणादि हैं। यह स्वभावगत भी होता है।

---

१. जागरणादिक ते जहां जो उपजत अलसानि।
ताहीं सो आलस कहत जे कोविद रस-खानि ॥ जगद्वि० ४।

२. होत जागरन रैन को कारुन ताको जानि।
अंगरैबो जंभादि जहं, आलस ताहि बखानि ॥ न० र० त०, छंद ३१६।

३. गर्भादिक जागरन ते आलस है सब कोई। का० वि०, ३।३४।

४. जागरणादिक ते जहां अंग-अंग अलसात। र० रत्ना०, संचारी।

५. र० कु०, पृष्ठ ३ कुसुम।

६. र० क० पृष्ठ ३७।

७. का० द० ६६ पृष्ठ।

८. र० मी०, पृष्ठ २२४।

९. सि० अध्य०, पृष्ठ १३२।

१०. सा० स्ट० र०, पृष्ठ १४१।

११. आलस्यं तच्छिरशूलंजृम्भणाक्षिमर्दनैः स्तम्भन गात्रमनसो स्त्रीनीचादिषु वर्ण्यते।
—भा० प्र०, १ अधिकार।

लक्षण—आलस्य किसी क्रिया में मन की अनुत्साह वृत्ति का नाम है। यह एक प्रकार का जाड्य है जिसमें मन संकल्प-विकल्पयुक्त तो होता है परन्तु सामर्थ्य और कर्तव्य-ज्ञान होने पर भी चेतना क्रिया में उन्मुख नहीं होती है। यह क्रिया-अतत्परता शारीरिक ही नहीं, मानसिक भी होती है और जड़ता की मानमिक स्थिति के निकट पहुंचती है जिससे अंगों में अनुल्लास होता है। निरुद्योग और प्रमाद दोनों की मिश्रित अवस्था का नाम आलस्य कहना उपयुक्य होगा।

अनुभाव—आलस्य के अनुभाव हैं—निद्रा, तन्द्रा, सर्वकर्म-विद्वेष, गात्र तथा मन का स्तम्भ, एवं शिर-शूल आदि।

(८) दैन्य

'दैन्य' शब्द 'दीन' शब्द से 'ष्यञ्' प्रत्यय लगाकर व्युत्पन्न हुआ है। 'दीन' के मूल में 'दीङ्' धातु है जिसमें 'क्त' प्रत्यय के लिए 'न' जोड़कर 'दीन' की व्युत्पत्ति होती है।[१] 'दीङ्' धातु के अर्थ हैं—

नष्ट होना, क्षय होना, घटना (देखिए, सस्कृत-शब्दार्थ-कौस्तुभ)।

आप्टे के कोश में दैन्य के निम्नलिखित अर्थ दिये गए हैं[२]—(१) निर्धनता, दयनीय स्थिति, (२) दुःख-शोक, ग्लानि, संताप, अनुत्साह, (३) निर्बलता, (४) कमीनापन, तुच्छता।

मोनियर विलियम्स के कोश में 'दैन्य' के अर्थ दिए हैं—(१) दुःख, दुर्गति, दलिता-वस्था, शौचनीय अवस्था, (२) तुच्छता, ललकना, कलपना, आदि। उन्होने इसे इन अर्थों में महाभारत आदि में प्रयुक्त देखा है।[३]

भरत मुनि 'दैन्य' को दुर्गति, मनस्तापादि विभावों से उत्पन्न होता हुआ बताते हैं, वहां आर्या में इसे ही 'दीनता' भी कहा गया है तथा 'चिन्ता' औत्सुक्य' से समुत्थित दुःख आदि से उत्पन्न होता निर्धारित किया है।[४] धनंजय 'दैन्य' को 'अनौजस्य' कहते हैं जो दारिद्र्य,

---

१. दी+क्त तस्य न=दीन—आप्टे का कोष।

२. 1. Powerty, poor & pitiable condition, miserable State, 2. affliction, sorrow, oblation, grief, low-spiritedness, 3. feebleness and meanness.
—Apte's Sans. Eng. Dictionary

३. 1. Wretchedness, affliction, depression, miserable State,
—Mahabharat
2. Meanness, covetousness —M.W. Sans. Eng. Dictionary

४. दैन्यनाम दौर्गत्यमनस्तापादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते।
अत्रार्या चिन्तौत्सुक्यसमुत्था दुःखाद्या भवति दीनता पुंसाम्—ना० शा०, ७।४३।

न्यक्कारादि विभावों से उत्पन्न होता है।[१] अग्निपुराण में इसे ही 'सत्त्व का अपभ्रंश' नाम दिया गया है।[२] हेमचन्द्राचार्य भी धनंजय की ही परिभाषा स्वीकार करते हैं।[३] रामचन्द्र-गुणचन्द्र इसे 'आपद' से उत्पन्न 'स्वान्तनीचत्व' वा 'मनःक्लैव्य कहते हैं।[४] शिंगभूपाल भी 'नैश्चित्यं' कहकर हृदय की दीनता बताते हैं।[५] और, विद्यानाथ सत्त्व-त्याग से उत्पन्न 'अनौद्धत्य, नाम देते हैं।[६] विश्वनाथ इसे 'अनौजस्य' ही कहते हैं।[७] भानुदत्त ने दुःखावस्था अथवा दुःखातिरेक को दैन्य कहा है।[८] कुछ 'अनौज्जवल्य' को भी दैन्य कहते हैं जिसका उन्होंने खण्डन किया है। पंडितराज जगन्नाथ इसे दुःख दारिद्र्यापराध-जनित स्वापकर्ष-भाषणादि की हेतु चित्तवृत्ति विशेष कहते हैं।[९] चिन्तामणि इसे दीनता नाम देते हैं तथा मन की मलिनता बताते हैं।[१०] देव इसे बहु दुर्गति तथा विरहादि से उत्पन्न अनन्त दुःख निश्चित करते हैं।[११] कुलपति मिश्र इसे 'मन का दुःख से मिलन' मानते हैं।[१२] गुलाम नवी ने इसे विभाव और अनुभावों के द्वारा वर्णन किया है और तन-मन की मलिनता बताया है।[१३] सोमनाथ इसे 'मनहीनत्व' बताते हैं तथा मन की मलिनता भी कहा है।[१४] भिखारीदास ने इसे तन-मन की मलिनता ही कहा है तथा वे इसमें चित्त की अधीरता को भी लक्षित

---

१. दैन्यं दौर्गत्याद्यैरनौजस्यम्—द० रू, ४।१४।
दारिद्र्यन्यक्कारादि विभावैरनौजस्कता चेतसो दैन्यम्—द० रू०, ४-१४।

२. दैन्यं सत्त्वादपभ्रंशश्चिन्तार्थपरिभावनम्। अ० पु० का०, ३।२४।

३. दौर्गत्यमनस्तापादिभ्योऽनौजस्यं दैन्यम्। काव्यानु०, पृष्ठ ८५।

४. दैन्यम् आपदः स्वान्तनीचत्वं दैन्यम्। ना० द०, ३।२०६।

५. हृत्तापदुर्गतित्वाद्यैर्नैश्चित्यं हृदि दीनता। र० सु०, २।१०।

६. सत्त्वत्यागादनौद्धत्यं दैन्यं। प्र० रु०, पृष्ठ २४६।

७. दौर्गत्याद्यैरनौजस्यं दैन्यं। सा० द०, ३।१४५।

८. दुरवस्था दुःखातिरेको वा दैन्यम्। र० त०, पृष्ठ ८१।

९. दुःख दारिद्र्यापरधिदि जनितः स्वापकर्षभाषणादिहेतुश्चिद्धवृत्ति विशेषो दैन्यं। रगंध०, पृष्ठ २८६।

१०. जो दारिद विरहादि तें होई मलिनता कोई।
चिन्तामणि स्वासादि कर होत दीनता सोई। क० कु० क०, ७।३१।

११. दुरगति बहु बिरहादि तें उपजै दुःख अनन्त।
दीनवचन मुख तें कढ़ै, कहें दीनता सन्त। भा० वि०, पृष्ठ ३५।

१२. होय मिलन मन दुःख तें तब दीनता कहाय। र० रु०, ३।२२।

१३. दुःख दारिद विरहादि ते होत दीनता आदि।
मन सो बच हाहा करत तन मलीनता जाति। र० प्र०, छं० ८०७।

१४. (१) दीनता सुमन हीन—र० पी० नि०, ७।२७।
(२) दुःख तें होय मलीन मन सो दीनता अनूप। शृं० वि०, लंद २३।

करते हैं।[१] पद्माकर भट्ट ने इसे 'दीन' का भाव 'दीनता' कहा है।[२] बेनी प्रवीन ने इसे क्षीण तन और दबे वचन अनुभाव बता कर प्रकट किया है।[३] प्रताप साहि ने स्पष्ट लक्षण न देकर मात्र विभावों का वर्णन किया है।[४] भानुकवि ने इसका अंग्रेजी नाम 'डिप्रेशन' दिया है।[५] परन्तु कोई स्पष्ट लक्षण नहीं दिया। प्रतापनारायण सिंह जू ने इसे "दुःखादि से चित्त का नम्र होना" बताया है।[६] कन्हैयालाल पोद्दार ने इसे दैन्य कहकर विभाव, अनुभाव द्वारा वर्णन करने का प्रयत्न किया है।[७] अयोध्यासिंह उपाध्याय भी चित्त के ओज रहित होने को दीनता कहते हैं,[८] तथा खिन्नता, मलिनता, साहसहीनता आदि इसके लक्षण बताते हैं। राम दहिन मिश्र का भी लगभग यही मत है।[९] आचार्य शुक्ल इसे महत्त्व के आगे अपनी लघुता की अनुभूति मानते हैं।[१०] डॉ० राकेश गुप्त साहित्यदर्पण की परिभाषा को स्वीकार करते हैं,[११] और अंग्रेजी में 'डिप्रेशन' नाम देते हैं। वे इसमें हीनता, अनात्मविश्वास, सहानुभूति की याचना तथा शोचनीयता का मिश्रण बताते हैं।

दैन्य के अनुभाव

गात्र के गौरव की लापरवाही और शुद्धि का परिवर्जन आदि हैं।[१२] शिरशूल और शिर धुनना भी शारदातनय ने बताये हैं।[१३] शिंगभूपाल ने स्तम्भादि सात्त्विक का भी वर्णन किया है।[१४]

'दैन्य' के उपरिलिखित अध्ययन का सार निम्नलिखित है—

विभाव—दुर्गति, चिन्ता, औत्सुक्य-जनित दुःख, आपदा, विरहादि, सत्त्व-त्याग आदि 'दैन्य' के विभाव हैं।

---

१. दीनता सु जहं मलिन सरीरै। होई दुःखमय वचन अधीरै। र० सा०, छंद ४६२।
२. अति दुःख तें बिरहादितें परति जबहि जो मीन।
ताहि दीनता कहत हैं जे कवित्त रस लीन। जगद्वि०, ४।२०।
३. जहं काहू दुःख दुसह ते परयो छीन तन होय।
दुःखदाई सों दबि वचन, कहें दीनता सोई। न० र० त०, छंद ३२६।
४. दुःख दारिद विरह आदिते दन्य भाव पहिचानि। का० वि०, ३।३६।
५. बहै दीनता दीन जब विरहादिक ते होय। र० रत्ना०, संचारी भाव।
६. र० कु०, तृतीय कुसुम।
७. दुःख दारिद्र्य आदि से उत्पन्न अपने अपकर्ष का नाम दैन्य है। का० कल्प०, ४ स्वतक।
८. र० क०, पृष्ठ ५०। ९. का० द०, पृष्ठ ७०।
१०. र० भी०, पृष्ठ २१७। ११. सा० स्ट० र०, पृष्ठ १३७।
१२. ना० शा०, ७।४३। द० रु०, ४।१४, काव्यानु०, पृष्ठ ८५।
१३. शिरश्शूलशिरोव्यावृत्ति धुननैः दैहोपस्कर त्यागात्॥ भा० प्र०, १ अधिकार।
१४. अनुभावा मालिन्यगात्रस्तम्भादयो मताः। र० सु०, २।१०।

लक्षण—दैन्य की मनस्थिति में सत्त्वापभ्रंश से अनौजस्य होता है। इसमें आत्म-लघुता की भावना और सहानुभूति की याचना तथा शोचनीयता का मिश्रण होता है। अनौद्धत्य एवं मानसिक हीनत्व दोनों ही अनौजस्य के अंग हैं जो इसमें विशिष्टतया दर्शित होते हैं।

अनुभाव—दैन्य के अनुभाव हैं—साहसहीनता, खिन्नता एवं आत्मगौरव की उपेक्षा आदि।

(६) चिन्ता

'चिन्ता' के मूल में 'चिन्त्' धातु है जिसमें भावे 'अङ्' प्रत्यय के साथ 'टाप्' स्त्रीलिंग प्रत्यय का योग है।

'चिन्त् धातु के निम्नलिखित अर्थ कोश में दिए गए हैं—

चिन्त्—(१) सोचना, विचारना, (२) ध्यान देना, ख्याल करना, (३) स्मरण करना, याद करना, (४) खोज लेना, (५) सम्मान करना, (६) तोलना, अच्छे बुरे का विचार, (७) बहस करना।[1]

मोनियर विलियम्स ने इसे इन अर्थों में महाभारत, रामायण, मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति में प्रयुक्त दिखाया है[2]—

'चिन्ता' के निम्नलिखित अर्थ आप्टे के कोश में दिए गए हैं—

(१) सोच-विचार, (२) दुःखपूर्ण वा दुःखदायी विचार, चौकसी, सावधानी, उत्कण्ठा, व्यग्रता, (३) ध्यान, विचारणा।[3]

मोनियर विलिवम्स ने इसे उपर्युक्त अर्थों में महाभारत, मनुस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति, तथा सर्वदर्शन संग्रह में प्रयुक्त देखा है।[4]

भरतमुनि ऐश्वर्य-नाश, इष्ट और द्रव्य को हरने वाले और दारिद्र्यादि विभावों से चिन्ता की उत्पत्ति बताते हैं।[5] आर्या में इसे ही 'वितर्क' से उपगत बताया गया है।[6]

---

१. संस्कृतशब्दार्थ कौस्तुभ, पृष्ठ ३१८।

२. देखिए—'चिन्त्' मो० विभ संस्कृत-अंग्रेजी कोश।

३. चिन्ता—Thinking, thought, 2. sad or sorrowful thought, care, anxiety, 3. Reflection, consideration.—Apte's Sans. Eng. Dictionary.

४. देखिए, मो० वि० का संस्कृत-अंग्रेज़ी कोश।

५. ऐश्वर्यभ्रंशेष्टद्रव्यापहारिदारिद्र्यादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते।

६. ऐश्वर्यद्रव्यापहारे जनिता बहुप्रकारा तु।
हृदय वितर्कोपगता चिन्ता नृणां समुद्भवति॥ ना० शा०, ७।४४

असंग मुनि के अनुसार 'चिन्ता' मन का विशिष्ट कर्म है (द० दि०, पृष्ठ ७२०)। अग्निपुराण के अनुसार 'अर्थपरिभावन' का नाम 'चिन्ता' है।[१] धनंजय के मत में हित की अप्राप्ति से उत्पन्न 'ध्यान' का नाम चिन्ता है।[२] हेमचन्द्र भी इसी मत के हैं कि संतापादि को जन्म देने वाली चिन्ता-वृत्ति को ध्यान कहते हैं जो दारिद्र्यादि से उत्पन्न होती है।[३] गुणचन्द्ररामचन्द्र इसे 'आधि—मानसी पीड़ा' नाम देते हैं और प्रिय-इष्ट की अप्राप्ति से उत्पन्न बताते हैं।[४] शारदातनय इन विभावों से उत्पन्न इसे 'वितर्कात्मक' निरूपित करते हैं। तथा धृतिनाश का कारण बताते हैं।[५] और इसका निर्वहण इस प्रकार करते हैं जिससे चित्त अर्थों पर जाए उसे 'चिन्ता' नाम दिया जाता है।[६] और इस प्रकार अग्निपुराण की 'अर्थपरिभावन' परिभाषा के निकट पहुंच जाते हैं। कविराज विश्वनाथ धनंजय के मतानुसार इसे 'ध्यान' ही कहते हैं।[७] भानुदत्त ने चिन्ता नाम 'ध्यान' का कहा है, ध्यान स्मरणात्मक नहीं किन्तु चित्त की एकाग्रता।[८] शिंगभूपाल[९] और विद्यानाथ[१०] भी इसे पर्याय से 'ध्यान' कहते हैं। और, पण्डित-राज जगन्नाथ भी ऊपर बताये विभावों से उत्पन्न चित्तवृत्ति चिन्ता का अपर पर्याय 'ध्यान' ही बताते हैं[११] चिन्ता में कम्पादि नहीं होते, अर्थात् 'भय' और 'आशंका' नहीं होती। देव इसे इष्ट वस्तु के पाये बिना चित्त में एक आशा मानते है।[१२] चिन्तामणि इसे ध्यान कहते हैं, जिसमें शून्यतादि उत्पन्न हो जाते हैं।[१३] कुलपति मिश्र इसे 'प्रिय वस्तु का ध्यान' कहते हैं।[१४] गुलाम नवी ने भी 'अनाप्त प्रिय वस्तु में ध्यानपूर्वक चित्त का गमन' बताया है।[१५] सोमनाथ

---

१. अ० पु० का०, ३।२५१।
२. ध्यानं चिन्ताहिताताप्तेः। द० रू०, पृष्ठ १०४।
३. दारिद्र्येष्टद्रव्यापहारैश्वर्यभ्रंशादिभ्यो ध्यानं चिन्ता। काव्यानु० पृष्ठ ९४।
४. आधिश्चिन्ता प्रियानाप्ते;। ना० द०, ३।१९०।
५. वितर्कात्मा भवेत् चिन्ता स्मृतेरन्या प्रतीयते। भा० प्र०, १।१८-१९।
६. यथा चित्तायतेऽर्थेषु सा चिन्तेत्यभिधीयते।—भा० प्र०, अधिकार २।
७. ध्यानं चिन्ता हितानाप्तेः। सा० द०, ३।१७१।
८. चिन्ता ध्यानं—न च स्मरणात्मकम्—किन्तु चित्तैकाग्रता।—र० त०, पृष्ठ ८२।
९. चिन्ता ध्यानात्मिका।—र० सु०, २।७१-७२।
१०. ध्यानं चिन्ता। प्र० रु०, पृष्ठ २४७।
११. ध्यानमपर पर्यायो यस्य सः। रगंध०, पृष्ठ २८८।
१२. इष्ट वस्तु पाये बिना एक आस चित्त होय।
स्वास ताप वैवर्ण जहं चिन्ता कहियत सोय। भा० वि०, पृष्ट ३६।
१३. चिन्ता कहियत ध्यान है, शून्यतादि जित होय। क० कु० क०, ७।३६।
१४. चिन्ता सो प्रिय वस्तु की ध्यानै करत विहाय। र० र०, ३।२२।
१५. अनपाये प्रिय वचन को ध्यान मांहि चित जाई।
सो चिन्ता जहि ताप अरु आंसू स्वास लखाइ॥ र० प्र०, छंद ८३०।

इसे 'प्रिय का ध्यान' कहते हैं।[१] भिखारीदास 'हृदयस्थित फ़िक्र' बताकर इसे स्पष्ट करते हैं तथा सोच-विचारात्मक मानते है।[२] पद्माकर भट्ट इसे स्पष्ट करने में असमर्थ रहे हैं।[३] बेनी प्रवीन इसे 'मन ही मन प्रिय का चितवन' कहते हैं।[४] प्रताप साहि भी इसे 'ध्यान' ही मानते हैं।[५] भानुकवि ने इसे अंग्रेजी नाम 'पेनफुल रिफ़्लेक्शन' दिया है और चित्त का स्थिरता विहीन, मति की भूली अवस्था से युक्त, चकित होना बताया है।[६] प्रतापनारायण सिंह जू "किसी अहित वस्तु के विचार को चिन्ता संचारी" कहते हैं।[७] कन्हैया लाल पोद्दार ने "इष्ट की अप्राप्ति वा अनिष्ट की प्राप्ति से उत्पन्न ध्यान को चिन्ता" कहा है।[८] अयोध्या सिंह उपाध्याय इसे पीड़ात्मक मानकर "हित की अप्राप्ति के कारण उत्पन्न आधि" को चिन्ता कहते हैं।[९] आचार्य शुक्ल इसे अन्तःकरण की वृत्ति मानकर रागात्मक नही मानते।[१०] राम दहिन मिश्र ने इसे" इष्ट वस्तु अप्राप्ति से उत्पन्न ध्यान" ही कहा है।[११] बाबू गुलाबराय ने इसे 'हित के अलाभ में उसकी प्राप्ति के लिए' 'चित्त की विकलता' बताया है। उन्होंने स्वमत प्रतिपादन को प्रसाद का पद' 'री अभाव की चपल बालिके' उद्धृत किया है। आशंका से चिन्ता में यह भेद है कि आशंका अधिकतर भावी अनिष्ट की होती है और अनिष्ट-निश्चयोन्मुखी होती है, चिन्ता में सुख का अभाव है।[१२] डॉ० राकेश गुप्त इसे अंग्रेज़ी में 'पेनफुल मेडिटेशन' कहते हैं। और, धनंजय और कविराज विश्वनाथ की परिभाषा को अपना अवलम्ब बनाते हैं। वे इसे मानसिक प्रभाव मानते हैं।[१३]

अनुभाव

आचार्यों ने 'चिन्ता' के निम्नलिखित अनुभाव बताये हैं—

---

१. चिन्ता प्रिय को ध्यान। र० पी० नि०, ७।२४।

२. चिन्ता फिकिर हिये में आनी।
जहं कछु सोच करत है प्राणी। र० सा०, छंद ४९९।

३. जहां कौन हू बात की चित्त में चिन्ता होय।
चिन्ता तासों कहत है। जगद्वि, ४।४०।

४. मन ही मन में प्रान प्रिय जहां चिन्तवन होय।
ताही सों सब कहत हैं चिन्ता कवि जन लोइ॥ न० र० त०. छंद ३२८।

५. जहां न इष्टहि पाइये ध्यान सुचिया जानि। का० वि, ३।३६।

६. चिन्ता चित्त हो चकित जब थिरता बिन मति भोर। रस० रत्ना०, संचारी भाव।

७. र० कु०, ३ कुसुम।
८. का० कल्प०, ४ स्तवक।
९. र० क० पृष्ठ ४१।
१०. र० मी०, पृष्ठ २२१।
११. का० द०, पृष्ठ ७०।
१२. सि० अध्य०, पृष्ठ १३३।
१३. सा० स्ट० र०, पृष्ठ १३७।

संताप, निश्वास, ध्यान, अधोमुख चिन्तन, कृशतादि, हृदयशून्यता, धृति-शुचि-विहीनता (नाट्य शास्त्र ७।४५)। भूलेखन, आकाशावलोकन, दृष्टि-एकाग्रता आदि। वितर्क, अन्य-स्मृति का आभास—ये भाव-प्रकाशन में और बताये गये हैं (भाव प्रकाशन, १ अधिकार)।

इसमें भी सात्त्विक-अनुभावों का अभाव है।

चिन्ता के उपरिलिखित अध्ययन का सार निम्नलिखित है—

विभाव—चिन्ता के विभाव हैं—अनिष्ट प्राप्ति, ऐश्वर्य-नाश, वा प्रतिकूल और विषम परिस्थिति।

लक्षण—'चिन्ता' में स्मृति एवं प्रज्ञा सहाय हैं, व्यग्रता एवं उत्कण्ठा तथा सावधानी एवं सतर्कता भी इसके अंग हैं। अर्थ की आशा से तत्सम्बन्धी एकाग्रता वा ध्यान-चिन्तन इसका स्वरूप है। यह मानसी पीड़ा तक पहुंचकर 'आधि' का रूप भी बन सकती है, तथा आशा को दुराशा में परिणत कर देती है। असंग के अनुसार यह मन का विशिष्ट कर्म है।

अनुभाव—चिन्ता के अनुभाव हैं—धृतिनाश, वितर्क, अन्य स्मृति का आभास तथा चित्त-वैक्लव्य आदि।

(१०) मोह

'मोह' शब्द के मूल से 'मुह्' धातु है जिसमें भावे 'घञ्' प्रत्यय का योग है। 'मुह्' धातु के नीचे लिखे अर्थ होते हैं[1]—

१. मूर्च्छित होना, चेतना खोना, संज्ञाहीन होना, २. व्याकुल होना या घबरा जाना, हैरान होना, संभ्रम में पड़ना, ३. मूर्खता करना, मूढ़ता दिखाना या उल्लू बनाना, ४. चूकना, भूलना, ५. भूल करना, भटकना।

'मोह' के निम्नलिखित अर्थ पाये जाते हैं[2]—

---

१. 1. To faint, to swoon, loose consciousness, become senseless—Bhattikavya, 3 To be perplexed or bewildered, to be disturbed in mind, be at a loss. —Hitopdesha, 3. To be foolish, stupid or infatuated, 4. to fail, 5. to err, mistake.

—Apte's Eng.-Sans. Dictionary

२. 1. Loss of consciousness, fainting, a swoon, insensibility, 2. Perplexity, delusion, embarrssment, confusion, —Bhagwatgita, 3. Folly ignorance, infatuation, mistake, —Rigveda, 4 Error, Mistake, 5. wonder, astonishment, 6.Affliction, pain, 7. Magical Art to confound an enemy, 8. Delusion, —Bhagwatgita, 9. Illusion of attachment or love. —Apte's Sans. Eng. Dictionary

१. चेतना खोना, मूर्छा, मुर्झाना, हतसंज्ञता, २. व्याकुलता, भ्रांति, घबराहट, हैरानी, संभ्रम, ३. अज्ञता, अज्ञान, भूल-भटक, ४. चूक, भूल, ५. आश्चर्य, विस्मय, ६. सन्ताप, पीड़ा, ७. तान्त्रिक-क्रिया, ८. मनोभ्रान्ति, आसक्ति।

भरतमुनि के अनुसार 'मोह' दैवोपघात, भय, आवेग पूर्ववैर संस्मरण आदि विभावों से उत्पन्न होता है। आर्या में 'त्रासन' आदि से उत्पन्न 'प्रतिकार शून्यता' का नाम मोह दिया गया है।[1] इस असंग मुनि के वर्गीकरण के अनुसार मन का सहाय चैतसिक-धर्म कहा जा सकता है। (द० दि०, पृष्ठ ७२०)। धनंजय इसे भीति, दुःख, आवेश, अनुचिन्तन आदि से उत्पन्न 'विचित्तता' नाम देते हैं।[2] अग्निपुराण में कर्त्तव्य-उपाय का अदर्शन 'मोह' कहा गया है।[3] हेमचन्द्राचार्य के मत में प्रहार, मत्सर, भय, दैवोपघात, पूर्ववैरस्मरण, त्रासन आदि से 'चित्त के मूढ़त्व' का नाम मोह है।[4] उनके मत में मोह की पूर्वावस्था भी 'मोह' नाम से ही कही जाती है। कभी-कभी सुख से भी मोह का जन्म होता है। रामचन्द्रगुणचन्द्र इसे उपर्युक्त विभावों से उत्पन्न 'अचैतन्य'—प्रवृत्ति-निवृत्ति—ज्ञान का अभाव मानते हैं न कि सर्वथा गत-चेतनत्व। वे अन्य विभावों में तीव्र-वेदना-अशक्य-प्रतिकार, चोर-राजा, सर्प, व्याघ्रादि का आक्रमण, देश विप्लव-अग्नि-जलादि का उपघात, वैरिदर्शन-श्रवण आदि को भी ग्रहण करते हैं।[5] शारदातनय इसे 'चित्त का शून्यत्व कहते हैं और उपर्युक्त विभावों में 'मद' का उल्लेख और करते हैं। तथा, इसका निर्वह करते हैं, 'चित्त की 'शून्यता जिससे मन मूर्च्छित होता है।'[6]

---

१. दैवोपघातव्यसनाभिघातभयावेगपूर्ववैरस्मरणादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते।
अस्थाने तस्करान्दृष्ट्वा त्रासनैर्वा पृथग्विधैः।
तत्प्रतीकारशून्यस्य मोहः समुपजायते॥ ना० शा०, ७।४६।
व्यसनाभिघातभयपूर्वरस (वैर) स्मरणजो भवति मोह।
सर्वेन्द्रिय संमोहात्त्वस्याभिनयः प्रयोक्तव्यः॥ ना० शा०, ७।४७।

२. मोहो विचित्तता भीतिदुःखावेशाचिन्तनैः। द० र०, ४।२६।

३. कर्तव्योपायादर्शनं मोह उच्यते। अ० पु० का०, ३।२६।

४. प्रहार-मत्सर-भय-दैवोपघात-पूर्ववैर-स्मरण-त्रासनादिभ्यश्चितस्य 'मूढ़त्व' मोहः। मोहस्य प्रागवस्थापि मोह शब्देनोच्यते। सुखजन्मापि मोहो भवति। काव्यानु०, पृष्ठ ९४।

५. मोहः अचैतन्यं प्रहारादेर्मोहोऽत्राघूर्णनादय—ना० द०, ३।१९९।
अचैतन्यं प्रवृत्ति-निवृत्ति ज्ञानाभावो न तु सर्वथा गत-चेतनत्वम्। प्रहारो मर्मण्यभिघातः। आदि शब्दात् तीव्रवेदना-अशक्य-प्रतिकार-चोर-राजा-अहि-व्याघ्राद्याक्रमण-देश-विप्लव-अग्निः उदकाद्युपघात-वैरी-दर्शन-श्रवणादेर्विभावस्य ग्रहः। वही।

६. मोह चित्तस्य शून्यत्वं पूर्ववैरस्मृतेर्मदाद्।
दैवोपघातान्मात्सर्यात् भयाच्चापि प्रहारतः॥
आवेगात्तत्प्रतीकारविहतैरेवमुद्भवेत्। भा० प्र०, पृष्ठ १९।
मोहश्चित्तस्य शून्यत्वं मनोयेनैव मुह्यति। भा० प्र०, पृष्ठ ३१।

शिंगभूपाल इसे आपद्भीति-वियोगादि से उत्पन्न 'चित्त की मूढ़ता' नाम देते हैं।[१] और विद्यानाथ इसे भीति, दुःख, आवेश-अनुचिन्तन से उत्पन्न 'मूर्च्छना' कहते हैं।[२] कविराज विश्वनाथ इसे 'विचित्तता' नाम देते हैं तथा भीति-दुःख-आवेग-अनुचिन्तन-जनित मानते हैं।[३] भानुदत्त ने भी मोह को "वैचित्य' कहा है तथा मोह और मोहन को एक ही कहा है। वैचित्य का अर्थ कार्याकार्य परिच्छेद है।[४] उज्ज्वल नीलमणि में इसे 'हर्ष-वियोग-विषाद' से उत्पन्न माना जाता है।[५] हर्ष के विषय में उन्होंने 'विदग्ध-माधव' से उदाहरण दिया है। पण्डितराज जगन्नाथ इसे 'वस्तुतत्त्वानवधारिणी चित्तवृत्ति' कहते हैं और व्याकुलता से उत्पन्न मानते हैं। उन्होंने नवीनों का यह मत भी उल्लिखित किया है कि चिन्ता ही वस्तुतत्त्व अनवधारण-रूप अवस्था में बदल कर मोह नाम चित्तवृत्ति को प्राप्त होती है।[६]

चिन्तामणि भी 'विमन-दुःखचिन्ता' आदि से उत्पन्न जिस चित्तवृत्ति की दशा में 'ज्ञान मिट जाय' उसे मोह कहते हैं।[७] देव ने रसतरंगिणीकार का सहारा लेकर अद्‌भुत-दर्शन आवेग, भय, अति चिन्ता, अति मोह (क्रोध) से उत्पन्न 'मूर्च्छा, विस्मरण, लयता' आदि को 'मोह' कहा है।[८] कुलपति मिश्र 'चित्त वैकल्य' को मोह कहते हैं।[९] गुलाम नवी ने 'चित्त की विचित्तता जनित अज्ञानता को मोह' कहा है।[१०] सोमनाथ ने इसे 'चित्त' की विकलता कहा है और लक्षण-च्युत हो गए हैं।[११] भिखारीदास ने इसे 'चेत की हानि' कहा है।[१२] पद्‌माकर भट्ट ने 'आपे और अपनी देह के अज्ञान' को 'मोह' कहा है।[१३] बेनी प्रवीन इसे 'सकल-ज्ञान मिट

---

१. आपद्भीतिवियोगाद्यैर्मोह चित्तस्य मूढ़ता। र० सु०, २।५३।
२. मोहस्तु मूर्च्छनं भीति दुःखावेशानुचिन्तनैः। प्र० रु०, पृष्ठ २४८।
३. मोहो विचित्तता भूतिदुःखावेगानुचिन्तनैः। सा० द०, ३।१५०।
४. मोहो वैचित्यम्। मुह् वैचित्त इति धातोर्मोहनं मोह इति भावव्युत्पन्नो मोह शब्दः। वैचित्यं कार्याकार्य परिच्छेदः। र० त०, पृष्ठ ८३।
५. उ० नी०, पृष्ठ ३५९-३६१।
६. रगंध०, पृष्ठ २८१।
७. मोह कहत है ताहि को जहां ज्ञान मिटि जात।
विमन दुःख चिन्तानि ते जहां अति विह्वल गात॥ क० कु० क०, ७।३५।
८. अद्‌भुत दर्शन, वेग, भय, अतिचिन्ता अति मोह।
जहां मूर्च्छा, विस्मरन, लयतादि कहु मोह॥ भा० वि, पृष्ठ ३७।
९. चित्त विकलता मोह है। र० र०, ३।२३।
१०. मद भय आदि विभाव तें चित्त जो बेचित होय।
वहै मोह अज्ञानता ते लहियत सै सोय। र० प्र०, छंद ८७६।
११. कल न परै चित्त को कहूं ताहि मोहि ठहराय। र० पी० नि०, ७।३१।
१२. मोह चेत की हानि जु होई। भ्रम अनुभाव विकलता होई॥ र० सा०, छंद ४८९।
१३. आपुहि अपनी देह को ज्ञान जवै नहिं होय।
विरह दुःख चिन्ता जनित मोह कहावत सोय। जगद्वि०, ५।४५।

जाना कहते हैं और दुःख तथा मोह से उत्पन्न मानते हैं। 'मोह' का विभाव बताकर लक्षण को और अस्पष्ट कर दिया गया है। इसमें उन्होंने 'चित्तकी धैर्य-अग्रहणता' भी लक्षित की है।[१] प्रताप साहि ने भी इसे 'भय-विषदादि' से चित्त की विकलता कहा है।[२] भानु कवि ने इसे अंग्रेजी नाम 'परप्लेक्सिटी' दिया है तथा स्व-देहाज्ञान कहा है।[३] प्रतापनारायण सिंह ने इसे 'भ्रम-जनित वैचित्य' कहा है।[४] कन्हैयालाल पोद्दार ने इसे 'चित्त-विक्षिप्ति', 'वस्तु का यथार्थ ज्ञान न रहना' कहा है और परम्परित विभाव गिनाये हैं।[५] अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध इसे 'भय-दुःख-भ्रम-जनित चित्त की साधारण अचेतनता और भ्रांति' कहकर स्पष्ट करते हैं।[६] राम दहिन मिश्र भी इसे 'चित्त विक्षेप के कारण यथार्थ ज्ञान का लोप' बताते हैं।[७] आचार्य शुक्ल के अनुसार 'मोह और जड़ता' दोनों मिलती-जुलती अवस्थाएं हैं। जड़ता में मानसिक और शारीरिक दोनों क्रियाएं एक क्षण के लिए बन्द सी हो जाती है। इसमें चित्त की व्याकुलता नहीं रहती तथा इष्टानिष्ट दोनों के दर्शन-श्रवण से हो सकती है जबकि मोह में 'चित्त की व्याकुलता और मूर्च्छा' होती है।[८] डॉ. राकेश गुप्त ने इसे अंग्रेजी में 'डिस्ट्रैक्शन' कहा है और इसे मन की अचेतनावस्था वा असामान्य चेतनावस्था माना है और कविराज विश्वनाथ तथा पण्डितराज जगन्नाथ को अपने मत के लिए आधार रूप में ग्रहण किया है। वे इसे 'संवेग' मानने को तैयार नहीं है।[९] बाबू गुलाबराय इसे "सिर चकराने और संज्ञा खो बैठने की सी मानसिक अवस्था' मानते हैं।[१०]

मोह के अनुभाव

निश्चैतन्य, भ्रमण, पतन-घूर्णन, सर्वेन्द्रिय संमोह आदि नाट्यशास्त्र में दिए गए हैं।[११] दशरूपक में भी यही अनुभाव संकलित है (४।२६)[१२]। भाव प्रकाशन में निश्चेष्टता, वैवर्ण्य, सर्वेन्द्रिय-प्रमोह, निश्वास और नष्टसंज्ञता को स्पष्टतया कहा गया है।[१३] अन्यों ने भी प्रायः

---

१. अति दुःख ते अति मोह ते धीरज गहै न चित्त।
सकल ज्ञान मिटि जात है, मोह कहावै भित्त॥ न० र० त०, छंद ३३२।

२. भय विषाद चित्त विकलतै मोह कहावत सोय॥ का० वि०, ३।३७।

३. मोह अपने देह को ज्ञान रहत जब नाहिं। र० रत्ना०, संचारी भाव।

४. र० कु०, ३ कुसुम।

५. का० कल्प०, ४ स्तवक।

६. र० क०, पृष्ठ ४२।

७. का० द०, पृष्ठ ७१।

८. र० मी०, पृष्ठ २३३।

९. सा० स्ट० र०, पृष्ठ १४१।

१०. सि० अध्य०, पृष्ठ १३१।

११. ना० शा०, ७।४६-४७।

१२. काव्यानुशासन में भी भरतमुनि का अनुसरण किया गया है, काव्यानु० पृष्ट ९४। और ना० द० में भी, ना० द० ३।१९९।

१३. भा० प्र० १ पृष्ठ १९।

निश्चेष्टता व इन्द्रिय-शून्यता आदि कहे हैं।[1] कविराज विश्वनाथ ने 'मूर्च्छा और अज्ञान' को भी अनुभाव में परिगणित किया है।[2] जबकि विद्यानाथ 'मूर्च्छना' नाम मोह का देते हैं।[3] भानुदत्त ने स्तम्भ-पात-घूर्णन-अदर्शन-विस्मरणादि इसके अनुभाव कहे हैं।[4]

'मोह' के उपरिलिखित अध्ययन का सार निम्नलिखित है—

विभाव—भय, व्यसन, दैवोपघात, आवेग, पूर्ववैरस्मरण, तीव्र-वेदना, अशक्य-प्रतिकार, हर्ष-वियोग-विषाद, व्याकुलता, चिन्ता, अनुचिन्तन, आवेश, मद आदि।

लक्षण—मोह मन की वह अवस्था है जिसमें कार्य-अकार्य, प्रवृत्ति-निवृत्ति ज्ञान का अभाव सा रहता है। इसे व्याकुलता एवं संभ्रम भी कहा जा सकता है। अपने हलके रूप में यह भ्रम, और वैचित्य तथा उत्कटावस्था में यही चिन्ता का बढ़ा रूप होने पर 'विस्वरण, एक प्रकार की मूर्च्छा एवं लय तक पहुंचता है जिसमें 'चित्त-शून्यता होती है। वस्तु-तत्त्व अनवधारिणी चित्तवृत्ति के रूप में यही 'आसक्ति' भी है। अंग्रेजी में इसे 'हैल्यूसिनेशन' अथवा 'हल्यूज़न' कहेंगे।

अनुभाव—स्तम्भ, वैवर्ण्य, इन्द्रिय-संमोह, निश्चेतन्य, मूर्च्छा, अज्ञान, वस्तुदर्शन, विस्मरणादि, क्षणिक-भूल, भ्रमण, पतन आदि इसके अनुभाव हैं।

(११) स्मृति

'स्मृति' के मूल में 'स्मृ' धातु है जिसमें भावे 'क्तिन्' प्रत्यय का योग है।

'स्मृ' धातु के अर्थ हैं—चिन्ता करना, ध्यान करना (देखिए सं० श० कौ०, परिशिष्ट २, पृष्ठ ६५)

'स्मृति' के निम्नलिखित अर्थ होते हैं—

(१) सुध, याद, स्मरण-शक्ति, (२) स्मरण, (३) विधि-विधान (श्रुति का विलोम) (४) कानून, विधान की संहिता, (५) कामना, अभिलाषा, (६) समझ, बुद्धि, विवेक, विचार।[5]

भरतमुनि ने सुख-दुःखकृत भावों के मति-विभावित अनुस्मरण का नाम स्मृति दिया है और इसे अपनेपन में आने से, चिन्तन से, अभ्यास से, सुनने-देखने की निपुणता से सम्भव

---

१. र० सु, २०।५३।

२. सा० द० ३।१५०।

३. प्र० रु०, पृष्ठ० २४८।

४. र० त०, पृष्ठ ८३।

५. 1. Rememberence, recollection, memory, 2. Thinking of, calling to mind, smrity, 3. law, 4. code of laws, 5. desire, wish, 6. discrimination, discretion. —Apte's Sans. Eng. Dictionary

बताया है।[1] बौद्ध दार्शनिक असंग ने इसे मन के सहायों के अन्तर्गत रखा है और चैतसिक धर्म कहा है (द० दि०, पृष्ठ ७२०)। धजनंय ने इसे सद्दशज्ञान, चिन्तादि से एवं संस्कार से उत्पन्न माना है।[2] अग्निपुराण में इसे 'अनुभूत वस्तु का प्रतिबिम्बन' कहा गया है।[3] हेमचन्द्राचार्य ने इसे सद्दश-दर्शनादि से उत्पन्न सुख-दुःख का हेतु स्मरण रूप मानाहै।[4] रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने तुल्यदृष्टि, सद्दश श्रवण, चिन्ता-संस्कार, रात्रि के अन्तिम प्रहर में निद्रोच्छेद, पुनः परिशीलन और पूर्वदर्शन से उत्पन्न पाटव आदि विभावों से होने वाला 'पूर्व-दृष्ट-ज्ञान' कहा है।[5] शारदातनय स्मृति को देश-काल से उपयुक्त, सुख-दुःख से सम्बद्ध चिर-विस्मृत वस्तुओं का स्मरण कहते हैं तथा रात्रि के पश्चात् प्रहर में निद्रा-क्षय चिन्ता, बार-बार के अभ्यास, समान-दर्शन-श्रवण से इसकी उत्पत्ति मानते है।[6]

उन्होंने स्मृति की परिभाषा इस प्रकार की है 'स्मृतिः संस्कारसहिता सत्त्वस्था बुद्धिरुच्यते।'[7] एवं देशान्तर और कालान्तर में अनुभूत उन-उन देशादि विशेष का पुनरालोचन (प्रत्यक्षीकरण, अथवा कल्पना) स्मृति मानते हैं।[8] 'जो स्मरण करे, या कराये अथवा जो स्मरण की जाये' कह कर उन्होंने स्मृति का निर्वहण किया है। शिंगूपाल ने इसे 'पूर्वानुभूत अर्थ-प्रतीति' नाम दिया है।[9] विद्यानाथ इसे 'पूर्वानुभूत' विषय कहते हैं।[10] कविराज विश्वनाथ ने इनका ही समन्वित मत इस विषय में दिया है।[11] भानुदत्त इसे 'संस्कारजन्य-ज्ञान' कहकर इसको 'स्मरण रूप' एवं 'प्रत्यभिज्ञानरूप' दोनों ठहराते हैं।[12] दार्शनिकों के अनुसार सभी अनुभव-

---

१. ना० शा०, ७।४८-४९। २. सद्दशज्ञान चिन्ताद्यैः संस्कारात्स्मृतिरत्र। द० रू०, ४।२०।

३. स्मृति स्यादनुभूतस्य वस्तुतः प्रतिबिम्बनम्। अ० पु० का०, ३।२६।

४. काव्यानु०, पृष्ठ ८७। ५. ना० द०, ३।१९५।

६. देशकालोपयुक्तानां सुखदुःखानुषंगिणाम्।
चिरविस्मृतवस्तूनां स्मरणं स्मृतिरुच्यते॥
दौस्स्थ्यान्निद्राक्षयाद्रात्र्याः प्रहरात्पश्चिमादपि।
चिन्ताया मुहुरभ्यासात्समानश्रुतिदर्शनात् भवेत्॥ भा० प्र० १, पृष्ठ १९।

७. भा० प्र० २, पृष्ठ २९।

८. देशान्तरेऽनुभूतस्य तथा कालान्तरेपि च। तद्देशादि विशिष्टस्य पुनरालोचनं स्मृतिः।
स्मरति स्मर्यते स्मारतीत्यस्यास्तु निर्वहः॥ भा० प्र०, २ अधिकार।

९. स्वास्थ्य-चिन्तादृढाभ्यास-सद्दशालोकनादिभिः स्मृतिः पूर्वानुभूतार्थप्रतीतिः।
र० सु०, २।३८।

१०. पूर्वानुभूतविषयं ज्ञानं स्मृतिरुदाहृता। प्र० रु०, पृष्ठ २४८।

११. स्मृतिपूर्वानुभूतार्थविषयं ज्ञानमुच्यते। सा० द०, ३।१६८।

१२. संस्कारजन्यं ज्ञानं प्रत्यभिज्ञारूपं स्मरणरूपं च संस्कारजन्यत्वेनोभयसंग्रहः।
र० त० पृष्ठ ८४।

ज्ञान तीन ही क्षण स्थित रहते हैं, अतः ज्ञान को स्मरण के प्रति कारण नहीं माना जा सकता। इस विषय में स्वास्थ्य-संभूत स्मृति के रूप में कालिदास का यह श्लोक प्रमाणरूप द्रष्टव्य है :

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांच निशम्य शब्दान् ।
पर्युत्सुकी भवति यत् सुखिनोऽपि जन्तुः ।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वम् ।
भावस्थिराणि जन्मान्तर सौहृदानि । शाकुन्तलम् ।

पण्डितराज जगन्नाथ भी 'स्मृति' को 'संस्कारजन्य ज्ञान' कहते हैं ।[1] चिन्तामणि के मत से सहज ज्ञान, चिन्तादि से पूर्वार्थ का 'स्मरण' स्मृति है ।[2] देव इसे 'सम्पत्ति-विपत्ति, अधिक प्रीति, अति त्रास के प्रिय-अप्रिय संस्कारों का स्मरण' मानते हैं ।[3] कुलपति मिश्र इसे 'सुधि-कृता' कहते हैं ।[4] गुलामनवी इसे 'दृष्ट वस्तुओं की पुनः सुधि अथवा पूर्वार्थ का स्मरण' मानते हैं ।[5] सोमनाथ इसे सीधे 'सुधि करना' कहते हैं ।[6] भिखारीदास इसे 'चित्त दिये हुए विषय के रंग-रूप को देखकर सुधि करना' परिभाषित करते हैं ।[7] पद्माकर भट्ट इसे 'बीती बात का स्मरण' निश्चित करते हैं ।[8] बेनी प्रवीन इसे सामान्य रूप में सदृश वस्तु के देखने-सुनने से उत्पन्न 'स्मरण' मानते हैं ।[9] प्रताप साहि ने इसे पण्डितराज जगन्नाथ के समान 'संस्कारमयज्ञान कहा है ।[10] भानुकवि ने पद्माकर भट्ट का ही लक्षण दिया है तथा अंग्रेजी में इसे 'रिफ़्लेक्शन' नाम दिया है ।[11] प्रताप नारायण सिंह जू ने इसे 'गतपदार्थों का पुनर्ज्ञान'

---

१. स्मृतिः संस्कारजन्यं ज्ञानं स्मृतिः । रगंध४, भावध्वनि, १ आनन ।

२. सहज ज्ञान चिन्तादि भ्रू विलासादि जिन होइ ।
सुमिरन पूर्व अर्थ को स्मृति कहियत है सोइ ॥ क० कु० क०, ७।४६ ।

३. संस्कार संपत्ति, विपत्ति अधिक प्रीति अति त्रास ।
प्रिय अप्रिय सुमृति इक चित्त मौन उसास ॥ भा० वि०, पृष्ठ ३७ ।

४. स्मृति सुधि करि होय—र० र०, ३।२३ ।

५. लखे बसन-मनिगन चितै फिरि वाकी सुधि होय ।
कै सुधि पूरब अर्थ की संस्मृत कहिये सोय । र० प्र०, छंद ८३० ।

६. सुधि करिबो सो स्मृति गुनि—र० पी० नि०, ७।२९ ।

७. सुमृति कहिय जासो चित्त दीजे । सो रंग रूप देखि सुधि कीजै । र० सा०, छं० ४९२ ।

८. सुमिरन बीती बात को सुमृति भाव सब शोध । जगद्वि०, ४।४६ ।

९. सदृश वस्तु देखत-सुनत सुमिरइ सोई सोई ।
सोइ अस्मृति भाव है संचारिन को गोइ । न० र० त०, छंद ३२२ ।

१०. संसकार मय ज्ञान तै सुमिरन भाव गनाय । का० वि०, ३।३८ ।

११. सुमिरन बीति बात को इस्मृति भाव विसाल । र० रत्ना० ।

कहा है।[1] कन्हैयालाल पोद्दार के मत से 'पहले के अनुभव किए हुए विषय का ज्ञान ही स्मृति है।'[2] अयोध्यासिंह उपाध्याय 'सदृश-अवलोकन, चिन्तन, परिदर्शनादि से पूर्वानुभूत बात की याद को 'स्मृति' कहते हैं।[3] रामदहिन मिश्र के मत से पूर्वानुभूत सुख-दुःख आदि विषयों का स्मरण ही स्मृति है जो सादृश्य वस्तु के दर्शन तथा चिन्तन आदि से उत्पन्न होती है।[4] आचार्य शुक्ल ने इसे अन्तःकरण वृत्तियों में स्थान देकर कहा है कि यों ही प्रसंग आने पर सोचने लगना या किसी बात का स्मरण करना काव्य-भावान्तर्गत न होगा। किसी भाव के कारण उत्पन्न हो और वह भाव स्पष्ट रूप से व्यंजित हो, तभी उसका ग्रहण काव्य में हो सकता है।[5] बाबू गुलाब राय इसे 'सादृश्य ज्ञान से पूर्वानुभव की मानसिक पुनरावृत्ति' निर्धारित करते हैं।[6] डॉ० राकेश गुप्त भी इसे भानुकवि के समान अंग्रेजी में 'रिफ़्लेक्शन' नाम देते हैं और अपने विवेचन के लिए अयोध्यासिंह उपाध्याय की परिभाषा को मान्यता देते हैं। वे इसे मानसिक प्रक्रिया मात्र मानते हैं जिसमें अवचेतन में गए हुए किसी ज्ञान अथवा बोध का पुनः चेतना के केन्द्र-बिन्दु पर स्थानान्तरण होता है।[7]

स्मृति के अनुभाव

नाट्य शास्त्र में शिरकम्पन, शिर-सहलाने, भ्रू-क्षेपण, आदि[8] तथा काव्यानुशासन में मुखोन्नमन, शून्यावलोकन, अंगुलीभंगादि और बताये गये हैं।[9] भा० प्र० में सदृश अवलोकन से हर्ष भी बताया है।[10] अन्यों ने प्रायः इन्हीं अनुभावों का वर्णन किया है। ध्यान देने की बात है कि किसी आचार्य ने इसमें 'सात्त्विक' अनुभाव का वर्णन नहीं किया है।

'स्मृति' के उपरिलिखित अध्ययन का सार निम्नलिखित है—

विभाव—स्मृति के विभाव हैं—मति, चिन्ता, सदृश-ज्ञान, पूर्वाभ्यास, परिशीलन, संस्कार, रात्रि के अन्तिम प्रहर में निद्रोच्छेद।

लक्षण—अनुभूत वस्तु अथवा स्थिति का अनुस्मरण अथवा मानसिक प्रतिबिम्बन स्मृति है। यह बुद्धि का ही भेद है जो सत्त्व में स्थित होती है और संस्कार-युक्त होती है। पूर्वानुभव की मानसिक अनुवृत्ति भी इसी के अन्तर्गत आती है, तथा तज्जन्य अर्थ प्रतीति भी। असंग ने इसे अपने वर्गीकरण में चैतसिक धर्म कहा है और मन का सहाय बताया है।

---

१. र० कु०, ३ कुसुम।
२. का० कल्प०, ४ स्तवक।
३. र० क०, पृष्ठ ४५।
४. का० द०, पृष्ठ ७१।
५. र० मी०, पृष्ठ २१३।
६. सि० अध्य०, पृष्ठ १३२।
७. सा० स्ट० र०, पृष्ठ १३८।
८. ना० शा०, ७१४९।
९. काव्यानु०, पृष्ठ ८७।
१०. भा० प्र०, पृष्ठ १९।

अनुभाव—स्मृति के अनुभाव हैं—सुख-दुःख-सुधि—आन्तर अनुभाव; शिरचालन, शिर-सहलाना, भ्रू-क्षेप आदि—बाह्य अनुभाव।

(१२) धृति

'धृति' के मूल में 'धृञ्' धातु है जिसमें 'भावे-क्तिन्' प्रत्यय का योग हुआ है। 'धृञ्' धातु का अर्थ है—'धारण करना'—(सं० श० कौ० परिशिष्ट)।

मोनियर विलियम्स के कोश में 'धृति' के निम्नलिखित अर्थ दिये हैं[१]—

(१) थमाव, अधिग्रहण, रखाव, आलम्बन, दृढ़ता, स्थैर्य, दृढ़ संकल्प (ऋग्वेद), (२) संतोष, तृप्ति, आह्लाद (महाभारत), (३) सुख-सन्तोष प्राप्ति (रत्नावली), (४) दृढ़ रहना (अमर कोष), धारणा (मनुस्मृति), (५) धृति देवी (महाभारत, हरिवंश पुराण)।

आप्टे के कोश में निम्नलिखित अर्थ दिये गये हैं[२]—

(१) पाना, थामना, अधिकृत करना, (२) प्राप्ति, अधिकृति, (३) संभालना, स्थित रखना, (४) दृढ़ता, अटलता, स्थिरता, (५) धैर्य, धीरज, शक्ति, दृढ़ निश्चय, साहस, आत्म-संयम, (६) सन्तोष, तृप्ति, सुख-प्रसन्नता, आनन्द, आह्लाद, (७) व्यभिचारी भाव आदि।

भरत मुनि ने 'धृति' को 'विज्ञान, श्रुति, विभव, शौचाचार, गुरुभक्ति, शक्ति, अधिक मनोरथ, अर्थलाभ, क्रीडादि विभावों से समुत्पन्न होता बताया है। परन्तु आर्या में इस भाव को भय, शोक-विषादादि भावों से रहित बताया है और प्राप्त उपभोग के, शब्द-स्पर्श-रस-रूप-गंध के, अप्राप्त होने पर जिस वृत्ति में शोक न हो वह धृति है, कहा है।[३] धनंजय इसे

---

१. Holding, seizing, keeping, supporting, firmness, constancy, resolution-Rigved, 2. satisfaction, contentment, joy-Mahabharat, 3. to find pleasure or satisfaction-Rannavali, 4. to show firmness-Amarkosha; to fix the mind on-Mannsmriti, 5. Resolution, satisfation personified as a daughter of Daksha & wife of Dharma, Mahabharatв, Harivamhpurana etc.

२. 1. Taking, holding, seizing, 2. Having, possessing, 3. maintaing, 4. firmness, steadiness, constancy, 5. fortitude, erergy, resolution, courage, self commend, 6. satisfaction, contentmeat, measure, happiness, delight, joy, 7. satisfaction as vyabhichari Bhava etc.

३. विज्ञानश्रुतिविभव शौचाचार गुरुभक्ति, अधिक मनोरथार्थलाभ क्रीडादिभिर्विभावे समुत्पद्यते। ना० शा०, ७।५०।

आर्या—विज्ञानशौचविभवश्रुतिशक्तिसमुद्भवा धृतिः सद्भिः।
भयशोकविषादाद्यै रहिता तु सदा प्रयोक्तव्या। ना० शा०, ७।५०।
प्राप्तानामुपभोगः शब्दस्पर्शरसरूपगन्धानाम्।
प्राप्तैश्च न शोको यस्यां हि भवेद्धृतिः सा तु। ना० शा०, ७।५१।

'सन्तोष' नाम देते हैं और ज्ञान, शक्ति, आदि से उत्पन्न मानते हैं।[१] अग्निपुराण में इसे इष्ट-प्राप्ति का 'उपचित' अथवा सम्पदा अम्युदय कहा है।[२] हेमचन्द्राचार्य ने भी प्रायः इसके भरत मुनि और धनंजय के विभाव ही उल्लिखित किये हैं।[३] तथा इसे 'संतोष' नाम दिया है। रामचन्द्रगुणचन्द्र भी इसे 'सन्तुष्टि' नाम ही देते हैं तथा ज्ञान-इष्टलाभादि से उत्पन्न मानते हैं और गतानुशोचन आदि इसके मुख्य लक्षण बताते हैं।[४] शारदातनय ने इसके विभावों में शौर्यादि को स्थान और दिया है। इसे नाना अर्थ-प्राप्ति से उत्पन्न विषयों का नाम दिया है।[५] शारदातनय ने इसका निर्वहण 'हर्ष-शोक में एक रूपा रहने वाली वृत्ति को धृति कहते हैं'[६] कहकर किया है। शिंगभूपाल ने शारदातनय का अनुगमन करके इसके विभावों में लज्जा को और बढ़ाया है तथा 'चित्त की निस्पृहता' को 'धृति' कहा है।[७] विद्यानाथ भी इसे 'चित्त की निस्पृहता' ही मानते हैं।[८] कविराज विश्वनाथ इसे सम्पूर्ण निस्पृहता कहते हैं।[९] भानुदत्त ने[१०] 'सन्तोष वा दुःख होने पर भी अदुःख बुद्धि' कहा है।[११] पण्डितराज जगन्नाथ इसे 'चित्त

---

१. सन्तोषो ज्ञानशक्त्यादेर्धृतिरव्यग्रभोगकृता। —द० रू०, ४।१२।

२. इष्टप्राप्तेरुपचितः संपदाभ्युदयो धृतिः। अग्नि० पु० का० ३।२६।

३. ज्ञानबाहुश्रुत्यगुरुभक्तितपः सेवाक्रीडार्थलाभादि विभावाधृतिः सन्तोषः। सा च लब्धाना-मुपभोगेन नष्टानामनुशोचनेन योऽव्यग्रो भोगस्तं करोति। काव्यानु०।

४. धृतिर्ज्ञानेष्टलाभादेः सन्तुष्टिर्देहपुष्टिकृत्। ना० द० ३।१६६।
ज्ञानं विवेक ज्ञानं बाहुश्रुत्यं वा। इष्टस्येप्सितस्य लाभः प्राप्ति। आदि शब्दात् शौचा-चरणक्रीडा-देवतादि भक्ति विशिष्ट शक्त्यादेः विभावस्य ग्रह। देहपुष्टिरूप लक्षणं गतानुशोचनादीनामनुभावानामिति। ना० द०, पृष्ठ ३३८।

५. शौर्याद्विज्ञानतः शौचाचाराच्च गुरुभक्तितः।
श्रुतप्रभावतो ब्रीडान्नानार्थाप्तेर्भवेद्धृतिः॥
प्रियाप्रियाविकारित्वं तदातत्त्वोचितकारिता।
अप्राप्तातीतनष्टानामलाभेऽनभिशोचनम्। भा० प्र०, पृष्ठ १६।

६. शोक हर्षयोरेकरूपा सैव धृतिर्भवेत्। भा० प्र० २ अधिकार।

७. ज्ञानविज्ञान-गुर्वादिभक्ति-नानार्थ-सिद्धिभिः।
लज्जादिभिश्च चित्तस्य नैस्पृह्यं धृतिरुच्यते॥ —र० सु०, २।७४।

८. धृतिश्चित्तस्य नैस्पृह्यं ज्ञानाभीष्टागमनादिभिः। —प्र० रु०, पृष्ठ २४६।

९. ज्ञानाभीष्टागमाद्यैस्तु संपूर्णानिस्पृहता धृतिः।
सौहित्यवचनोल्लास सहायप्रतिभादिकृत्॥ सा० द०, ३।१६८।

१०. धृतिसंतोषे दुःखेप्यदुःखबुद्धिर्वा। र० त०, पृष्ठ ८६।

के उपप्लव को निवारण करने वाली चित्तवृत्ति' निर्धारित करते हैं और लोभ-शोक-भय के प्रभाव को नष्ट करने वाली बताया है।[१] जीव गोस्वामी ने भी इसे दुःख के अभाव और उत्तम आप्ति से उत्पन्न माना है।[२]

चिन्तामणि ने इसे 'धैर्य' नाम देकर कहा है। 'धैर्य' शब्द धीर का भाव है, अतः यह भाव या चित्तवृत्ति के स्थान पर 'धैर्य' कहने से गुण में उतर जायेगा। वैसे वे लक्षण में 'धृति' कहकर इसे 'सन्तोष' ही स्वीकारते हैं।[३] देव ने 'यथालाभ संतोष वृत्ति-कहकर, अधैर्य दोष नाश' को धृति कहा है, विभावों में ज्ञान और शक्ति बताये हैं।[४] कुलपति मिश्र 'संतोष' को 'धृति' कहकर इतिकर्त्तव्य हो जाते हैं।[५] गुलाम नबी ने सब विभावों के लिए एक नाम 'सत्या' दिया है और 'संतोष' को 'धृति' कहा है।[६] सोमनाथ भी 'धृति' को "अपार संतोष" कहकर स्व-कर्त्तव्य पालन मान लेते हैं।[७] भिखारी दास "अप्राप्ति में संतोष" को 'धृति' कहते हैं।[८] पद्माकर भट्ट ने इसे "धीरता धारण" कहा है और इसके विभाव "साहस, ज्ञान और सुसंग" बताते हैं।[९] बेनी प्रबीन ने "संतोष धारण" कहा है।[१०] प्रताप साहि का लक्षण स्पष्ट नहीं है।[११] भानुकवि ने इसे अंग्रेजी नाम "रिपोज आव माइण्ड अथवा डिटरमिनेशन" कहा है परन्तु हिन्दी में उनका लक्षण स्पष्ट नहीं है, विभावों में वे "साहस और 'ज्ञान' को गिनते हैं।[१२] प्रतापनारायण सिंह जू ने इसे 'विपत्ति में अविचल बुद्धि'

---

१. लोभशोकभयादिजनितोपप्लवनिवारणकारिणीभूता चित्तवृत्तिविशेषो धृतिः ॥
रगंध०, १ आननम्।

२. धृतिः सा दुःखाभावेन उत्तमाप्त्या। उ० नी०, पृष्ठ ३७३-७४।

३. ज्ञान सक्ति आदिकन तै जो संतोष धृत जानि।
निज अदृश्य परिपाक मोह व्यग्र चित्त पहिचानि। क० कु० क, ७।२६।

४. ज्ञान शक्ति उपजै जहां मिटै अधीरज दोष।
ताहि सों धृति कहत जहं जथालाभ संतोष॥ भा० वि०, पृष्ठ ३८१।

५. धृति संतोष बखानिये। र० र०, ३।२३।

६. धृत कहिये संतोष को सत्या तासु विभाव।
दुख को सुख करि जानई धीरजादि अनुभाव॥ र० प्र०, ८४६।

७. धृति संतोष अपार। रं० पी० नि०, ७।२६।
धृति धीरज उर आनि। श्रृं० वि०, ६२२ छंद।

८. धृति असंतोष पाइ बिन पाए। विधि गति समुझि धीर जहि आए। र० सा०, ४८६॥

९. साहस ज्ञान सुसंग तै धरै धीरता चित्त।
ताहीं सौ धृति कहत हैं, सुकवै सबै नित नित॥ जगद्वि०, ४।२६।

१०. समुझि करै सन्तोष सो सोई है धृति भाव।
जो होनी सो होति है ताको कौन उपाव॥ न० र० त०, छंद—३३४।

११. मोहादिक भय तै जहां ढूंढत धृत होइ। का० वि०, ३।३७।

१२. धृति साहस अरु ज्ञान तें उपजत हिय मैं आय। र० रत्ना०, संचारी भाव।

कहा है।[१] कन्हैयालाल पोद्दार ने धृति को 'लोभ, मोह, भय आदि से उत्पन्न होने वाले उपद्रवों को दूर करने वाली चित्तवृत्ति' कहा है।[२] अयोध्यासिंह उपाध्याय भी इसे प्रताप नारायण सिंह जू का ही लक्षण देकर स्पष्ट करते हैं।[३] रामदहिन मिश्र इसे 'तत्वज्ञान, इष्टप्राप्ति आदि के कारण इच्छाओं का पूर्ण हो जाना' कहते हैं।[४] आचार्य शुक्ल के मत से नायक के गुणों में 'धैर्य' का जो लक्षण दिया है, उसी को ग्रहण कर उन्होंने व्यभिचारी का नाम 'धैर्य' रखा है। 'बड़े बड़े विघ्न उपस्थित होने पर भी अपने व्यवसाय में अविचलित रखने वाली मानसिक अवस्था का नाम 'धैर्य' है।" यह उनका मत है।[५] बाबू गुलाब राय ने धृति कहकर परिभाषा इस प्रकार दी है—धृति, धैर्य, सफलता में उत्फुल्ल न होना और विषाद में खिन्न न होना। यह ज्ञान से उत्पन्न होता है। इसमें प्रसन्नता का भाव रहता है। मन की उत्तेजना और क्षोभ का अभाव रहता है।[६] डॉ० राकेश गुप्त ने कविराज विश्वनाथ के लक्षणों को प्रमाण माना है तथा भरतमुनि और पण्डितराज जगन्नाथ का सहारा लेकर इसे असंवेगात्मक अनुभूति निश्चित करते हैं तथा 'चेतना की प्रशान्त अवस्था' मानते हैं। परन्तु उनका मत है कि कविराज विश्वनाथ के लक्षण के अनुसार इसे मनोविकार भी माना जा सकता है।[७]

अनुभाव

भरतमुनि के अनुसार अनुशोचन वा शोक का अभाव[८]; अनंजय के अनुसार अव्यग्रभोग[९]; रामचन्द्रगुणचन्द्र के अनुसार 'देहपुष्टि'[१०]; शारदातनय के अनुसार "प्रिय-अप्रिय अविकारित्व" तथा "अनभिशोचन तथा समायोजन की शक्ति"[११]; शिंगभूपाल के अनुसार "अभिसंशोधन"[१२] तथा कविराज विश्वनाथ के अनुसार "साहित्य, वचनोल्लास, और सहासवचन"; तथा भानुदत्त के अनुसार 'अव्यग्रभोगादि"[१४] एवं पण्डितराज जगन्नाथ के अनुसार "चापलादि का उपशम" हैं।[१५]

'धृति' के उपरिलिखित अध्ययन का सार निम्नलिखित है—

विभाव —साहस एवं ज्ञान, विभव, शौचाचार, गुरु-भक्ति, शक्ति, अधिक मनोरथ आदि।

---

१. र० कु०, ३ कुसुम।

२. का० क०, चतुर्थ स्तवक।

३. तत्त्वज्ञान, साहस, सत्संग आदि के प्रभाव से विपत्तिकाल में अविचलित-चित्त होना धृति कहलाता है। र० क०, पृ० ३६।

४. का० द०, पृष्ठ ७२।

५. र० मी०, पृष्ठ २२७।

६. सि० अध्य०, पृष्ठ १३३।

७. सा० स्ट० र०, पृष्ठ १३५।

८. ना० शा०, ७।५०-५१।

९. द० रू०, ४।१२।

१०. ना० द०, ३।१९६।

११. भा० प्र०, पृष्ठ १९।

१२. र० सु०, २।७५-७६।

१३. सा० द०, ३।१६८।

१४. र० त०, पृष्ठ ८६।

१५. रगंध०, प्रथम आनन।

लक्षण —धृति में चित्त में अलोभ, सन्तोष के साथ भय-शोक-विषादादि का राहित्य होता है। इसमें शुद्ध-क्षशुद्ध, धर्म-कर्मों की विज्ञप्ति भी रहती है। प्रतिकूल वा विषम स्थिति की उपेक्षा रहती है। शुद्ध एवं अविचल बुद्धि होने से 'अमोह' भी इसमें सहायक होता है। यह मनःस्थिति यथालाभ-प्रसन्नता, स्थिरता, वस्तु-ज्ञान, क्षोभ-राहित्य की संमिश्र स्थिति है।

इसमें असंग के बताये चैतसिक धर्म[1] 'अक्षोभ' 'उपेक्षा' 'अमोह' 'प्रज्ञा' आदि मन के सहायों का भी योग है और मन के विशिष्ट कर्मों का भी[2] यथा "भलाई की जड़ों को जोड़ना", "शुद्ध-अशुद्ध धर्म-कर्मों की विज्ञप्ति" आदि का भी सम्मिलन है। अतः 'धृति' एक सम्मिश्र अवस्था—मन-कर्म तथा उसके सहायों की अवस्था है। यह चापल्य की विपरीत-अवस्था है और समायोजन की शक्ति है।

अनुभाव —गतानुशोचन, साहित्य, वचनोल्लास, चापलादि का उपशमन, अव्यग्र भोग, अथवा प्रियाप्रियावस्था में अविकार आदि।

(१३) **व्रीडा**

'व्रीडा' के मूल में 'व्रीड्' धातु है जिसमें कृत्प्रत्यय 'अ' के साथ स्त्रीलिंग प्रत्यय 'टाप्' जोड़ा गया है।

आप्टे के कोश में 'व्रीड्' धातु के निम्नलिखित अर्थ दिए गए हैं[3]—

(१) लज्जित होना, शर्माना, (२) फेंकना, प्रक्षेपण करना, प्रेरणा करना।

मोनियर विलियम्स ने इसे दसवें गण की परस्मैपद धातु के, 'निरुक्त' में, 'व्रीड्' के 'अचल, दृढ़, स्थिर करना' अर्थ में भी प्रयुक्त देखा है।[4]

'व्रीडा' के कोश में निम्नलिखित अर्थ दिए गए हैं[5]—

(१) लज्जा, (२) विनम्रता तथा विनयशीलता। 'व्रीडनम्' के अर्थों में एक अर्थ 'दबाब' तथा अवनमन भी दिया गया है।[6]

---

१. देखिए द० दि०, पृष्ठ ७२०।
२. वही, पृष्ठ ७२१।
३. 1. To be ashamed, feel shame, 2. to throw, cast, send forth.
४. To make firm -M.W. Sans-Eng. Dictionary.
५. 1. Shame, 2. Modesty, -Apte's Sans. Eng. Dictionary.
६. Depression, lowering. M.W. Sans. Eng. Dictionary.

भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में इसके विभाव 'अकार्यकर्म, गुरुव्यतिक्रमण, ज्ञात-प्रतिज्ञा का अनिर्वाह, पश्चाताप आदि, बताये गये हैं।[१] बौद्ध-दार्शनिक असंग ने इसे 'लज्जा' कहकर, मन का सहाय गिना है और चैतसिक धर्मों के अन्तर्गत गिनाया है। (देखिए द० दि०, पृष्ठ ७२०) धनंजय ने इसे 'धृष्टता-अभाव को उन्नत करने वाली 'चित्तवृत्ति कहा है।[२] अग्निपुराण में 'अनुरागादि से उत्पन्न संकोच' को व्रीडा कहते हैं।[३] हेमचन्द्राचार्य भी इसे 'चित्त संकोच' कहते हैं।[४] रामचन्द्रगुणचन्द्र इसे 'अनुताप', 'मानस विवेक से उत्पन्न' कहते हैं तथा गुरु आदि के प्रति 'अधृष्टता' स्वीकार करते हैं।[५] शारदातनय इसे 'अकार्य-करण, अज्ञान, गुरु आदि आज्ञा-भंग, प्रतिज्ञा-त्याग या अनिर्वाह से उत्पन्न अनुपात से सम्भव कहते हैं[६] तथा व्रीडा का निर्वाह इस प्रकार किया है—

वृणोति चित्तं लातीति व्रीडेति परिभाष्यते। (जो चित्त को ढांक ले, ग्रहण कर ले वह व्रीडा है)। भा० प्र०, २ अधिकार।

इन्होंने व्रीडा के अन्य नामों का उस-उस की परिभाषानुसार वर्णन किया है। वे भी यहां उपस्थित किए जाते हैं।

लज्जा – वित्त के (धन, सम्पत्ति, शक्ति) विलीन हो जाने से यह लज्जा कही जाती है।[७]

ह्री —वाक्-मन-काया को संकुचित कर देती है। अतः 'ह्री' परिभाषित है।[८]

मन्दाक्षं—जो आखों (या इन्द्रियों) का मन्द निवारण करे अथवा जो उन्हें हटाये अथवा जिसमें आंखें बन्द हो जाएं उसे मन्दाक्ष कहते हैं।[९]

त्रपा—जो हुए, होते हुए और होने वाले का पालन व रक्षण करे, वह त्रपा है।[१०]

---

१. अकार्यकरणात्मिका गुरुव्यतिक्रमणा च ज्ञात-प्रतिज्ञाऽनिर्वहण-पश्चातापादिभिर्विभावैरुपद्यते। ना० शा०, ७।५२-५३।

२. दुराचारादिभिर्व्रीडा धाष्र्ट्याभावस्तमुन्नयेत्। द० रु० ४।२४।

३. व्रीडानुरागादिभवः संकोचः कोऽपि चेतसः। अ० पु० का०, ३।२७।

४. व्रीडाचित्तसंकोचः। काव्यानु०, पृष्ठ ८५।

५. व्रीडानुताप गुर्वादिरधाष्र्ट्यम् गात्रगोपकम्। ना० द०, ३।२०७।

६. भा० प्र०, १ अधिकार।

७. वित्तेर्विलीयजातत्वाल्लज्जेति परिभाष्यते। भा० प्र०, २ अधिकार।

८. ह्रियन्ते वाङ्मनः काया इति ह्रीः परिपठ्यते। भा० प्र०, २ अधिकार।

९. मन्दाक्षं—मन्दमक्षाणिवार्यन्ते तानि वारयततीति वा।
मन्दानीति यदक्षाणि **तन्मन्दाक्षमुदाहृतम्**॥

१०. भूतंभवद्भविष्यञ्च त्रयं **पातीति सा त्रपा**।—वही।

अपत्रपा—जिसके द्वारा अपकृत्य करने वाले प्राणी त्राण पाते हैं, वह अपत्रपा है।[१]

वैलक्ष्यं– चित्त जिसमें विलक्षण चेष्टा करे—उसे 'वैलक्ष्य' कहते हैं।[२]

शिंगभूपाल ने इसे 'व्रीला' लिखा है और 'अनतिधृष्टता' कहा है। विभावों में 'अकार्य-कारण, अवज्ञा तथा अस्तुति और नूतन-संग' गिनाये हैं।[३] विद्यानाथ इसे 'चेतः संकोचन' बताते हैं।[४] कविराज विश्वनाथ इसे दुराचारादि से उत्पन्न 'धाष्ट्र्य' का अभाव कहते हैं।[५] भानुदत्त ने स्वच्छन्द-क्रियासंकोच का नाम 'व्रीडा' दिया है। उनके मत में क्रियाविरह कहने पर शंका तथा त्रास में इसकी अतिव्याप्ति हो जायेगी।[६] पण्डितराज जगन्नाथ इसे स्त्रियों में 'पुरुषमुखावलोकन' और पुरुषों में 'प्रतिज्ञाभंग, तथा वैरिकृत पराभव से' उत्पन्न मानते हैं और लज्जा नाम भी देते हैं।[७] जीव गोस्वामी ने इसे नवीन संगम, अकार्य, स्तव और अवज्ञा से उत्पन्न बताया है।[८]

'व्रीडा' को 'ढिठाई की हानि' चिन्तामणि[९] और गुलाम नवी ने[१०] बताया है। चिन्तामणि ने इसे 'लज्जा' नाम दिया है। देव[११], कुलपति मिश्र[१२] और सोमनाथ[१३] इसे 'चित्त का संकोच'

---

१. अपकृत्या यया जन्तुस्त्राय्यते साह्यपत्रपा। भा० प्र०, २ अधिकार।

२. विलक्षं चेष्टते चित्तं यत्तद्वैलक्ष्यमुच्यते। वही।

३. अकार्यकारणावज्ञास्तुतिनूतनसंगमैः प्रतीकाराक्रियाद्यैश्च व्रीला त्वनतिधृष्टता।
र० सु०, २।६४।

४. चेतः संकोचनं व्रीडानंगरागस्त्वादिभिः। प्र० रु०, पृष्ठ २४६।

५. धाष्ट्र्याभावो व्रीडा वदनावनमनादिकृद् दुराचारात्। सा० द० ३।१६५॥

६. स्वच्छन्दक्रियासंकोचो व्रीडा। न च शंकायां त्रासे चातिव्याप्तिस्तत्र तत्र क्रियाविरह एव न तु क्रियासंकोचः। र० त०, पृष्ठ ८७।

७. स्त्रीणां पुरुषमुखावलोकनादेः पुंसां च प्रतिज्ञा-भंगपराभवादेरुत्पन्नो वैवर्ण्याधोमुखत्वादि-कारिणीभूतश्चित्तवृत्ति विशेषा व्रीडा। रगंध०, १ आनन, भाव ध्वनि।

८. उ० नी०, पृष्ठ ३६५-६६।

९. हानि डिठाई की जु है सो लज्जा मन आनि।
मुखनावनि आदिक कहूं होत तहां है वानि॥ क० कु० क०, ७।६२।

१०. जो काहू की आनि ते होत ढिठाई हानि।
मुख नावनि आदिक जहां व्रीडा लीजै मान॥ र० प्र०, छंद ८५२।

११. दुराचार अरु प्रथम रत, उपजै जिय संकोच।
लाज कहै तासों जहां मुखगोपन गुरु सोच। भा० वि०, पृष्ठ २१।

१२. लाज संकुचितो सोय। र० र०, ३।२३।

१३. लज्जा अति ही संकुचिवो—र० पी०नि०, ७।२४। यही श्रृंगार विलास में दिया गया है। देखिए छंद २५।

कहते हैं। प्रतापनारायण सिंह जू इसे 'व्रीडा' ही कहते हैं[1] परन्तु अन्य सब 'लज्जा' नाम देते हैं। भिखारीदास[2] ने लज्जा को 'त्रपा' पर्याय देकर बताया है। पद्माकर भट्ट[3], बेनी प्रवीन[4], प्रताप साहि[5], भानुकवि[6], रामदहिन मिश्र[7] तथा अयोध्यासिंह उपाध्याय[8] और कन्हैयालाल पोद्दार[9] ने व्रीडा को 'लज्जा' पर्याय देकर प्रस्तुत किया है। भानु कवि ने इसका अंग्रेजी नाम 'वाशफुलनेस' भी दिया है। कन्हैयालाल पोद्दार ने अपनी परिभाषा के लिए पण्डितराज जगन्नाथ का आश्रय लिया है और रामदहिन मिश्र ने भी। बाबू गुलाबराय भी 'व्रीडा' को 'लज्जा' कहते हैं, परन्तु उन्होंने उसका निम्नलिखित विवेचन और उपस्थित करके इसे 'अवहित्था' से पृथक् करने का प्रयत्न किया है। 'व्रीडा' लज्जा को कहते हैं, अवहित्था में हर्ष का गोपन रहता है। यह एक मानसिक अवनति की दशा होती है। व्रीडा में अपराध के कारण सिर का अवनमन रहता है और आदमी बात संकोच के साथ करता है।[10] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी इसे लज्जा ही कहा है, परन्तु 'इसे कारण से स्वतन्त्र विषय वाला भाव' कहा है।[11] डॉ० राकेश गुप्त ने इसे अंग्रेजी में 'शेम' वा 'वाशफुलनेस' कहा है[12] और मैकडूगल के अनुसार इसे 'अधीन-वृत्ति' का मूल-संवेग बताया है। उन्होंने अपने लक्षण का आधार कन्हैयालाल पोद्दार को बनाया है जो स्वयं पण्डितराज जगन्नाथ के मत पर आधारित है। सोशल साइकलोजी के अनुसार उन्होंने इसे 'सकुचते हुए अवनमित-अप्रतिष्ठ व्यवहार, मांसपेशियों की अवनत-अवस्था, मन्द और बाधित गति, अधोमुखता तथा कनखियों से देखना आदि' से अभिव्यक्त होते हुए बताया है।[13]

व्रीडा के अनुभाव

भरतमुनि के अनुसार 'गूढ़वदन, अधोमुख-विचिन्तन, विलेखन, वस्त्र-अंगूठी आदि का

---

१. व्रीडा स्वच्छन्द क्रिया से संकुचित होना। र० कु०, ३ कुसुम।

२. त्रपा भाव लज्जा अधिकाई। र० सा०, छंद ४९९।

३. जहां कौनहू हेतु ते उर उपजत अति लाज।
 व्रीडा ताको कहत हैं, सुकविन के सिरताज। जगद्वि०, ४।६९।

४. होन चहत जाहिर जहां छबि कीन्हों जो काज।
 ताही सो व्रीडा कहैं जो लागति है लाज॥ न० र० त०, छंद ३३७।

५. लाजऽपराध तै कहत व्रीडा व्रीडा भाव जनाय। का० वि०, ३।३८।

६. व्रीडा कोनहु काज तें रहत लाज उर छाय। र० रत्ना० संचारी भाव।

७. का० द०, पृष्ठ ७२।

८. र० क०, संचारी भाव, पृष्ठ ५३।

९. का० कल्प, ४ स्तवक।

१०. सि० अध्य०, पृष्ठ १३३।

११. र० मी०, पृष्ठ २०७।

१२. सा०स्ट० र०, पृष्ठ १४०।

१३. वही, पृष्ठ १४०।

स्पर्श, नाखून काटना आदि' हैं ।[1] आर्या में 'विकुंचन' और बताया गया है । धनंजय[2] ने अंगों का साचीकृत (टेढ़ा किया हुआ) होना, तथा अंगावरण और विवर्णतादि भी बताये हैं। हेमचन्द्र वैवर्ण्य और रामचन्द्रगुणचन्द्र[3] 'गात्रगोपन्' पर विशेष बल देते हैं। शारदातनय भू-लेखन, चिन्तन, मुखावनम्रता, अव्यक्तवचन, नखकर्त्तन, वस्त्रांगुलियक-स्पर्श, दूर से ही अवकुण्ठन, बाहर न निकलना (किसी-किसी के द्वारा), सर्वत्र ही अनवस्थिति आदि का परिगणन करते हैं ।[4] पण्डितराज जगन्नाथ भी वैवर्ण्य और अधोमुखता पर बल देते हैं ।[5]

'व्रीडा' के उपरिलिखित अध्ययन का सार निम्नलिखित है—

विभाव—अकार्य-कर्म, पश्चाताप, ज्ञात-प्रतिज्ञा-अनिर्वाह, अज्ञान, अनुराग, विनय-शीलता आदि ।

लक्षण—व्रीडा-मन-संकोच की अवस्था का नाम है, यह धृष्टता, चपलता की प्रतिरोधी तथा अधीनवृत्ति से उत्पन्न चित्त को ढांकने वाली वृत्ति है जिससे क्रिया-संकोच होता है । लज्जा, ह्री, मन्दाक्ष, त्रपा आदि इसके क्रिया-भेद से अन्य नाम हैं । बौद्ध दार्शनिक असंग ने अपने वर्गीकरण में मन के सहायों के अन्तर्गत स्थान देकर इसे 'चैतसिक धर्म' कहा है । अवहित्था में मन अन्यथा क्रियायों और विचारों में तत्पर रहता है, इसमें नहीं । मन इसमें 'संकुचित' अथवा 'अस्वच्छन्द' हो जाता है ।

अनुभाव—विकुंचन, विवर्णता, विचिन्तन, अधोमुखता, गात्र-गोपन, अव्यक्तवचन, तथा अनवस्थिति आदि ।

(१४) चापल्य अथवा चपलता

'चपल' का भाव 'चापल्यं', 'चापलं' अथवा 'चपलता' है । 'चपल' शब्द के मूल में 'चप्' अथवा 'चापि' धातु हो सकती है । 'चप्' धातु के अर्थ हैं—पाखण्ड करना, शठता करना, 'चापि' के अर्थ हैं, गति, जाना । (दे० संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ) ।

'चपल' में कर्मणि वा भावे 'ष्यञ्' प्रत्यय का योग होने से 'चापल्यं' की व्युत्पत्ति होती है ।

'चापल्यं' के निम्नलिखित अर्थ आप्टे के कोश में मिलते हैं[6]—

---

१. ना० शा०, ७।५३ । २. द० रू०, ४।२४ । ३. ना० द०, ३।२०७ ।
४. भा० प्र०, १ अध्याय । ५. रगंध०, १ आनन, भाव ध्वनि ।

६. 1. Quick action, swiftness, 2. fickleness, unsteadiness, transitoriness—Kiraterjuniyam, 3. inconsiderate or rash action or rash conduct, rash act, rashness—Mahabharat, Uttar-Ramcharitam, Raghuvamsh, 4. Restiveness (as of a horse)—-Raghuvamsh, 5. Boldness—Kumar-sambhava, 6. Agitation, tremor, —Apte's Sans. Eng. Dictionary.

(१) त्वरित गति, चाल, फुर्ती, (२) चंचलता, अस्थिरता, अस्थायित्व (किरातार्जुनीयम्), (३) अविचारित कर्म, जल्दबाजी, जल्दबाजी का काम (महाभारत, उत्तररामचरित, रघुवंश), (४) हठीलापन (यथा घोड़े का), (५) शूरत्व, (६) हलचल, थरथराहट, कम्पन।

मोनियर विलियम्स ने भी इसके प्रायः यही अर्थ दिए हैं (दे० मो० वि० संस्कृत-अंग्रेज़ी कोश)।

भरतमुनि 'चपलता' नाम की उत्पत्ति राग-द्वेष, मात्सर्य-अमर्ष-ईर्ष्या-प्रतिकूलादि विभावों से बताते हैं।[1] धनंजय ने इसे राग-द्वेष-मात्सर्य आदि से उत्पन्न 'अनवस्थितिः' नाम दिया है।[2] अग्निपुराण में 'चपलता' को 'अस्थैर्य' कहा गया है।[3] हेमचन्द्राचार्य भी इसे 'चेत का अनवस्थान' ही कहते हैं।[4] रामचन्द्रगुणचन्द्र ने इसे 'साहस' कहकर इसमें किये जाने वाले आकस्मिक कर्म की ओर विशेष ध्यान दिया है।[5] शारदातनय ने भी इसे भरतमुनि की भांति प्रातिकूल्य, ईर्ष्या, मत्सर, द्वेष-राग से जन्म लेने वाला कहा है और 'अयोग्य और अपदार्थ की दुस्स्पृहा 'चपलं' होती है और इससे अपदार्थ में मन पलायन करे तो 'चापलं' होता है'—कहकर 'चापल' की परिभाषा दी है।[6] शिंगभूपाल इसे 'चित्त-लाघव' की संज्ञा देते हैं।[7] विद्यानाथ इसे 'अनवस्थान' की ही संज्ञा हेमचन्द्राचार्य की भांति देते हैं।[8] कविराज विश्वनाथ भी इस मत के हैं और 'अनवस्थिति' नाम देते हैं।[9] भानुदत्त ने इसे 'इतर-इतर क्रिया करना अथवा क्रिया में शीघ्रता कहा है। वे इसके विभाव मात्सर्य, द्वेष, रागादि बताते हैं।[10] पण्डितराज जगन्नाथ इस 'अमर्षादि से जन्य वाक्-पारुष्यादि की कारिणीभूत चित्तवृत्ति' को 'चपलता' नाम देते हैं[11]। जीव गोस्वामी ने इसे राग-द्वेष से उत्पन्न बताया है।[12]

---

१. चपलता नाम रागद्वेषमात्सर्यामर्षेर्ष्याप्रतिकूलादिभिर्विभावैरुत्पद्यते। ना० शा० ७।

२. मात्सर्य-द्वेष-रागादेश्चापलं त्वनवस्थितिः। द० रू०, ४।३३।

३. भवेच्चपलताऽस्थैर्यम्। अ० पु० का०, ३।२७।

४. चापलं चेतोऽनवस्थानम्। काव्यानु०, पृष्ठ ८५।

५. चापलं साहसं रागद्वेषादेः स्वैरतादिमत्। ना० द०, ३।१९१।

६. चापलं प्रातिकूल्य, ईर्ष्या, मत्सर, द्वेष, राजगम्। भा० प्र०, १ अधिकार।
अयोग्ये चापदार्थे च दुस्स्पृहा चपलं भवेत्।
पलायते चापदार्थे मनस्तच्चापलं भवेत्॥ भा० प्र०, २ अधिकार।

७. रागद्वेषादिभिश्चित्तलाघवं चापलं भवेत्। र० सु०, २।८६।

८. चापलंत्वस्थानं रागद्वेषादि संभवअ। प्र० रू०, पृष्ठ २५०।

९. मात्सर्यद्वेष रागादेश्चापल्यं त्वनस्थितिः। सा० द०, ३।१६६।

१०. इतरेतर क्रियाकरणं क्रियायाः शीघ्रता वा चपलता। र० त०, पृष्ठ ८७।

११. अमर्षादिजन्या वाक्पारुष्यादिकारिणीभूता चित्तवृत्तिः चपलता। रगंघ०, १ आनन।

१२. उ० नी०, पृष्ठ ३८१-८२।

चिन्तामणि, सोमनाथ इसे चापल्य कहते हैं। चिन्तामणि ने इसे 'स्थिरथा की हानि'[१] और सोमनाथ ने 'चपल विकार'[२] कहा है। शृं० वि० में सोमनाथ ने इसे 'चपलता' भी कहा है। और 'चंचलता' इसका विशेष लक्षण दिया है।[३] हिन्दी के अन्य सभी आचार्य इसे 'चपलता' से ही अभिहित करते हैं। देव इसमें 'उत्तालता' और 'चपल चेष्टा' लक्षित करते हैं।[४] गुलाम नवी इसमें 'शीघ्रता' आदि को अनुभाव मानते हैं।[५] कुलपति मिश्र ने इसे 'मानसिक उद्वेग' माना है और 'कार्यावलि में उतावली' कहा है। परन्तु यह लक्षण 'आवेग' के निकट पहुँच जाता है।[६] भिखारीदास इसे 'आतुरता करना' कहते हैं।[७] पद्माकर भट्ट इसे 'पूर्ण-अस्थिरता, कहकर परिभाषित करते हैं।[८] बेनीप्रवीन ने भी यही लक्षण दिया है।[९] प्रताप साहि का लक्षण स्पष्ट नहीं है, उन्होंने केवल विभावों का कथन किया है।[१०] भानुकवि ने इसे 'अस्थिरता' कहा है।[११] प्रताप नारायण सिंह जू का भी यही मत है।[१२] अयोध्यासिंह उपाध्याय ने इनका ही मत उद्धृत कर लिया है।[१३] कन्हैयालाल पोद्दार ने अग्निपुराण के मत को विस्तारपूर्वक गद्य में कहा है।[१४] रामदहिन मिश्र भी इनके समान मत के हैं।[१५] आचार्य

---

१. रागादिक ते होत है थिरता कछु न हानि।
स्वच्छन्दाचरन्यादि को है चापल्य निदान। क० कु० क०, ७।८६।

२. चापल चपल विकार। र० पी० नि०, ७।२६।

३. चंचलता सब काज में सु वह चपलता चित्त। शृं० वि०, छंद २७।

४. रागरू क्रोध विरोध में चपल चेष्टा होय।
कारज की उत्तालता कहत चपलता सोय। भा० वि०, पृष्ठ ३६।

५. रागद्वेषआदिकन ते होत चपलता आइ।
किए शीघ्रता आदि ते तन में होत लखाइ॥ र० प्र०, छंद ८५७।

६. काल उतावल चपलता जह, मन रहे उद्वेग। र० र०, ३।२४।

७. चपलता जु आतुरता करई। इच्छा चरै न सिख चित्त धरई। र० सा०, छंद ४६४।

८. जहं अति अनुरागादि ते थिरता कछू रहै न।
तित चित चाहे आचरण, वहै चपलता ऐन। जगद्वि०, ४।१०१।

९. अनुरागादिक ते जहां थिरता रहै न नेक।
तहां चपलता कहत हैं, पण्डित कवि सविवेक॥ न० र० त०, छंद ३४२।

१०. राग वैर पुनि क्रोधते काल चपलता लेखि। का० वि०, ३।३८।

११. होत चपलता प्रेंम ते थिरता नहिं ठहरात। रस० रत्ना०, संचारी भाव।

१२. चपलता—अनवस्था तथा अस्थिरता सहित कार्य को करने को चपलता कहते हैं। र० कु०, ३ कुसुम।

१३. र० क०, पृष्ठ ६३।

१४. मात्सर्य द्वेष अनुराग आदि से चित्त-अस्थिरता का होना चपलता है। का० कल्प०, ४ स्तवक।

१५. का० द०, पृष्ठ ७२ ।

शुक्ल अपने लक्षण के लिए कविराज विश्वनाथ को आधार मानते हैं और 'मानसिक-अस्थिरता' ही नाम देते हैं जिसमें 'चेष्टाएं नियमित प्रयत्न को नहीं पहुंचती' ।[१] बाबू गुलाब राय ने भी इसे 'चित्त की अस्थिरता' कहकर इसे 'धैर्य का उलटा' बताया है । उनके अनुसार 'वीर में धृति और क्रोध में चपलता' होती है ।[२] डॉ० राकेश गुप्त ने इसका अंग्रेजी का नाम 'इन्कंसिस्टेन्सी' दिया है । तथा इसे जड़ता के विपरीत चेतन का गत्यात्मक गुण मानते हैं । वे कहते हैं जड़ता में अवधान असामान्य समय तक एक विषय पर स्थिर रहता है, चपलता में असाधारण शीघ्रता से सरक जाता है ।[३]

चपलता के अनुभाव

संस्कृत आचार्यों ने इसके निम्नलिखित अनुभाव बताये हैं । भरतमुनि ने वाक् पारुष्य, भर्त्सना, संप्रहार, वध, ताडन, अविमृश्य-अविनिश्चित कार्य[४] बताये हैं । धनंजय ने विशेष रूप से स्वच्छन्द आचरणादि कहे हैं ।[५] रामचन्द्रगुणचन्द्र ने जाड्यादि का विशेष उल्लेख किया है ।

शारदातनय ने भी प्रायः इनका ही उल्लेख किया है उनमें 'ताडन-बन्धन, दण्ड-अवमान' को स्पष्ट स्थान दिया है ।[६] कविराज विश्वनाथ भी धनंजय, गुणचन्द्ररामचन्द्रादि की भांति कह कर 'स्वच्छन्दता' का विशेष उल्लेख करते हैं ।[७] शिंगभूपाल ने 'राग' से उत्पन्न 'चपलता' में 'परिरम्भ-अवलम्भ' आदि का तथा द्वेष से उत्पन्न में 'निष्कासन' का भी उल्लेख किया है ।[८] हिन्दी के रीतिकालीन आचार्यों ने 'इच्छाचरण' और 'न सिख चित्त धरई' तथा 'शीघ्रता उत्तलता' का ऊपर वर्णन किया है । आधुनिक आचार्यों ने संस्कृत आचार्यों का ही प्रायः अनुसरण किया है । द्रष्टव्य है कि इसमें किसी सात्त्विक अनुभाव का वर्णन नहीं है।

'चपलता' वा 'चापल्य' के उपरिलिखित अध्ययन का सार निम्नलिखित है—

विभाव—राग-द्वेष, मात्सर्य, अमर्ष, ईर्ष्या, प्रतिकूल स्थिति हैं। असंग मुनि के अनुसार ये समस्त चैतसिक धर्म और मन के सहाय हैं।)

लक्षण—चपलता मन के चैतसिक धर्मों और मन के विशिष्ट कर्मों से युक्त एक संमिश्र मनोविकार है, तथा धृति का विलोम है । इसमें शठता, पाखण्ड,

---

१. र० मी०, पृष्ठ २२८ ।

२. सि० अध्य०, पृष्ठ १३६ । ३. सा० स्ट० र०, पृष्ठ १४३ ।

४. ना० शा०, ७ ।

५. तत्र भर्त्सन-पारुष्य, स्वच्छन्दाचरणादयः । द० रू०, ४।३३ ।

६. अनुभावो विमृश्येव तांडनं बन्धनं वधः ।
भर्त्सनं दण्डपारुष्यं अवमानादि कथ्यंते ॥ भा० प्र०, १ अधिकार।

७. तत्र भर्त्सनपारुष्यस्वच्छन्दाचरणादयः । सा० द०, ३।१६६।

८. र० सु०, २।८३ ।

द्रुत-गतियुक्त चित्त की अस्थिरता, अपदार्थ में पलायन और उसकी दुःस्पृहा (धृष्टता) से उत्तालता एवं आतुरता भी रहती है। एक प्रकार से यह अधैर्य एवं बालिश व्यवहार-युक्त चित्त-वृत्ति है, जिसे अंग्रेजी में 'रिग्रेशन' की स्थिति कहते हैं। साहस और आकस्मिक कर्म इसकी विशेषताएं हैं। असंग के अनुसार यदि विवेचन किया जाये तो यह मन के सहाय 'शठता' आदि तथा उसके विशिष्ट कर्म 'भलाई की जड़ों को काटना' आदि का संमिश्र मनोभाव ठहरता है।

अनुभाव—द्वेष में—दण्ड, उक्ति-पारुष्य, निष्कासन आदि,

राग में—परिरम्भ, अवलम्ब आदि हैं।

सामान्यतः —मौर्ख्यं, अनियमित प्रयत्न, वाक्-पारुष्य, भर्त्सना, संप्रहार, अविचारित कार्य, स्वच्छन्द आचरण आदि हैं।

(१५) 'हर्ष'

'हर्ष' के मूल में 'हृष्' धातु है जिसके साथ भावे 'घञ्' प्रत्यय का योग है।

'हृष्' धातु के अर्थ हैं—प्रसन्न होना, सन्तुष्ट होना। (दे० संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ परिशिष्ठ २)

आप्टेके कोश में 'हर्ष' के निम्नलिखित अर्थ दिए गए हैं[१]—

(१) आनन्द, आह्लाद, सुख, सन्तोष, प्रसन्नता, आनन्दातिरेक, हुलास, उत्फुल्लता, (२) कम्पक अनुभूति, पुलक, रोमांच, (३) आनन्दात्मक व्यभिचारी-भाव, (४) लिंगोदय, कामुकता, (५) प्रबल-प्रचण्ड कामना।

मोनियर विलियम्स के संस्कृत-अंग्रेज़ी-कोश में इसका इन अर्थों में प्रयोग क्रमशः (१) कठोपनिषद्, (२) महाभारत, (३) सुश्रुतः, (४) महाभारत आदि में दिखाया गया है।

भरतमुनि ने 'हर्ष' की उत्पत्ति, मनोरथलाभ, ईप्सित, वा अभीष्ट-जन के मिलन, देव-गुरु-भर्त्ता के पुलकित परितोषपूर्ण प्रसाद से, भोजनाच्छादन-धन-लाभ तथा उपभोग आदि से बतायी है।[२] धनिक ने अपनी टीका में इसे 'चेतः प्रसाद' कहा है। अतः यह 'विषाद' का

---

१. 1. Joy, delight, pleasure, satisfaction, gladness, rapture, glee, exultation -Raghuvamsha, Prasanna Raghava, 2, Thrilling, bristling, eraction, 3. Joy, -vyabhichari, 4. the eraction of the sexual organ, 5. ardent desire. —Apte's Sans. Eng. Dictionary.

२. मनोरथलाभेप्सितावाभीष्टजनसमागतमनुपुलकितपरितोषदेवगुरुभर्तृप्रसादभोजनाच्छादनधन-लाभोपभोगादिभिर्विभावैरुत्पद्यते। अत्रार्या—

प्राप्ते वाप्राप्ते वा लब्धेऽर्थे प्रियसमागमे वापि। हृदयमनोरथलाभे हर्षः संजायते पुंसाम्।

—ना० शा० ७।५५।

विलोम ठहरता है। धनंजय ने इसे अनुग्रह उत्सव आदि से उत्पन्न बताया है।[१] अग्निपुराण में इसे 'चित्त-प्रसन्नता' नाम दिया गया है।[२] धनिक की ही भांति हेमचन्द्राचार्य भी इसे 'चेतप्रसाद' कहते हैं।[३] रामचन्द्रगुणचन्द्र ने इसे 'प्रसत्तिः चेतोविकासः' नाम देकर स्पष्ट किया है।[४] धनंजय ने भी इसे 'प्रसत्तिः' कहा है (देखिए पाद टिप्पणी ३) शारदातनय भी इसे 'मनः प्रसाद' ही कहते हैं तथा इसकी परिभाषा इस प्रकार दी है : 'जिससे इन्द्रियां आनन्दित-पुलकित होती हैं तथा जो दूसरों को भी आनन्दित करता है, वह हर्ष नाम से जाना जाता है। वह 'मन का प्रसाद' ही है।[५] शारदातनय ने इसकी उत्पत्ति 'ईप्सित अर्थ के उपसंगम से, इष्ट-संगम से, देवगुरुभर्त्ता के प्रसाद से, मनोहारी उपभोग, सुभोजन से, बन्धु की तृप्ति से, अचिन्त्य इष्टार्थ-सम्पत्ति से उल्लिखित की है।[६] शिंगभूपाल[७] और कविराज विश्वनाथ[८] भी इसे मनः प्रसाद कहते हैं। तथा विद्यानाथ ने भी इसे धनंजय की भांति 'प्रसत्ति-रुत्सवादिभ्यो हर्षः' कहा है।[९] भानुदत्त ने भी इसे 'चेतः प्रसाद' कहा है।[१०] पण्डितराज जगन्नाथ ने इसे 'सुखविशेष' कहा है।[११] जीव गोस्वामी 'अभीष्ट के ईक्षण' और 'अभीष्ट लाभ' से इसकी उत्पत्ति बताते हैं।[१२]

---

१. प्रसत्तिरुत्सवादिभ्यो हर्षाश्रुस्वेद गद्‌गदाः
प्रियागमनपुत्रजननोत्सवादि विभावैः चेतः प्रसादः ॥ द० रू० ४।१४।

२. हर्षश्चित्प्रसन्नता। अ० प्र० का०, ३।२७।

३. हर्षश्चेतः प्रसादः। काव्यानु० पृष्ठ ८५।

४. हर्षः प्रसत्तिरिष्टाप्तेरत्र स्वेदाश्रुगद्‌गदाः प्रसत्तिः चेतोविकासः। ना० द० ३।२०३।

५. यदिन्द्रियाणि हर्षयन्ति परानपि। तस्माद्धर्ष इति ज्ञेयः प्रसादो मनसः सहि। भा० प्र० २ अधिकार।

६. हर्षोः मनः प्रसादः स्यादीप्सितार्थोपसंगमात्।
इष्टसंगमनाद्देवगुरुभर्तृ प्रसादतः ॥
अभिरूपोपभोगाच्च बन्धुतृप्तेः सुभोजनात्।
अचिन्त्येष्टार्थसम्पत्तेः जायते सर्वदा नृणाम्। भा० प्र०, १ अधिकार।

७. र० सु०, २।७६-७८।

८. हर्षस्त्विष्टावाप्तेमनः प्रसादः। सा० द०, ३।१६५।

९. प्र० रु०, पृष्ठ २५०।

१०. चेतः प्रसादो हर्षः। र० त०, पृष्ठ ८०।

११. इष्टप्राप्त्यादिजन्या सुखविशेषो हर्षः। रगंध०, १ आनन भाव ध्वनि।

१२. उ० नी०, पृष्ठ ३०४।

चिन्तामणि[१], देव[२], गुलाम नवी[३] ने इसे 'मन-प्रसाद' कहा है और प्रायः एक ही से विभावों का वर्णन किया है। कुलपति मिश्र[४], सोमनाथ[५], भिखारीदास[६], पद्माकर भट्ट[७], बेनी प्रवीन[८], प्रतापनारायण सिंह जू[९], ने इसे क्रमशः अति आनन्द, परमानन्द, प्रसन्न, आनन्द, अति प्रसन्नता, शब्दों से अभिव्यक्त करने का प्रयत्न किया है। ये सब हर्ष के अनुभाव-रूप-गुण हैं। प्रतापसाहि का लक्षण अर्धस्पष्ट है।[१०] और भानुकवि ने इसे 'हियोफूल' कहकर इसकी 'चित्त-विकासात्मकता' को अर्ध-संकेतित किया है।[११] इन्होंने इसका अंग्रेजी नाम 'जॉय' भी दिया है। अयोध्यासिंह उपाध्याय[१२] और रामदहिन मिश्र भी[१३] इसे 'आनन्द' कहकर इतिश्री करते हैं। इनके लक्षणों में भी कोई सूक्ष्मता नहीं है। आचार्य शुक्ल 'हर्ष' के मूल में 'रति' आदि भाव का रहना मानते हैं। इनके मत में यह 'मन के वेगों' में से एक भाव है।[१४] बाबू गुलाब राय ने प्राचीन आचार्यों की ही भांति हर्ष को 'इष्टप्राप्ति पर मन का प्रसाद' कहा है।[१५] डॉ० राकेश गुप्त ने भी इसे अंग्रेजी नाम 'जॉय' से अभिहित किया है। मैक्डूगल के मत

---

१. इष्ट वस्तु पाए हरष मन प्रसाद जु होय।
आंसू स्वेद गदगदवचन बरनत हैं सब कोय। क० कु० क०, ७।२६।

२. प्रियदर्शन श्रवनादि ते होय जु हिये प्रसाद।
वेग स्वेद आंसू प्रलय हर्ष लखौ निरवाद। भा० वि०, पृष्ठ ४० ॥

३. हरष भाव पिय वसत (वस्तु) लखि मन प्रसाद जोइ।
मन प्रसन्न पुलकादि लहि जानत हैं सब कोय ॥ र० प्र०, छंद ८४६।

४. चित्त में अति आनन्द उमंग बढ़े, बढ़े हर्ष तब होय। र० र०, ३।३४।

५. उर आनन्द सु हर्ष है। र० पी० नि०, ८।२४ ॥

६. हर्ष भाव पुलकादिक जानौ। परमानन्द प्रसन्न बखानौ। र० सा०, छंद ४८८।

७. जहां कौन हूं बात में उर उपजत आनन्द।
प्रकटै पुलक प्रस्वेद ते कहत हरष कवि वृन्द। जगद्वि०, ४।६८।

८. प्रिय के दर्शन परसते अति प्रसन्न मन होय।
पुलकादिक तन परगटै हरष कहत सब कोय ॥ न० र० त०, छंद ३३६।

९. र० कु०, ३ कुसुम—संचारी भाव।

१०. नृप गुरु सुख ते हर्ष जहां हर्ष भाव तहं लेखि। का० वि०, ३।३६।

११. हर्ष मिलत ही इष्ट जहाँ हर्ष कै हियो जात है फूल। र० रत्ना०, संचारी भाव।

१२. इष्ट की प्राप्ति से चित्त को जो आनन्द होता है, इसे हर्ष कहते हैं।
र० क०, संचारी भाव।

१३. इष्ट पदार्थ की प्राप्ति अभीष्ट जन के समागम से उत्पन्न आनन्द ही हर्ष है।
का० द०, पृष्ठ ७३।

१४. र० मी०, पृष्ठ २०८।

१५. सि० अध्य०, पृष्ठ १३३।

से यह 'साधित' संवेग है। पण्डितराज जगन्नाथ के लक्षण को डॉ० राकेश गुप्त ने प्रमाण स्वरूप उद्धृत किया है, तथा इसे मनोविकार कहा है।[१]

हर्ष के अनुभाव

भरतमुनि ने वदन-प्रसाद, प्रिय-भाषण, रोमांच, अश्रु-स्वेद, आदि कहे हैं।[२] धनंजय भी अश्रु-स्वेद-वाष्प-गद्गद् भावों का उल्लेख करते हैं।[३] हेमचन्द्राचार्य,[४] रामचन्द्रगुणचन्द्र[५] तथा शारदातनय[६], भानुदत्त[७] आदि ने भी इन्हीं अनुभावों को विविध प्रकार से गिनाया है।

'हर्ष' के उपरिलिखित अध्ययन का सार निम्नलिखित है—

विभाव—इष्ट लाभ, मनोरथ लाभ हैं।

लक्षण—हर्ष रति की मूल एवं चित्त को विकसित करने वाली विषाद की प्रतिमुखी वृत्ति है। असंग मुनि ने 'राग' को मन के सहाय चैतसिक धर्मों में गिना है। (देखिए द० दि०, पृष्ठ ७२०)। अतः हर्ष चैतसिक धर्मों के अन्तर्गत ठहरता है। 'पातंजल योगसूत्र-भाष्य विवरणम्' के अनुसार भी इसकी चित्त-भूमि 'रागात्मक' है।

अनुभाव—प्रिय-भाषण, थपथपाना, वदन-प्रसाद, त्याग-दान, पुलक, रोमांच, अश्रु, स्वेद, गद्गद्त्व इसके अनुभाव हैं।

(१६) आवेग

'आवेग' में धातु 'विज्' है, 'आ' उपसर्ग। 'आविज्' धातु में भावे 'घञ्' के योग से 'आवेग' व्युत्पन्न है। 'विज्' धातु में भावे 'घञ्' के योग से बने 'वेग' के निम्नलिखित अर्थ आप्टे के कोश में पाये जाते हैं[८]—

१. सा० स्ट० र०, पृष्ठ १३६। २. ना० शा०, ७।५५।

३. द० रू०, ४।१४।

४. तच्चरोमांचाश्रुस्वेदनयनवदनप्रसादप्रियभाषाणादिभिः वर्णयेत्। काव्यानु०, पृष्ठ ६१।

५. स्वेदाश्रु गद्गदाः उपलक्षणत्वात् पुलकप्रियभाषण-नेत्रमुख प्रसादादेरनुभावस्य ग्रह इति। ना० द०, ३।२०३।

६. रोमांचालिंगनस्वेदैः ललितैः करताडनैः
नेत्रवक्त्रप्रसादेश्च भाषितैर्मधुरैरपि त्याग-दान-प्रबंधैः स्युरनुभावस्तु हर्षजाः
भा० प्र० १, पृ० २०।

७. अनुभावाः पुलकस्वेदाश्रुस्वरभेदादयः। र० त०, पृष्ठ ८८।

८. 1. Impulse, impetus, 2. Speed, velocity, rapidity, 3. Agitation, 4. Impetuousity, violence, force, 5. A stream, current, 6. energy, activity, determination. 7. power, strength -Mahabharat; 8. Circulation, working effect (as of poison), 9. Haste, rashness, sudden impulse, 10. The flight of an arrow, 11. Passion, love, 12. The external manifestation of an emotion, 13. Delight, pleasure, 14. Evacuation of, 15. Semen virile 16. Attack, paroxysm (of a disease) -Sushrata.
—Apte's Sans. Eng. Dictionary.

१. उत्तेजना, प्रवृत्ति, २. गति, तेजी, रफ्तार, ३. क्षोभ, हलचल, चण्डता, बलवत्ता, ४. प्रवाह, बहाव, ५. ऊर्जा, उद्यम, दृढ़ निश्चय, ६. ताकत, शक्ति, ७. उतावली, जल्दबाजी, अकस्तात् प्रवृत्ति, ९. बाण की उड़ान, १०. लालसा जोश, प्रेम, ११. संवेगाभिव्यक्ति, १२. आनन्द आह्लाद, १३. मूत्रादि त्याग की प्रवृत्ति, १४. वीर्यपात, १५. आकस्मिक और प्रचंड क्रियात्मक पीड़ा।

उपर्युक्त अर्थों में उत्तेजनायुक्त प्रवृत्ति, तीव्रगतिपूर्ण क्षोभ और ऊर्जामय प्रयत्न एवम् प्रभावक आकस्मिक बल प्रयोग सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है।

'आवेग' के अर्थ हैं[1]—१. आवेग-जनित हड़बड़ी या उतावली, २. झोंक, क्षोभ, उद्विग्नता।

शारदातनय ने इसका निर्वाह इस प्रकार किया है—अदेशकाल विहितो वेग आवेग उच्यते।

वेगो विगानं जनयद्विग्नं येन मनो भवेत्—भा० प्र० अधिकार २। (अदेशकालविहित वेग आवेग कहाता है। वेग विगान को पैदा करता है—जिससे मन उद्विग्न होता है)।

भरतमुनि ने उत्पात, वर्षा, अग्नि, कुंजर के चढ़ दौड़ने, प्रिय-अप्रिय देखने सुनने, राजविद्रव, वातादि के कारण संप्रभात्मक 'आवेग' का होना कहा है उत्तम-मध्यमों में यह अस्थैर्य से और नीचों में 'अपसर्पण' से लक्षित होता है।[2] धनंजय ने भी 'संभ्रम' कह कर इसके उपरिलिखित आठ प्रकार के विभाव वताये हैं।[3] अग्निपुराण में 'प्रतीकार के आशय से आत्मा का वैधुर्य (१. कातरता, २. प्रकम्पावस्था) ही आवेग' कहा गया है।[4] हेमचन्द्राचार्य,[5]

---

१. Hurry or Haste produced by excitment, flurry, agitation, -M.W. Sans. Eng. Dictionary.

२. इत्येषोऽष्टाविधोज्ञेय आवेग संभ्रमात्मकः अस्थैर्येणोत्तमध्यानां नीचानां चापसर्पणैः। ना० शा० ७।९३।

३. द० रू०, ४।२८।

४. आवेगाश्च प्रतीकाराशया वैधुर्यमात्मनः। अ० पु० का०, ३-२८।

५. आवेग संभ्रमः उत्पातादिम्य आवेगा विस्मयादिकृत्—काव्यानु० २ अध्याय।

रामचन्द्रगुणचन्द्र,[१] शिंगभूपाल[२], विद्यानाथ[३], कविराज विश्वनाथ[४], पण्डितराज जगन्नाथ[५] सब ने भी इसे 'संभ्रम' नाम से अभिहित किया है। रामचन्द्रगुणचन्द्र ने इसका नाम 'संक्षोभ' भी दिया है। जीव गोस्वामी इसे 'प्रिय-अप्रिय' दर्शन-श्रवण के उत्पन्न मानते हैं।[६] रामचन्द्र-गुणचन्द्र इसमें अतर्कित इष्टानिष्ट देखते हैं जबकि पण्डितराज जगन्नाथ उसमें 'अतिशय' की अवस्था और लक्षित करते हैं। कविराज विश्वनाथ और शारदातनय और शिंगभूपाल भी इसे परम्परागत आठ प्रकार के विभावों से उत्पन्न मानते हैं। पण्डितराज जगन्नाथ, हेमचन्द्राचार्य और गुणचन्द्र रामचन्द्र इस प्रकार के किसी निश्चित विधान में अपने को उल्लेखपूर्वक नहीं बांधते। भानुदत्त ने इसे 'संभ्रम अथवा आकस्मिक इष्टानिष्ट-उपपात-विवर्त्त' कहा है।[७] इसमें साध्वस प्रवृत्ति होती है।[८]

चिन्तामणि ने इसे 'आवेश' नाम देकर लिखा है और इसे आकस्मिक 'संभ्रम' कहा है।[९] देव ने इसे 'वेग' कहा है और 'अचानक भूरिभ्रम' इसका लक्षण दिया है।[१०] देव के अनुसार कुलपति मिश्र भी इसे 'चित्त भ्रम' कहकर स्पष्ट करते हैं।[११] 'खेलन, तपन, विभ्रम' आदि से कहकर गुलाम नवी ने 'आवेग' को परिभाषित किया है।[१२] सोमनाथ[१३] तथा भिखारी दास ने भी इसे 'चित्त भ्रम' ही कहा है।[१४] पद्माकर भट्ट इसे 'वेग' पर्याय से निर्धारित करते हैं

---

१. आवेगः संभ्रमो तर्क्यात् विकर्त्ताङ्ग-मनो-गिराम्। संभ्रमः संक्षोभः। ना० द० ३।१९२॥

२. चित्तस्य संभ्रमो यः स्यादावेगः। सः चाष्टधा। र० सु०, ३।३२।

३. इष्टानिष्टागमाज्जात आवेग "चित्त संभ्रमः"। प्र० रु०, पृष्ठ २५१।

४. आवेग-संभ्रमः। सा० द०, ३।१४३।

५. अनर्थातिशयजनिता चित्तस्य संभ्रभाख्या वृत्तिरावेगः। रगंध०, १ आनन-भावध्वनि।

६. उ० नी०, पृष्ठ ३५६-५७।

७. आकस्मिक इष्टानिष्टोपपातविवर्त्तः संभ्रमो वा आवेगः। र० त०, पृष्ठ ८०।

८. वही, टीका, पृष्ठ ८८।

९. दिसानिष्टादिकन ते संभ्रम आकस्मिक होगा।
ताही सो आवेश कवि वरनत ग्रन्थन लोइ। क० कु० क०, ७।९४।

१०. प्रिय अप्रिय देखे सुने गात पात से बेग।
होय अचानक भूरिभ्रम सो वरनै आवेग॥ भा० वि, पृष्ठ ४३।

११. अनहोनी को होति लखि चित्त-भ्रम सो आवेग। र० र०, ३।२४।

१२. अरिदर्शन उतपाति लहि मित्र शत्रु जहं होइ।
सो आवेग खेलन तपन विभ्रम भ्रम ते होय। र० प्र०, छंद ९१५।

१३. निरखि अचिरज "चित्त भ्रम" सु आवेग पहिचानि। र० पी० नि०, ७।३०।

१४. आवेगहि भ्रम होइ हिये मैं। जानि अचानक कर्म किए मैं। र० सा०, छंद ४९८।

और अनुराग तथा भय को इसका कारण वताते हैं।[1] बेनी प्रवीन इसे 'क्लेश' के हेतु विभाव के आकस्मिक आगमन से उत्पन्न मानते हैं।[2] प्रताप साहि भी संस्कृत आचार्यों की भांति इसे 'चित्त संभ्रम' मानने हैं।[3] भानु कवि ने इसे अंग्रेज़ी में 'एजिटेशन' कहा, और हिन्दी में 'भय वा नेह से झट चल पड़ना' कहकर लक्षण दिया है।[4] प्रताप नारायण सिंह जू इसे "इष्ट वा अनिष्ट से उत्पन्न चित्त की आतुरता कहते हैं।"[5] कन्हैयालाल पोद्दार के मत से "अतिशय अनर्थ से चित्त को घबराहट होना आवेग है।"[6] अयोध्यासिंह उपाध्याय ने प्रतापनारायण सिंह जू के लक्षण को ग्रहण कर लिया है।[7] रामदहिन मिश्र के मत से "किसी सुखद वा दु:खद घटना, प्रिय वा अप्रिय बात के श्रवण से हृदय जब शान्त स्थिति छोड़ कर उत्तेजित हो उठता है, तब उसे आवेग कहते हैं"[8] बाबू गुलाबराय इसे संस्कृत आचार्यों के बताये विभावों से उत्पन्न संभ्रम- मानसिक व्याकुलता या घबराहट ही मानते हैं।[9] डॉ० राकेश गुप्त इसे संभ्रम और वेगपूर्ण कर्म स्वीकार करते हैं। स्व-मत के लिए आपने कविराज विश्वनाथ, देव तथा पाल रेनाड के मत का आलम्बन ग्रहण किया है। इसके विभाव वे अतर्कित और अप्रत्याशित अनिष्ट वा इष्ट के दर्शन-श्रवण को मानते हैं।[10]

आवेग के अनुभाव

भरत मुनि ने निम्नलिखित प्रकार से इसके अनुभाव बताये हैं—

१. उत्पातज—सर्वांगस्रस्तता, वैमनस्य, मुख वैवर्ण्य, विषादविस्मयादि।

२. वातज—अवगुण्ठन, अक्षिमर्दन, वस्त्र-संगूहन, त्वरितगमनादि।

३. वर्षज—सर्वांगसंपिण्डन, प्रधावन, छत्रादि, आश्रयणादि।

४. अग्निज—धूमाकूलता, संवेग, विधूनन, अतिक्रान्ति, अपक्रान्तादि।

५. कुंजर—त्वरित अपसर्पण, चपल गमन, भय, स्तम्भ, वेपथु, पश्चादवलोकन, विस्मयादि।

---

१. अति उर ते अति नेह ते जु उठि चलियतु बेग।
ताही को सब कहत हैं संचारी आवेग। जगद्वि० ४।१९२॥

२. जासों भयो कलेस है, तन मन कंपे अनेक।
आइ अचानक जाइ सो होत जहाँ आवेग॥ न० र० त० छंद ३४९॥

३. अगिन जलादिक ते जहां चित्त संभ्रम आवेग॥ का० वि० ३।४०॥

४. आवेगादि चल परत झट, भय तें वा अति नेह। र० रत्ना०, संचारी भाव।

५. र० कु०, ३ कुसुम।

६. का० कल्प०, चतुर्थ स्तवक।

७. र० क०, पृष्ठ ५९।

८. का० द०, पृष्ठ ७३।

९. सि० अध्य०, पृष्ठ १३१।

१०. सा० स्ट० र०, पृष्ठ १४१।

६. प्रियश्रवणज—अभ्युत्थान, आलिंगन, वस्त्राभरण प्रोद्यतता (उत्थापन), अश्रु, पुलकादि।

७. अप्रिय श्रवणज—उच्च-पतन, परिवर्तित-परिधावित चलन, विलाप, क्रन्दनादि।

८. शत्रुव्यसन से अभिसरज—सहसा उपक्रमण, शस्त्र-धर्म-धरण-वेपन (हिलाना), गज-तुरगारोहण, संप्रधारणादि।[1]

शारदातनय ने भी विस्तारपूर्वक पूर्वोक्त प्रकारानुसार जो अनुभाव परिदर्शन किया है, वह निम्नलिखित हैं—

१. उत्पातज—(उल्कादर्शन प्रपतन चन्द्रसूर्य के उपराग, केतुदर्शन, भूकम्पादि को उत्पात कहा जाता है) वैवर्ण्य, भय, विस्मय, संभ्रम, विषाद, वैमनस्य और सर्वांग उत्कम्पन।

२. वातजनित—त्वरित गमन, वस्त्राच्छादन, अवगुण्ठन, नेत्र-अवमर्दन।

३. वर्षज—छत्र-ग्रहण, छादित आश्रयग्रहण, सर्वांग निचोड़ना, दबा हुआ दौड़ना, बाहु-वस्ति को कटि से ऊपर लेना, शिर-अवनमन, शीघ्रगति।

४. अग्निज—अतिक्रान्त, पद अंग हिलाना, पंखा लेना, अश्रु, गद्गदत्व, जृम्भा, निश्वास।

५. कुंजरभ्रमज—पीछे देखना, स्तम्भ, भय-वेपथु-विस्मय, त्वरित अपसर्पण।

६. प्रियश्रवणज—वस्त्राभरण दान, अश्रु, पुलक, आलिंगनादि, उठ-खड़ा होना आदि।

७. अप्रियश्रवणज—विलाप, क्रन्दन, भूपात, परिदेवन (हाय दैया) करते दौड़ना, विषम परिवर्तनादि।

८. शत्रुव्यसनज—हाथी, घोड़े, रथ पर आरोहण, शस्त्रास्त्र ग्रहण-धारण, सहसा उपक्रमादि।[2]

कविराज विश्वनाथ ने इन अनुभावों का बड़े सूक्ष्म रूप में वर्णन किया है जिसमें तत्तत् क्रियाशीलता उपस्थित हो गयी है। उनके अनुसार—

वर्षज में पिण्डितांगता, उत्पातज में स्रस्तांगता, अग्निज में धूमाद्याकुलता, राजविद्रवज में शस्त्रनागादि योजना, गजादिज में स्तम्भ, कम्पादि, वातज में धूलादि जनित व्याकुलता, इष्टज में हर्ष तथा अनिष्टज में शुच (खेद, पीड़ा, सन्ताप, दुःखादि) हैं।[3]

अन्य आचार्यों ने भी प्रायः ऐसा ही वर्णन किया है। प्रकार के अनुसार उसके पीछे आवेग के गुण-मात्रा का ज्ञान ऊपर दिये उदाहरणों से सहज हो जाता है। हिन्दी आचार्यों के अनुभाव यथास्थान उनके लक्षणों के साथ पाद-टिप्पणी में पहले उद्धृत किये जा चुके हैं।

---

१. ना० शा०, ७।५६। २. भा० प्र०, १ अधिकार।

३. सा० द०, ३।१४३-४४।

'आवेग' के उपरिलिखित अध्ययन का सार निम्नलिखित है—

विभाव—अतर्कित अथवा अप्रत्याशित इष्टानिष्ट दर्शन हैं।

लक्षण—आकस्मिक एवं ऊर्जायुक्त मन के वेग-युक्त कर्म का नाम आवेग है। मन इसमें अतर्कित रूप से उद्विग्न हो उठता है, और एक साथ आकस्मिक स्थितियों का सामना करने को सहसा प्रवृत्त होता है। त्रास में मन भीत होता है, और भयानक वस्तु वा विषय से बचने और पलायन करने का उपक्रम करता है, जबकि आवेग के आलम्बन इष्ट और अनिष्ट दोनों ही हो सकते हैं एवं वे आश्रय में विक्लवता उत्पन्न नहीं करते अपितु उसका सामना अथवा उससे व्यवहार करने योग्य ऊर्जा को प्रेरित करते हैं। न्याय-शास्त्र के अनुसार 'वेग' मन का एक संस्कार है।

अनुभाव—सहसा कर्म वा प्रहार, अप्रिय वचन, चापल्य, स्तम्भ, वेपथु, विस्मय, वैवर्ण्य, संवेग, अश्रु, पुलक, सवग स्रस्तता, हर्ष-विषाद, वैमनस्य आदि हैं।

(१७) जड़ता

'जड' में भावे वा कमणि 'ष्यञ्' प्रत्यय के योग से 'जाड्य' संज्ञा बनती है। 'जल्' धातु से 'जड' की व्युत्पत्ति मानी गयी है (जलति घनीभवति—जल्+अच्, लस्य ड। —वाचस्पत्यम्)।

आप्टे के कोश में 'जड' के निम्नलिखित अर्थ दिये गये हैं[१]—

(१) ठण्डा, शीतल, ठिठुरा हुआ, (२) तेजस्विताहीन, गतिहीन, लकवा मारा हुआ, सुन्न, (३) मूढ़, बुद्धिहीन, विवेकहीन, मूर्ख, अज्ञानी, (४) विवेकशून्य या राग-विहीन किया हुआ, संज्ञाहीन, (५) अकड़ा देने वाला, बुद्धि-मांद्य करने वाला, सुन्न बना देने वाला, (६) गूंगा, (७) वेदाध्ययन करने में असमर्थ।

'जडता' वा 'जडत्व' भी 'जाड्य' की भांति 'जड' की भाववाचक संज्ञाएं हैं।

'जडता', 'जडत्व' के निम्नलिखित अर्थ आप्टे के कोश में दिये गये हैं[२]—

(१) मांद्य, कर्मपराङ्मुखता, आलस्यपूर्णता, (२) अज्ञान, बुद्धिमांद्य, (३) व्यभिचारी भाव, (४) मूर्च्छा, सुन्नपन, व्यामोह, (५) मूढ़ता।

---

१. 1. Cold, frigid, chilly, 2. dull, paralysed, motionless, benumbed, 3. dull, senseless, stupid, irrational, dull-witted, 4. made senseless or apathetic, devoid of appreciation or taste, 5. stunning, stupefying, benumbing, 6. dumb, unable to learn vedas.

२. 1. Dullness, aversion to work, slothfulness, 2. ignorance, stupidity, 3. vyabhicharibhava, stupor, 5. dullness.

भरत मुनि[1], धनंजय[2], हेमचन्द्राचार्य[3], शिंगभूपाल[4], विद्यानाथ[5], कविराज विश्वनाथ[6], शारदातनय[7] ने इसे 'अप्रतिपत्ति' (१) समझदारी का अभाव, (२) अस्वीकृति, अकृति, (३) उपेक्षा, (४) दृढ़ विचारशून्यता, गड़बड़ी, विह्वलता) नाम से कहा है। भरत मुनि, धनंजय, अग्निपुराणकार, विश्वनाथ एवं पण्डितराज जगन्नाथ ने इसे 'जडता' नाम दिया है। परन्तु हेमचन्द्राचार्य, रामचन्द्रगुणचन्द्र, शारदातनय, शिंगभूपाल और विद्यानाथ तथा जीव गोस्वामी इसे 'जाड्यम्' कहते हैं। रामचन्द्रगुणचन्द्र[8] ने इसे 'कार्याज्ञान' भानुदत्त[9] ने 'सकलव्यवहार-अक्षम ज्ञानवत्ता' एवं पण्डितराज जगन्नाथ ने[10] 'आवश्यक कर्तव्य के अर्थ प्रतिसन्धान-विकला चित्तवृत्ति' कह कर परिभाषित किया है।

भरतमुनि तथा अन्यों ने भी इसे इष्टानिष्ट, श्रवण-दर्शन, व्याधि, आदि से जन्य माना है। जीव गोस्वामीने इसे 'विरह-जन्य भी कहा है (देखिए उ० नी०, पृष्ठ ३६३-६४)। भरतमुनि द्वारा उद्धृत आर्या में जड़-व्यक्ति की परिभाषा 'मोह से इष्ट-अनिष्ट, सुख-दुःख को न जानने वाला, मौन, परवश व्यक्ति' दी गई है।[11] इससे संकेत होता कि 'जड़-व्यक्ति' का कर्म वा भाव ही 'जड़ता' है। अग्निपुराणकार ने भी 'कर्त्तव्य-प्रतिभान-भ्रंश' ही कहकर इसे स्पष्ट किया है।[12] भानुदत्त के मत से इसकी मूर्च्छा, अपस्मार, निद्रा, स्वप्न में इसलिए अतिव्याप्ति नहीं होती क्योंकि उनमें 'ज्ञान-विरह' होता है। इसी प्रकार 'आलस्य' भीति वा 'त्रास' में भी नहीं, क्योंकि वहाँ कतिपय व्यवहार को 'सत्त्व' होता है (र० त० पृ० ९०)।

---

१. जडता नाम सर्वकार्यप्रतिपत्तिः इष्टानिष्टश्रवणव्याध्यादिभिः विभावैः समुत्पद्यते।
ना० शा०, ७।५९।

२. अप्रतिपत्तिजडता स्यादिष्टानिष्टदर्शनश्रुतिभिः। द० रू०, ४।१३।

३. जाड्यमर्थाप्रतिपत्तिः। काव्यानु०, २ अध्याय।

४. जाड्यमप्रतिपत्तिः स्यादिष्टानिष्टार्थयोः श्रुतेः। र० सु०, २।६२।

५. जाड्यमप्रतिपत्तिः स्यादिष्टानिष्टागमोद्भवा। प्र० रु०, पृष्ठ २५१।

६. अप्रतिपत्तिर्जडता स्यादिष्टानिष्टदर्शनश्रुतिभिः। सा० द०, ३।१४८।

७. जाड्यमप्रतिपत्तिः स्यात्सर्वकार्येषु सर्वदा। भा० प्र०, १ अधिकार।

८. जाड्यमिष्टादितः कार्याज्ञानं मौननिमेषणैः। ना० द०, ३।२१२।

९. सकलव्यवहारक्षम जानवत्ता जड़ता। र० त०, पृष्ठ ९०।

१०. आवश्यककर्त्तव्यार्थप्रतिसंधान-विकला चित्तवृत्तिड़ता।
रगंध०, प्रथमाननम्, भाव ध्वनि।

११. इष्टवानिष्टं वा सुखदुःखे वा नं० २ वेत्ति यो मोहात्।
तृष्णीकः परवशगः स भवति जड संज्ञकः पुरुषः॥ ना० शा०, ७।५९।

१२. कर्तव्ये प्रतिभाभ्रंशो जड़तेत्यभिधीयते। अ० पु० का०, ३।२८।

चिन्तामणि[1], देव[2], कुलपति मिश्र[3], गुलाम नवी[4], सोमनाथ[5], भिखारीदास[6] पद्माकर भट्ट[7], बेनी प्रवीन[8], प्रताप साहि[9], भानुकवि[10] (ये इसे अंग्रेज़ी में 'लॉस आफ फेकल्टी' भी कहते हैं), प्रतापनारायण सिंह जू[11], कन्हैयालाल पोद्दार[12], अयोध्यासिंह उपाध्याय[13], राम दहिन मिश्र[14], आचार्य रामचन्द्र शुक्ल[15], बाबू गुलाबराय[16], डॉ० राकेश गुप्त[17],

---

१. सकल आचरन ज्ञान को अक्षमता जित होय ।
प्रिय अप्रिय देखे सुने जडता कहिये सोय ॥ क० कु० क०, ७।२६ ।

२. हित-अहितहि देखे जहां अचल चेष्टा होइ ।
जानि बूझ कारज थकै जड़ता बरने सोइ ॥ भा० वि०, पृष्ठ ४१ ।

३. सब कामन में सुन्न ह्वै रबिहो जड़ता सोइ । र० र०, ३।२५ ।

४. ज्ञान घटै अरु गति थकै निरनिमेष रहि जाय ।
प्रिय-अप्रिय देखे सुनै सोइ जड़ता नाथ । र० प्र०, छंद ८८५ ।

५. जड़ता सुन्न निदान । र० पी० नि०, ७।२३ ।

६. जड़ता जहं अक्षम हवै जाई । कारज में आवै जड़ताई । र० सा०, छंद ४६७ ।

७. गमन ज्ञान आचरन की रहै न जहं सामर्थ्य ।
हित अनहित देखै सुनै जड़ता कहत समर्थ ॥ जगदि०, ४।६८ ।

८. काहू सोच विचारते अचल जात ह्वै अंग ।
जडता तासों कहत हैं जे राचे रस-रंग ॥ न० र० त०, छंद ३४३ ।

९. इष्ट-अनिष्ट निहारि कै सुधि बिन जड़ता सोइ । का० वि०, ३।४० ।

१०. गमन ज्ञान आचरण की जड़ता छाई देह । र० रत्ना०, संचारी भाव ।

११. जड़ता विवेकशून्य चित्तवृत्ति । र० कु०, ३ कुसुम ।

१२. इष्ठ तथा अनिष्ट के दर्शन तथा श्रवण से उत्पन्न किंकर्तव्यविमूढता ही जड़ता है । का० कल्प०, चतुर्थ स्तवक ।

१३. विवेशशून्य और किंकर्त्तव्यविमूढ़ चित्तवृत्ति को जड़ता कहते हैं । र० क०, संचारी भाव ।

१४. इष्ट-अनिष्ट के देखने-सुनने से चित्त की विसूढ़ावृद्धि का—किंकर्त्तव्यविनूढावस्था का नाम जड़ता है । का० द०, पृष्ठ ७३ ।

१५. यह (जड़ता) किसी भाव के उद्रेक से अन्तःकरण की बोधात्मक क्रिया का कुछ काल के लिए बन्द सा हो जाना है ।.........इसे मानसिक स्तम्भ कह सकते हैं इसके साथ ही शरीर स्तम्भ होता है, अथवा यों कहिये स्तम्भ के दो पक्ष होते हैं—एक मानसिक और एक शारीरिक । इनमें से प्रथम तो संचारियों की कोटि में रखा गया है और द्वितीय अनुभाव के भीतर डाल दिया गया है ।—र० मी०, पृष्ठ २१६ ।

१६. जड़ता—कर्त्तव्यविमूढ़ता, यह भौतिक होती है किन्तु मानसिक स्थिति से ही ऐसी दशा आती है । सि० अध्य०, पृष्ठ १३१ ।

१७. सा० स्ट० र०, पृष्ठ १३६ ।

सब ने इसे 'जड़ता-नाम' कहा है। चिन्तामणि, भिखारीदास इसके अर्थ 'अक्षमता' कहते हैं और पद्माकर भी इसी मत के हैं यद्यपि इन्होंने इसे 'असामथ्य' नाम दिया है।[1] देव ने इसे 'ज्ञान-बोध-कार्य की विथकित', अचल चेष्टा' कहकर सूक्ष्मता से विचार किया है।[2] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी इसे 'मानसिक और शारीरिक स्तम्भ' कहा है। मानसिक स्तम्भ सूच्य होने के कारण, उनके विवेचन के अनुसार[3] संचारी भावों में गिना गया है और शारीरिक, सूचक होने के कारण सात्त्विक अनुभावों में। कुलपति मिश्र, सोमनाथ क्रमशः 'सुन्न होना 'सुन्न निदान' और प्रताप साहि 'सुधि विन' वाक्यांशों से एक ही 'शून्य चित्तवृत्ति' के मत को ठहराते हैं।[4] प्रताप नारायण सिंह जू, अयोध्यासिंह उपाध्याय, कन्हैयालाल पोद्दार और बाबू गुलाब राय ये सब इसमें 'किंकर्त्तव्यविमूढ़ता' को परिलक्षित करते हैं, परन्तु पहले दो ने 'विवेकाशून्यता' पर भी बल दिया है। गुलाम नवी ने 'ज्ञान घटै अरु गति थकै' कह कर कारण-कार्य की पूर्वापरता भी दिखायी है और किंचित ज्ञान का आभास भी दिया है।[5] भानुकवि का लक्षण स्पष्ट नहीं है। और डॉ० राकेश गुप्त[6] ने इसे शारीरिक भाव ही ठहराया है तथा वे अवधान के स्तम्भ याने स्थिरावस्था को मनोविकार मानने को तैयार नहीं हैं। उन्होंने धनंजय के लक्षण को प्रमाण माना है। यह मानसिक स्तम्भ सूच्य होने के कारण 'व्यभिचारी-भावों' में स्थान पाने का क्यों अधिकारी है, आचार्य शुक्ल का यह विवेचन ऊपर दिया जा चुका है।

प्रायः सब हिन्दी आचार्यों ने 'इष्टानिष्ट, हिताहित दर्शन-श्रवण' जडता के विभाव बताये हैं। केवल बेनी प्रवीन 'किसी सोच विचार' को इसका विभाव वताते हैं।[7]

जड़ता के अनुभाव

संस्कृत में : अभाषण, मूकता, अपलक दृष्टि, परवशत्व, देखते-सुनते हुए भी न देखना-सुनना, अप्रतिभान, आभरणादि का न संभालना आदि इसके अनुभाव हैं।

१. देखिए ऊपर पाद-टिप्पणी दिए हुए इनके लक्षण।

२. देखिए ऊपर पाद-टिप्पणी दिए हुए इनके लक्षण।

३. र० मी०, पृष्ठ २१९। ४. ऊपर पाद टिप्पणी दृष्टव्य।

५. दृष्टव्य और तुलनीय—पाद टिप्पणी में दिए इनके पृथक्-पृथक् लक्षण।

६. सा० स्ट० र०, पृष्ठ १३६। ७. दृष्टव्य ऊपर पाद टिप्पणी में इनका लक्षण।

८. (क) कथनाभावतूष्णींभावानिमेषनिरीक्षणपरवशत्वादिभिरनुभावैः। ना० शा०, ७।५९।

(ख) अनिमिष-नयन-निरीक्षणतूष्णींभावादयस्तत्र। द० रू०, ४।१३।

(ग) तूष्णींभावादिकृत्। काव्यानु०, पृष्ठ ८८।

(घ) मौननिमेषणैः बहुवचनात् परवशत्वादिभिरनुभावैः। ना० द०, ३।२१२।

(ङ) सुखदुःखाविवेकत्वमिष्टानिष्टानभिज्ञता, तूष्णीमप्रतिभा चाक्ष्णोरनिमषोऽनवेक्षणम् अभाषणं पारवश्यमेतैर्जाड्यं निरूप्यते। भा० प्र०, १ अधिकार।

हिन्दी में : आचार्यों के मत से . ज्ञान-बोध-कार्य की विथकितता, आचरण-ज्ञानाभाव, शून्यत्व, निर्निमेषता, अगति, अचल-गात्रत्व, मौन, गुमसुम रहना आदि ।

'जड़ता' के उपरिलिखित अध्ययन का सार निम्नलिखित है—

विभाव —इष्टानिष्ट श्रवण एवं दर्शन, वियोग, मोह, व्याधि एवं चिन्तादि हैं।

लक्षण —जडता मन की विशेष अवस्था है जिसमें इन्द्रियाँ विषयों का सान्निध्य तो करती हैं, परन्तु कर्तव्य के प्रतिभान का भ्रंश होता है । धात्वर्थ के अनुसार इसमें मानसिक शक्ति एवं इन्द्रियां घनीभूत हो जाती हैं । इसमें ऐसी व्याधियों का समावेश भी होता है जिन में विशेष वा सम्पूर्ण शरीरावयव सीमित अथवा सब काल के लिए अक्षम हो जाते हैं । मोह में वस्तु का तत्त्वानवधारण होता है जबकि इसमें विषय प्रतिक्रिया-अक्षमता होती है । सम्भवतः अधिक बढ़ी हुई अवस्था में ज्ञान-बोध (अनुभूति) एवं कार्य की अक्षमता उत्पन्न हो जाती है । इस अवस्था को ही मानसिक एवं शारीरिक स्तम्भ कहा जा सकता है । असाधारण-मनोविज्ञान (अबनार्मल साइकोलोजी) में महाभय आदि से ऐसी व्याधियों की समुत्पत्ति स्वीकार की गई है जिनमें लोग बधिर, मूक, अन्ध आदि हो जाते हैं और जिनमें चिन्तन शक्ति विलुप्त हो जाती है । यद्यपि इस अवस्था में "जैवी प्रतिक्रियाएं" होती रहती हैं ।

अनुभाव —गात्र की अचलता, मूकता, विथकितता, अगति एवं आचरण के ज्ञान का अभाव आदि हैं ।

(१८) गर्व

'गर्व' के मूल में 'गर्व्' धातु है जिसमें भावे 'घञ्' प्रत्यय का योग हुआ है । 'गर्व्' धातु का अर्थ है—घमण्ड करना (देखिए सं० श० कौ० परिशिष्ट) ।

आप्टे के कोश में 'गर्व' के निम्नलिखित अर्थ दिये गये हैं[1]—

१—अभिमान, घमण्ड, ऐंठ, अकड़, २—व्यभिचारी भाव । मोनियर विलियम्स ने इसका प्रयोग रामायण, वृहदारण्यक ब्राह्मण और रघुवंश में देखा है ।[2]

भरतमुनि, धनंजय, हेमचन्द्राचार्य, रामचन्द्रगुणचन्द्र, शारदातनय, कविराज विश्वनाथ पण्डितराज जगन्नाथ आदि ने इसे 'ऐश्वर्य, कुल, रूप, लावण्य, यौवन, विद्या, बुद्धि, बल,

---

१. 1. Pride, Arrogance, 2. Vyabhicharibhava—Apte's Sans. Eng. Dictionary.

२. M.W. Sans. Eng. Dictionary.

धन, यशकीर्ति के अन्यों की अपेक्षा अधिक लाभ से उत्पन्न' बताया है।[1] जीव गोस्वामी इसे 'सौभाग्य, रूप, गुण, उत्तमाश्रय तथा इष्ट-लाभ से उत्पन्न' मानते हैं (उ० नी०, पृष्ठ ३५१-५२) बौद्ध दार्शनिक असंग ने उपेक्षा को मन का सहाय, चैतसिक धर्म गिना है। (द० दि०, पृष्ठ ७२०) अग्निपुराण में इसे 'अन्यों की अवज्ञा तथा अपने विषय में उत्कर्ष भावना कहा है।[2] धनंजय इसको 'मद' पर्याय से स्पष्ट करते हैं।[3] हेमचन्द्राचार्य ने इसको 'परावज्ञा' कहकर स्पष्ट किया है।[4] रामचन्द्र गुणचन्द्र ने इसे 'अपने विषय में आधिक्य धी-बहुमान' कहा है।[5] शारदातनय ने गर्व की परिभागा दी है—'अपनेपन का जो गरीयस्त्व भाव है, वही गर्व है'।[6] शिंगभूपाल भी 'औरों की अवज्ञा' को गर्व कहते हैं[7] तथा विद्यानाथ 'दूसरों का तिरस्कार करके अपना उत्कर्ष' नाम के भाव को गर्व कहते हैं।[8] धनंजय के समान कविराज विश्वनाथ भी इसे 'मद' संज्ञा देते हैं।[9] भानुदत्त ने इसे 'अपने में सर्वाधिक्य बुद्धि अथवा अन्य सबों में अधमता की बुद्धि' कहा है।[10] पण्डितराज जगन्नाथ भी इसे 'अधीन पर-अवहेलन और आत्मोकर्ष ज्ञान' कहकर हेमचन्द्राचार्य, शिंगभूपाल आदि के मत के समान ही परिलक्षित करते हैं।[11]

चिन्तामणि[12] इसे 'अहंकृति' नाम देते हैं। देव[13] इसे 'अभिमान' कहकर स्पष्ट करते

---

१. गर्वो नाम ऐश्वर्यकुलरूपयौवनविद्याबलादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते। ना० शा०, ७।६०।

२. गर्वः परेष्वज्ञानमात्मन्युत्कर्षभावना। अ० पु० का०, ३।२६।

३. गर्वोऽभिजनलावण्यबलैश्वर्यादिभिमदः। द० रू०, ४।१६।

४. परावज्ञाविद्यादेर्गगर्वोऽसूयाकृत्। काव्यानु०, पृष्ठ ९२।

५. आत्मन्याधिक्य धीर्गर्वो विद्यादेरन्यरीढया। ना० द०, ३।२१०।

६. आत्मनो यो गरीयस्त्वभावो गर्व स ईरितः। भा० प्र०, २ अधिकार।

७. ऐश्वर्य-रूप-तारुण्यकुलविद्याबलैरपि।
इष्टलाभादिनान्येषामवज्ञा गर्व ईरितः॥ र० सु०, २-२३१।

८. अन्यधिक्कारणादात्मोत्कर्षो गर्व बलादिजः। प्र० रु०, पृष्ठ २५२।

९. गर्वो मदः प्रभाव श्रीविद्यासत्कुलतादिजः। सा० द०, ३।१५४।

१०. आत्मनि सर्वाधिक्य बुद्धिः सर्वस्मिन्नधमबुद्धिर्वा गर्वः। र० त०, पृष्ठ ९१।

११. रूपधनविद्यादिप्रयुक्तात्मोत्कर्षज्ञानाधीनपरावहेलनं गर्वः। रगंध०, प्रथमाननम्, भाव ध्वनि।

१२. विद्या दैव्य प्रभाव कुल रूप अहंकृत गर्व।
होत अन्य अपमान कर जामें चेष्टा सर्व॥ क० कु० क०, ७।४४।

१३. बहु बल धन कुल रूप ते सिरु उन्नत अभिमान।
गिने न काहू आप सम ताही गर्व बखान॥ भा० वि०, पृष्ठ ४३।

हैं। कुलपति मिश्र ने 'अपने को सर्वाधिक सरस (अच्छा) समझना' गर्व कहा है।[१] गुलामनवी[२] चिन्तामणि का अनुसरण करते हुए इसे 'अहंकार' कहते हैं। सोमनाथ[३] 'सबों से बढ़ता हुआ होने को' गर्व नाम देते हैं। भिखारीदास[४] भी चिन्तामणि, गुलामनवी के समान इसे 'अहंकार' नाम से अभिहित करते हैं। पद्माकर भट्ट[५] ने 'गुमान' नाम देकर स्पष्ट किया है और बेनी प्रवीण इनके ही वर्ग में आते हैं। बेनी प्रवीन[६] ने इसके अनुभाव देकर ही लक्षण समाप्त किया है। प्रताप साहि[७] ने इसके विभाव ही कहे हैं। भानु कवि ने इसे अंग्रेजी नाम 'प्राइड' देकर कहा है। और एक अन्य नाम 'गुमान' देकर पद्माकर का अनुसरण किया है।[८] प्रतापनारायण सिंह जू इसकी परिभाषा 'सबकी अपेक्षा अपने में अधिकत्व बुद्धि वा सबमें न्यून बुद्धि' कहकर पुकारते हैं।[९] कन्हैयालाल पोद्दार इसे 'अभिमान' नाम से अभिहित करते हैं।[१०]

अयोध्यासिंह उपाध्याय के मत से 'अपने प्रभाव, ऐश्वर्य, विद्या तथा कुलीनता आदि का अहंकार करना, अन्य से अपने को अधिक मानना गर्व' कहलाता है।[११] रामदहिन मिश्र भी इसे अन्य नाम 'अभिमान' देते हैं।[१२] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसे स्वतन्त्र विषययुक्त भाव कहा है। इसमें कारण विषयगत न रहकर आश्रयगत रहता है। उनका कहना है कि पाश्चात्य मनो-विज्ञानियों ने इसे 'ममत्व' (सेल्फ लव, आत्म-प्रेम) के अन्तर्गत रखा है जो उनकी व्यवस्था के अनुसार 'स्थायी भाव' है।[१३] बाबू गुलाब राय भी इसे 'अभिमान' ही कहते हैं। उनके अनुसार इसमें कुछ तेजी रहती है, मद में 'मोह और आनन्द' रहता है।[१४] डॉ०

---

१. सब तें सब विधि हों सरस यह चित्त गर्व कहाय। र० र०, ३।२६।

२. जौ काहू अधिकार तें अहंकार मन होइ। पर निदरै तै लखि परे गरब कहावे सोय।
र० प्र०, छंद ८१८।

३. ह्वै सब से बढ़ि गर्व वह। र० पी० नि०, ७।२३।
हों ही सबसे अधिक हों यही गरब अनुमान। शृं० वि०, छंद २८।

४. गर्व जानि कुल गुन घन मदते। अहंकार अधिकारी हद ते। र० सां०, छंद ४९६।

५. बल विद्या रूपादि को कीजै जहाँ गुमान।
गरब कहत सब ताहि को, जे कवि सुमति सुजान। जगद्वि०, ४।५६।

६. निजगुन आगे निदरिबो औरन को जो होय।
संचारिन में जानिये गरबु कहावे सोय॥ न० र० त०, छंद ३४५।

७. निज गुन पुनि निज रूप ते मन में होइ सुगर्व। का० वि०, ३।४१।

८. बल विद्या रूपादि को है गुमान ही गर्व। र० रत्ना०, संचारी भाव।

९. र० कु०, ३ कुसुम।

१०. का० कल्प०, चतुर्थ स्तवक।

११. र० कल०, पृष्ठ ४८।

१२. का० द०, पृष्ठ ७४।

१३. र० मी०, पृष्ठ २०८।

१४. सि० अध्य०, पृष्ठ १३२।

राकेश गुप्त ने इसे भानुकवि की भाँति अंग्रेजी में 'प्राइड' कहा है। उनके कथनानुसार 'मेक्डूगल' ने इसे मूल संवेग माना है। उस आचार्य ने इसे आत्मोन्नति का संवेग कहा है तथा आत्माधिकार-प्रदर्शन वा आत्म-प्रकाशन की सहज-प्रवृत्ति पर आधारित बताया है। डॉ० राकेश गुप्त ने कविराज विश्वनाथ के मत को प्रमाण मानकर उद्धृत किया है।[1]

गर्व के अनुभाव

संस्कृत के कुछ आचार्यों के बताये 'गर्व' के अनुभाव नीचे दिए जाते हैं—

१. **भरत मुनि**—असूया, अवज्ञा, धर्षण, अनुत्तरदान, अभाषण, स्वांगावलोकन, विभ्रम, अपहसन, पारुष्य, गुरु-व्यतिक्रमण, अधिक्षेप (उपालंभादि) आदि।
ना० शा० ७।६०।

२. **धनंजय**—आधर्षण, अवज्ञा के काम, सविलास अंगों का निहारना।
द० रु० ४।१६।

३. **हेमचन्द्राचार्य**—असूया, अमर्ष, पारुष्य (कठोरता), अपहास, गुरु की आज्ञालंघन, अभिक्षेप, नेत्र-गात्र-विकृति, अनुत्तरदान, शून्यावलोकन, अभाषण।
काव्यानु० पृष्ठ ९२।

४. **रामचन्द्र गुणचन्द्र**—रीढ़ा (अवज्ञा), उपलक्षण से पारुष्य, असूया, आधर्षण, अनुत्तरदान, अंगावलोकन, उपहसन, अलंकार व्यत्यासादि।
ना० द०, ३।३३४।

५. **शारदातनय**—अनुत्तरदान, अभाषण, शून्यालोकन, आश्रित होने पर भी अवज्ञा, अंगावलोकन, असूया, अमर्ष, पारुष्य, उपहास, गुरु-लंघन, अकारण अधिक्षेप, देह-विकृति आदि। भा० प्र०, १ अधिकार।

६. **भानुदत्त**—अवज्ञा, भूदृष्टि, चेष्टितहसित, पौरुष-प्रकाशादि। र० त०, पृष्ठ ९१।

'गर्व' के उपरिलिखित अध्ययन का सार निम्नलिखित है—

विभाव—इष्ट-लाभ-प्रद असाधारण वा विशेष स्थिति, सौभाग्यादि हैं।

लक्षण—अहंकारजन्य, आत्मोकर्ष की भावना 'गर्व' है, जिसमें अन्यों की उपेक्षा, अवहेलना, तिरस्कार का भाव रहता है। इसे अभिमान की उन्नतावस्था भी कह सकते हैं। इसमें मोह एवं आनन्द का मिश्रण नहीं है, अतः एक ओर यह अभिमान भी है, और दूसरी ओर उससे जनित तेजी भी है। बौद्ध दार्शनिक असंग के अनुसार यह चैतसिक धर्म, मन का सहाय तथा अहं-प्रदर्शन होने से कर्म भी ठहरता है। पाश्चात्य मनोविज्ञान के अनुसार यह 'आत्मोन्नति' से सम्बद्धित मूल संवेग के निकट है।

अनुभाव—असूया, अमर्ष, विभ्रम, परावज्ञा, औद्धत्य, उद्दण्डता आदि हैं।

---

१. सा० स्ट० र०, पृष्ठ १३८।

(१९) विषाद

'विषाद' शब्द 'वि' उपसर्गपूर्वक 'षद् वा षद्लृ' धातु के साथ भावे 'घञ्' प्रत्यय के योग से व्युत्पन्न है।

'षद्' वा 'षद्लृ' धातु के अर्थ होते हैं—

(१) दुःख देना वा उठाना, (२) अंगों का पृथक्-पृथक् हो जाना, अवयवों का शिथिल पड़ जाना (सं० श० कौ०)।

'विषाद' शब्द के कोश में निम्नलिखित अर्थ दिये गये हैं—

(१) उदासी, रंज, दुःख, शोक, (२) हताशा, नैराश्य, (३) शैथिल्य, दौर्बल्य, (४) मूढता, अज्ञानता।[१]

भरत मुनि ने इसे कार्यहानि, रण, दैवी आपत्ति आदि से उत्पन्न होते कहा है। वहीं उद्धृत आर्या में 'अर्थ की असंप्राप्ति' से 'विषाद' की उत्पत्ति कही गई है।[२] बौद्ध दार्शनिक असंग ने मन के सामान्य छः कर्मों में 'इष्ट-अनिष्ट' फल के ग्रहण को स्थान दिया है।[३] अतः कार्यहानि वा अनिष्टफल का ग्रहण होने से वह 'विषाद' असंग के मतानुसार मन का सामान्य कर्म ठहरता है। धनंजय ने इसे प्रारब्ध अकार्य-सिद्धि से उत्पन्न 'सत्त्व संक्षय' नाम दिया है।[४] अग्निपुराण में इसे 'अभीष्ट वस्तुओं के देवादि विघात से उत्पन्न' कहा है।[५] हेमचन्द्राचार्य ने 'विषाद' को 'मनः पीड़ा' कहा है।[६] रामचन्द्र गुणचन्द्र इसे तान्ति-अनुत्साह कहते हैं और इष्ट की 'अनाप्ति' से समुद्भव बताते हैं।[७] शारदातनय इसे 'दैव संयोग से कार्य के

---

१. देखिए, आप्टे का संस्कृत-अंग्रेजी कोश, 'विषाद' शब्द—

1. Dejection, Sadness, Depression of spirits, grief, sorrow,
2. Disappointment, despondency, despair,
3. Languor, drooping State,
4. Dullness, stupidity, insensibility.

मोनियर विलियम्स ने, इसे इन अर्थों में मैत्रयी उपनिषद्, महाभारत, भर्तृहरि-शतक आदि में प्रयुक्त पाया है। देखिए—मो० वि० संस्कृत अंग्रेजी कोश।

२. कार्यहानि रणदैवव्यापत्तिसमुत्थः। योऽर्थस्तदसंप्राप्तौ विषादः स्यात्। ना० शा० ७।६१।

३. द० दि०, पृष्ठ ७२०।

४. प्रारब्धकार्यासिद्ध्यादेर्विषादः सत्त्व-संक्षयः। द० रू०, ४।३१।

५. भवेद्विषादो दैवादेर्विघातः।—अ० पु० का०, ३।३७।

६. विषादो मनः पीडा। काव्यानु०, पृष्ठ ८५।

७. विषादस्तान्तिरिष्टस्यानाप्तेर्निश्वासचिन्तनैः। ना० द०, ३।२०४।

अनिस्तरण और राजदोष की व्यापत्ति आदि से' उत्पन्न मानते हैं। यह ज्येष्ठों में, मध्यों में और कनिष्ठों में त्रिघा होता है। उन्होंने इसका निर्वाह 'मनसो विविधः सादो विषादः' कह कर किया है।[१] शिंगभूपाल ने भी इसे त्रिधा, ज्येष्ठ-मध्य-नीच-समाश्रित, कहा है।[२] विद्यानाथ ने इसे 'चेतसः भंग' कहकर धनंजय के मत के अनुसार ही लक्षण दिया है।[३] कविराज विश्वनाथ ने भी इसे 'सत्व संक्षय' कहकर धनंजय के मत का अनुगमन किया है और 'उपायाभाव' से समुद्भव माना है।[४] भानुदत्त ने इसे 'इष्ट-संशय अथवा अनिष्ट-जिज्ञासा' कहा है।[५] जीव गोस्वामी ने, (१) इष्ट की अनवाप्ति, (२) प्रारब्धकार्यासिद्धि, (३) विपत्ति, (४) अपराध' इसके विभाव दिये हैं।[६] पंडितराज जगन्नाथ ने इसे 'अनुताप' के पर्याय से स्पष्ट किया है।[७]

चिन्तामणि विद्यानाथ के अनुसार 'चित्त-भंग' को 'विषाद' कहते हैं।[८] देव इसे दुःख भी कहते हैं। तथा'संसौ' कहकर स्पष्ट करते हैं, यह संस्कृत 'संशय' का हिन्दी रूप है परन्तु विशिष्ट छाया से युक्त।[९] कुलपति मिश्र ने इसे 'दुःख से मन का बहना' कहा है।[१०] गुलाम नवी ने भी अन्य आचार्यों की भांति इसे उत्तम-मध्यम-अधम, त्रिधा कहा है। 'चाहा न होने पर अनचाहा हुआ देख कर होने वाला दुःख' बताया है।[११] सोमनाथ ने इसे 'क्षीण-मनस्कता' कहकर परिभाषित किया है, परन्तु श्रृंगार विलास में इसे ही 'दुःख से मन का निपट घट जाना' कहा है।[१२] भिखारी दास ने विभाव अनुभावों के द्वारा इसे लक्षित किया है। और गुलाम नवी का ही लक्षण

---

१. भा० प्र०, ३ अधिकार। २. र० सु०, २।९-१०।

३. विषादश्चेतसो भंग उपायाभावचिन्तनैः। प्र० रु०, पृष्ठ २५३।

४. उपायाभावजन्मा तु विषादः सत्त्वसंक्षयः। सा० द०, ३।१६७।

५. इष्टसंशयोऽनिष्टजिज्ञासा वा विषादः। र० त०, पृष्ठ ९२।

६. उ० नी०, पृष्ठ ३४५-४६।

७. इष्टासिद्धि राजगुर्वाद्यपराधादिजन्योऽनुतापो विषादः। रगंध, १ आननम्।

८. जहां उपाय अभाव ते होय चित्त को भंग।
सो विषाद लक्षण जु उत वढ़त ताप के संग। क० कु० क०, ७।८४।

९. उत्तम मध्यम नीच क्रम लघु चिन्ता, अप्रसाद।
महाशोक ये धन गए 'हित संसो' सुविषादु। भा० वि०, पृष्ठ ४२।

१०. दुख ते मन अति ही बहै, यह विषाद को भाय। र० र०, ३।२६।

११. चाह्यो होई न, अनचाह्यो भये देखि दुख होई।
सो विषाद अनुभाव तिह तीनि भांति जिय होय। र० प्र०, छं० ८८६।

१२. निपट छीन मन दुःख ते सो विषाद पहिचानि। र० पी० नि०, ७।२०।
निपट घटै मनदुख तै सौ विषाद परमान। श्रृं० वि०, छं० २८।

दिया है।[१] पद्माकर भट्ट 'विफल उद्योग से उत्पन्न शोच' को 'विषाद' कहते हैं।[२] बेनी प्रवीन ने भी इसे 'मनोवांछित की अनवाप्ति से उत्पन्न' कहा है, परन्तु इससे लक्षण पूर्णरूपेण स्पष्ट नहीं होता।[३] प्रतापसाहि इसका लक्षण' सन्देह से अनिष्ट को गिनना (वास्तविक स्थिति को समझना)' देते हैं।[४] भानुकवि ने अंग्रेजी में इसे 'डेस्पेयर' कहा है और इसे 'उद्योग की व्यर्थता से उत्पन्न माना है। इस प्रकार पद्माकर भट्ट का अनुसरण किया है।[५] प्रतापनारायण जू इसे संस्कृत आचार्यों के अनुसार 'इष्टहानि वा अनिष्ट की प्राप्ति से जन्य दुःख मानते हैं।[६] कन्हैयालाल पोद्दार इसे 'आरब्ध कार्य की असिद्धि से उत्साह भंग' परिभाषित करते हैं।[७] अयोध्यासिंह उपाध्याय इसमें 'पुरुषार्थ हीनता जन्य मानसिक कष्ट' देखते हैं।[८] रामदहिन मिश्र ने निरुत्साह और पुरुषार्थहीनता को गिषाद नाम दिया है।[९] आचार्य शुक्ल के मत से 'जिस वेग की प्रेरणा से लोग एकबारगी कर्तव्यशून्य होकर हार मानकर बैठ जाते हैं, वह विषाद है।' इन्होंने अपने लक्षण के लिए कविराज विश्वनाथ के मत को प्रमाण माना है।[१०] बाबू गुलाबराय ने विषाद की व्याख्या इस प्रकार दी है—उपायों के अभाव के कारण जो उत्साह का अभाव या निराशा उत्पन्न होती है, उसे विषाद कहते हैं। यह करुण रस के स्थायी शोक से भिन्न है। शोक में घटना होने के पश्चात् नैराश्य रहता है, इसमें घटना से पहले नैराश्य रहता है। विषाद शोक से कुछ हल्का होता है।[११] डॉ० राकेश गुप्त ने इसे अंग्रेजी में 'डेस्पेयर' और 'हेल्पलेसनेस' निरुत्साह और (निस्सहायता) का मिश्रित भाव माना है। अपने लक्षण के लिए उन्होंने कविराज विश्वनाथ और पण्डितराज जगन्नाथ को आधार बनाया है। और इसे मैकडूगल द्वारा लक्षित 'साधित संवेग' कहा है।[१३]

---

१. भाव विषाद हानि जिहि ठोरै। चहिए और होय कुछ औरै। र० सा०, छं० ४६३।

२. फुरै न उद्योग जहां, उपजै अति हो सोच।
ताहि विषाद बखान ही जे कवि सदा अपोच। जगद्वि०, ४।३३।

३. चित्त चाह्यो, लाह्यो जहां ह्वै न सकै अविवाद।
कवि कोविद सब कहत हैं, उपजत तहां विषाद॥ न० र० त०, छं० ३४७।

४. गति अनिष्ट संदेह ते कहि विषाद कवि सर्व। का० वि०, ३।४१।

५. होय उद्योग असार जव लहै विषाद अनन्त।—र० रत्न०, संचारी लक्षण।

६. र० कु०, ३ कुसुम। ७. का० कल्प०, चतुर्थ स्तवक।

८. इष्ट प्राप्त न होकर अनिष्ट होने से जो दुःख अथवा उपायाभाव के कारण पुरुषार्थ-हीनता-जन्य जो मानसिक कष्ट होता है, उसको विषाद कहते हैं।

९. इष्ट हानि, आरब्ध कार्य में असफलता, असहायावस्था आदि के कारण निरुत्साह होना पुरुषार्थ, पुरुषार्थहीन रोना विषाद है। न० द्व०, पृ० ७४।

१०. र० मी०, पृष्ठ २०६। ११. सि० अध्य०, पृष्ठ १३३।

१२. सा० स्ट० र०, पृष्ठ १४२। १३. वही।

विषाद के अनुभाव

भरतमुनि ने उत्तमों में तथा मध्यमों में 'सहाय-अन्वेषण, उपाय-विचिन्तन, उत्साह-भंग, विमनस्कतादि' बताये हैं। अधमों में 'विपरीत धावन, अवलोकन, मुखशोषण, सृक्क (मुख के दोनों ओर के कोनों) का परिलेहन (फिचकुर निकलना), निद्रा, विश्वास, ध्यान आदि बताये हैं।[1] शारदातनय ने उत्तमों में सहायान्वेषण, उपाय चिन्तादि, मध्यमों में वैमनस्य—अनुत्साह (विघ्न से) शय्या ग्रहण आदि तथा अधमों में मूर्च्छा, ध्यान, निश्वास आदि कहे हैं।[2] शिंगभूपाल ने शारदातनय के अनुसार ही अनुभावों का वर्णन किया है। अधमों में उन्होंने 'वैवर्ण्य' का विशेष उल्लेख किया है।[3] कविराज विश्वनाथ ने इन सब का एकत्र वर्णन कर दिया है।[4] भानुदत्त ने उत्तमों में सहायान्वेषण 'उपाय' चिन्ता आदि तथा मध्यम जनों में विमनस्कता तथा अधमों में अनिष्ट-ध्यान, धावन, मुखशोषण, निद्रा, श्वासादि कहे हैं।[5]

'विषाद' के उपरिलिखित अध्ययन का सार निम्नलिखित है—

विभाव :— विषम परिस्थितियां, कार्यहानि, दुर्दैव, अर्थ-असंप्राप्ति, उद्योग-वैफल्य आदि हैं।

लक्षण :— विषाद मानसिक पीड़ा और तद्गत अनुत्साह से सत्त्व-संक्षय का नाम है जिससे प्राणी अपने को निस्सहाय अनुभव करता है। इसमें मन विविध प्रकार से सादित होता है जो मूर्च्छा की अवस्था तक पहुँच सकता है। असंग के अनुसार यह मन का सामान्य-कर्म है।

अनुभाव :— उत्तम-प्रकृति जनों में उपायान्वेषण होता है क्योंकि उनमें धैर्य की मात्रा अधिक होती है। मध्यम-प्रकृति जनों में अनुत्साह, वैमनस्य एवं अक्रियाशीलता होती है। अधम-प्रकृति जनों में वैवर्ण्य, मुखशोषण, निद्रा, ध्यान, मूर्च्छा, लम्बी सांसें, मुख मोड़ कर दौड़ जाना आदि देखे जाते हैं।

(२०) औत्सुक्य

'औत्सुक्य' शब्द की व्युत्पत्ति 'उत्स्' धातु के साथ कृत्प्रत्यय 'कप्' के योग के उप-

---

१. ना० शा०, ७।६१-६२ तथा गद्य।

२. भा० प्र०, १ अधिकार।

३. र० सु०, ७।८-१०।

४. निश्वासोच्छ्वासहृत्तापसहायान्वेषणादिकृत्। सा० द०, ५३।१६७।

५. र० त०, पृष्ठ ९२।

रान्त भावे वा कर्मणि प्रत्यय 'ष्यञ्' के योग से होती है।

औत्सुक्य में प्रयुक्त 'उत्स्' उभयपदी है तथा इसके निम्नलिखित अर्थ होते हैं—

(१) उभाड़ना, उकसाना, (२) हलचल करना, तथा उन्मुख करना।[1]

विशेषण 'उत्सुक' के निम्नलिखित अर्थ कोश में दिये गये हैं—

(१) बेचैन, व्यग्र, अशान्त, (२) व्यग्र अभिलाषी, अधीर, प्रत्याशापूर्ण, किसी वस्तु के लिए प्रयत्नशील, (३) अनुरक्त, लवलीन, आसक्त, (४) दुःखी, शोचपूर्ण, बड़बड़ाता हुआ, गमगीन।[2]

संज्ञा रूप में 'उत्सुक' शब्द के अर्थ होते हैं—शोच, कामना, अभिलाषा।[3]

'औत्सुक्य' के सामान्य अर्थ हुए उत्सुक मन का कर्म वा भाव।

कोश में औत्सुक्य के निम्नलिखित अर्थ दिये गये हैं—

(१) चिन्ता, अभिलाषा, चाहना, अनुशोच, (२) उद्वेग, लालसा, सरगर्मी, उत्साह, चाव, (३) अधीरता।[4]

भरतमुनि ने इसे 'इष्ट जन के वियोग से अनुस्मरण आदि विभावों से उत्पन्न होना कहा है।[5] धनंजय ने 'औत्सुक्य' को 'कालाक्षमत्व'—देर न सह सकना कहा है[6] और रम्य इच्छा, रति, संभ्रम, इसके विभाव बताये हैं। अग्निपुराण में इसे 'अभीसित की प्राप्ति के

---

१. उत्स्— To stir up, to agitate, Bhagvat. 3.29.35
To cause to go upwards—Kathasarit-Sagar.
—M.W. & Apte's San. Eng. Dictionary

२. 1. Restless, uneasy, anxious, unquiet—Ramayan, Mahabharat,
2. Anxiously desirous, eagerly expecting, striving for—Raghuvansh 5-11, Kathsaritsagar 21.1.19, 3. Fond of, attached to —Raghuvansh, 2.22. 4., Regretting, repining, sorrowing for.
—Apte's Sans. Eng. Dictionary

३. Noun—Sorrow, longing for, desire.
—M.W. San. Eng. Dictionary.

४. 1. Anxiety, desire, longing for, regret,—Mahabharat,
2. Eagerness, Zeal, fervour, officiousness,—Panchtantra,
3. Impatience,—Parataprudriyam,
—Apte's San. Eng. Dictionary

५. इष्टजन वियोगानुस्मरणादिभिर्विभावैरुत्पद्यते। ना० शा०, ७।६३।
इष्टजनस्य वियोगादौत्सुक्यं जायते ह्यनुस्मृत्या। वही।

६. कालाक्षमत्वमौत्सुक्यं रम्येच्छारति संभ्रमैः। द० रू०, ४।३२।

लिए वांछा से उत्पन्न तरल (चंचल) स्थिति' कहा है।[१] धनंजय के मत को ही हेमचन्द्राचार्य ने स्वीकार किया है।[२] रामचन्द्रगुणचन्द्र ने इसे 'इष्टाभिमुख्यं' कहा है जो स्मरणादि से उत्पन्न होता है।[३] शारदातनय ने वियोग से, अनुस्मरण से, दर्शन से 'औत्सुक्य' का उदय कहा है। और इसको 'कालातिपात असहत्वं औत्सुक्यम्' बताया है।[४] उन्होंने इसके 'दोहद', 'कौतुक', 'आशा', 'स्पृहा', 'कांछा' आदि छाया-भेद भी कहे हैं। तथा उनका पृथक्-पृथक् निर्वाह किया है।[५] शिंगभूपाल[६], विद्यानाथ[७], कविराज विश्वनाथ[८] भी धनंजय के ही मत को ग्रहण करते हैं। भानुदत्त ने इसे 'काल-असहिष्णुता अथवा सकल इन्द्रियों का एक बार ही क्रिया-आरम्भ' कहा है।[९] पण्डितराज जगन्नाथ इसे 'उत्कट इच्छा' कहते हैं।[१०] जीव गोस्वामी इसे 'इष्ट प्राप्ति की स्पृहा से उत्पन्न' मानते थे।[११]

चिन्तामणि 'उत्कण्ठा' नाम देकर 'विलम्ब असहन' कहकर धनंजय के मत का अनुसरण करते हैं।[१२] देन[१३], सोमनाथ[१४], बेनी प्रवीन[१५] भी इसे 'उत्कण्ठा ही कहते हैं और 'काल-

---

१. औत्सुक्यमीप्सिताप्राप्तैर्वांछ्या तरला स्थितिः। अ० पु० का०, ३।३०।

२. औत्सुक्यं कालाक्षमत्वम्। काव्यानु०, पृष्ठ ९०।

३. इष्टाभिमुख्यमौत्सुक्यं। ना० द०, ३।२११।

४. कालातिपातासहत्वमौत्सुक्यं परिचक्षते। भा० प्र०, २ अधिकार।

५. (१) हृदि दोग्धि यदिष्टार्थे तद्दौहृदमुदाहृतम्।—भा० प्र० २।
(हृदय को इष्टार्थ के लिए चलाये वह दौहृद है)
(२) अभीप्टानुभूतार्थाभिलाषः कौतुकं भवेत्।
(३) कुतुकं सौख्य संभेदः स्पृहेति परिपठ्यते।
(४) एकाग्र्यं याऽश्नुतेऽर्थेषु सेवाशेंति विभाव्यते।
(५) आत्मोपभोगकरणं स्पृशतीन्द्रियवर्त्मना।
या जहातीतरान् भोगान् सा स्पृहेत्यभिधीयते।
(६) सैव कांक्षेति विज्ञेया सोपायार्थागमाश्रया।

६. कालाक्षत्वमौत्सुक्यमिष्टवस्तुवियोगतः। र० सु०, २।७९-८०।

७. कालाक्षमत्वंमौत्सुक्यं मनस्तापादिकृत्। प्र० रु०, पृष्ठ २५३।

८. इष्टानवाप्तेरौत्सुक्यं कालक्षेपासहिष्णुता। सा० द०, ३।१५९।

९. औत्सुक्यं कालासहिष्णुता सकलेन्द्रियाणामेकदैव क्रियारम्भो वा। र० त०, पृष्ठ ९३।

१०. उत्कटेच्छैव औत्सुक्यमित्यर्थः। रगंध०, १ आनन—भावध्वनि। ११. उ०नी०, पृष्ठ ३७६।

११. अभिलखितारथ लाभ में नहीं विलम्ब सहि जात।
उत्कण्ठा जामें कछु आकुलता अधिकात॥ क० कु० त०, ७।८७।

१२. प्रिय सुमिरन तें गात में गौरव आरसु होय।
देस न काल सह्यौ परै उत्कण्ठा कहु सोय॥ भा० वि०, पृष्ठ ४४।

१३. रुचै न अबेर आज की सो उत्कण्ठा जानि। र० पी० नि०, ७।३०।
सहै न कारज ढील मन उत्कण्ठा सुप्रकाश। श्रृं० वि०, छन्द ३२।

१४. होनहार अभिलाष है घरी पलक छिन मांहि। सो विलम्ब सहि जात नहिं उत्कंठा मन मांहि॥—न० र० त०, पृष्ठ ३५१।

ससहन' ही परिभाषा देते हैं। शेष आचार्य गुलामनवी[1], कुलपत मिश्र[2], पद्माकर भट्ट[3], प्रतापसाहि[4], भानुकवि[5], प्रतापनारायण जू[6], कन्हैयालाल पोद्दार[7], अयोध्यासिंह उपाध्याय[8], रामदहिन मिश्र[9], आचार्य शुक्ल[10], बाबू गुलाब राय[11] एवं डॉ० राकेश गुप्त[12] इसे भरतमुनि की परम्परा में 'औत्सुक्य' अथवा 'उत्सुकता' ही कहते हैं। भानुकवि ने इसे अंग्रेजी में 'इम्पेशेन्स' कहा है और 'शीघ्र कार्य की लालसा' कहकर सम्बोध किया है। शेष आचार्यों ने 'काल की असहनशीलता' ही लक्षित की है। आचार्य शुक्ल ने इसे 'रति' के कारण उत्पन्न माना है। डॉ० गुप्त ने अपने मत के आधार के लिए पण्डितराज जगन्नाथ का मत उद्धृत किया है।

औत्सुक्य के अनुभाव

भरतमुनि ने[13] इसमें चिन्ता, निद्रा, तन्द्रा, शयन, निश्वास, अधोमुखता आदि लक्षित

---

१. सहि न सके जो कालगति उत्सुकता तिहि जान।
उपजै अवधि विभाव ते सो विकलाइते मान ॥ र० प्र०, छं० ८२७।

२. औत्सुक्य जहं काम चित्त न सहि सकै ढील। र० र०, ३।२८।

३. जहां हितूके मिलन हित चाह रहत हिय मांहि।
उत्सुकता ताको कहत, सब ग्रंथन में चाहि ॥ जगद्वि०, ४-५६।

४. चित्त विलम्ब न सहि सकत औत्सुक्य सो जानि। का० वि०, ३।४२।

५. शीघ्र कार्य की लालसा, उत्सुकता, सुख साज। र० रत्ना०, संचारी भाव।

६. उत्सुकता—किसी कार्य में विलम्ब को न सहकर तत्काल तत्पर हो जाना।
—र० कु०, ३ कुसुम।

७. औत्सुक्य—अमुक वस्तु अभी उपलब्ध तो इस प्रकार की जो इच्छा है वही औत्सुक्य है।
—का० कल्प०।

८. अभीष्ट की प्राप्ति में विलम्ब का असहन 'उत्सुकता' कहलाता है। र० क०, पृष्ठ ४६।

९. किसी प्रिय वस्तु की प्राप्ति में विलम्ब न करना, इष्ट कार्य की तात्कालिक सिद्धि की इच्छा औत्सुक्य है।—का० द०, पृष्ठ ७५।

१०. रति के कारण......औत्सुक्य उत्पन्न होता है। र० मी०।

११. औत्सुक्य—इष्ट की अप्राप्ति के कारण प्रतीक्षा के समय की असहिष्णुता और चित्त की तपन। सि० अध्य०।

१२. सा० स्ट० र०, पृष्ठ १४२।

१३. ना० शा०, ७।६३।

किए हैं। धनंजय ने बेकली (हृतताप) और स्वेद तथा विभ्रम का भी उल्लेख किया है।[1] हेमचन्द्राचार्य ने त्वरा, कृशता, मनः-शून्यता, दिगवलोकन, हड़बड़ाना, झनझनानादि भी कहे हैं।[2] भानुदत्त ने इसके अनुभाव तन्द्रा तथा गात्र-गुरुता कहे हैं।[3]

प्रायः इस प्रकार के अनुभाव ही हिन्दी आचार्यों ने भी कहे हैं।[4]

'औत्सुक्य' के उपरिलिखित अध्ययन का सार निम्नलिखित है—

विभाव—रम्य इच्छा, लालसा, तथा कामना हैं।

लक्षण—'औत्सुक्य' वह अधैर्यपूर्ण मनस्थिति वा मनोविकार है जिसमें इष्टलाभ में कालातिपात असह्य होता है और मन चंचल रहता है। इसकी छायाएं हैं—दौहृद, कौतुक, आशा, स्पृहा, कांक्षा आदि।

अनुभाव—चिन्ता, निद्रा, तन्द्रा, बेकली और गात्र-गुरुता इसके आंतरिक अनुभाव हैं। संभ्रम, त्वरा, हड़बड़ी तथा अधोमुखता आदि इसके बाह्य अनुभाव हैं।

(२१) निद्रा

'निद्रा' में 'नि' उपसर्गपूर्वक 'द्रा' धातु है जिसमें आतस्चोपसर्गे कृत् प्रत्यय 'अ' का योग हुआ है। निद्रा धातु के अर्थ हैं—निन्दित गमन व कुत्सित गति, (अर्थात् तामसिक गति) (देखिए संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ, परिशिष्ट २)।

कोष में 'निद्रा' के निम्नलिखित अर्थ दिये गये हैं[5]—

(१) सोना, निंदासापन, आलस्य,—ऋग्वेद, महाभारत, (२) मुकुलितावस्था, निमीलन।

उपनिषदों में 'निद्रा' को मन का विशिष्ट कर्म कहा है। (छांदोग्य उपनिषद् ६।८। १-२, द० दि०, पृष्ठ ३९९ पर उद्धृत)।

भरतमुनि ने दुर्बलता, क्लान्ति, श्रम, मदालस्य, चिन्ता, अति आहार, स्वभाव से

---

१. तत्रोच्छ्वासत्वनिश्श्वासहुत्तापस्वेद विभ्रमाः। द० रू०, ४।३२।

२. तत्त्वरानिश्वसितोच्छ्वसितकार्श्यमनःशून्यतादिगवलोकन रणरणकादिर्भिवर्णयेत्।
काव्यानु०, पृष्ठ ९०।

त्वरा मनोवाक्-कार्य-दृष्टि चापलम्।—ना० द०, ३।२८८।

३. र० त० ९३।

४. औत्सुक्य—जल्दबाजी, जोर से सांस लेना, पसीना छूटना, संताप होना आदि इसके अनुभाव हैं। —का० द०, पृष्ठ ७५।

५. Sleep, slumber, sleepiness, sloth, -Rigveda, Mahabharat, the budding state of flower —M.W. Sans. Eng. Dictionary.

'निद्रा' की उत्पत्ति कही है।[१] बौद्ध दार्शनिक असंग ने 'निद्रा' को मन का विशिष्ट कर्म माना है (द० दि०, पृष्ठ ७२१)। धनंजय ने इसे 'मनः संमीलनं' कहा है और चिन्तालस्यक्लमादि से इसकी उत्पत्ति बताई है।[२] अग्निपुराण में इसका उल्लेख नहीं है। हेमचन्द्राचार्य ने भी इसे 'मनः संमीलनं' कहा है।[३] उन्होंने भरतमुनि की ही व्याख्या दी है। गुणचन्द्ररामचन्द्र ने इसे 'इंद्रियाव्यापृति' कहा है।[४] अर्थात् इसमें इन्द्रियां विषय से उपरत हो जाती है। शारदातनय ने 'इंन्द्रियों का एक ही समय में शीघ्रता से निमीलन होना 'निद्रा' कहकर परिभाषित किया है और इसकी उत्पत्ति मद, श्रम, क्लम, ग्लानि, दौर्बल्य, आलस्य, चिन्तन, अत्याहार, अनशन, दुःख-शोकादि से बताई है।[५] शिंगभूपाल[६] और विद्यानाथ[७] तया कविराज विश्वनाथ[८] एवम् पण्डितराज जगन्नाथ[९] ने इसे क्रमशः 'मनोनिमीलन', 'चित्तनिमीलन' 'चेतसंमीलन' कहा है। पण्डितराज जगन्नाथ ने भारतीय दार्शनिकों के आधार पर मन का 'पुरीतत्' नाड़ी में प्रवेश होने से उसके निरीन्द्रीय-प्रदेशावस्थान को 'चेतस्संमीलन' कहा है।[१०] भानुदत्त ने अन्य इन्द्रियों को छोड़कर मन के त्वचा में जा बसने को निद्रा कहा है।[११]

चिन्तामणि ने इसे 'नींद' नाम देकर 'मन-संमीलनादि' कहा है।[१२] देव ने भी इसे नींद कहा है और 'चित्त का त्वचा में वास' बताया है।[१३] (वह परिभाषा आधुनिक मतोविज्ञान

---

१. निद्रा नाम दौर्वल्य श्रमक्लममदालस्यचिन्ताअत्याहारस्वभावादिभिः विभावैः उत्पद्यते। ना० शा०, ७।६४।

२. मनः संमीलनं निद्राचिन्तालस्यक्लमादिभिः। द० रू० ४।२३।

३. निद्रा मनः संमीलनम्। क्लमादेर्निद्रा जृम्मादिकृत्। काव्यानु० २ अध्याय।

४. इन्द्रियाव्यापृति निद्रा खेदादेर्मूर्द्धकम्पिनी। ना० द०, ३।२००।

५. निद्रा मदश्रमग्लानि दौर्बल्यालस्यचिन्तनैः।
अत्याहारादनशन दुःखशोकादिर्भिभवेत्॥
इन्द्रियाणि निमीलन्ति द्रागेव युगपद्यतः।
तस्मान्निद्रति कविभिः कथ्यते भाव कोविदैः॥ भा० प्र०, २ अधिकार।

६. मनोनिमीलनं निद्रा। र० सु०, २।८७।

७. निद्राचित्तनिमीलनम्। प्र० रु०, पृष्ठ २५४।

८. चेतः संमीलनं निद्राश्रमक्लममादिजा। सा० द०, ३।१५७।

९. श्रमादि प्रमोज्य चेतस्संभीलनं निद्रा। रगंध०, १, भाव ध्वनि।

१०. चेतस्संमीलन 'पुरीतत्' नाड़ी प्रवेशान्निरीन्द्रिय प्रदेशावस्थानम्। वही।

११. इतरादिन्द्रियमपहाय मनस्त्वचि यदा वर्तते तदा निद्रा। र० त०, पृष्ठ ६४।

१२. मनसंमीलतादि कहि श्रमादिकन ते होइ।
स्वासादिक तहं देखिथे सब इन्द्रियन लय होय। क० कु० क०, पृष्ठ ७१५८।

१३. चिन्ता आलस खेद तें बसे तुचा चित जाय।
सुपन दरस, अवयव चल न एकउ नींद सुभाय॥ भा० वि०, पृष्ठ ४५।

ने अनुसार सटीक उतरती है।) कुलपति मिश्र ने इसे केवल अनुभावों के द्वारा वर्णन किया है।[१] गुलाम नवी भी इसे 'मन का इन्द्रियों को छोड़ कर त्वचा में समाना कहते हैं।"[२] देव की ही भांति, जिन्होंने इसे रस-तरंगिणी (भानुदत्त) से लिया है। सोमनाथ ने इस विषय में हिन्दी पर्याय 'नींद' देकर इसे समाप्त किया है।[३] परन्तु शृं० वि० में 'इन्द्रियों से कुछ काम न होना" अनुभाव वर्णन किया है।[४] भिखारीदास ने इसके केवल अनुभाव कहे हैं।[५] बेनी प्रवीन ने इसे 'स्वप्न' की विकसितावस्था माना है और इसका नाम भी निन्द्रा न देकर 'स्वप्न संपूरन' दिया है तथा इसके अनुभाव वर्णन किये हैं।[६] पद्माकर भट्ट इसका पर्याय 'शयन' देकर लक्षण समाप्त करते हैं।[७]

प्रतापसाहि का लक्षण भी स्पष्ट नहीं है।[८] भानुकवि ने भी पद्माकर का लक्षण ही उद्धृत कर दिया है।[९] परन्तु उन्होंने इसका अंग्रेजी पर्याय 'स्लीप' भी दिया है। प्रतापनारायण सिंह जू[१०] नाम से ही लक्षण की स्पष्टता मानते हैं। कन्हैयालाल पोद्दार ने[११] 'परिश्रम आदि से चित्त का बाह्य विषयों से निवृत्त होना' निद्रा बताया है। अयोध्यासिंह उपाध्याय[१२] ने पोद्दार की परिभाषा का अनुसरण किया है और इसके विभाव परिश्रम, क्लान्ति, ग्लानि तथा मादक द्रव्य सेवनादि बताये हैं। रामदहिन मिश्र ने[१३] इसे "मन की बाह्य विषयों से निवृत्ति, तदुपरान्त विश्राम करने की स्थिति" कहा है। आचार्य शुक्ल इसे उदासीन वर्ग की शारीरिक अवस्था में वर्गित करते हैं। निद्रा का सम्बन्ध उनके मत से चेतना की निवृत्ति से है और किसी भाव के कारण ही उत्पन्न 'निद्रा' को संचारी भाव मानने के पक्ष में हैं, यों ही नहीं।[१४] बाबू गुलाबराय राय के मत में 'निद्रा' भी एक भावात्मक मानसिक अवस्था

---

१. जहाँ कछु काम न करि सके, इन्द्रिय निद्रा सोय। र० र०, ३।२७।

२. सो निद्रा जो इन्द्रियन तजि मन तुचा समाइ।
श्रम आदिक ते होत लखि स्वपनादिक ते जाइ॥ र० प्र०, छंद ८६२।

३. नींद सु निद्रा जानि। र० पी० नि०, ७।२३।

४. सो निद्रा इन्द्रीन तें जब न काम कछू होय। शृं० वि०, छंद २९॥

५. निद्रा को अनुभव जमुहैवो। आलसादिते नैन मिलैबो। र० सा०, छंद ४८५।

६. अति गाफिल है सोइबो, सपन संपूरन होय।
आनन्दमय निरभय सबै, बरनत हैं कवि सोय। न० र० त०, छंद ३५७।

७. शयन कहावत सोइबो, बहैं सुनिद्रा होय। जगद्वि० ४।७४।

८. आलसयुत जहं सोइवो सो निद्रा पहचानि। का० वि० ३।४२।

९. शयन कहावन सोइवो, वहै सुनिद्रा होय। र० रत्ना०, संचारी।

१०. र० कु०, ३ कुसुम।

११. का० कल्प०, ४ स्तवक।

१२. र० क०, पृष्ठ ५४।

१३. का० द०, पृष्ठ ७५।

१४. र० मी०, पृष्ठ २३१।

है, और वे इसे चेतनता का, संस्कृत आचार्यों के मतानुसार, कली की तरह बन्द हो जाना मानते हैं।[1] डॉ० राकेश गुप्त ने धनंजय के मत को माना है और मनोविज्ञान की पुस्तक का उद्धरण देकर सिद्ध किया है कि यह भाव या चेतना की स्थिति नहीं हो सकती।[2]

निद्रा के अनुभाव

भरतमुनि के अनुसार—शरीर और चेहरे का भारी होना, नेत्र-घुमेर, जंभाई, शरीर टूटना, उच्छ्वास, निश्वास, शरीर और नेत्रों की क्रिया का मूंदना, सब क्रियाओं का रुकना आखें तथा शरीर को मींडनादि।[3]

धनंजय के अनुसार—जंभाई, अंग-नेत्रादि मींनिमीलन हैं।[4]

शारदातनय ने भरतमुनि के ही अनुभाव दिये हैं।[5]

निद्रा के उपरिलिखित अध्ययन का सार निम्नलिखित है—

विभाव —श्रम, क्लान्ति, मद-आलस्य, चिन्ता, ग्लानि, दौर्बल्य, दुःख, शोक, अति आहार, एवं अनशन आदि।

लक्षण —निद्रावस्था में चेतना का संमीलन हो जाता है, मन, त्वक् (स्पर्श) ज्ञानेन्द्रिय को छोड़ कर शेष सब इन्द्रियों को व्यापार ने निवृत्त कर देता है। आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार निद्रा स्वप्न की रक्षिका है (देखिये साइ० नॉरमन एल० मन कृत) प्रसाद ने भी 'कामायनी' में लिखा है—'निद्रा में सुख-स्वप्न देखता जैसे पुलकित हुआ अधीर'। निद्रा में स्पर्श की चेतना बनी रहती है और प्रतिवर्त्त (रिफ़्लेक्स') क्रियाएं होती हैं। उपनिषदों और बौद्ध दार्शनिक असंग के अनुसार यह मन का विशिष्ट कर्म है।

अनुभाव —निद्रावस्था में 'सुप्तं' वा स्वप्न ; निद्रापूर्व अवस्था में शरीर और नेत्रों की क्रियाओं का अवसान, शरीर और चेहरे का भारी होना, शरीर का अंगड़ाना आदि हैं।

---

१. सि० अध्य०, पृष्ठ १३२।
२. सा० स्ट० र०, पृष्ठ १३६।
३. ना० शा० ७।६५।
४. द० रू०, ४।३३।
५. भा० प्र०, १ अधिकार।

(२२) **अपस्मार**.

'अपस्मार' की व्युत्पत्ति है 'अप+स्मृ+णिच् कर्त्तरि अच् वा'। 'स्मृ' धातु के शब्दार्थ ऊपर 'स्मृति' में दिये जा चुके हैं। आप्टे के कोश में 'अपस्मार' वा 'अपस्मृति' के निम्नलिखित अर्थ दिये हैं[1]—

(१) विस्मरण, स्मृति हानि, भ्रान्ति, (२) मृगी रोग।

मोनियर विलियम्स ने भी यही अर्थ दिये हैं (दे० मो० वि० संस्कृत अंग्रेज़ी कोश)।

भरत मुनि ने 'अपस्मारः' के विभाव 'देव-नाग-यक्ष-ब्रह्मराक्षस-भूत-पिशाचादियों का ग्रहण, उच्छिष्ट-शून्यागार का सेवन, अशुचि, कालान्तर तथा अचानक कोई घटना अथवा धातु-वैषम्य (वात-पित्त-कफ) आदि' बताये हैं।[2] 'आपात' के स्थान पर 'अतिपात' का प्रयोग उन्होंने अपने पूर्व आचार्यों द्वारा उल्लिखित किया है।[3] असंग के मत से 'अपस्मार' मन का एक विशेष कर्म है (द० दि०, पृष्ठ ७२१)। धनंजय ने 'अपस्मार' को 'आवेश' कहा है तथा ग्रह, दुःखादि से उत्पन्न माना है।[4] अग्निपुराण में इसे 'चित्त की जड़ता और इन्द्रियों की विक्षुब्धावस्था कहा है।[5] हेमचन्द्राचार्य ने भी इसे धनंजय की ही भांति 'आवेश' नाम दिया है और भरतमुनि द्वारा वर्णित विभाव बताये हैं। रामचन्द्रगुणचन्द्र ने इसे 'वैकल्य रूप' कहा है। शारदातनय ने अपस्मार का निर्वहण 'अनुभूत पदार्थों' के विषय में 'अन्यथा स्मृति' अथवा 'अयथा स्मृति' अथवा 'पदार्थ की अस्मृति' कहकर किया है।[8] उन्होंने भी इसकी महाभूत-

---

१. अपस्मारः, स्मृतिः=अपस्मारयति स्मरणं विलोपयति, स्मृ-णिच् कर्त्तरि अच् वा अपगतः स्मारः स्मरणं यतः।

1. Forgetfulness, loss of memory, -Bhagwat, 2. Epilepsy, falling sichness. —Apte's Sans. Eng. Dictionary

२. देवनागयक्षब्रह्मराक्षसभूतपिशाचादीनां ग्रहणोच्छिष्टशून्यागारसेवनाशुचिकालान्तरापात-धातुवैषम्यादिभिर्विभावैरुत्पद्यते।

३. भूतप्रेतपिशाचग्रहणानुस्मरणोच्छिष्टशून्यग्रहगमनात् कालान्तरातिपातादशुचिषु च भवत्यपस्मारः। ना० शा०, ७।६६।

४. आवेशो ग्रहदुःखाद्यैरपस्मारो यथाविधिः। द० रू०, ४।२५।

५. चित्तेन्द्रियाणां स्तैमित्यमपस्मारो अवस्थितिः। अ० पु० का०, ३।३१।

६. अपस्मारः आवेशः। काव्यानु०, २ अध्याय

७. वैकल्यं ग्रहदोषेभ्योऽपस्मारो निन्द्यचेष्टितः ना० द०, ३ विवेक।

८. अपस्मारोऽनुभूतेषु पदार्थेष्वन्यथा **स्मृतिः**।
अयथा स्मृतिरेव स्यात्पदार्थास्मृतिरेव वा॥ भा० प्र० २ अधिकार।

पिशाच, ब्रह्मराक्षसों के ग्रहण की अनुस्मृति (एक ही ध्यान) से, शून्यागार तथा श्मशान आदि के सेवन से, अधिक काल के बीत जाने से, धातु वैषम्य से तथा अशुचित्व से उत्पत्ति कही है।[१] कविराज विश्वनाथ ने 'अपस्मारः' को 'मनःक्षेप' कहकर स्पष्ट किया है।[२] शिंगभूपाल ने इसे धातु-विषमता, भूत-आवेश आदि से उत्पन्न 'चित्त-क्षोभ' नाम दिया है।[३] विद्यानाथ भी इसे 'दुःख-मोहादि से उत्पन्न आवेश' कहते हैं और अंग ताप उत्पन्न करने वाला बताते हैं।[४] भानुदत्त ने इसे 'ग्रहाद्यावेश' कहा है।[५] पण्डितराज जगन्नाथ इसे 'वियोग-शोक, भय-जुगुप्सा आदि के अतिशय से अथवा भूत-पिशाचादि के ग्रहण अथवा आवेश आदि से उत्पन्न 'मनस्ताप रूप' व्याधि विशेष कहते हैं। साहित्य दर्पण का श्लोक उद्धृत करके उन्होंने कहा है कि नाड़ी विशेष में चले जाने से मन का 'घूर्णन-चकराना' मनःक्षेप है।[६]

चिन्तामणि ने इसे ग्रहादि अथवा दुःखादि से उत्पन्न माना है।[७] देव ने भी इसे अधिक दुःख, अतिभय, अशुचि तथा शून्य स्थान में निवास आदि से उत्पन माना है।[८] कुलपति मिश्र ने इसे मूर्च्छातमक, भ्रमात्मक तथा दैहिक वैकल्य कहकर निरूपित किया है।[९] इनके लक्षण पर गुलाम नवी ने इसे विभव और अनुभाव के द्वारा निरूपित किया है तथा यक्ष-राक्षस-ग्रह-भूत और भय तथा दुःख इसके विभाव कहे हैं।[१०] सोमनाथ इसे 'मूर्च्छा' कहते हैं।[११] शृंगार-विलास में इन्होंने ही इसे 'भ्रम-सहित मूर्च्छा' कहा है।[१२]

---

१. अपस्मारो महाभूतपिशाचब्रह्मराक्षसानां ग्रहणानुस्मृतेः शून्यश्मशानागारसेवनैः ॥
कालातिक्रमणाद्धातुवैषम्यादशुचित्वतः जायते। भा० प्र०, २ अधिकार।

२. मनःक्षेपस्त्वपस्मारो ग्रहाधावेशनादिजः। सा० द०, ३।१५३।

३. धातुवैषम्यदोषेण भूतावेशादिनाकृतः। चित्तक्षोभस्त्वपस्मारः॥ र० सु० २।४६।

४. आवेशो दुःखमोहाद्यैरपस्मारोऽगतापकृत्। प्र० रु०, पृष्ठ २५५।

५. ग्रहाद्यावेशोऽपस्मारस्तत्र विभावाः। र० त०, पृष्ठ ६५।

६. वियोगशोकमय जुगुप्सादीनामतिशयाद्ग्रहावेशादेश्चोत्पन्नो व्याधिविशेषोऽपस्मारः। मनस्तापरूपाणां व्याधीनामन्तर्गततस्यापस्मारस्य चित्तवृत्ति विशेषरूपतया भावत्वम्। तदुक्तम् (सा० द० का श्लोक)
मनसो नाड़ी विशेषनिवेशेन घूर्णनं मनःक्षेप। रगंध०, १ आनन।

७. जो ग्रहादि आवै समय दुःखादिक ते होय। क० कु० क०, त० ७।६४।

८. अधिक दुःख अतिसय अशुचि सुने ठौर निवास।
अपस्मार जहं भू पतन कम्प फेन मुख स्वास॥ भा० वि०, पृष्ठ ४६

९. अपस्मार जहं मूर्च्छा, भ्रमरु विकलता डील। र० र० ३।३२८।

१०. जच्छ रच्छ ग्रह भूत अरु भय दुःख आदि विभाव। अनुभाव वैपथृ फेन मुख अपस्मार को भाव। र० प्र०।

११. 'अपस्मार सो मूरछा'। र० पी० नि०, ७।२६।

१२. होइ मूरछा प्रेम सहित अपस्मार सो जनि। शृं० वि०, छंद ३१।

भिखारीदास ने इसे 'मृगी रोग तक जाने वाली व्याकुलता' कहा है।[१] बेनी प्रवीन भी इसे 'मूरछा' नाम देते हैं जो ग्रहादिक के दोष से अथवा भयादि से उत्पन्न होती है।[२] पद्माकर भट्ट ने भी इसे 'असहदुखादिक' से उत्पन्न माना है।[३] प्रताप साहि ने भी शोकादिक भय तथा भूतादि से 'अपस्मार' भाव का ग्रहण माना है।[४] भानु कवि ने इसे अंग्रेजी में 'एपिलेप्टिक कनवलज़न' कहा है और लक्षण में पद्माकर भट्ट का लक्षण दिया है।[५] प्रताप नारायण सिंह जू ने इसे अपस्मार-रोग जैसा होना कहा है जिसके लिए कारण विशेष नहीं दिया।[६] कन्हैयालाल पोद्दार ने मानसिक सन्ताप से, अत्यन्त दुःख से उत्पन्न एक व्याधि को अपस्मार (मिरगी-रोग) कहा है।[७] अयोध्यासिंह उपाध्याय भी अवस्था विशेष के कारण 'मिरगी रोग' के समान 'चित्त-विक्षेप' को 'अपस्मार' निरूपित करते हैं।[८] पण्डित रामदहिन मिश्र इसे चित्त की वह वृत्ति मानते हैं जिसमें मिरगी रोग का सा लक्षण लक्षित होता है। उनके मत में भूतावेश, वेदना, आघात आदि से हृदय का दुर्बल होना इसका कारण है।[९] आचार्य शुक्ल ने इसे शारीरिक अवस्थाओं के अन्तर्गत स्थान दिया है, यह पहले ही कहा जा चुका है। बाबू गुलाबराय ने इसे 'मूर्च्छा' कहा है। उनकी व्याख्या है कि यह भौलिक अधिक है किन्तु इसमें कुछ आवेग और संज्ञा-शून्यता की मानसिक अवस्था रहती है। इसमें अज्ञात और दमित वासनाओं का वेग रहता है। बाबू गुलाबराय ने उन्माद, अपस्मार यथा व्याधि की तारतम्यात्मक तुलना की है। ये तीनों ही प्रायः उनके मत से भय, वियोग आदि की अप्रिय मानसिक अवस्थाओं से होते हैं। अपस्मार में अंग-विकृति, शैथिल्य, मुखफेन, हाथ-पैर पीटना होता है। उन्माद की अभिव्यक्ति आकृति और चाल-ढाल में अधिक होती है। उन्माद में चेतना रहती है किन्तु अव्यवस्थित, अपस्मार में कुछ सम्मोहन की सी दशा होती है। अपस्मार की अवस्था क्षणिक होती है। उन्माद उससे कुछ अधिक स्थायी होता है। व्याधि शारीरिक अधिक होती है किन्तु उसके मानसिक कारण होते हैं और उसकी चेतना भी एक अस्वस्थता की होती है।[१०] डॉ० राकेश गुप्त ने 'अपस्मार' को अंग्रेजी में 'एपिलैप्सी'

---

१. 'अपस्मार सो कवि उर धरई। मिरगी रोग लों व्याकुल करई। र०सा०, छंद ४९६।

२. कम्प फेन-मुख मूरछा अपस्मारतेहि जानि।
होत ग्रहादिक दोष ते कै भयभीत बखानि। न० र० त०, छंद ३५९।

३. असहदुखादिक ते जहां होत कम्प भूपात। अपस्मार सो फेन-मुख श्वासादिक सरसात।
जगद्वि०, ४.८६।

४. शोकादिक भयभूत ते अपस्मार गहि भाव। का० वि०, ३।४७।

५. र० रत्ना०, संचारी भाव।

६. र० कु०, ३ कुसुम।

७. का० कल्प०, चतुर्थ स्तवक।

८. र० क०, पृष्ट ५८।

९. का० द०, पृष्ठ ७६।

१०. सि० अध्य०, पृष्ठ १३२।

रोग कहा है, तथा अनुभूति नहीं स्वीकार किया है। धनंजय के मत को अपने मत का आधार बनाया है। आपके मत से यह अवस्था किसी सबल संवेग की क्रियावस्था में आ सकती है। स्वयं न यह कोई संवेग है न अनुभूति। आपके मतानुसार काव्य-शास्त्रों की अपेक्षा भेषजीय ग्रन्थों में 'अपस्मार, पर सुविस्तार-पूर्वक लिखा गया है।[1]

'अपस्मार' के अनुभाव—

संस्कृत आचार्यों ने 'फुरफुरी, कम्प, निश्वास, दौड़ना, गिर पड़ना, पसीना, स्तम्भ, मुखफेन, जीभ से थूक फिराना और अनजान में उठकर चल देना, पुतलियों का चलना, रोना इत्यादि अनुभाव दिये हैं।[2] हिन्दी के आचार्यों ने भी इनका ही अनुकरण किया है।

अपस्मार के उपरिलिखित अध्ययन का सार निम्नलिखित है—

विभाव—आवेग, अतिशय भय, घृणा, धातु वैषम्य, दमित वासनाएं, आघात व दु:खादि हैं।

लक्षण— 'अपस्मार' मन की एक विशेष अवस्था का नाम है जिसमें स्मरण-शक्ति खो जाती है, अथवा अनुभूत पदार्थों के विषय में अन्यथा स्मृति होती है। यह मनस्ताप रूप, व्याधि-विशेष भी है जिसमें आवेश, चित्त की जड़ता एवं इन्द्रियों की विक्षुब्धावस्था होती है। यह मूर्च्छात्मक, भ्रमात्मक है और दैहिक वैकल्ययुक्त एक संमिश्र भाव है। यह मन की मिरगी-रोग तक जाने वाली विकलता है। उन्माद में मन की चिन्तन धारा स्खलित वा भ्रान्त होती रहती है, जबकि 'अपस्मार में वह कुछ काल तक स्खगित होती है, अथवा विशिष्ट विषय का निष्कासन कर देती है, अथवा कालिक व्याधि-मिरगी-रोग में परिणत होती है। व्याधि में विशिष्ट रोग, अथवा अंगों में प्रभाव देखा जाता है। यही इसकी उन्माद एवं व्याधि से भिन्नता है। बौद्ध दार्शनिक असंग के अनुसार यह मन का विशिष्ट कर्म ठहरता है।[3]

अनुभाव—ज्ञानशून्यगति, उच्च-स्वर से चिल्लाना, दौड़ना, कम्प, स्वेद, स्तम्भ, निश्वास, मुख-फेन, जिह्वालेहन, नेत्र-पुतली संचालन आदि इसके अनुभाव हैं।

---

१. सा० स्ट० र०, पृष्ठ १४०।

२. ना० शा०, ७।६७, द० रू० ४।२५, काव्यानु०, २ अध्याय, ना० द०, ३ विवेक, भा० प्र०, १। अध्याय, सा० द०, ३।१५३ आदि।

३. द० दि०, पृष्ठ ७२१।

(२३) सुप्त, सुप्ति, अथवा स्वप्न

'सुप्तं', 'सुप्ति' अथवा 'स्वप्न' के मूल में 'स्वप्' धातु है। 'सुप्त' और 'स्वप्न' इसके कृदन्त रूप हैं और 'सुप्ति' भाववाचक संज्ञा।

स्वप् धातु के संस्कृत कोशों में निम्नलिखित अर्थ दिये हैं[1]—

(१) सो जाना, सोना, तन्द्रालस होना, (२) आत्मरमण करना, विश्राम करना, (३) विरमना, तल्लीन होना।

संस्कृत के कोशों में सुप्तं, सुप्रिः के निम्नलिखित अर्थ दिए हुए हैं[2]—

सुप्तं—प्रगाढ़, निद्रा।

सुप्तिः—(१) निद्रा, सुस्ती, निंदासापन, (२) लकवा, चैतन्य राहित्य, अचैतन्यता।

'स्वप्नः' के निम्नलिखित अर्थ दिए गए हैं[3]—

(१) नींद, सोने की क्रिया (ऋग्वेद), (२) निंदासापन, निद्रालसता (चौरपंचाशिका), (३) अत्यधिक शयालु, (३) सुस्ती, मन्दता, (मनुस्मृति), (५) सपना लेना, सपना (ऋग्वेद)।

भरतमुनि, धनंजय, हेमचन्द्राचार्य, रामचन्द्रगुणचन्द्र, पण्डितराज जगन्नाथ ने इसे 'सुप्तं' कहा है। शारदातनय, शिंगभूपाल, विद्यानाथ ने इसे 'सुप्तिः' और कविराज विश्वनाथ ने इसे 'स्वप्नः' नाम दिया है। शारदातनय तथा पण्डितराज ने इसे 'स्वप्नः' भी कहा है। आगे की पाद-टिप्पणियों में यह स्वतः स्पष्ट होता जायेगा।

भरतमुनि इसे 'निद्रा से समुत्थ' बताते हैं।[4] ना० शा० में 'सुप्तं' और 'स्वप्नः' में

---

१. स्वप्-परस्मैपद

1. to fall asleep, sleep, go to sleep, 2. to recline, repose, lie down to rest, 3. to be absorbed in. -Apte's Sans. Eng. Dictionary

मोनियर विलियम्स ने इन अर्थों में इस धातु का प्रयोग ऋग्वेद, मनुस्मृति, महाभारत, रामायण आदि में देखा है। देखिए मो० वि० का संस्कृत-अंग्रेजी शब्द-कोश।

२. देखिए संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ, 'सुप्तं', 'सुप्तः' शब्द।

३. Sleep, sleeping, -Rigveda, 2. sleepiness, drowsiness, -Chaurpanchsika, 3. sleeping too much, 4. sloth, indolence,-Manusmriti, 5. dreaming, a dream—Rigveda. —M.W. Saongns. E. Dictionary.

४. सुप्तं नाम निद्रासमुत्थम्। ना० शा०, ७।६८।

भेद किया गया है।[१] धनंजय भी इसे 'निद्रोद्भव' कहते हैं।[२] हेमचन्द्राचार्य ने इसे 'निद्रा की गाढ़ावस्था' कहा है जो निद्रोद्भव ही होती है।[३] रामचन्द्रगुणचन्द्र भी इसे 'निद्राप्रकर्ष' कहकर इसे 'निद्रा की गाढ़तमावस्था' ही कहते हैं और इसमें स्वप्न के तात्कालिक विषयज्ञान की प्रतीति परविशेष बल देते हैं।[४] रामचन्द्रगुणचन्द्र के मत से निद्रा में मन की वृत्ति रहती है, यहाँ तो वह भी बिलकुल निरुद्ध हो जाती है। इसमें मन के सहित छहों इन्द्रियों का 'मोहन' अर्थात् विषय से अत्यन्त विमुखता होती है। शारदातनय ने इसका निर्वहण इस प्रकार किया है जिससे 'अपने को प्राप्त होवे, स्व को प्राप्त करे अथवा आत्मरूप हो जाए, उसे स्वप्न कहते हैं।[५] और भरतमुनि को ही भांति वे उसे 'सुप्तिर्निद्रासमुत्था' कहते हैं।[६] शिगभूपाल 'निद्रा का ही उद्रेक'[७] सुप्ति निरूपति करते हैं तथा विद्यानाथ भी इसे इनकी ही भांति 'निद्रासमुद्रेक'[८] कहकर परिभाषित करते हैं। कविराज विश्वनाथ ने निद्रा-सम्पन्न व्यक्ति के विषयानुभव को 'स्वप्न' कहा है।[९] पण्डितराज जगन्नाथ ने स्वप्न और सुप्तं को एक मानकर इसका निरूपण किया है और निद्रारूप विभाव से उत्पन्न हुए ज्ञान का नाम 'सुप्त' कहा है, इसे ही स्वप्न कहते हैं।[१०] भानुदत्त के अनुसार 'जब मन त्वगिन्द्रिय को छोड़ कर पुरीतत नाड़ी में प्रवेश करता है, तब 'सुप्त' कहा जाता है।[११]

चिन्तामणि भी इसे 'नींद और अर्थ' से सम्मिलित भावना मानते हैं।[१२] देव ने इसे 'निद्रा में दर्शन' कहा है[१३], तथा नींद के ही स्वभाव इसके भी माने हैं। कुलपति मिश्र

---

१. यथा—सर्वेन्द्रियसंमोहस्वप्रायितादिभिरनुभावैरभिनयेत्।
और—सर्वेन्द्रियसंमोहात्सुप्तं स्वप्नैश्च युंजीत ॥ना० शा० ७।९८।

२. सुप्तं निद्रोद्भवं। द० रू०, ४।२२।

३. सुप्तं निद्राया गाढ़ावस्था। काव्यानु०, २ अध्याय, पृष्ठ ८५।

४. सुप्तं निद्राप्रकर्षोऽत्र स्वप्नायितं-संमोहने। प्रकर्षो गाढ़तमावस्था। स्वप्नस्य तात्कालिक विषयज्ञानस्य आयितं प्रतीतिर्यतस्तत् 'स्वप्नायितं' प्रलपितम्। ना० द०, ३।२००।

५. स्वं ह्यपीत इति स्वप्न एवं प्राप्नोतीति वा भवेत्। भा० प्र० २, अधिकार।
मिलाइए छान्दोग्य उपनिषद्—६-८।१। ६. वही—एक अधिकार।

७. उद्रेक एव निद्रायाः सुप्ति स्यात्। र० सु०, २।९०।

८. सुप्तिनिद्रासमुद्रेकः। प्र० रु०, पृष्ठ २५६।

९. स्वप्नो निद्रामुपेतस्य विषयानुभवस्तु यः। सा० द०।

१०. स्वप्नं रूपं सुप्तं निरूपयति। निद्राविभावोत्थज्ञानं सुप्तम्। स्वप्न इति यावत्।
रगंध० (१ आनन)।

११. त्वचमपि विहाय मनः पुरीतति वर्तते तदा सुप्तं।

१२. स्वप्न नींद अरु अर्थ को जो कछु दरसन होय ॥
सुखदुःखादिक हेतु यह स्वप्न कहावे सोय। क० कु० क०, ७।५५।

१३. सुपन दरस अवयव चलन एक उनींद सुभाय। भा० वि०, पृष्ठ ४५९।

'सपनौ' नाम देकर इसे 'सोना' कहते हैं।[१] गुलामनवी ने भी इसे स्वप्न नाम दिया है और 'मन के त्वचा को त्याग कर यमपुरी में बसने' को स्वप्न कहा है।[२] 'यमपुरी में मन का वास' कहकर गुलाम नवी उसकी आत्मनिविष्ट अथवा अधोचेतनगत अवस्था की ओर संकेत करते प्रतीत होते हैं। लोक भाषा में इसे ही 'मन के जंजाल' कहते हैं। सोमनाथ ने कोई परिभाषा न देकर 'सपनो-सुपन' ही कहकर इतिश्री की है।[३] परन्तु श्रृं० वि० में इसे 'सोइबो' कहा है।[४] भिखारीदास 'निर्भर सोते हुए मनोवांछित को देखना' स्वप्न कहते हैं। इन्होंने 'सुप्त' तथा 'स्वप्न' दोनों शब्दों का प्रयोग किया है।[५] बेनी प्रवीन 'सोते हुए भी कुछ आनन्द की वात देखना' स्वप्न नाम कहते हैं।[६] पद्माकर भट्ट ने इसे 'स्वप्न देखना' कहा है।[७] प्रताप साहि श्रृ० वि० की भाँति ही इसे 'सोइबो' कहते हैं।[८] भानु कवि ने पद्माकर भट्ट का लक्षण उद्धृत किया है और अंग्रेजी में इसे 'ड्रीम' कहा है।[९] प्रतापनारायण सिंह जू ने इसे 'निद्रावस्था में किसी वस्तु का ज्ञान होना कहकर पण्डितराज जगन्नाथ का अनुगमन किया है।[१०] कन्हैयालाल पोद्दार ने इसे 'सुप्त' कहा है और 'स्वप्न है वही सुप्त संचारी है' कहकर पूर्णतया पण्डितराज जगन्नाथ का अनुगमन किया है।[११] अयोध्यासिंह उपाध्याय इसे 'निद्रा में निमग्न पुरुष के विषयानुभव करने का नाम 'स्वप्न' है' कहकर निरूपित करते हैं।[१२] राम दहिन मिश्र ने भी प्रायः यही परिभाषा दी है। परन्तु उन्होंने 'जाग्रदवस्था में भी स्वप्न-वर्तमान की सी चित्त की दशा का होना भी स्वप्न है' कहकर अंग्रेजी के 'डे ड्रीमिंग' को भी इसमें समाविष्ट कर लिया है तथा आधुनिक मनोविज्ञान के मतानुकूल व्यापकता दे दी है।[१३] आचार्य शुक्ल के अनुसार स्वतन्त्र विषय युक्त भावों (गर्व, लज्जा, असूया) को छोड़ कर संचारियों का विषय प्रधान भाव के आलम्बन से भिन्न नहीं हो सकता। रति, क्रोध, भय इत्यादि में केवल उसी को स्वप्न में देखना संचारी होगा जिससे रति या भय हो, अथवा जिस पर क्रोध हो।[१४] बाबू गुलाबराय के मत में स्वप्न भौतिक अवस्था है जबकि आचार्य शुक्ल

---

१. स्वप्नौ कहिये सोइबो। र० र०, ३।२९।

२. तुचहं त्यागि मन जमपुरी वसे सोस्वप्न बखान।
होत नींद ते परत है स्वासादिक ते जान।

३. सपनो सुपन अनूप। र० पी० नि०, ७।२५।

४. स्वप्न सोइवो जान। श्रृं० वि०, छंद ३२।

५. सुप्त सु भावनिर्भर ह्वै सोवै। सपन अनेक भांति जिय जोवे। र० सा०, छंद ४९८।

६. सोवत हू देखियत कछु आनन्द की बात।
स्वप्न कहावत है सोई, रस ग्रन्थ विख्यात॥ न० र० त०, छंद ३५५।

७. सुपन स्वप्न को देखिए। जगद्वि०, ४।३६।

८. सपनो जानहु सोइबो। का० वि०, ३।४३।

९. स्वपन स्वप्न को देखिबो। र० रत्ना०, संचारी भाव। १०. र० कु०, ३ कुसुम।

११. का० कल्प०, ४ स्तवक। १२. र० क०, पृष्ठ ४३।

१३. का० द०, पृष्ठ ७६। १४. र० मी०, पृष्ठ २२३-२४।

उसका परिगणन मानसिक अवस्था में करते हैं।[१] किन्तु बाबू गुलाब राय इसे निद्रा और जागरण के बीच की अवस्था कहते हैं।[२] डॉ० राकेश गुप्त इसे 'सुप्त' ही कहते हैं और अंग्रेजी पर्याय 'ड्रीमिंग' देते हैं। वे इसे न कोई विशेष भाव मानते हैं न अनुभूति। परन्तु स्वीकारते हैं कि जाग्रणावस्था के जैसे सभी सुख-दुखानुभूतियों का अनुभव इस अवस्था में भी व्यक्ति को हो सकता है। कविराज विश्वनाथ के मत को आपने भी अपने मत का आधार बनाया है।[३] इस प्रकार हिन्दी के आचार्यों में केवल भिखारीदास और डॉ० राकेश गुप्त ने ही 'सुप्त' नाम का प्रयोग किया है, शेष सब हिन्दी के आचार्य इसके लिए 'स्वप्न' नाम कहते हैं।

सुप्त के अनुभाव

संस्कृत आचार्यों के दिए सुप्त के अनुभाव निम्नलिखित हैं—

निश्वास-उच्छवास, मन्द-मन्द अक्षि निमीलन, निश्चेष्टता, स्वप्न देखना, प्रलाप, इन्द्रिय सम्मोहन, स्पर्श-अनभिज्ञता, चेष्टा-वैधुर्य, कोप, आवेग, भय, ग्लानि, सुख-दु:ख (मानसिक अनुभाव) आदि।[४] पण्डित राज जगन्नाथ इसके अनुभाव प्रलापादि ही मानते हैं जिसमें कोप-आवेग-भय-ग्लानि सुख-दु:ख आदि का दर्शन हो न कि नेत्र निमीलन आदि का। नेत्र-निमीलन आदि तो उनके मत से निद्रा के अनुभाव हैं।[५]

सुप्त, सुप्ति अथवा स्वप्न के उपरिलिखित अध्ययन का सार निम्नलिखित है—

विभाव—निद्रा है।

लक्षण—सुप्त या स्वप्न निद्रावस्था में या अर्ध-चेतनावस्था में इष्ट-प्राप्ति अथवा आत्म-रमण या मनोरचना का नाम है। छान्दोग्य उपनिषद् में सुप्त और स्वप्न में भेद किया गया है तथा दोनों को मन का विशिष्ट कर्म माना है।[६] असंग मुनि के अनुसार भी यह मन का विशिष्ट कर्म है।[७] 'सुप्त' को उपनिषद् काल में छहों इन्द्रियों का सम्मोहन माना जाता रहा था और इसे ही 'आत्म-रमण' कह कर ब्रह्म-समागम के समकक्ष स्वीकार किया जाता रहा था। उनके अनुसार 'पुरुष' हिता नाड़ियों में होता हुआ पुरीतत नाडी में 'सत्' के साथ मिल कर अपने को प्राप्त करता है। इसी से 'स्वपिति' कहते हैं।[७] इसके ही अन्तर्गत आधुनिक मनोविज्ञान के 'दिवास्वप्न', 'भयावह-

---

१. र० मी०, पृष्ठ २०६।
२. सि० अध्य०, पृष्ठ १३१।
३. सा० स्ट० र०, पृष्ठ १३६।
४. ना० शा०, ७।६८, द० रू०, ४।२२, काव्यानु०, २ अध्याय, ना० द०, ३।२०१, भा० प्र०, १ अधिकार, सा० द०, ३।१५२।
५. रगंध०, १ आनन।
६. द०, दि०, पृष्ठ ३६८-६६।
७. द० दि०, पृष्ठ ७२१।

स्वप्न' आदि भी ग्रहण किये जा सकते हैं। आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार भी निद्रा या गाढ़ निद्रा स्वप्न की प्रहरी है।

अनुभाव—स्वप्न के प्रभाव और प्रतिक्रियाएं यथा कोप, आवेग, भय, ग्लानि, प्रलाप, सुख-दुःख आदि हैं।

(२४) बोध, विबोध अथवा प्रबोध

'बोध', 'विबोध' तथा 'प्रबोध' तीनों में 'बुध्' धातु है, जिससे भाववाचक संज्ञा के रूप में, 'घञ्' प्रत्यय के योग से, 'बोध', 'विबोध' तथा 'प्रबोध' सिद्ध होते हैं। 'विबोध'[1] और 'प्रबोध' में क्रमशः 'वि' और 'प्र' उपसर्गों का योग होता है। वि+बुध् धातु के निम्नलिखित अर्थ कोशों में प्राप्त हैं[1]—

(१) जाग उठना, जागृत होना, (२) चैतन्य लाभ करना, होश में आना, (३) वास्तविकता समझना, प्रत्यक्षीकरण करना, जान लेना।

संस्कृत आचार्यों ने 'विबोध' और 'प्रबोध' तथा 'बोध' का पर्याय रूप में प्रयोग किया है। इनके संस्कृत कोशों में निम्नलिखित अर्थ दिए गए हैं—

विबोध[2]—(१) अनवधान, (२) जागरण, जागृति, (३) बुद्धि, प्रतिभा, (४) सम्यक् बोध, मन की शक्ति का उन्मीलन, होश में आना।

प्रबोध[3]—(१) जागना, नींद का हटाना, (आलंकारिक) यथार्थ ज्ञान, पूर्ण बोध, (२) (फूलों का) खिलना या फैलना, (३) जागृति. अनिद्रा, (४) सतर्कता, (५) समझदारी, ज्ञान, भ्रम का दूर होना, सत्यज्ञान, (६) ढाढ़स, धीरज, (७) पुनः सुगंध उत्पन्न करने की किसी सुगन्ध द्रव्य में क्रिया।

बोध[4]—(१) जानकारी ज्ञान, जानने का भाव, (२) विचार, (३) बुद्धि, समझ, (४) जागृति, चैतन्यता, (५) लिखना, फैलना, खुलना, (६) निर्देश, अनुमति, (७) उपाधि, संज्ञा।

भरत मुनि के द्वारा इसको 'तिबोध' भी कहा गया है।[5]

प्रतिबोध[6]—(१) जागना, (२) ज्ञान, अवगति, (३) शिक्षण, (४) युक्ति, तर्क।

---

१. वि-बुध्—1. To wake up, awake, 2. to become conscious, 3. to observe, perceive, to find out—Aptes Sans, Eng. Dictionary.

मो० वि० ने इसे इन्हीं अर्थों में प्रयुक्त होते हुए महाभारत और भागवत् में देखा है।
—मोनियर विलियम्स का संस्कृत अंग्रेजी कोश।

२. In-attention, absence of mind, 2. Awaking-Maitreyee Upnishad 3. Perception, intelligence-Bhagawat, 4. The unfolding of the faculties in carrying out an object-Natyasastra, Dashrupaka.

३. दे० संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ।

४. संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ।

५. ना० शा०, ७।६६।

६. वही।

भरतमुनि के अनुसार 'विबोध' नाम 'निद्राच्छेद, आहार-अपाचन, स्वप्नान्त, शब्द, स्पर्शादि विभावों से उत्पन्न होता है।[१] असंग के अनुसार यह मन का विशिष्ट कर्म है (दर्श० दि०, पृष्ठ ७२१)। धनंजय ने इसे 'परिणामादि' से उत्पन्न होता हुआ कहा है।[२] अग्निपुराणकार की परिभाषा के अनुसार 'प्रबोध' चेतनोदय है।[३] काव्यप्रकाश में भी इसे 'प्रबोध' ही कहा गया है।[४] हेमचन्द्राचार्य ने इसे 'प्रबोध नाम देकर 'विनिद्रित्वम्' कहकर स्पष्ट किया है।[५] रामचन्द्रगुणचन्द्र 'विबोध' को 'निद्रोच्छेदः' कहते हैं।[६] शारदातनय ने 'विबोध' तथा 'प्रवोध' दोनों नामों का प्रयोग किया है और 'प्रबोध' का निर्वहण इस प्रकार किया है 'मन जिससे सब अर्थों को भली प्रकार बोधगम्य करता है, वह प्रबोध है।'[७] शिंगभूपाल 'बोध' वा 'प्रबोध' को 'स्वप्न, स्पर्श, निश्वास, निद्रा-संपूर्णतादि से चेतना की अवाप्ति कह कर निरूपित करते हैं।[८] विद्यानाथ 'विबोध' कहकर उसकी परिभाषा में अग्निपुराण तथा शिंगभूपाल का अनुसरण करते हैं।[९] कविराज विश्वनाथ भी 'विबोध' के हेतु निद्रापगम आदि मानते हैं और इसे 'चेतनागम' कहते हैं।[१०] भानुदत्त 'विबोध' को 'इन्द्रियों का प्रथम 'प्रकाश' कहते हैं।[११] पण्डितराज जगन्नाथ 'विबोध' को निद्रानाशोत्तर उत्पन्न होने वाले बोध की संज्ञा देते हैं।[१२] इन्होंने भी निद्रा का नाश, स्वप्न, बलवच्छब्द, स्पर्शादि को इसका विभाव माना है। पण्डितराज जगन्नाथ ने कुछ विद्वानों के मत से 'विबोध' को अविद्या के नाश से उत्पन्न होने वाला भी निरूपित किया है। उनके अनुसार गीता का 'नष्टोमोहो' श्लोक विबोध

---

१. विबोध नाम निद्राच्छेदादाहारापरिणामस्वप्नान्तशब्दस्पर्शादिभिर्विभावैः उत्पद्यते। आहारविपरिणामाच्छब्दस्पर्शादिभिश्च संभूतः प्रतिबोधः। ना० शा०, ७।६६।

२. विबोधः परिणामादेस्तत्र जृम्भाक्षिमर्दनैः। द० रू०, ४।२०।

३. प्रबोधश्चेतनोदयः। अ० पु० का०, ३।३२।

४. का० प्र०, ४।३२।

५. प्रबोधो विनिद्रित्वम्। शब्दादेः प्रबोधो जृम्भादिकृत्। काव्यानु०, पृष्ठ ८५।

६. निद्राच्छेदो विबोधश्च शब्दादेरंगभंगवान्। ना० द०, ३।२१५।

७. सः प्रबोधो मनो येन सर्वानर्थान्प्रबुध्यते। भा० प्र०, २ अधिकार।

८. स्वप्न स्पर्श निःश्वासनिद्रासंपूर्णतादिभिः प्रबोधश्चेतनावाप्तिः। र० सु०, २।९२।

९. विबोधश्चेतनावाप्तिर्जृम्भाक्षिपरिमार्गकृत्। प्र० रु०, पृष्ठ २५६।

१०. निद्रापगमहेतुभ्यो विबोधश्चेतनागमः। सा० द०, ३।१५१।

११. इन्द्रियाणां प्रथमप्रकाशा विबोधः। र० त०, पृष्ठ ९६।

१२. विवोध निद्रानाशोत्तरं जायमानो बोधो विबोधः। निद्रानाशश्च तत्पूर्ति-स्वप्नान्त-बलवच्छब्दस्पर्शादिभिर्जायत इति तएवात्र विभावाः। रगंघ०, प्रथमाननम्।

भाव-ध्वनि के रूप में उदाहृत है।[१]

देव ने अवबोध[२] नाम दिया है। गुलाम नवी ने इसे 'वैपथ' लिखा है जो सम्भवतः 'वैबोध्य' के लिए लिपिकार का स्खलन है। भिखारीदास ने यह व्यभिचारी भाव अपनी व्यभिचारियों की सूची में नहीं गिनाया[३] और 'कठोरता' नये व्यभिचारी को बढ़ाकर सूची की संख्या पूर्ण तेंतीस की है। शेष हिन्दी आचार्यों ने इसे विबोध वा बोध नाम दिया है। चिन्तामणि इसे 'निद्रा' का अवसान कहते हैं।[४] देव इसे निद्रोपरान्त समस्त इन्द्रियों का जागरण कहते हैं।[५] कुलपति मिश्र[६], सोमनाथ,[७] पद्माकर भट्ट,[८] प्रताप साहि[९], भानु कवि[१०] इसे सीधे से 'जागिबो' कहते हैं। गुलाम नवी 'जागरणोपरान्त विज्ञान' को वैपथ (वैबोध्य) कहते हैं।[११] बेनी प्रवीन ने अपने लक्षण में सूक्ष्मता को स्थान देने का प्रयत्न यह कह कर किया है—जहाँ समस्त इन्द्रियाँ प्रथम ही परिचय करती हैं और निद्रा अपना पाश छोड़ देती है, उस अवस्था को विबोध कहते हैं।[१२] भानुकवि ने इसको अंग्रेजी नाम 'वेकिंग' दिया है। प्रताप-

---

१. रगंध०, प्रथमानम्।

२. अवबोध—(१) जागना जाग उठना, (२) ज्ञान, (३) सूक्ष्म विवेचन, विवेक, मतामत, (४) उपदेश।—देखिए संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ।

३. रस० सा०, छन्द ४८४—

नींद ग्लानि श्रम धृति मद कठोरता हर्ष कहि
संका चिन्ता मोह सुमति आलस्य तर्क लहि
अमरष दीनति सुमृति विषाद हरषा चपलतनि
उत्कण्ठा उन्माद अबहिथा अपस्मार गनि
पुनि गर्व सुजड़ता उग्रता सुप्तावेग त्रपा बरनि
स्यों त्रास व्याधि निर्वेद मृत, तेंतीसों चर भाव गनि।

४. निद्रा को अवसान जो सो विबोध मन आनि।
दृग मरदन, अंगराह अरु जंमादिक इति जानि॥ क० कु० क०, ७।६०।

५. नींद गए भीजै नयन अंग भंग जमुहाय। एक बार इन्द्रिय जगै ते कउ नींद सुभाय।
भा० वि०, पृष्ठ ४७।

६. बोध जागिबो होय। र० र०, ३।२९।

७. बोध जागरन समुझिये। र० पी० नि०, ७।२५। बोध जागिवो। शृं वि०, छंद ३०।

८. जागिवो बहै विबोध—जगद्वि, ४।४६। ९. बोध जागिवो होय। का० वि०, ३।४३।

१०. विबोध है जागिवो। र० रत्ना०, संचारी भाव।

११. वैपथ जागि विजानिये नींद छूटे ते होय। दृग मूंदन अंगरान अरु जम्मादिक ते जोय।
—र० प्र०, छंद ८६७।

१२. सब इन्द्रि जहं प्रथम ही करती है परचा। ताही कहते विबोध तजत नीद जब पास।
—न० र० त०, छंद ३८७।

नाराथण सिंह जू इसे 'निद्रा' की प्रतिकूलता कहते हैं।[1] कन्हैयालाल पोद्दार स्व-लक्षण में पण्डितराज जगन्नाथ द्वारा निरूपित अन्य-मत का भी समावेश करते हैं और निद्रा वा अविद्या के नाशोपरान्त 'चैतन्य लाभ' निर्धारित करते हैं।[2] अयोध्यासिंह उपाध्याय 'अविद्या-नाश' को स्वलक्षण में स्थान न देकर निद्रा को दूर करने वाले कारणों से इसे उत्पन्न मानते हैं।[3] रामदहिन मिश्र निद्रा-परिहारी कारणों वा अज्ञान-नाश से 'सचेत' होने का नाम 'विबोध' देते हैं।[4] आचार्य शुक्ल इसे चेतना की प्रवृत्ति से सम्बन्धित मानकर अधिकतर शरीर-धर्म के रूप में ही देखते हैं और शारीरिक अवस्थाओं में स्थान देते हैं। वे वियोगादि से नींद का न आना ही 'विबोध' संचारी मानने को प्रस्तुत हैं, यों ही सोते हुए मनुष्य का जाग पड़ना 'विबोध' संचारी मानने को नहीं।[5] बाबू गुलाब राय के मत से 'स्वप्नावस्था' से जागृत या चेतन हो जाने की जो मानसिक अवस्था होती है, उसे विबोध नाम देते हैं। वे इसे भावात्मक अवस्था मानते हैं जिसमें अपनी स्थिति का ज्ञान रहता है।[6] डॉ० राकेश गुप्त 'निद्रोपरान्त चैतन्यलाम' को 'विबोध' नाम देते हैं और धनंजय के मत को अपने विवेचन का आधार बनाते हैं। परन्तु उन्होंने परिणाम का अर्थ 'निद्रा-परिणाम' ही ले लिया है। वे वताये हुए अनुभावों को इसके सहज-प्रवर्त्तन के रूप में देखते हैं, जो कुछ काल तक निष्क्रिय रहे अंगों में क्रियाशीलता लाने को होता हे, न कि 'विबोध' की बाह्य-अभिव्यक्ति के रूप में।[7]

विबोध के अनुभाव

जंभाना, मुख-अक्षि-मर्दन, अंगड़ाई लेना, हाथ-पैर-गर्दन चलाना, उंगली चटकाना आदि।[8] विशेष रूप से ध्यान देने की बात यह है कि इसमें कोई सात्त्विक अनुभाव नहीं दिखता।

विबोध के उपरिलिखित अध्ययन का सार निम्नलिखित है—

विभाव—निद्रोच्छेद, शब्द-स्पर्श आदि से स्वप्नान्त, स्वप्न-संपूर्त्ति, अविद्या नाश, परिणामादि हैं।

लक्षण— 'विबोध' अविद्यानाश या समस्त इन्द्रियों का प्रकाश वा जागरण है। स्व-स्थिति का ज्ञान, सचेत होना, सहज विवेचन, विवेक, मतामत का ज्ञान, सब ही इसके अन्तर्गत हैं, चिन्ता में चिन्तन की प्रक्रिया क्रमात् होती है

---

१. र० कु० ३, कुसुम।
२. का० कल्प०, चतुर्थ स्तवक।
३. र० क०, पृष्ठ ४४।
४. का० द०, पृष्ठ ७६।
५. र० मी, पृष्ठ १३१।
६. सि० अध्य०, पृष्ठ १३१।
७. सा० स्ट० र०, पृष्ठ १३९।
८. ना० शा०, ७।६६, द० रू०, ४।२०, काव्यानु०, पृष्ठ ६२, ना० द०, ३।२१५। भा० प्र०, १ अधिकार, सा० द०, ३।१५१, र० त०, पृष्ठ ६६, रसांघ०, १ आनन।

और इसमें समग्र-सत्य-ज्ञान एक साथ होता है। इसी से इसे अर्थ-बोध-गम्यक वृत्ति भी कहा गता है। अतः निद्रा के उपरान्त, निद्रोच्छेद होने पर छहों इन्द्रियों के विषयों के सम्पर्क में आने को 'विबोध' की संज्ञा प्रायः आचार्यों ने दी है। यह मन का विशिष्ट कर्म है।

अनुभाव—अंगों की क्रियाशीलता अथवा जागरणोपरान्त जंभाना, अंगड़ाना आदि हैं।

(२५) अमर्ष

'अमर्ष' के मूल में 'मृष्' धातु है। 'अ' उपसर्ग युक्त 'मृष्' धातु का अर्थ होता है—'असहना', 'असहन करना'।

संस्कृत कोश में 'अमर्षः' की व्युत्पत्ति इस प्रकार दी है—अ+मृष्+घञ्, ल्युट वा अमर्षः। (आप्टे का संस्कृत अंग्रेजी कोश)।

'अमर्ष' के अर्थ निम्नलिखित दिए गए हैं[१]—

(१) असहनशीलता, असहिष्णुता, अधैर्य, ईर्ष्याजन्य क्रोध, (२) कोप, रोष, आवेग, रोषावेश, (३) तेजमिजाजी, प्रचण्डता, उग्रता, (४) दृढ़-व्रत।

भरतमुनि के मत से 'विद्धा-ऐश्वर्य-धन-बलाधिकों के द्वारा आक्षिप्त होने अथवा अपमानित होने पर 'अमर्ष' उत्पन्न होता है।[२] भरतमुनि-पूर्व-आचार्यों ने इसमें 'उत्साह-सम्पन्नता का होना कहा है।[३] धनंजय भी इसे 'अधिक्षेप और अपमानादि से उत्पन्न' दृढ़ संकल्प से स्वस्वार्थ में किसीं बात की चिन्ता किए बिना लिप्त हो जाना (अभिनिविष्टता) कहते हैं।[४] अग्निपुराण में क्रोध का अप्रशमन (अनवसाय) 'अतर्ष' कहा गया है।[५] हेमचन्द्राचार्य 'अमर्ष' को 'प्रतिचिकीर्षा' रूप निरूपित करते हैं।[६] रामचन्द्रगुणचन्द्र ने इसे 'प्रतिकारेच्छा' कहा है जो 'क्षेपादि' से उत्पन्न होती है।[७] शारदातनय भी 'प्रतिक्रियेच्छा' कहकर इसी मत

---

१. 1. Non-endurance, non-tolerance, impatience,—Ramayana, jealous, anger—Uttaramcharitum; 2. Anger, wrath, passion—Bhagwat; 3. Impetuousity, violence, 4. Determination of purpose.
—Apte's San. Eng. Dictionary.

२. अमर्षो नाम विद्यैश्वर्यधनवलाधिकैरिधिक्षिप्तस्यापमानितस्य वा समुत्पद्यते।

३. आक्षिप्तानां सभामध्ये विद्यैश्वर्यबलाधिकैः।
नृणामुत्साहसंपन्नो ह्यमर्षो नाम जायते॥
उत्साहाध्यवसायामधोमुखविचिन्तितैः। ना० शा०, ७।२१।

४. अधिक्षेपापमानादेरमर्षोऽभिनिविष्टता।
तत्र स्वेदशिरः कम्पतर्जनत्ताडनादय॥ द० रू०, ४।१८।

५. क्रोधस्याप्रशमोऽमर्षः। अ० पु० का०, ३।३२।

६. विद्यैश्वर्यबलाधिककृतेभ्यः आक्षेपावमानादिभ्यः प्रतिचिकीर्षारूपोऽमर्षः।
—काव्यानु०, पृष्ठ ९५।

७. क्षेपादेः प्रतिकारेच्छाऽमर्षोऽस्मिन् कम्पादयः। ना० द०, ३।१९७।

का पोषण करते हैं।[1] शिंगभूपाल के मत में 'अधिक्षेप' अपमान आदि से उत्पन्न होने वाला क्रोध ही 'अमर्ष' कहा जाता है।[2] विद्यानाथ के मत से 'चेतना का प्रज्वलन 'अमर्ष' है जो अपराधियों के प्रति होता है।[3] कविराज विश्वनाथ 'अमर्ष' को धनंजय के अनुसार 'अभिनिविष्टता' ही कहते हैं।[4] भानुदत्त ने इसे पराये अहंकार के नाश की उत्कट समीहा कहा है।[5] पण्डितराज जगन्नाथ इसे 'दूसरों के द्वारा किए हुए अपमान अथवा अपराध से उत्पन्न मौन-कठोर-भाषण आदि कारणीभूत चित्तवृत्ति विशेष' कहते हैं। क्रोध में शीघ्र पर-विनाश की प्रवृत्ति होती है जबकि अमर्ष में वचन-प्रतिकूलतादि। अर्थात् कोमल भाव 'अमर्ष' है और उत्कट भाव 'क्रोध'।[6] चिन्तामणि[7] 'अमर्ष' को 'चित्त की प्रज्जवलितता' कहते हैं। बेनी प्रवीन भी[8] यही मत व्यक्त करके उनका अनुगमन करते हैं। देव[9] ने इसे अमर्ष नाम न देकर 'क्रोध' ही कहा है और स्थायी भाव से भिन्नता बताने के लिए अपमानादि से जनित 'अहंकार की वृद्धि' कहा है। प्रताप साहि इनका अनुगमन करते हैं।[10] कुलपति मिश्र ने इसे 'क्रोध अधिक थिर होय'[11] तथा सोमनाथ[12] ने र० पी० नि० में यही लक्षण अन्य शब्दों में 'क्रोध थिर जहं सु अमर्ष' कहकर उनका अनुगमन किया है। परन्तु उन्होंने शृं० वि० में[13]

---

१. प्रतिक्रियेच्छाऽमर्षः स्याद्विद्यैश्वर्य बलाधिकैः।
आक्षिप्तस्य समामध्येऽवमानं गमितस्य वा। भा० प्र०, १ अधिकार।

२. अधिक्षेपावमानाद्यैः क्रोधोऽमर्ष इतीर्यते। र० सु०, २।८३।

३. अमर्षः सापराधेषु चेतः प्रज्वलनं मतम्। प्र० रु०, पृ० २५६।

४. निंदाक्षेपापमानादेरमर्षोऽभिनिविष्टता। सा० द०, ३।१५६।

५. पराहंकारप्रशमोत्कटसमीहाऽमर्षः। र० त०, पृ० ६७।

६. पराकृतावज्ञादि नानापराधजन्यो मौनवाक्पारुष्यादि कारिणीभूतश्चित्तवृत्तिविशेषोऽमर्षः। रगंध० १ आननम्।

७. अमरख अपमानादि ते चित्त प्रज्वलित जानि।
नैन राग शिर कम्प अरु तर्जनादि कर मानि॥ क० कु० क०, ७।४४।

८. पर अपमान ते जहां चित्त ज्वलन अति होय।
परुष वचन दृग अरुण के बोले अमरख सोइ॥ न० र० त०, छंद ३६३।

९. अधिक्षेप अभिमान ते स्वेद कम्प दृग राग।
अहंकार जिय में बड़े क्रोध मुनहु बड़ भाग॥ भा० वि०, पृ० ४८।

१०. अधिक अहंकृत होय जहं अमरख कहिये सोय। का० वि०, पृ० ३।४३।

११. अमर्ष सो कहिये जहां क्रोध अधिक थिर होय। र० र० ३।२७।

१२. क्रोध थिर जहं सु अमर्ष सुभाय। र० पी० नि०, ७।२२।

१३. रोस रहत थिर ह्वै जहां सो अमर्ष चित्त होइ। शृं० वि०, छंद २६।

'क्रोध' के स्थान पर 'रोस' रखकर लक्षण 'रोस रहत थिर ह्वै जहां' दिया है और स्पष्टता बरती है कि 'रोष' और 'क्रोध' के बीच की स्थिति 'अमर्ष' है। गुलाम नवी भी इसे 'किंचित् कोप का आना'[1] कहकर स्पष्ट कर देते हैं। भिखारीदास ने इसे 'मन की कुढ़न' के समकक्ष रखा है और तदर्थ प्रकट करने को 'दुख लागे मन माहीं' वाक्यांश का प्रयोग करते हैं।[2] पद्माकर भट्ट का लक्षण स्पष्ट नहीं है।[3] परन्तु भानुकवि ने उनका प्रायः अनुकरण किया है, अतः उनका लक्षण देखकर कहा जा सकता है कि वे भी 'अन्य का अभिमान असहन होना' ही 'अमर्ष' का लक्षण मानते हैं। (सम्भवतः वहां पुस्तक में लिपिकार के प्रमाद से अनुलिपि-स्खलन हुआ है) भानुकवि ने इसे अंग्रेजी 'इंडिगनेशन' दिया है।[4] प्रताप नारायण सिंह जू ने 'अमर्ष' में 'परअहंकार' असहनशीलता तथा उसके ध्वंस की इच्छा' लक्षित की है।[5] अयोध्यासिंह उपाध्याय ने इनका यही लक्षण ग्रहण करके 'अमर्ष' को अपमान-जन्य चित्त विक्षेप (कुढ़न) का नाम दिया है।[6] कन्हैयालाल पोद्दार ने धनंजय के मत का ही अनुगमन किया है।[7] रामदहिन मिश्र 'अमर्ष' को 'चित्त की चिढ़ या असहिष्णुता' ही कहते हैं। और, पूर्ण अंशों में भिखारीदास तथा कुछ अंशों में अयोध्यासिंह उपाध्याय के निकट हैं।[8] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'क्षणिक क्षोभ मात्र' का नाम 'अमर्ष' कहा है।[9] उनके मत से यह क्रोध का आलम्बन—निरपेक्ष भाव है। 'त्रास' की ही भांति, जैसे उसमें एक बारगी कांप या चौंक जाते हैं और फिर शत्रु से 'भय' अनुभव करते हैं, इसमें कटु वचन आदि से हम क्षुब्ध हो जाते हैं और तत्पश्चात् कटुवचन कहने वाले की ओर प्रवृत्त होते हैं। बाबू गुलाबराय के[10] मत से 'निन्दा, आक्षेप, अपमानादि से उत्पन्न 'क्रोध' में आवेग और क्रियाशीलता की धमकी अधिक रहती है। 'अमर्ष' में मानसिक कुढ़न और गर्व की भावना अधिक रहती हैं।' डॉ० राकेश गुप्त भी इसे अंग्रेजी में 'इंडिगनेशन' नाम देते हैं[11] और कन्हैयालाल पोद्दार के मत का आधार लेकर इसे क्रोध का हलका रूप स्वीकार करते हैं।

---

१. अपमानदिक ते कछु कोप आप सु अमर्ष।
कहत वचन कठोर तहं बढ़ै ताप धर हर्ष॥ र० प्र०, छंद ८२२।

२. अमरख दुःख लागे मन मांही। निज अपमान भये बहुधा ही। र० सा०, छंद ४९१।

३. जहां जु अमरख होत है लखि दूजै को अभिमान।
अमरख ताको कहत हैं जे कवि सदा सुजान॥ जगद्वि०, ४।५३।

४. अमरख असहन होत जब दूजै को अभिमान। र० रत्ना०, संचारी भाव।

५. र० कु०, तृतीय कुसुम।

६. 'दूसरे के अहंकार को न सहकर उसके नष्ट करने की कामना अथवा आक्षेप और अपमान जन्य चित्त-विक्षेप का नाम 'अमर्ष' है। र० क०।

७. का० कल्प० चतुर्थ स्यवक।

८. का०, पृष्ठ ७७।

९. र० मी०, पृ० २०९।

१०. सि० अध्य०, पृ० १३२।

११. सा० स्ट० र०, पृ० १३८।

अमर्ष के अनुभाव

संस्कृत आचार्यों के अनुसार 'अमर्ष' के अनुभाव निम्नलिखित हैं—

शिर प्रकम्पन, प्रस्वेद, अधोमुखता, विचिन्तन, उत्साह और अध्यवसाय, उपायान्वेषण तर्जन, ताडन, भ्रूभंग, नेत्रराय, मौन, कठोर-भाषण आदि ।[१]

हिन्दी के आचार्यों ने भी न्यूनाधिक यही अनुभाव वर्णित किए हैं ।

'अमर्ष' के उपरिलिखित अध्ययन का सार निम्नलिखित है—

विभाव—आक्षेप, अपमानादि हैं ।

लक्षण—रोष और क्रोध के बीच की मनस्थिति अमर्ष है जिसमें आत्म-अहंकार पर चोट होने से मन की कुढ़न, परांहकृति के प्रति असहिष्णुता और उसकी ध्वंसेच्छा के निमित्त चेतना का प्रज्वलन रहता है । इसे क्षणिक क्षोभ और किंचित् कोप भी कहा जा सकता है । उत्कट भाव होने पर यही क्रोध की स्थिति पर पहुंच जाता है । कोमल रहने पर अमर्ष की संज्ञा से अभिहित होता है । असंग के वर्गीकरण के अनुसार 'क्रोध' तथा 'हिंसा', 'उपेक्षा' तथा 'पराक्रम' सब चैतसिक धर्म और मन के सहाय हैं । (द० दि०, पृष्ठ ७२०) इन सबसे सम्बन्धित रहने के कारण अमर्ष भी चैतसिक धर्म और मन का सहाय ठहरता है ।

अनुभाव—उत्साह सम्पन्नता, प्रस्वेद, विचिन्तन, नेत्र राग, कठोर-भाषष, तर्जन, ताडन, भ्रूभंग, अधोमुखता, शिर-कम्पन, उपायान्वेषण आदि हैं ।

(२६) अवहित्था

'अवहित्थ' या 'अवहित्था' मोनियर विलियम्स और आप्टे के मतानुसार क्रमशः सम्भवतः 'अवहिः स्थितम्' वा अ-वहिःस्था' का अपभ्रष्ट है । उनके मत की पुष्टि इससे और होती है कि ना० द० में रामचन्द्र गुणचन्द्र ने अपनी व्याख्या में 'न वहिः स्था चित्तवृत्तिः इति पृषोदरादित्वाद् अवहित्था' कहा है । (ना० द०, ३।२१२) अतः व्युत्पत्ति के अनुसार अर्थ हुआ 'जिस भाव की बाहर स्थिति न हो, अर्थात् जो बाह्य अनुभावों से लक्षित न हो ।'

कोश में 'अवहित्था' के निम्नलिखित अर्थ दिये हैं[२]—

---

१. ना० शा० ७।७१, द० रु० ४।१८, काव्यानु० पृ० ८५, ना० द० ३।१९७, भा० प्र० १ अधिकार, सा० द० ३।१५६, र० तरं० पृ० ९७, रगंध० प्रथम आननम् ।

२. 1. Dissimulation in general, 2. Dissimulation or concealment of an internal feeling.

(१) साधारण बनावट या कपट-बहाना, (२) आन्तरिक भावना का दुराव अथवा कपट।

भरतमुनि ने 'अवहित्थं' नाम आकार प्रच्छादनात्मक कहा है, और उनके मत से वह लज्जा, भय, गौरव, कुटिलता आदि विभावों से उत्पन्न होता है।[१] धनंजय के मत से लज्जा आदि से उत्पन्न विकारों की गुप्ति में 'अवहित्था' अंग विक्रिया है।[२] अग्निपुराण में इसे 'इंगितआकारगोचर-गुप्ति' कहा है।[३] हेमचन्द्राचार भी इसे 'आकार-गुप्ति' ही कहते हैं।[४] रामचन्द्रगुणचन्द्र इसे 'विकार-रोधन' कहते हैं, जो धृष्टता, भय, लज्जा, गौरव, कुटिलाशयता आदि से सम्भव है। वे इसमें अन्य क्रिया का करना भी निरूपित करते हैं।[५] शारदातनय ने भी इसे आन्तर व्यथा को गर्वभावना के कारण बाहर न उत्पन्न होने देने से 'अवहित्था' कहा है और 'इंगित-आकार-गूहन की विक्रिया कहकर निर्वाह कहा है।[६] शिंगभूपाल[७], विद्यानाथ[८], कविराज विश्वनाथ[९], भानुदत्त[१०] और पण्डितराज जगन्नाथ ने भी इसे 'आकार-गुप्ति' ही कहा है। शिंगभूपाल ने इसके कारणों में 'विशेष नीति और अपजय' को भी स्थान देकर इसको व्यापकता दे दी है। पण्डितराज जगन्नाथ के मत से 'हर्ष आदि भावों के अश्रुपातादि अनुभाव (कार्य) होते हैं, उनको छिपाने के लिए लज्जा आदि कारणों से उत्पन्न होने वाली चित्त-वृत्ति को 'अवहित्थ' कहते हैं।' उन्होंने इस विषय में प्राचीनों का मत भी व्यक्त किया

---

१. अवहित्थं नाम आकारप्रच्छादनात्मकम्। तच्च लज्जा भय गौरव जैह्म्यादिर्विभावैरुत्पद्यते।
धाष्ट्र्य जैह्म्यादिसंभूतभवहित्थंभयानकम्।
तच्चागणनया कार्यं तानि चोत्तरभाषणाम्। ना० शा०, ७।३२।

२. द० रू०, ४।२६।

३. अवहित्थं भवेद्गुप्तिरिंगिताकारगोचरा। अ० पु० का०, ३।३२।

४. अवहित्थमाकारगुप्ति—कायाव्नु०, २ अध्याय, पृष्ठ ८५।

५. धाष्ट्र्यादेर्विक्रियारोधोऽवहित्थातत्रक्रियान्तरम्। ना० द०, ३।२१२।

६. अवहित्थम् भयव्रीडाधाष्ट्र्यकौटिल्यसंभवम्। शून्यस्मितं कथाभंगो मिथ्याधैर्यः तदीक्षणम्।
अन्तर्व्यथावहिर्गर्वभावनेत्यवहित्थजाः।—भा० प्र०, १ अधिकार।
निर्वह-विक्रिया त्ववहित्थं स्यादिंगिताकारगूहनम्। भा० प्र०, २ अधिकार।

७. अवहित्था आगारगुत्तिजैह्म्या प्रभावनीतिभिः।
लज्जासाध्वसदाक्षिण्य प्रागल्भ्यापजयादिभिः॥ र०, सु० २।६६।

८. हर्षाद्यिकारसंगुप्तिरवहित्थेति कथ्यते। प्र० रु० पृष्ठ, २५७।

९. भयगौरव लज्जादेर्षाद्याकारगुप्तिरवहित्था।
व्यापारान्तरासक्त्यन्यथावभाषणविलोकनादिकरी। सा० द०, ३।१५८।

१०. आकारव्यवहारसंगोपनं अवहित्थम्। र० त०, पृष्ठ ६७।

किया है ।[१] रूपगोस्वामी ने इसके विभाव '(१) कुटिलता, (२) कुटिलता-लज्जा, (३) दाक्षिण्य, (४) ह्री (हया-नम्रता), (५) ह्री-भय, (६) भय, (७) गौरव-दाक्षिण्य' कहे हैं ।[२]

हिन्दी के आचार्यों ने भी 'दुराव और छिपाव' को सामान्यतः इस भाव में स्वीकार किया है । परन्तु चिन्तामणि[३] 'आकार-संगोपन', देव[४] 'आकृति-कर्म-वचन' तीनों का गोपन, कुलपति मिश्र[५] और सोभनाथ[६] 'लज्जा से हर्ष-शोक की अलक्ष्यता' गुलामनवी[७] 'हृदय कुटिलता से व्यवहार गोपन' भिखारीदास[८] तथा बेनीप्रवीन[९] 'आकृति को छिपाना', पद्माकर भट्ट[१०] 'चातुर्यपूर्वक दशा-दुराव', प्रताप सिंह साहि[११] 'आकार दुराव' अपने-अपने लक्षण में कहते हैं । भानुकवि ने पद्माकर भट्ट का ही लक्षण उद्धृत किया है ।[१२] परन्तु 'अवहित्था' का अंग्रेजी पर्याय 'डिस्सिमुलेशन' भी दिया है । प्रतापनारायण सिंह जू[१३] ने इसे 'चातुर्यपूर्वक किसी बात को छिपाना' कहकर लक्षण को व्यापक बनाया है । कन्हैयालाल पोद्दार धनंजय का अनुवाद करते हैं ।[१४] रामदहिन मिश्र[१५] हर्षादि कहकर 'हर्ष' की मुख्यता बताकर सा० द०

---

१. व्रीडादिभिर्निमित्तैर्हर्षानुभावानां गोपनाय जनितो भाव विशेषोऽवहित्थम् । तदुक्तम्-
अनुभावपिधानार्थेऽवहित्थं भाव उच्यते ।
तद्विभाव्यं भय-व्रीडा-धाष्ट्र्य-कौटिल्य-गौरवैः रगंध०, आनन ।

२. उ० नी०, पृ० ३६६-६८ ।

३. संगोपन आकार को सो अवहित्थ बखानि ।
प्रस्तुत तजि कछु और को कवि को कथन सबानि । क० कु० क०, ७।७८ ।

४. लज्जा गौरव धृष्टता गोपे आकृति कर्म । औरे कहैं औरै करै सु अवहित्थ को धर्म ।
भा० वि०, पृष्ठ ४६ ।

५. अवहित्था जहं लाज ते हर्ष शोक न लखाय । र० र०, ३।३१ ।

६. हर्ष शोक नहि जानियत लज्जा के सरसान ।
अवहित्था सो जानिये कहत बुद्धि अवदात । र० पी० नि०, ७।२६ ।

७. सम गोपन व्यवहार को सो अवहित्था भाव ।
है विभाव हिय कुटिलई बहिलावन अनुभाव । र० प्र०, छंद ८५५ ।

८. अवहित्था आकृतिहि छिपैबो । और और यहि भांति लखैबो । र० सा०, छंद ४६५ ।

९. कछु मिस कर जहं आपनो गोपन करै अकार ।
अवहित्था को कहत हैं कविजन यह निरधार ।। न० र० त०, छंद ३६१ ।

१०. जो जहं करि कछु चातुरी, दशा दुरावै आय ।
ताही सों अवहित्थु यह, भाव कहत कविराय ।। जगद्वि०, ४।६२ ।

११. अवहित्था ताको कहत जहाँ आकार दुराव । का० वि०, ३।४४ ।

१२. र० रत्ना०, संचारी भाव ।

१३. र० कु०, ३ कुसुम ।

१४. का० कल्प०, चतुर्थ स्तवक ।

१५. का० द०, पृष्ठ ७७ ।

का मत अनूदित करते हैं। बाबू गुलाब राय[1] ने तो 'हर्ष' का गोपन कहकर उसका शाकुन्तलम् से उदाहरण भी प्रस्तुत किया है। इन पर भी कविराज विश्वनाथ का प्रत्यक्ष प्रभाव है। अयोध्यासिंह उपाध्याय[2] ने 'अपनी अवस्था और बात को छिपाना' कहकर स्पष्ट रूप से इसे व्यापकता दी है और अन्यों की अपेक्षा इनका लक्षण समीचीन है। डॉ० राकेश गुप्त[3] ने इसे अंग्रेजी में, भानुकवि की भांति, 'डिस्सिमुलेशन' कहा है, परन्तु वे इसे भाव नहीं मानते जबकि आचार्य शुक्ल से इसकी गणना 'मन के वेगों' में की है।[4] वैसे डॉ० राकेश गुप्त ने अपने विवेचन के लिए पण्डित राज जगन्नाथ के लक्षण को आधार बनाया है।

'अवहित्या' के निम्नलिखित अनुभाव आचार्यों ने कहे हैं—

प्रस्तुत से अन्यथाकथन, प्रस्तुत बात को पलटना, धैर्य का अभिनय, अन्य ओर देखना, शून्य-स्मिति, अन्तर्व्यथा-गोपन इत्यादि।[5]

दृष्टव्य है कि इसमें कोई सात्त्विक अनुभाव नहीं है।

'अवहित्था' के उपरिलिखित अध्ययन का सार निम्नलिखित है—

विभाव—भय, लज्जा, गौरव, कुटिलता, धृष्टता, नीति, दाक्षिण्य, अप-जय आदि हैं।

लक्षण—कपट-दुराव, चातुर्य तथा इंगिताकार-कर्मगूहन का नाम 'अवहित्था' है। असंग ने 'शठता' को मन के सहायों और चैतसिक धर्मों में स्थान दिया है। (देखिए द० दि०, पृष्ठ ७२०)। उनके अनुसार उसके समानान्तर चलने वाले इस भाव को भी मन का सहाय और चैतसिक धर्म कहा जा सकता है। इस प्रकार से समस्त शठता और कौटिल्य 'अवहित्थ' के अन्तर्गत आ जाता है। यह जनुभावों के गोपन का क्रिया-रूप भाव भी है।

अनुभाव—अन्यथा-वचन एवं विक्रिया, धैर्याभिनय एवं शून्य स्मिति आदि हैं।

(२७) उग्रता या औग्र्यम्

'उग्र' के साथ भावे 'ता' प्रत्यय के योग से 'उग्रता' तथा 'उग्र' के साथ भावे कर्मणि प्रत्यय 'ष्यञ्' के योग से 'औग्र्यं' की व्युत्पत्ति होती है।

---

१. अवहित्था—भय गौरव और लज्जा के द्वारा मन के हर्ष को छिपाने को अवहित्था कहते हैं। शकुन्तला को दुष्यन्त के साथ समागम का जो हर्ष हुआ था उसे उसने कण्व के आने पर छिपाने का प्रयत्न किया था, यह अच्छा उदाहरण है।

—सि० अध्य०, पृष्ठ १३२

२. र० क०, पृष्ठ ५०। ३. सा० स्ट०, पृष्ट १४२ ४. र० मी०, पृष्ठ २०८।

५. ना० शा०, ७।६२ ; द० रू०, ४।२६ ; काव्यानु०, अध्याय २ ; ना० द०, ३।११२ ; सा० द०, ३।१५८ ; र० त०, ६७ ; र० सु०, २।६७।

'उग्र' की व्युत्पत्ति आप्टे ने उच् धातु के सा र 'रन्' के योग से बतायी है। 'उच्-रन् गश्चान्तदेश, ऊणादिसूत्र—२-२८।'—आप्टे का संस्कृत-अंग्रेजी कोश। 'उच्' धातु का अर्थ है—इकट्ठा होना; देखिए संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ।

परन्तु मोनियर विलियम्स इसकी सम्भावना 'उज्' वा 'वज्' धातु से करते हैं, जिससे 'ओजस्' 'वाजि' 'वज्र' शब्द बन सकते हैं। (देखिए मोनियर विलियम्स का संस्कृत-अंग्रेजी कोश) 'वज्' धातु का अर्थ है—गति (देखिए संस्कृत-शब्दार्थ कौस्तुम, परिशिष्ट—२) या कठोर होना (देखिए श्रीधर भाषा कोश, उग्र शब्द)।

'उग्र' के निम्नलिखित अर्थ कोश में दिए गए हैं[१]—

(१) बर्बर, अतिक्रूर, कठोर, जंगली, (२) भयानक, भयावह, भीषण, (३) दृढ़, शक्तिशाली, आक्रामक, तीव्र, चण्ड, (४) तीक्ष्ण, तिक्त, तेज, (५) उच्च, उच्चाशय, (६) क्रुद्ध, आवेगपूर्ण, प्रकोपपूर्ण, (७) कुछ भी करने को तत्पर, उद्यमशील।

'उग्रता' या 'औग्र्यम्' उग्र का भाव है, जिसके निम्नलिखित अर्थ कोश में दिए गए हैं[२]—

१. भीषणता, भयानकता, त्रासकता, निष्ठुरता, नृशंसता।

'उग्रता' को भरत मुनि ने चोरी, लूट-खसोट, नृप-अपराध, असत्-प्रलाप आदि विभावों से उत्पन्न होते बताया है।[३] धनंजय ने दुष्टजन के अपराध, दुर्मुखता, क्रूरतादि से उत्पन्न 'चण्डता' को उग्रता कहा है।[४] अग्निपुराण में "रोषपूर्वक गुरु-शब्द, गुरु-दण्डकारिणीपरुषता को 'उग्रता' कहा है[५]।' हेमचन्द्राचार्य ने इसे 'औग्र्यम्' कह कर धनंजय की ही भांति 'चण्डत्वम्' कहा है[६]। रामचन्द्रगुणचन्द्र ने भी इसे 'औग्र्यम्' कहा है और 'नैर्घण्य-निर्दयत्व'

---

१. 1. Fierce, cruel, ferocious, savage, 2. formidable, terrific, frightful-Raghuvansh, 3. powerful, mighty, strong, violent, intense,- Meghadoot, 4. Sharp, pungent, 5. high, noble-Ramayan, 6. angry, passionate, wrathful 7. ready to do any work, industrious.
-Apte's Sans. Eng. Dictionary.

२. Formidebleness, fierceness, dreadfulness.
=Ibid.

३. अथोग्रतानाम चौर्याभिग्रहण नृपापराधासत्प्रलापादिर्विभावै समुत्पद्यते।
चौर्याभिग्रहयोगान्नृपापराधात्तथोग्रता भवति। ना० शा०, ७।७३।

४. दुष्टेऽपराधदौर्मुख्यक्रौर्यैश्चण्डत्वमुग्रता। द० रू०, ४।१५।

५. रोषतो गुरुवाग्दण्डपारुष्यं विदुरुग्रताम्। अ० पु० का०।

६. चौर्यद्रोहासत्प्रलापादिभ्यश्चण्डत्वमौग्र्यम्॥ काव्यानु०, पृष्ठ ९२।

कहकर व्याख्या की है।[१] शारदातनय ने इसे अेतुक जो दण्ड है, उसे 'औग्र्य' या 'उग्रता' कहा है।[२] शिंगभूपाल[३] और विद्यानाथ[४] और कविराज विश्वनाथ[५] भी इसे 'चाण्डत्व' ही परिभाषित करते हैं। भानुदत्त ने 'उग्रता' को 'निर्दयता' कहा है।[६] पण्डितराज जगन्नाथ ने इसे 'क्रूरता रूप चित्तवृत्ति' कहा है।[७]

देव ने[८] इसे 'निरजनता' नाम दिया है, सम्भवतः उनका मन्तव्य उग्रता में 'किसी को न गिनने की चित्तवृत्ति' से है जैसा कि कुलपति मिश्र[९], सोमनाथ[१०] और प्रताप ()हि[११] ने 'जगत् के निरादर में चित्त की सामर्थ्य' कहा है। भिखारी दास इसे 'अति क्रोध से युक्त निर्दयता' का नाम देते हैं।[१२] इनके मत-वर्ग में ही लगभग आने वाले गुलाम नवी,[१३] पद्माकर भट्ट,[१४] भानुकवि[१५] (वह अंग्रेज़ी में इसे 'फॉरमिडेबिलनेस' नाम देते हैं), प्रतापनारायणसिंह जू[१६],

---

१. दृष्टेऽपराधान्नैर्घण्यं औग्र्यं। नैर्घण्यं निर्दयत्वं तदौग्र्यम्॥ ना० द०, ३।२०२॥
पुत्रमित्रकलत्रादिद्रोहादिवोग्रता भवेत्॥ भा० प्र०, १ अधिकार।

२. अहेतुकश्च दण्डो यः तदौग्र्यं परिचक्षते॥ भा० प्र०, २ अधिकार।

३. असत्प्रलापनाद्यैश्च कृतं चण्डत्वमुग्रता। र० सु०, २।८१।

४. दृष्टेऽपराधे चन्डत्वमुग्रता तर्जनादिकृत्। प्र० रु०, पृष्ठ २५७।

५. शौर्यापराधादिभवं भवेच्चण्डत्वमुग्रता। सा० द०, २।१४९।

६. उग्रता निर्दयता। र० त०, पृष्ठ ९८।

७. अधिक्षेपापमानादिप्रभवा किमस्य करोमीत्याद्याकाराचित्तवृत्तिरुग्रता। रगंध०, १ आनन, भाव ध्वनि।
निन्दादिजन्यो बन्धुबधादिजनकः क्रूरतारूपश्चित्तवृत्तिविशेषः उग्रतेत्यर्थः। वही।

८. दोष कीरतन चोरता दुर्जनता अपराध।
निरजनता सो उग्रता जहं तरजन बध बाघ॥ भा० वि०, पृष्ठ ५०।

९. जग निदरन समरत्थ चित्त तवै उग्रता होय। र० र०, ३।२९।

१०. चित्त सु निदरै सवनि को तब उग्रता बखानि। र० पी० नि०, ७।२६।

११. जग निदरत समरत्थ चित्त उग्रता भाव। का० वि०, ३।४४।

१२. उग्रता जू निर्दयता ही में। करै प्रचार क्रोध अति जी में। र० सा०, छंद ४९७

१३. अपराधि ते जो हियो जो निरदयता होय।
सोई उग्रता जानिये तर्जन ताड़न जोय॥ र० प्र०, छंद ८२५।

१४. निरदैपन सों उग्रता कहति सुमति सब कोय। जगद्वि०, ४।७४॥

१५. निरदैपन है उग्रता नहीं दया को ठांव। र० रत्ना०, संचारी भाव।

१६. र० कु०, ३ कुसुम।

कन्हैयालाल पोद्दार,[१] रामदहिन मिश्र[२] भी इसे निर्दयता ही मानते हैं, । परन्तु इन्होंने इसमें भिखारीदास की भांति 'क्रोध का योग' छोड़ दिया है । अकेली 'निर्दयता' उग्रता से पूर्णतः पृथक् भी हो सकती है । बेनी प्रवीन इसे 'कैसे भी अनाचार न सह सकना' कहकर परिभाषित कहते हैं[३], साथ ही 'निरादरात्मक' भी कहा है । स्वार्थ, रोष तथा अपराधादि को कारण मानते हुए अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध ने इसे 'निर्दयता और चण्डता' का नाम दिया है ।[४] रामदहिन मिश्र ने इसके विभावों में 'वीरता को' भी गिना है और जो किसी आचार्य ने नहीं कहा । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसे क्रोध का अवयव स्वीकार किया है और मानसिक अवस्थाओं में स्थान दिया है । सर्वांग क्रोध के प्रकट होने पर कभी-कभी इसका आविर्भाव होता है और इसी तक बात खतम हो जाती है, बाकी बातों की नौबत नहीं आती । 'उग्रता' के दर्शन से क्रोध, भय या विषाद का संचार होता है ।[५] बाबू गुलाबराय ने कविराज विश्वनाथ के मत का ही अनुवाद किया है ।[६] डॉ॰ राकेश गुप्त ने अपने विवेचन के लिए पण्डितराज जगन्नाथ के मत को आधार बनाया है और उग्रता को क्रोध का ही रूप कहा है । क्रोध स्थायी है जबकि यह संचारिणी वृत्ति की है ।[७] पण्डितराज ने 'अमर्ष' और 'उग्रता' में यह भेद किया है कि 'अमर्ष' निर्दयात्मक नहीं होता, उग्रता निर्दयतारूप होती है ।[८] रूप-गोस्वामी भक्ति-रस में 'उग्रता' को नहीं देखते ।[९] यह शृंगार में भी नहीं होती ।

'उग्रता' के निम्नलिखित अनुभाव कहे गए हैं—

---

१. अपमानादि से उत्पन्न होने वाली निर्दयता ही उग्रता है । का॰ कल्प॰, ४ स्तवक ।

२. अपमान, दूषित व्यवहार, वीरता आदि के कारण उत्पन्न निर्दयता ही उग्रता है ।
का॰ द॰, पृष्ठ ७७ ।

३. अनाचार जहं और को कहूं सह्यौ न जाय ।
ताहि उग्रता कहत हैं निरदैरूप लखाय ॥ न॰ र॰ त॰, ३६६ ।

४. र॰ क॰, पृष्ठ ५४ ।

५. र॰ मी॰, पृष्ठ २२० ।

६. उग्रता = दूसरे के शौर्य और अपराध से अर्थात् अनाचार से उत्पन्न जो प्रचण्डता आती है । सि॰ अध्य॰, पृष्ठ १३० ।

७. सा॰ स्ट॰ र॰, पृष्ठ १३७ ।

८. क्रोध महापराधों से उत्पन्न होता है और उग्रता निन्दादि साधारण वाचिक अपराधों से उत्पन्न होती है । रगंध॰, पृष्ठ ३१० ।
सम्भवतः इसीलिए शारदातनय ने 'पुत्र-मित्र, कलत्रादि का द्रोह इसमें कारण गिना है । (पीछे देखिए पाद-टिप्पणी) ।

९. उ॰ नी॰, पृष्ठ ३७७ ।

वध, बन्धन, तर्जन, ताडन, निर्भर्त्सन, स्वेद, शिर-कम्पन आदि।[1]

'उग्रता' वा 'औग्र्यम्' के उपरिलिखित अध्ययन का सार निम्नलिखित है—

विभाव—अराजकता, असत्-प्रलाप (दुर्मुखता), क्रूरता, वीरता आदि।

लक्षण—दूसरे को त्रास देने के लिए चण्डता, तीक्ष्णता, कठोरता, तथा शक्ति एकत्र करके गतिशील होने का नाम 'उग्रता' या 'औग्र्यम्' हैं। इसमें पारुष्य, क्रूरता, और सबको ललकारने का औद्धत्य तथा अनाचार-असहनशीलता दृष्टिगोचर होते हैं। बौद्ध-दार्शनिक असंग ने क्रोध, पराक्रम, ईर्ष्या, शठता, हिंसा, आदि चैतसिक धर्मों को मन के सहायों में गिना है। (देखिए द० दि०, पृष्ठ ७२०)। इसमें ये सब अन्तर्भुक्त होते हैं। अतः यह मन का सहाय चैतासिक-धर्म ठहरता है और इसकी चित्त-भूमि 'क्षिप्तम्' हैं। (देखिए पातंजल योगसूत्र-भाष्य-विवरणम् समाधि-पाद)।

अनुभाव—स्वेद, कम्पन, क्रोध, भय, विषाद आदि हैं।

(२८) मति

'मन्' धातु में भावे 'क्तिन्' प्रत्यय के योग से 'मति' व्युत्पन्न है।

'मन्' धातु के निम्नलिखित अर्थ होते हैं[2]—

(१) सोचना, प्रत्यय करना, भावना करना, कल्पना करना, अनुमान करना, (ऋग्वेद में); (२) मत रखना, उपयुक्त अथवा सत्य मानना, किसी अभिमत से सहमत होना (महाभारत में); किसी वस्तु पर मन वा चित्त लगाना, मानना, आदर, गौरव, आशा करना (ऋग्वेद में); ध्यान करना, प्रत्यक्ष करना, पर्यवेक्षण करना, ज्ञान करना, समझना, चिन्तन करना (ऋग्वेद में)।

आप्टे के कोश में इसके अर्थ 'आविष्करण', 'परियोजना करना', अथवा 'उपाय शोध करना' और दिये हैं।[3]

---

१. ना० शा०, ७।७३; द० रू०, ४।१५; काव्यानु०, पृष्ठ ९२; ना० द०, ३।२०२; भा० प्र०, २ अधिकार; सा० द०, ३।१४९ रगघं०, १ आनन, भाव ध्वनि।

२. To think, believe, imagine suppose, conjecture—Rigveda; to be of opinion, think fit or right, to agree or be of the same opinion with—Mahabharat, to set the heart or mind on, honour, esteem, hope or wish for—Rigveda, to think of (in prayer etc.) to perceive, obser8. learn, know, understand, comprehend—Rigveda.

—M.W. Sans. Eng. Dictionary.

३. देखिए आप्टे का संस्कृत-अंग्रेजी कोश।

कोश में मति के निम्नलिखित अर्थ दिए गए हैं[१]—

(१) बुद्धि, समझदारी, ज्ञान, निर्णय, (२) मन, हृदय, (३) विचार, प्रतीति, मत, राय, भावना, अनुमान, धारणा, समालोचन, (४) मंशा, अभिप्राय, आशय, (५) दृढ़ धारणा, पक्का विचार, (६) सम्मान, प्रतिष्ठा, (७) कामना, इच्छा, अभिलाषा, (८) परामर्श, सलाह, (९) स्मरण, स्मृति, (१०) पूजा, भक्ति, प्रार्थना, (११) परामर्श दाता, (१२) मन की क्रिया वा वृत्ति ।

भरतमुनि ने मति की उत्पत्ति 'नाना शास्त्र, चिन्तन, ऊहापोह आदि से मानी है ।'[१] बौद्ध दार्शनिक असंग ने इसे मन के चैतसिक धर्मों के अन्तर्गत रखा है । (द० दि० पृ० ७२०) धनंजय ने इसे 'शास्त्रादि से उत्पन्न तत्त्व-धी' की संज्ञा दी है ।[२] अग्निपुराण में 'तत्त्व-ज्ञान की सहायता से 'अर्थ-निर्धारण' का नाम 'मति' कहा है ।[३] हेमचन्द्राचार्य इसे 'अर्थ-निश्चय' की संज्ञा देते हैं ।[४] रामचन्द्रगुणचन्द्र इसे 'नवनवोल्लेखशालिनी प्रज्ञा' अथवा 'प्रतिभान' का नाम कहते हैं ।[५] शारदातनय ने 'भले-बुरे का निश्चय करने वाली मननात्मा' को मति कहा है ।[६] शिंगभूपाल[७], विद्यानाथ,[८] कविराज विश्वनाथ[९] और पण्डितराज जगन्नाथ[१०] ने इसे

---

१. 1. Intellect, understanding, sense, knowledge, judgement; 2. Mind, heart, 3. Thought, idea, belief, opinion, notion, supposition, impression, view, 4. intention, design, 5. resolution, determination, 6. esteeem, regard, respect, 7. wish, desire, inclination, 8. councel, 9. rememberance, recollection, 10. devotion, prayer, 11. adviser, 12. activity or disposition of the mind.

—Apte's Sans. Eng. Dictionary.

—मोनियर विलियम्स ने उपर्युक्त अर्थों का प्रयोग ऋग्वेद, मनुस्मृति, महाभारत आदि में देखा है ।—देखिए मोनियर विलियम्स संस्कृत कोश ।

१. मतिः नाम नानाशास्त्रचिन्तनोहापोहादिभिर्विभावैरुत्पद्यते नानाशास्त्र-सुनिष्पन्ना मतिः संजायते नृणाम् । ना० शा०, ७।७४ ।

२. भ्रान्तिच्छेदोपदेशभ्यां शास्त्रादेस्तत्त्वधीर्मतिः । द० रू०, ४।२७ ।

३. मतिरर्थपरिच्छेदस्तत्त्वज्ञानोपनायितः । अ० पु० का०, ३।३६ ।

४. शास्त्रचिन्तनोहापोहादिभ्योऽर्थनिश्चयो मतिः । काव्यानु०, २ अध्याय ।

५. प्रतिमानं मति शास्त्र तर्काद् भ्रान्तिच्छिदादिकृत् ।
नवनवोल्लेखशालिनी प्रज्ञा प्रतिभानम् । ना० द०, ३।१६३ ।

६. सदासन्निश्चयकरी मननात्मा मतिर्भवेत् । भा० प्र०, २ अधिकार ।

७. नाना शास्त्रार्थमथनादर्थनिर्धारणं मतिः । र० सु०, २।७३ ।

८. तत्वमार्गानुसंधानादर्थनिर्धारणं मतिः । प्र० रू०, पृष्ठ २५८ ।

९. नीतिमार्गानुसृत्यादेरर्थनिर्धारणं मतिः । सा० द०, ४।१६३ ।

१०. शास्त्रादिविचारजन्यमर्थनिर्द्धारणं मतिः । रगंघ०, पृष्ठ २६७ ।

'अर्थ-निर्धारण' का नाम दिया है। भानुदत्त इसे 'यथार्थ ज्ञान' कहते हैं। वे नय, विनय, अनुनय, उपदेश, उपालम्भ का भी इसमें अन्तर्भाव करते हैं।[१]

चिन्तामणि ने इसे नीतिपंथानुसार 'अर्थनिर्धारण' की संज्ञा दी है।[२] कुलपति मिश्र[३] और सोमनाथ[४] इसका अपर नाम बुद्धि भी देते हैं और 'निश्चय-ज्ञान' कह कर स्पष्ट करते हैं। देव[५] और गुलाम नवी[६] इसे 'यथार्थ-ज्ञान' कहते हैं। देव ने भानुदत्त के अनुसार इसके भेद 'उपालम्भ, अनुनय, विनय और उपदेश' कहे हैं।[७] उपालम्भ को भी कोप और प्रणय से द्विविध कहा है। भिखारीदास[८] ने इसमें शिक्षा देने और विधिगति समझ कर धैर्य धारण के अनुभाव वर्णन किए हैं। बेनी प्रवीन[९] इसे 'रीति-नीति से विपत्ति को दूर करना' कहते हैं। पद्माकर भट्ट[१०] और भानुकवि[११] क्रमशः 'भलो विचार' और 'सुमति सुचारु' नाम देते हैं। भानुकवि ने इसे अंग्रेजी नाम 'प्रूडेन्स' भी दिया है। प्रताप साहि का लक्षण स्पष्ट नहीं है।[१२] प्रतापनारायण[१३] सिंह जू ने इसे 'भ्रान्ति का कारण रहते हुए भी यथार्थ ज्ञान का बना रहना'

---

१. यथार्थज्ञानं मतिः। नयविनयाऽनुनयोपदेशोपालम्भा अत्रैवान्तर्गतभवन्ति। र० त०, पृष्ठ ९९-१००।

२. नीतिपथ अनुसार है आदि अरथ निरधारि।
नीति ताते कछु हास्य रस अरु संतोष अपार॥ क० क० क०, ७।६७।

३. मति निहचै जानि सुभाय। र० र०, ३।२९।

४. निहचै ज्ञान सु-बुद्धि है। र० पी० नि०, ७।२७।

५. शास्त्रचिन्तन ते जहाँ होइ यथारथ ज्ञान।
करै शिष्य उपदेश जहं मति कहि ताहि बखान। भा० वि०, पृष्ठ ५०।

६. ज्ञान जथारत को जहाँ तहं कहिये मति भाव।
आगम सोच विभाव अरु शिष्यादिक अनुभाव॥ र० प्र०।

७. उपालम्भ अनुनय विनय अरु उपदेश बखान।
इनको अन्तर भानु कहि देव मध्य मति जान।
उपालम्भ द्वै भांति कौ बरनि कहै कविराय॥
एक कहावै कोप तें दूजो प्रनय सुभाय। भा० वि०, पृष्ठ ५०।

८. मति हैं भाव सिखापन पाए। विधि गति समुझि धीर तहि आए। र० सा०।

९. नीति रीति यह जानिये जाति विपत्ति विहाय।
जो कहिए करिये सोई मति कहियत हैं गाय। न० र० त०, छंद ३७०।

१०. नीति निगम आगमन ते उपजे भलो विचार।
ताही सों मति कहत हैं सब ग्रन्थन कौ सार॥ जगद्वि०, ४।३७।

११. नीति निगम आगमन ते उपजै सुमति सुचारू। र० रत्ना०, संचारी भाव।

१२. शास्त्रज्ञान उपदेश तै गुरु नृप मति पहचानि। का० वि०, ३।४५।

१३. र० कु०, ३ कुसुम।

कहा है। अयोध्यासिंह उपाध्याय[१] ने इनके शब्दों को यथावत् उद्धृत किया है। कन्हैयालाल पोद्दार[२] ने इसे शास्त्रादि के विचार से 'तथ्य का निर्धारण' कहा है। रामदहिन मिश्र ने[३] इसे 'तथ्य का निर्णय कर लेना' कहा है। बाबू गुलाबराय मति की 'नीति मार्ग के अनुकूल मार्ग निश्चय' व्याख्या देते हैं।[४] डॉ० राकेश गुप्त के मत[५] से यह 'शान्त और अप्रभावित चेतनावस्था' है। अतः असंवेगात्मक भाव या अनुभूति है। उनका यह मत समीचीन नहीं जान पड़ता क्योंकि बिना बाह्य प्रभाव के बुद्धि संकल्प और निश्चय किस प्रकार करेगी। उन्होंने अपने विवेचन के लिए पण्डितराज जगन्नाथ के मत को आधार माना है। आचार्य शुक्ल[६] ने मति को अन्तःकरण वृत्तियों में स्थान दिया है। उन्होंने शेण्ड का मत उद्धृत किया है कि शील-निरूपण में उन्होंने भी संकल्पात्मिकता और निश्चयात्मिका वृत्ति 'बुद्धि' को भावों के शासन के भीतर लाकर विचार किया है। इस प्रकार आचार्य शुक्ल मति को भावों के शासन के भीतर कार्य करती हुई संकल्पात्मिका और निश्चयात्मिका चित्त-वृत्ति मानते हैं।

मति के अनुभाव

शिष्य उपदेश, विकल्पन, संशय-छेदन, हित-दर्शन, मुस्कान, धृति, संतोष, बहुमान के निश्शंकतापूर्वक अर्थानुष्ठान आदि हैं।[७]

मति के उपरिलिखित अध्ययन का सार निम्नलिखित है—

विभाव—ऊहापोह, तत्वज्ञान, शास्त्र चिन्तनादि।

लक्षण—चित्त की संकल्पात्मिका एवं निश्चयात्मिका वृत्ति का नाम मति है। इसे ही तत्त्व-धी, नव-नवोल्लेखशालिनी प्रज्ञा, प्रतिभान, यथार्थज्ञान, मननात्मा-बुद्धि, शान्त एवं अप्रभावित चेतना भी कहते हैं। बुद्धि के अन्तर्गत उसके चारों भेद, उपालम्भ, अनुनय, विनय, उपदेश भी आते हैं। मन इसकी सहायता से तथ्य-निर्धारण एवं नीतियुक्त-मार्ग निश्चय करता है। असंग ने इसे मन के सहाय चैतसिक धर्मों के अन्तर्गत 'प्रज्ञा' नाम से गिना है (देखिए द० दि०, पृष्ठ ७२०)। योगसूत्र में इसे ही प्रमाण-वृत्ति कहा है (देखिए पातंजल योगसूत्रष्य विवरणम् समाधि-पादः प्रथमः)। इसमें चित्त की 'एकाग्र भूमि' रहती है।

---

१. र० क०, पृष्ठ ४०।
२. का० कल्प०, चतुर्थ स्तवक। ३. का० द०, पृष्ठ ७८।
४. सि० अध्य०, पृष्ठ १३२। ५. सा० स्ट० र०, पृष्ठ १४१।
६. र० मी पृष्ठ, २११-१३।
७. ना० शा०, ७।७४; द० रू०, ४।२७; भा० प्र०, १ अधिकार; काव्यानु०, २ अध्याय; ना० द०, ३।१६३; सा० द०, ३।१६३; रगंध०, पृष्ठ २९७।

अनुभाव—धृति, संतोष, विपत्ति-परिहार, रीति-नीति-विकल्पन, निस्संशय अर्थानुष्ठान, हित-उपदेश आदि हैं।

(२९) व्याधि

'व्याधि' की सम्भावना 'व्यध्' धातु से की जाती है जिसमें भावे 'कि' प्रत्यय का योग है।

'व्यध्' के अर्थ हैं—१—वेधना, ताड़न करना, छेदना, भोंक देना, मार डालना, २—छेद करना, कोंचना।[1]

'व्याधि' के अर्थ हैं[2]—१—बीमारी, रोग, पीड़ा, अस्वस्थता, २—कुष्ट।

भरतमुनि ने वात-पित-कफ के सन्निपात से 'व्याधि' की उत्पत्ति कही है जो आयुर्वेद के सामान्य बहुश्रुत सिद्धान्त पर अवलम्बित है। इनमें ज्वरादि विशेष बताये हैं। ज्वर भी द्विविध कहे हैं। एक सशीत तथा दूसरे सदाह। इनके अतिरिक्त अन्य व्याधियां भी हैं।[3] धनंजय ने भी व्याधियों को भरतमुनि की ही भांति सन्निपात आदि प्रभव बताया है और विस्तार के लिए आयुर्वेद आदि ग्रन्थों का संकेत किया है।[4] अग्निपुराण में 'व्याधि' को 'मन और तन का अवग्रह' (ग्रस्त होना) कहा गया है।[5] हेमचन्द्राचार्य ने इसे विरहादि से उत्पन्न 'मनस्ताप' कहकर इसकी व्याख्या की है, क्योंकि मनस्ताप 'व्याधि' का कारण है। अतः 'व्याधि' ही है।[6] रामचन्द्र गुणचन्द्र अंग-मन-क्लेश को 'व्याधि' का नाम देते हैं।[7] शारदातनय ने इसे देश-कालादि दोष-वैषम्य से सम्भव भरत का अनुगमन करते हुए द्विविध ज्वरात्मक

---

१. 1. To pierce, hurt, strike, stab, kill, 2. to bore, pierce through.
—देखिए, आप्टे का संस्कृत-अंग्रेजी कोश।

मोनियर विलियम्स ने ये अर्थ छांदोग्य उपनिषद्, मनुस्मृति तथा महाभारत में प्रयुक्त पाए हैं।

२. 1 Sickness, ailment, disease, illness, 2. leprosy
—Ibid.

३. वातपित्तकफसंनिपातप्रभवः। तस्य ज्वरादयो विशेषाः ज्वरस्तु द्विविधः सशीतः सदाहश्च। ना० शा०, ७।७५।

४. व्याध्यः सन्निपाताद्यास्तेषामन्यत्र विस्तरः। द० रू०, ४।४९।

५. व्याधि मनोपुरवग्रहः। अ० पु० का०, ३।३३।

६. विरहादेर्मनस्तापो व्याधिमुखशोषादिकृत्।
विरहाभिलाषादिभ्यो मनस्तापो व्याधिहेतुत्वाद्व्याधिः। काव्यानु०, पृष्ठ ८९।

७. दोषेभ्योऽङ्ग-मनः क्लेषो-व्याधिः स्तनित कम्पवान्। ना० द०, ३।१९४।

कहा है। उनके मत से आयुर्वेद में बतायी गयी 'रुज्' व्याधियां हैं।[१] शिंगूभूपाल[२] और विद्यानाथ[३] ने भी इसे ज्वरात्मक ही कहा है। परन्तु उन्होंने क्रमशः वियोगादि और मनस्ताप को उसके विभावों में स्थान दिया है। कविराज विश्वनाथ ने वातादि कहकर तन-प्रकृति संन्निपात की ओर विशेष वल दिया है।[४] उनके मत से दाह का कारण पित्त और शीत का कारण कफ है। भानुदत्त ने इसे ज्वरादि विकार नाम दिया है[५]। पण्डितराज जगन्नाथ ने रोग और विरह को कारणों में स्थान देकर 'व्याधि' को मनस्ताप ही कहा है।[६] उन्होंने स्पष्ट कहा है कि अन्य-स्थलीय व्याधि से भिन्नता दिखाने के लिए ही, इसकी उत्पत्ति चित्तवृत्ति से उत्पन्न होते दिखाने को ही 'मनस्ताप' कहा गया है।

चिन्तामणि भी इसे संचारियों में स्थान देने के लिए वियोगादि से इसका जन्म मानते हैं।[७] देव ने इसे धातु कोप तथा प्रिय-विरह से जन्य कहा है और साथ ही 'अन्तर की आधि' कहकर मनस्ताप पर बल दिया है, और ज्वरादि को अनुभाव कहा है।[८] मानसिक संतापादि से जो तन-रोग हो जाते हैं उन्हें कुलपति मिश्र व्याधि नाम देते हैं।[९] गुलाम नवी ने काम, क्लेश, भय आदि कहकर मानसिक विभावों को और व्यापक स्पष्टता दी है।[१०] सोमनाथ[११] भी विरह से उत्पन्न तन रोग को व्याधि कहते हैं। भिखारीदास इसे 'मानसिक

---

१. व्याधि स्याद्देशकालादिदोषवैषम्यसम्भवा।
व्याधि ज्वरात्मा द्वेधा स्यादुष्णशीत विभागतः। भा० प्र०, १ अधिकार।
आयुर्वेदोपदिष्टा ये व्याध्यस्ते रुजः स्मृताः। वही, २ अधिकार।

२. द्वोषाद्रेक वियोगाद्यैर्ज्वरः। स्यात् व्याधिरत्र तु। र० सु०, २।४६।

३. मनस्तापाद्य भिभवाज्ज्वरादिर्व्याधिरिष्यते। प्र० रु०, पृष्ठ २५८।

४. व्याधिर्ज्वरादिर्वाताद्यैर्भूमीच्छादोत्कम्पनादिकृत् तत्र दाहमयत्वे भूमीच्छादः शैत्यमयत्वे उत्कम्पनादयः। सा० द०, ३।१६३ एवं टीका।

५. ज्वरादिविकाराख्यो व्याधिः। र० त०, पृष्ठ १०३।

६. रोग विरहादिप्रभवो मनस्तापो व्याधिः। रगंध०, १ आनन।

७. व्याधि रोगादिकन ते कृशतादिक निरधारि।
कम्प ताप भू पतिइत आदिक यों जु निहारि॥ क० कु० क०, ७।८०।

८. धातु कोप प्रीतम विरह अन्तर उपजै आधि।
जुर विकार बहु अंग में ताही बरनै व्याधि॥ भा० वि०, पृष्ठ ५३।

९. होय जु मन संताप तै तन गद व्याधि कहाय। र० र०, ३।३०।

१०. काम क्लेश भय आदिते व्याधि जुरादिक होय।
कर चरनन को फेरिबो अधीर दहादिक होय। र० प्र०, छंद ८९०।

११. व्याधि रोग तन जान। र० पी० नि०, ७।२६।

व्यथा[1] कहते हैं। वेनी प्रवीन इसे 'सोच से ताप जनित दुर्बलता' कहते हैं।[2] पद्माकर भट्ट विरह-विवश कामादि से तन के संताप को व्याधि नाम देते हैं।[3] प्रताप साहि ने मानसिक तनाव आदि से प्रकृति दोष का नाम व्याधि दिया है।[4] भानुकवि ने पद्माकर भट्ट का ही लक्षण ले लिया है।[5] परन्तु अंग्रेजी में 'पेनफुल कण्डीशन' भी कहा है। प्रतापनारासण सिंह जू[6] तथा अयोध्यासिंह उपाध्याय[7] इसे शरीर में 'रोगादि' कहते हैं। कन्हैयालाल पोद्दार हेमचन्द्राचार्य और पण्डितराज जगन्नाथ का अनुगमन करते हुए इसे रोग वियोगादि से जनित 'मनस्ताप' कहते हैं।[8] रामदहिन मिश्र भी इसी मत के हैं।[9] बाबू गुलाबराय इसे विरहादि से उत्पन्न ज्वरादि शारीरिक दुःख की चेतना कहते हैं, और भाव से उत्पन्न अनुभाव की अनुभूति मानते हैं।[10] आचार्य शुक्ल[11] इसे शारीरिक अवस्था में स्थान देते हैं और भाव से उत्पन्न होने पर ही संचारी कहने को तैयार हैं जिससे भाव की तीव्रता और व्यापकता का बोध हो। डॉ० राकेश गुप्त अपने विवेचन के लिए भरतनुनि की परिभाषा आधार रूप में ग्रहण करते हैं। वे इसे शारीरिक अवस्था कहते हैं और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से, उनके मत से, इसमें आंगिक संवेदना की चेतना रह सकती है।[12] आपका मत बाबू गुलाब राय का अनुमोदन करता है।

व्याधि के अनुभाव

'व्याधि' के निम्नलिखित अनुभाव आचार्यों ने बताये हैं—

मुख-सिकोड़ना, गात्र-स्तम्भ, कराहना, चिड़चिड़ाहट, काँपना, हाथ-पैर पटकना,

---

१. व्याधि व्यथा कछु है मन मांही।
विक्रित तन अनुभाव कहाहीं। र० सा०, छंद ५००।

२. ताप दूबरई होति तन मन सोचहि को साधि।
ताहीं सो सब कहत हैं कवि कोविद मिलि व्याधि॥ न० र० त०, छंद ३६६।

३. विरह विवश कामादि ते तन संतापित होय।
ताही को सब कवि कहत व्याधि कहावत सोय। —जगद्वि०।

४. गुरु वियोग वातादि ते तन गद व्याधि जानि। का० वि०, ३।४५।

५. व्याधि विरहादि ते तन संतापित होय। र० रत्ना०, संचारी।

६. र० कु०, ३ कुसुम।

७. र० क०, पृष्ठ ५६।

८. का० कल्प०, चतुर्थ स्तवक।

९. का० द०, पृष्ठ ७८।

१०. सि० अध्य०, पृष्ठ १३२।

११. र० मी०, पृष्ठ २२९।

१२. सा० स्ट० र० पृष्ठ १४२।

मुख-शुष्कता, निढ़ाल-अंगता, शिरकम्प, अंग-संकोच, हाय-दैया मचाना, रोमांच, ठोढी संचालन, लम्बी साँसें, आंखें झुकी होना आदि। ताप ज्वर में वस्त्र फेंकना, शीत-ज्वर में काँपना आदि।[1]

'व्याधि' के उपरिलिखित अध्ययन का सार निम्नलिखित है—

विभाव —शारीरिक और मानसिक दोष, वैषम्य, क्लेश, संताप, काम, भय आदि हैं।

लक्षण —मन और तन का अवग्रह 'व्याधि' है। मन और शरीर दोनों प्रकार की समस्त व्यथा और अस्वस्थता या अव्यवस्था 'व्याधि' के अन्तर्गत आती है। इसी में आधि का भी अन्तर्भाव है। पाश्चात्य मनोविज्ञन भी विशेष मानसिक तनाव की स्थिति में विभिन्न व्याधियों की उत्पत्ति को स्वीकार करता है। यथा, स्तम्भन (पक्षाघात) विशिष्ट मांसपेशियों का संचाटन, मुख-विकुंचन, कम्प, मुख-शोष, चिड़चिड़ापन आदि। इस प्रकार व्याधि के अन्तर्गत मन और तन का समस्त अवग्रह ग्रहण करना चाहिए।

योग सूत्र में यह अन्तरायों में गिना गया हैं। (दे० पातंजल योगसूत्र विवरणमू-समाधि पाद)। इसके अनुसार इसे अविद्याजन्य 'मोहात्मक' चित्तवृत्ति स्वीकार करना उचित है। असंग ने 'उन्माद' को मन का विशिष्ट कर्म कहा है। (द० दि०, पृष्ठ ७२१)। उसके समानान्तर होने से, उनके विवेचन की सहायता से देखने पर 'व्याधि' भी मन का एक विशेष कर्म ही ठहरता है।

अनुभाव —समस्त काय-विकार, वाक्-शैथिल्य, अनुपयुक्त क्रिया-व्यापार है।

(३०) उन्माद

'उन्माद' के मूल में 'उत्' उपसर्गपूर्वक 'मद्' धातु है, जिसमें भावे 'घञ्' प्रत्यय के योग से 'उन्माद' की व्युत्पत्ति होती है।

'उन्मद्' धातु के अर्थ, आप्टे के कोश में इस प्रकार दिए गए हैं—मति भ्रंश होना, पागल हो जाना या आपे से बाहर हो जाना।[2]

---

१. ना० शा०, ७।७५ ; काव्यःनु०, पृष्ठ ८५ ; भा० प्र०, २ अधिकार ; सा० द०, ३ अध्याय।

२. मोनियर विलियम्स ने इन अर्थों में इसका प्रयोग तैत्तरीय संहिता, तैत्तरीय ब्राह्मण, श्वेताश्वर ब्राह्मण, महाभारत तथा कथा सरित्सागर में देखा है। देखिए मोनियर विलियम्स का संस्कृत-अंग्रेजी कोश।

'उन्माद' के अर्थ कोश में इस प्रकार दिये गये हैं[1]—(१) पागलपन, सिड़ीपन, (२) बड़ी झोंक या क्रोध, (३) मानसिक रोग विशेष जिससे मन और बुद्धि का कार्यक्रम अस्त-व्यस्त हो जाता है। (४) प्रस्फुटन खिलन (पुष्पों का), (५) तैंतीस व्यभिचारी भावों में एक।

भरतमुनि ने इसकी व्युत्पत्ति प्रियजन के वियोग से, विभव-नाश से, तीव्र प्रहार से, वात-पित्त-कफ आदि के प्रकोप से बतायी है।[2] बौद्ध दार्शनिक असंग के अनुसार 'उन्माद' मन का विशेष कर्म है। (द० दि० पृष्ठ ७२१)। योग सूत्र में इसकी गणना आठ अन्तरायों में की गयी है (देखिये—पातंजल योगसूत्र भाष्य-विवरणम्—समाधि पाद प्रथम) धनंजय ने 'उन्माद' को अप्रेक्षाकारित (बुद्धि, समझदारी, विचार, आलोचन, मनन-विहीन करने वाला) कहा है और सन्निपात ग्रहादि से इसकी उत्पत्ति कही है।[3] अग्निपुराण में 'उन्माद' नाम की परिभाषा 'अनिबद्ध प्रलापादि' दी है 'जो नशीली अथवा आह्लादकारक वस्तु, अथवा काम-प्रेम-अनुराग आदि से उत्पन्न होता है।'[4] हेमचन्द्राचार्य 'चित्तविप्लव' को उन्माद नाम देते हैं।[5] रामचन्द्रगुणचन्द्र इसे 'मनोविलुप्ति' नाम से परिभाषित करते हैं।[6] 'विलुप्ति' से अभिप्राय 'विसंस्थुलता' (चंचलता आन्दोलितता) से है। इसमें बीच-बीच में 'विराम अथवा विश्रान्ति' होती है। यह उत्तमों में वियोग में और अधमों में करुण रस में व्यभिचारी होता है। 'अपस्मार' बीभत्स और भयानक का व्यभिचारी होता है और वह 'मनोवैकल्य' है यह 'मनो-अनवस्थिति' है। यह इन दोनों का भेद है। शारदातनय ने इसकी व्याख्या की है 'जिससे मन ऊपर की ओर घूमता या जाता है, वह चित्त-विप्लव उन्माद' है[7] उत्तम जन में अभीष्ट के विरह से, मध्यम जन में इष्ट-नाश से तथा नीच जनों में धन-नाशादि

---

१. देखिए संस्कृत-शब्दार्थ-कौस्तुभ।

२. इष्टजनवियोगविभवनाशाभिघातवातपित्तश्लेष्मप्रकोपादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते। इष्टजन-विभवनाशादभिघाताद्वातपित्तकफकोपात्। विविधात्-पित्तविकारादुन्मादो नाम संभवति। ना० शा०, ७।७६।

३. अप्रेक्षाकारितोन्मादः सन्निपातग्रहादिभिः॥ द० रू०, ४।३०।

४. अनिबद्धप्रलापादिरुन्मादो मदनादिभिः। अ० पु० का०, ३।३४ एवं टीका।

५. इष्टवियोगधननाशाभिघातवातसन्निपातग्रहादिभ्यः। चित्तविप्लवः उन्मादः। —काव्यानु०, पृष्ठ ९४।

६. मनोविलुप्तिरुन्मादो ग्रहदोषैरयुक्तकृत्।
विलुप्तिविसंस्थुलता क्वचिदप्यविश्रान्तिरितियावत्। ना० द०, पृष्ठ ३४२।
अयम् चोत्तमरूपविप्रलम्भे, अधमस्य करुणो व्यभिचारी। अपस्मारस्तु बीभत्स-भयानकयोः। स च मनोवैकल्यम्। अयन्तु मनोऽनवस्थितिरिति भेद इति। —वही।

७. उदंचति मनो यस्मादुन्मादश्चित्त विप्लवः। भा० प्र०, २ अधिकार।

से 'उन्माद' उत्पन्न होता है।[१] शिंगभूपाल[२] इसे चित्त की 'विभ्रान्ति' कहते हैं तथा विद्यानाथ[३] 'चेतनाचेतन के प्रति तुल्यव्यवहार' को उन्माद कहते हैं। कविराज विश्वनाथ ने इसे 'चित्त संमोह' की संज्ञा देकर परिभाषित किया है।[४] भानुदत्त ने 'बिना विचार का आचार' उन्माद कहा है।[५] बिना विचार का अर्थ सुख को उद्देश्य किये बिना है।[६] पण्डितराज जगन्नाथ[७] इसे विप्रलम्भ शृंगार से महा-आपत्ति और परमानन्द आदि से जन्मने-वाला कहते हैं और 'अन्य में अन्य का भास' परिभाषित करते हैं।[८] 'अवभास-भ्रम' वियोगादि कारणों से उत्पन्न नहीं होता। व्याधि में ही उन्माद का भी अन्तर्भाव हो सकता है, तथापि अन्य व्याधियों की अपेक्षा इस उन्माद व्याधि में कुछ विलक्षण विचित्रता है, यह दिखाने के लिए इसका पृथक् ग्रहण किया गया है।[९] चिन्तामणि ने इसे 'मन का भ्रम' कहकर स्पष्ट किया है तथा काम और भयादि-जन्मा माना है।[१०] देव ने इसके अनुभावों और विभावों को कहकर 'बिना विचार का आचार' कहकर स्पष्ट करना चाहा है।[११] वह भानुदत्त का अनुगमन करते हैं। कुलपति मिश्र ने इसे 'चित्त भ्रम' की संज्ञा दी है।[१२] गुलामनवी ने भी देव की भांति परिभाषा देकर इसे प्रकट करने का यत्न किया है।[१३] उनके मत में उसके विभाव 'द्रव्यहानि तथा विरहादि' हैं। सोमनाथ ने भी कुलपति की भांति 'चित्त भ्रम' को ही उन्माद कहा है।[१४] भिखारी दास ने 'बौरैबो' को 'उन्माद' नाम दिया है।[१५] बेनी प्रवीन भी इसके अनुभाव 'मन में भ्रम, तन

---

१. ज्येष्टस्याभीष्ट विरहान् मध्यस्येष्टाविघातनम्। नीचानां धननाशाद्यैरुन्मादो नाम
जायते॥ भा० प्र०, १ अधिकार।
२. उन्मादश्चित्तभ्रान्तिर्वियोगादिष्टनाशतः। र० सु०, २।४३-४४।
३. उन्मादस्तुल्यवर्त्तित्वं चेतनाचेतनेष्वपि। —प्र० रु०, पृष्ठ २५।
४. चित्तसंमोह उन्मादः कामशोकभयादिभिः। सा० द०, ३।१६०।
५. विनाविचारमाचारः उन्मादः। र० त०, पृष्ठ १०२।
६. वही—जीवानाथ ओझा की टीका।
७. विप्रलम्भ—महापत्ति-परमानन्दादिजन्माऽन्यस्मिन्नन्यावभास उन्मादः। रंगध०, ३१०।
८. वही। पृष्ठ ३१०। ९. वही। पृष्ठ ३१०।
१०. मन को भ्रम उन्माद कहि काम भयादिक जात।
बिन कारन रोदन हसन कार्य अनर्थक बात॥ क० कु० क०, ७।८२।
११. प्रिय वियोग ते जहं वृथा वचनन लाय विखाद।
बिन विचार आचार जहं सों कहिए उन्माद॥ भा० वि०, पृष्ठ ५४।
१२. चित्तभ्रम सो उन्माद है। र० र०, ३।३१।
१३. दरब हानि विरहादि ते है उन्माद विभाव।
बिना बिचारि आचारु अरु बौराई अनुभाव॥ र० प्र०, छंद ८७८।
१४. चित्त भ्रमन उन्माद है बरनत रसिक प्रवीन। र० पी० नि०, ७।२७।
१५. उन्मादहि 'बौरैबो' ल्यावै। र० सा०, छंद० ४६४।

में अस्थिरता और अनर्थ कार्य' कहते हैं और काम-विरह से इसकी उत्पत्ति स्वीकार करते हैं।[१] पद्माकर भट्ट ने इसे 'अविचारित आचरण' नाम दिया है।[२] प्रताप साहि भी इसे 'चित्त भ्रम' कहते हैं और 'शोक-काम-भय' को इसके विभाव स्वीकार करते हैं।[३] भानुकवि ने अंग्रेजी में इसे 'डिलीरियम' कहा है और पद्माकर भट्ट का ही लक्षण उद्धृत किया है।[४] प्रताप नारायण सिंह जू 'किसी कारणवश वैचित्य वा रोग विशेष' कहकर इसे परिभाषित करते हैं।[५] अयोध्यासिंह उपाध्याय ने 'काम-शोक-भय आदिक के प्राबल्य से चित्त में जो एक प्रकार का विक्षेप और व्यामोह होता है—उसे 'उन्माद' कहा है।[६] राम दहिन मिश्र 'भयशोकादि से चित्त की भ्रान्ति' को उन्माद नाम देते हैं।[७] आचार्य शुक्ल ने इसे मानसिक अवस्था के अन्तर्गत स्थान दिया है और कविराज विश्वनाथ के मत को मान्य करके उसकी व्याख्या की है। उनके मत से यह 'राग-शोक-क्रोध-भय' कई भावों की भाव-दशा है और स्थायी दशा के कारण उत्पन्न हो सकती है। जुगुप्सा या विरति से भी उनके मत से उन्माद या उन्माद की सी दशा हो सकती है।[८] बाबू गुलाब राय के मत में 'काम-शोक-भय आदि' में भाव की तीव्रता के कारण 'मन की असाधारण स्थिति में जो अव्यवस्था होती है और जिसका प्रकाश शब्दों और शारीरिक क्रियाओं में भी होने लगता है,' उसे उन्माद कहते हैं।[९] डॉ० राकेश गुप्त[१०] ने उन्माद को अंग्रेजी में 'इनसेनिटी' कहा है। उन्होंने अपने विवेचन के लिए धनंजय और कविराज विश्वनाथ के मतों को आधार बनाया है। उनके मत से यह शारीरिक अव्यवस्था अथवा तीव्र भावानुभाव से उत्पन्न होता है। स्वयं यह कोई भाव नहीं है, परन्तु इससे ग्रस्त व्यक्ति अनेक भावों का अनुभव कर सकते हैं।

---

१. मन में भ्रम तन अथिर कै करै अनर्थ बात।
काम विरह उन्माद की, उपज कहैं कविराज। न० र० त०, छंद ३७३।

२. अविचारित आचरण जो सो उन्माद बखान।
व्यर्थ बदन, रोदन हंसी, ये स्वभाव तह जान। जगद्वि०, ४।९५।

१. शोक काम भय ते जहां भ्रम चित्त कहि उन्माद। का० वि०, ३।४६।

४. अविचारी आचरण जो सो उन्माद बखान। र० रत्ना०, संचारी भाव।

५. र० कु०, ३ कुसुम।

६. र० क०, पृष्ठ ६१।

७. का० द०, पृष्ठ ७९।

८. र० मी० पृष्ठ २२६।

९. सि० अध्य०, पृष्ठ १३२।

१०. सा० स्ट० र० पृष्ठ १४२।

उन्माद के अनुभाव

आचार्यों ने 'उन्माद' के निम्नलिखित अनुभाव दिये हैं:[१]—

अनिमित्त और अस्थान हास-रोदन, आक्रोशपूर्ण असत् अथवा असंबद्ध प्रलाप, नींद से उठ दौड़ना, अनिद्रा, अभोज्य भोजन, अव्यवहार्य व्यवहार आदि। द्रष्टव्य है कि इसमें कोई सात्त्विक अनुभाव नहीं है।

'उन्माद' के उपरिलिखित अध्ययन का सार निम्नलिखित है—

विभाव—राग, शोक, भय, क्रोध, जुगुप्सा, एवं विरति आदि हैं।

लक्षण— 'उन्माद' मन की (बाह्य रूप में शरीर की) सुखोद्देश्यविहीन आचार की स्थिति है जिसमें वह एक विषय पर अवस्थित नहीं रहता। इसमें ही भ्रान्तिदर्शन, चित्त-चंचलता, विचारशून्य-आचार, बुद्धिनाश, एवं वैचित्य आदि आ जाते हैं। असंग के अनुसार यह मन का विशेष कर्म है। योग-सूत्र में इसकी गणना आठ अन्तरायों में की गयी है तथा इसमें चित्त की विक्षिप्त भूमि होती है, जो सुख-दुःख-मोहात्मक तीनों होती है। आधुनिक मनोविज्ञान[२] भी 'उन्माद' की गणना विशिष्ट व्याधि रूप में, अन्य व्याधियों से अलग, करता है।

अनुभाव—अनिमित और अस्थान हास-रोदन, आक्रोशपूर्ण एवं असत्-असंबद्ध प्रलाप, अनिद्रा, अव्यवहार्य व्यवहार, अनर्थक गीत-नाच आदि हैं।

(३१) मरण

'मरण' के मूल में 'मृ' धातु है। इसके अर्थ संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ में इस प्रकार दिये हैं—'मृ'—मरना। नष्ट होना।

'मृ' धातु में 'ल्युट्' (करणे) प्रत्यय के योग से 'मरणम्' बनता है, तथा 'मृ' धातु में भावे 'क्तिन्' प्रत्यय के योग से 'मृतिः' शब्द बनता है। 'मरणम्' और 'मृतिः' के निम्नलिखित अर्थ हैं—

मरणम्—(१) मरने की क्रिया, मृत्यु, (२) बीतना, अन्त होना, रुकना (वर्षादि का) (३) एक प्रकार का विष।

मृतिः—मृत्यु, मरने की क्रिया।[३]

---

१. ना० शा०, ७।७७; काव्यानु०, पृष्ठ ९४; ना० द०, पृष्ठ ३४२; भा० प्र०, १ अधिकार; सा० द०, ३।१६०।

२. देखिए—'असाधारण मनोविज्ञान', अध्याय-९, पृष्ठ १७३-१९३।

३. 1. The act of dying, death, Sushruta, Manusmriti, Mahabharat,
2. Passing away, cessation (of eain etc.)-Etareya Brahman,
3. A kind of poison.
मृतिः— Death, dying—Bhagwat. देखिए—मो० वि० का संस्कृत-अंग्रेजी कोश।

भरतमुनि ने व्याधिज और अभिघातज दो प्रकार का 'मरण' कहा है, तथा आयुर्वेद में बताये रोगों से उत्पन्न को व्याधिज एवं शस्त्रादि, विषपान वा सर्पदंश वा श्वापद, गज-तुरगादि वा यानादि-नाश से उत्पन्न को अभिघातज बताया है। उनके मत से अनेक व्याधियों से उत्पन्न विषण्ण गात्र, निश्चेष्ट-इन्द्रियता से युक्त 'मरण' का अभिनय विवर्जित है। अभिघातज को शस्त्र से क्षत होकर सहसा भूमिपतन, विकम्पन, स्फुरणादि के द्वारा अभिनेय कहा गया है।[1] धनंजय ने इसे स्वतः स्पष्ट और अमंगलमय कहकर छोड़ दिया है।[2] अग्निपुराण में मरण का, सम्भवतः अमंगलमय और अनभिनेयता के कारण परिगणन नहीं हुआ है। असंग ने योगाचारभूमि में 'मरण' को मन का विशेष कर्म माना है (द० दि०, पृष्ठ ७२१)। हेमचन्द्राचार्य ने इसे 'मृति' कहकर 'मुरझाने की क्रिया' कहा है, और मृत्यु की प्रागवस्था स्वीकार किया है।[3] रामचन्द्रगुणचन्द्र ने इसे व्याधि आदि से उत्पन्न 'मृत्युसंकल्प' और विषयों के ग्रहण में 'इन्द्रियों की असमर्थता' लक्षित किया है।[4] उनके अनुसार, यह अनर्थ-दुष्प्रतिकार्य है और वश से बाहर है यह सोचकर 'मरूंगा' ऐसा अध्यवसाय 'मृत्युसंकल्प' है। शारदातनय ने 'प्रकृति-प्राण-वियोग' को मरण कहा है, और व्याधिज तथा अभिघातज ही, द्विधा, स्वीकार किया है। और पहले का अभिनय वर्जित बताया है।[5] शिंगभूपाल ने 'धनंजय वायु का आत्मा व शरीर से अवच्छेद होने से मरण नाम' कहा है।[6] द्विधा कहकर अन्य आचार्यों के मत का अनुसरण वे भी करते हैं। विद्यानाथ ने 'मरणार्थ प्रयत्न' को ही 'मरण' सिद्ध किया है।[7] कविराज विश्वनाथ ने इसे 'जीव-त्याग' संज्ञा दी है।[8] भानुदत्त ने 'मरण' का अपर नाम निधन देकर 'प्राण निष्क्रमणं निधनं' कहा है। और इस प्रकार प्राण के निकलते समय की

---

१. मरणंनाम व्यधिजमभिघातजं च। तत्रदोषवैषम्यगण्डपिटकज्वर विचर्चिकादिभिरुत्पद्यते तद् व्याधिप्रभवम्। अभिधातजं तु शस्त्राहिदशं विषपानश्वापदगजतुरंगरथयानपातविनाश-प्रभवम्। विषण्यगात्रैर्निश्चेष्टैरिन्द्रियैश्च विवर्जितः। शस्त्रक्षते तावत्सहसाभूमिपतन-विकम्पनस्फुरणादिभिरभिनयः प्रयोक्तव्यः। ना० शा०, ७।७८।

२. मरणं सुप्रसिद्धत्वादनर्थत्वाच्च नोच्यते। द० रू०, ४।१६।

३. मृतिर्म्रियमाणता। मृतेः प्रागवस्था मृतिः। काव्यानु०, पृष्ठ ८५।

४. व्याध्यादेर्मृत्युसंकल्पो मरणं विकलेन्द्रियम्। ना० द०, ३।१९७ एवं ठीका।

५. मरणेऽभिनयो नास्तीत्येतत्काव्येन बध्यते। मरण तद् द्विधा व्याधेरभिघाताच्चजायते। भा० प्र०, १ अधिकार। मरणं प्रकृति-प्राणवियोग इति कथ्यते। वही, २ अधिकार।

६. वायोर्धनंजयाख्यास्य विप्रयोगो च आत्मना।
शरीरावच्छेदवत्ता मरणं नाम तद् भवेत्॥ र० सु०, २।५४।

७. मरणं मरणार्थस्तु प्रयत्नः परिकीर्तितः। प्र० रु०, पृष्ठ २५९।

८. शराद्यैर्मरणं जीवत्यागोऽङ्गपतनादिकृत्। सा० द०, ३।१५५।

चित्तवृत्ति को लक्षित किया है ।[१] पण्डितराज जगन्नाथ के मतानुसार रोगादिजन्या मूर्च्छा-रूपा मरण की प्रागवस्था 'मरण' है । मुख्य मरण में शरीर-प्राण संयोग न रहने से उसे 'मरण भाव' नहीं कहा जा सकता । प्रदीपकार का मत है कि जीव का 'चल निकलने का आरम्भ' मरण है । पण्डितराज के मत से कविजन प्रधानतया इसका वर्णन अमंगल-सा मान कर नहीं करते । परन्तु 'रस-विच्छेद हेतु होने के कारण' मरण का वर्णन शृंगार में ही अनुचित है, करुण में पोषक होने के कारण उचित है ।[२]

चिन्तामणि भी इसे 'संभ्रमादिक से युक्त प्राण-त्याग की क्रिया ही मानते हैं, पूर्णतया प्राण-त्याग का निषेध करते हैं ।[३] देव ने इसका शृंगार में अभाव कहा है, तथा इसे स्वतः सिद्ध कहकर, अमंगलमय मानकर रस-हानि न हो, इस प्रकार वर्णन का उपदेश दिया है ।[४] 'प्राण का डूबना' कुलपति मिश्र के मत में 'मरण' है ।[५] गुलाम नवी इसके विभाव और अनुभावों का परम्परित वर्णन करते हैं ।[६] सोमनाथ ने इसका नाम मरण न देकर 'लय' दिया है और कुलपति मिश्र की भांति 'प्रानन को बूडिबो' परिभाषा दी है ।[७] भिखारीदास ने इसके नाम की परिगणना की है, परिभाषा संभवतः स्पष्ट समझ कर वा अमंगलमय जानकर नहीं दी ।[८] बेनी प्रवीन ने इसके विभावों की परिगणना की है तथा अति दुःख, अतिमोह, अति लज्जा, तथा अतिभय और अतिविरहाग्नि से इसका होना कहकर इसे पूर्णतया भाव-जनित परिणाम की श्रेणी पर लाकर रख दिया है ।[९] पद्माकर भट्ट ने 'प्राण-त्याग' कहकर अवर्ण्य कहा है, परन्तु शूरों तथा सतियों का सुयशहेतु वर्णन करना कहा है ।[१०] प्रताप साहि ने पण्डित-

---

१. र० त०, पृष्ठ १०३ । २. रगंध०, पृष्ठ ३१२-१४ ।

३. प्राण-त्याग कहियत मरन सु तो त्याग माँहि ।
संभ्रमादिक छोड़ कै और बरनन वै नाहिं ॥ क० कु० क०, ७।४६ ।

४. प्रकटहिं लक्षण मरन के अरु विभाव अनुभाव । जो निदान करि बरनिये तो सिंगार अभाव ।
निर्वेदादिक भाव सब वरने सरस सुभाय ।
ता विधि मरनो बरनिये जामें रस न नसाय ॥ भा० वि०, पृष्ठ ५५ ।

५. प्राण मगनता मरण । र० र०, ३।३० ॥

६. कछुक व्याधि वा घात तें मरन होत है आनि ।
दृग मूंदन, श्वासा चलन हिक्का ते रहि जानि ॥ र० प्र०, छंद ८६३ ।

७. अति प्रानन को बूडिबो ताको लय समुजाई । र० पी० नि०, ७।३१ ।

८. मरन भाव तैंतीसौ गनिये । र० सा०, छंद ५०० ।

९. अति दुख ते अति मोह ते अति लज्जा भय पाप ।
अति विरहागि ते मरन कहूं ह्वै जाय । न० र० त०, छंद ३७५ ।

१०. प्राण त्यागि कहिये मरन सो न बरनिबे जोग ।
बरनत सूर सतीन को सुजस हेत कवि लोग ॥ जगद्वि०, ४।८२ ।

राज की ही भांति मरण को मुरझाना या 'मूर्च्छा' कहा है ।[१] भानु कवि ने इसे अंग्रेजी में 'डेथ' कह कर पद्माकर का अनुगमन करते हुए 'शूरों, सतियों का सुयश-हेतु वर्णन करना' कहा है ।[२] प्रतापनारायण सिंह जू इसे 'शरीर से प्राण-वायु का वियोग कहते हैं ।[३] कन्हैया लाल पोद्दार ने रगंध० और सा० द० में दिए मतों का उल्लेख किया है ।[४] अयोध्यासिंह उपाध्याय ने प्रताप नारायण सिंह जू का ही मत उद्धृत किया है ।[५] राम दहिन मिश्र चित्त-वृत्ति की उस दशा को, जिसमें मृत्यु के समान कष्ट की अनुभूति हो अथवा जो भावान्तर से इस प्रकार अभिभूत हो गयी हो कि मृत्यु-कष्ट नगण्य जान पड़े, 'मरण' कहते हैं ।[६] परन्तु मनोविज्ञान का मत है कि शरीर-त्याग में, प्राण-त्याग में दुःख नहीं होता, विश्रान्तिजन्य एक अपार सुख मिलता है । जिसमें मन और इन्द्रियों का वैकल्य शान्त होने लगता है । आचार्य शुक्ल ने इसे शारीरिक अवस्थाओं में स्थान दिया है । और, वे भाव की तीव्रता या व्यापकता के अनुभव में सहायक होने पर ही संचारियों में स्थान देना चाहते हैं ।[७] बाबू गुलाब राय इसे 'अत्यन्त शैथिल्य की अवस्था' परिभाषित करते हैं, और इसके वर्णन की सीमा 'देव' का उद्धरण देकर सीमित करते हैं ।[८] डॉ० राकेश गुप्त भी इसे अंग्रेजी में 'डेथ' नाम देते हैं तथा कविराज विश्वनाथ के मत को अपने विवेचन के लिए आधार बनाते हैं । वे इसे न मानसिक अनुभूति मानते हैं न भाव ।[९]

मरण के निम्नलिखित अनुभाव हैं[१०]—

शस्त्रक्षत मरण के—सहसाभूमिपतन, छटपटाहट आदि;

विषज मरण के—नाना विषवेग, यथा—कृशता, हिचकी, वेपथु, दाह, फेन, जोड़ टूटना, जड़ता; तथा दोनों में : विह्वल चेष्टा, विवर्णगात्रता, निश्वास, परिजनों को न पहचानना, अव्यक्त भाषण आदि ।

'मरण' के उपरिलिखित अध्ययन का सार निम्नलिखित है—

विभाव—व्याधि, अभिघात, अतिदुःख, अतिभय, अतिवियोगाग्नि, अति लज्जा, मोह आदि हैं।

---

१. मरण मूर्च्छा जानि ये लक्षण नाम प्रभाव । का० वि०, ३।४८ ।

२. मरनो सूर सतीन को कहत सुजस के हेतु । र० रत्ना०, संचारी भाव ।

३. र० कु०, ३ कुसुम । ४. का० कल्प०, चतुर्थ स्तवक ।

५. र० क०, पृष्ठ ५७ । ६. का० द०, पृष्ठ ८० ।

७. र० मी०, पृष्ठ २२९ । ८. सि० अध्य०, पृष्ठ १३२ ।

९. सा० स्ट० र०, पृष्ठ १३८ ।

१०. ना० शा०, ७।७८; काव्यानु०, पृष्ठ ९८; ना० द०, ३।१९७; का० प्र०, १ अधिकार; सा० द०, ३।१५४।

लक्षण —मन के मुरझाने, देह त्यागने के संकल्प, विषय-ग्रहण की असमर्थता, अत्यन्त शैथिल्य, मरणार्थ प्रयत्न, प्राण त्यागने के समय की क्रिया अथवा वास्तविक मृत्यु की प्रागवस्था का नाम मरण है। पाश्चात्य मनोविज्ञान भी इससे सहमत है कि अत्यन्त भय, अति दुःख आदि से व्यक्तियों की मृत्यु हो जाती है। असंग मुनि ने योगाचार भूमि में मन के विशेष कर्मों के अन्तर्गत शरीर छोड़ना ('च्युति') को, मरण को गिना है (द० दि०, पृष्ठ ७२१)।

अनुभाव—इसके व्याधिज और अभिघातज के विशेष-विशेष अनुभाव कहे गये हैं: यथा—विकम्पन, वैवर्ण्य, जड़ता, स्वर-भंग; भूमिपतन, दाह, हिचकी, फेन, जोड़ टूटना, विह्वल चेष्टा, निश्वास, अस्फुट भाषण, अदर्शन, अनभिज्ञान, आदि।

(३२) त्रास

'त्रास' के मूल में 'त्रस्' धातु है जिसमें भावे 'घञ्' प्रत्यय के योग से 'त्रास' की व्युत्पत्ति होती है।

'त्रस्' धातु के निम्नलिखित अर्थ दिए गये हैं[१]—

(१) कांपना, थरथराना, भय से भड़कना, (२) भय करना, डरना, (३) भाग जाना भागना।

त्रास के निम्नलिखित अर्थ हैं[२]—

(१) भय, डर, शंका, (२) चौंकाने वाला, डराने वाला।

भरतमुनि ने 'त्रास' नाम की समुत्पत्ति बिजली, उल्का, वज्रपात, वायुवेग के झोंके, बादल की कड़क, बलशाली जन्तु के शब्द आदि से बतायी है।[३] धनंजय ने इसे गर्जनादि से उत्पन्न 'मनः क्षोभ' कहा है।[४] अग्निपुराण में युद्ध में और व्याघ्रादि से होने वाली 'वीप्सा चित्त चमत्कृति' को 'त्रास' कहा गया है।[५] हेमचन्द्राचार्य ने भी इसे 'चित्त-चमत्कार' कहा है

---

१. 1. To quake, tremble, start with fear. 2. to fear, dread, be afraid of 3. to run away, run from.

२. 1. Fear, terror, alarm, -Ramayan, 2. alarming, frightening.
—Apte's Sans. Eng. Dictionary.

३. विद्युदुल्काशनिपातनिर्घाताम्बुधरमहासत्त्वपशुरवादिभिर्विभावैरुत्पद्यसते। ना० शा०, ७।८२।

महाभैरवनादादेस्त्रासात् सः समुपजायते। वही।

४. गर्जितादेर्मनः क्षोभस्त्रासोऽत्रोत्कम्पितादयः। द० रु०, ४।१६।

५. युद्धे व्याघ्रादिभिस्त्रासो वीप्सा चित्त-चमत्कृति। अ० पु० का०, ३।३२।

और भय से इस प्रकार भिन्न बताया है कि उसमें 'पूर्वापर' का विचार होता है।[१] रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने 'घोर' (भीषण) रव से चकितता (उद्वेगकर चमत्कार) को त्रास का नाम दिया हैं।[२] भय में अनर्थ की सम्भावना सत्त्वभ्रंशता (मानसिक बलहानि) होती है, यह भय से इसके भेद हैं। शारदातनय[३] और कविराज विश्वनाथ[४] ने भी केवल विभाव और अनुभावों के वर्णन से त्रास का निरूपण किया है। शिंगभूपाल[५] ने इसे 'चित्त-चांचल्य' नाम दिया है तथा विद्यानाथ[६] ने इसे 'आकस्मिक भय से उत्पन्न होने वाला क्षोभ' कहा है। भानुदत्त ने 'मनोविक्षोभ' को त्रास संज्ञा दी है,[७] तथा विचार से उत्थित मनःक्षोभ भीति है जो पूर्वसम्भावित होती है एवं आकस्मिक मनःक्षोभ त्रास है।[८] पण्डितराज जगन्नाथ ने भी इसका भाव और अनुभावों के द्वारा वर्णन किया है। उन्होंने प्राचीन मत का उल्लेख किया है कि 'उत्पातादिकों से मन का विक्षेप त्रास' है।[९]

चिन्तामणि इसे 'भय' ही कहते हैं।[१०] देव ने इसे घोर, श्रवण, दर्शन, स्मरण से स्तम्भकारक, रोमांचकारक तथा भयावह होता हुआ 'चित्तक्षोभ' कहा है।[११] इन्होंने इस चित्त-क्षोभ को भानुदत्त का अनुवाद करते हुए दो प्रकार का कहा है। एक त्रास दूसरा भीति। आकस्मिक होने पर यह त्रास है और विचारात्मक होने पर भयात्मक।[१२] कुलपति मिश्र ने

---

१. काव्यानु०, पृष्ठ ९५।

२. चकितता उद्वेगकारीचमत्कारः। अनर्थसंभावनातः सत्त्वभ्रंशो—भयमिति अनयोर्भेदः।
ना० द०, ३।२०८।

३. त्रासो भवेत् निपतनाच्छिलोल्काशनिविद्विषाम्।
रक्षः स्थूलपशूद्घातनिर्घाताम्बुधर स्वनैः ॥ भा० प्र०, १ अधिकार।

४. निर्घातविद्युदुल्काद्यैस्त्रासः कम्पादिकारक। सा० द०, ३।१६४।

५. त्रासस्तु चित्तचांचल्यम् विद्युत्क्रव्याद्गर्जितैः।
तथा भूतभुजंगाद्यैर्विज्ञेयास्तत्र विक्रिया। र० सु०, २।३०।

६. आकस्मिक भयाच्चितक्षोभस्त्रासः प्रकीर्त्यते। प्र० रु०, पृष्ठ २६०।

७. मनोविक्षोभस्त्रासः। र० त०, पृष्ठ १०४।

८. वही। एवं जीवनाथ ओझा की टीका पृष्ठ १५४।

९. रगंध०, पृष्ठ २९९।

१०. कछु उपाय कंपादि कर उपजत भय जो चित्त।
ताहीं सो पण्डित कहत त्रास जानिए मित्त। क० कु० क०, ७।३८।

११. घोर श्रवन दरसन सुमृति तंभ पुलक भयगात।
क्षोभ होय जो चित्त में त्रास कहत कवि तात। भा० वि०, ५७।

१२. चित्त क्षोभ द्वै भांति को एक त्रास अरु भीति।
अकस्मात् तें त्रास अरु विचारतें भय रीति। वही।

'डर' को त्रास कहा है।[१] गुलामनवी भी इसे दर्शन और स्मृति से उत्पन्न मानते हैं।[२] त्रास को 'डर' कहकर सोभनाथ कुलपति मिश्र का ही अनुगमन करते हैं।[३] भिखारीदास ने त्रास को 'क्षोभ' कहा है, जहां कुछ देखकर डर जाये और चौंकना आदि अनुभाव हों।[४] बेनी प्रवीन ने 'मति का अस्थैर्य' और 'मन का अति ह्रास' भी त्रास में स्वीकार किया है।[५] पद्‌माकर भट्ट ने इसे 'भयोत्पत्ति' कहा है।[६] प्रताप साहि भी 'डर'[७] को ही 'त्रास' कहते हैं, जो चित्त और शरीरगत होता है।[८] भानु कवि ने पद्‌माकर भट्ट का लक्षण ही ग्रहण कर लिया है परन्तु अंग्रेजी में 'फ़ियर' भी कहा है। प्रतापनारायण सिंह जू ने 'अचानक अहित प्राप्ति से अविचारित चित्त विकार' कहकर त्रास की परिभाषा दी है।[९] अयोध्यासिंह उपाध्याय 'किसी अहित की भावना से हृदय में उत्पन्न क्षोभ को त्रास' कहते है।[१०] कन्हैयालाल पोद्दार ने आकस्मिक उत्पातों से 'चित्त की व्याग्रता' को त्रास नाम दिया है।[११] राम दहिन मिश्र भी इसे 'चित्त का व्यग्र होना' ही कहते हैं, परन्तु कारणों में प्राकृतिक उत्पातों के साथ प्रबल विरोध को भी स्थान देते हैं।[१२] आचार्य शुक्ल ने मन के वेगों में 'त्रास' को स्थान दिया है। उन्होंने अपने विवेचन के लिए कविराज विश्वनाथ के लक्षण को आलम्बन बनाया है। इनके मत से 'किसी शब्द या रूप के गोचर होने पर एक बारगी कंपा या चौंका देने वाला वेग 'त्रास' है जिसमें न तो विषय की स्फुट धारणा रहती है न लक्ष्य-साधन की ओर गति।' यह आलम्बन निरपेक्ष वेग है, और इसके उदय के पश्चात् प्रायः आलम्बन-प्रधान-भाव 'भय' का उदय होता है।[१३] बाबू गुलाब राय प्राकृतिक कारणों से उत्पन्न 'भय' को ही त्रास कहते हैं।[१४] डॉ० राकेश गुप्त[१५] इसे 'भय' का पर्याय मानते हैं फिर भी अकस्मात् चकितता या प्रकम्पन के द्वारा

---

१. डर पुनि त्रास कहाय। र० र०, २।३६।

२. त्रास भाव प्रकटे सदा दरस सुधि पाय।
स्तम्भ कम्प धक-धकहुते तन में होत जनाइ॥ र० प्र०, छंद ८१२।

३. त्रास जानि डर॥ र० पी० नि०, ७।२२॥

४. त्रास क्षोभ कछु देखि डरै जू।
चौंकादिक अनुभाव धरै जू॥ र० सा०, ४६६ छंद।

५. तन कम्पै मति थिर न जहं मन अति होइ हिरास।
विवरन परम विनीत बच बोले उपजै त्रास। न० र० त०, छंद ३७६।

६. जहां कौन हूं अहित ते उपजत कछु भय आय।
ताही को नित त्रास कहि बरनत हैं कविराय॥ जगद्वि०, ४।६२॥

७. डरते त्रास देह जिय। का० वि०, ३।४६।

८. र० रत्ना० संचारी भाव।

९. र० कु०, ३ कुसुम।

१०. र० क०, पृष्ठ ६१।

११. का० कल्प०, चतुर्थ स्तवक।

१२. का० द०, पृष्ठ ७६।

१३. र० मी०, पृष्ठ २०६।

१४. सि० अध्य०, पृष्ठ १३२।

१५. सा० स्ट० र०, पृष्ठ १३७।

इसका भय से भेद किया गया है। और, भय में यह विचारोपरान्त होता है। परन्तु इससे भी, डॉ० गुप्त के मत में भयग्रस्त चेतना के स्वभाव में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

त्रास के अनुभाव निम्नलिखित हैं —

इसमें अंग संकोच, उत्कम्पन, सिहरन, स्तम्भ, रोमांच, शिथिलांगता, आंख मींचना, साँस रोक कर रह जाना, पसीना चूना, मूर्च्छा, गद्‌गद् वचन, संभ्रम आदि होते हैं।[1]

'त्रास' के उपरिलिखित अध्ययन का सार निम्नलिखित है—

विभाव—आकस्मिक बलशाली शब्द, बलवत् वेग, हठात् प्रचण्ड प्रकाश आदि हैं।

लक्षण—मन की अविचारित व्यग्रता, आकस्मिक भय से चित्त की विक्षेपावस्था, मन का उद्वेगकर चमत्कार, मति का अस्थैर्य सत्त्वभ्रंश, विषय-लक्ष्यहीन मन का कम्पन एवं चकित वेग, बारम्बार मनोविक्षोभ या अविचारित चित्त-विकार—ये सब त्रास के अन्तर्गत आते हैं। अतः 'त्रास' मन का विशिष्ट कर्म है। शंका का कारण पूर्वापर 'भय' होता है अतः शंका में भय दीर्घ-कालीन एवं संकुल वृत्तियों से जन्म लेता है जबकि 'त्रास' में वह शुद्ध तात्कालिक और सहसा उत्पन्न होता है। योगसूत्र के अनुसार इसमें चित्त की 'विक्षिप्त भूमि' होती है (दे० पातंजल-योगसूत्रभाष्य विवरण—समाधि पाद-प्रथम)।

अनुभाव—स्तम्भ, रोमांच, कम्प, मूर्च्छा, प्रस्वेद, स्वरभंग, संभ्रम, दृग-संकोच, अंग शैथिल्यादि हैं।

(३३) वितर्क

'वितर्क' के मूल में 'वि' उपसर्गपूर्वक 'तर्क्' धातु है जिसमें भावे 'घञ्' प्रत्यय के योग से 'वितर्क' की व्युत्पत्ति होती है। कोश में 'वि' उपसर्ग सहित तर्क्-धातु के निम्नलिखित अर्थ दिए गए हैं[2]—

१—अनुमान करना, अटकल लगाना, २—सोचना, विचारना, विकल्पना करना, प्रत्यय करना, ३—ध्यान करना, प्रतिच्छायित करना, हेतु या कारण ढूंढना, ४—आकांक्षा करना, ५—खोजना, ढूंढना, जांचना, पता लगाना।

---

१. ना० शा०, ७।८२; द० रू०, ४।१६; काव्यानु०, पृष्ठ ८५; ना० द०, ३।२०८; र० सु०, २।३०-३१; प्र० रु०, पृष्ठ २४५; सा० द०, ३।१६४; रगंध०, पृष्ठ २६६।

२. 1. To guess, to conjecture. 2. to think, suppose, believe, 3. to reflect to reason, 4. to expect, to anticipate, 5. to find out, to discover, to ascertain.

'वितर्क' के निम्नलिखित अर्थ दिए गए हैं[१]—

१—युक्ति, विवेचन, परिणाम, २—अनुमान, अटकल, कल्पना, प्रत्यय, ३—मनोगति, सोच-विचार, ४—सन्देह, ५—निर्णय, विवाद, ६—मिथ्या या विपरीत अनुमान, ७—प्रयोजन, इरादा।

भरतमुनि ने इसको विचारणा, सन्देह, विमर्श, विप्रतिपत्ति आदि से उत्पन्न होता बताया है।[२] बौद्ध दार्शनिक असंग के अनुसार 'वितर्क' (विकल्पन) मन का विशेष कर्म ठहरता है (द० दि०, पृष्ठ ७२०)। धनंजय ने इसे 'विचार' की संज्ञा दी है।[३] अग्निपुराण में इसे 'ऊहः'[४] कहा गया है।[५] हेमचन्द्राचार्य ने 'वितर्क' को 'संभावना' अथवा 'संभवनीय प्रत्यय' कहा है।[६] रामचन्द्र गुणचन्द्र ने इसे 'तर्क' नाम दिया है और एक पक्ष की सम्भावना कहा है।[७] शारदातनय ने तर्क को सहेतुक विचार कहा है जिस पर तर्क किया जाता है अथवा जो तर्क करता है। 'वितर्क' को उन्होंने 'अनुभूत अर्थ की स्मृति-विशेष' कहा है।[८] तथा उसकी उत्पत्ति, संशय से, दूर-दृष्टार्थ के अपरिनिश्चिय से, विमर्श से, विस्मृत अर्थ की स्मृति आदि से कही गयी है।[९] शिंगभूपाल ने अग्निपुराण का अनुगमन करते हुए वितर्क को 'ऊहः' कहा है और सन्देह, विमर्श प्रत्ययादि से सत्यासत्य के निर्णय से जनित[१०]

---

१. 1. Argument, reasoning, inference, 2. guess, conjecture, supposition, belief, 3. fancy, thought—Bhagwatgeeta, 4. doubt, 5. deliberation, discussion, 6. false or adverse conjecture—Mahabharat, 7. purpose, intention.

—Apte's Sans. Eng. Dictionary

मोनियर विलियम्स ने इसको इन अर्थों में महाभारत, कथा-सारित्सागर, योगसूत्र, आदि में प्रयुक्त होते देखा है।

२. ना० शा०, ७।८३।

३. तर्को विचारः। द० रू०, ४।२७।

४. ऊहः=१—अनुभान, अटकल, २—परीक्षण और निश्चय करना, ३—समझ, ४—युक्तिता, युक्ति प्रदर्शन, ५—त्रुटिपूर्ति।—सं० श० कौ०।

५. 'ऊहो वितर्कः'। अ० पु० का०, ३।३३।

६. वितर्कः संभावना। काव्यानु०, पृष्ठ ८५।

७. एकसंभावनं तर्को वादादेरंगनर्तकः। ना० द०, पृष्ठ ३४४।

८. विर्कमनुभूतेऽर्थे धी विशेषः स्मृतिभवेत्।
तर्क्यते तर्कते तर्को विचारः स्यात्सहेतुकः॥ भा० प्र०, २ अधिकार।

९. वितर्कः संशयाद्दूरदृष्टार्थापरिनिश्चयात्। वही।

१०. ऊहोवितर्कः सन्देहविमर्शप्रत्ययादिभिः।
जनितोनिर्णयान्तः स्यादसत्यः सत्यएव वा। र० सु०।

बताया है। विद्यानाथ इसे सन्देह से उत्पन्न होने वाला 'अनन्त्य-कल्पन' कहते हैं।[१] कविराज विश्वनाथ ने इसे 'विचार' ही कहा है और 'तर्क' नाम से अभिहित किया है।[२] भानुदत्त ने भी 'वितर्क' को 'विचार' ही कहा है और इसकी उत्पत्ति विप्रतिपत्ति, संशय, साधक-बाधक मान आदि से मानकर इसे चतुर्विध विचारात्मा, संशयात्मा, अनध्यवसायात्मा तथा विप्रतिपत्यात्मा कहा है। उत्कट कोटिक संशय अनध्यवसाय होता है।[३] पण्डित राज जगन्नाथ सन्देहादि के अनन्तर उत्पन्न हुए 'ऊह' को 'वितर्क' कहते हैं।[४] चिन्ता से यह इस प्रकार भिन्न है कि यह निश्चय का जनक होता है।[५]

समस्त हिन्दी आचार्यों के मतों का अवलोकन करने पर चार मत-वर्गों को 'वितर्क' पर पाते हैं। एक मत इसे 'विचार' कहता है; दूसरा इसे सन्देह कहता है; तीसरा इसे विचारात्मादि चतुर्विध निरूपित करता है और 'संशय' को इसका विभाव मानता है (यह मत भानुदत्त की रसतरंगिणी से सर्वप्रथम देव ने अनूदित किया); चौथा वर्ग स्वतन्त्र पृथक्-पृथक् मत देता है।

चिन्तामणि[६], कुलपति मिश्र[७], सोमनाथ[८], कन्हैयालाल पोद्दार[९], अयोध्यासिंह उपाध्याय[१०], इसे 'विचार' मानते हैं। भिखारी दास[११], बेनी प्रवीन[१२], पद्माकर भट्ट[१३],

---

१. सन्देहात् कल्पनानन्त्यं वितर्कः परिकीर्तितः। प्र० रु०, पृष्ठ २६०-६१।
२. तर्को विचारः सन्देहात्। सा० द०, ३।१७१।
३. विचारो वितर्कः वितर्कश्चतुर्विधः विचारात्मा संशयात्माऽनध्यवसायात्मा विप्रतिपत्यात्मा चेति। र० त०, पृष्ठ १०५।
४. सन्देहानन्तरं जायमानो ऊहो वितर्कः। रगंध०, पृष्ठ ३१४।
५. वही, पृष्ठ ३१४।
६. जो विचार सन्देह ते सौ वितर्क यह जानि।
सिर अंगुलि नर्तन है जहीं चिन्तामणि मन आनि। क० कु० क०, ७।७७।
७. सोई तरक बखानिये जहां विचार बहु भाय। र० र०, ३।३१।
८. बहु विचार जहं चित्त में सो तर्क विलास। शृं० वि०, छंद ३२।
बहु विचार सु वितर्क है। तथा र० पी० नि०, ७।२५।
९. का० कल्प०, चतुर्थ स्तवक।
१०. र० क०, पृष्ठ ६५।
११. तर्क सन्देह विविध विधि होइ।
गुननादिक सों जानहु सोइ॥ र० सा०, छंद ४६१॥
१२. जहं सन्देहहित बात है, बहु विचार अनुमान।
चले तर्जनी भौंह सिर तहां वितर्क प्रमाण॥ न० र० त०, ३८१।
१३. उर उपजत सन्देह जहं कीजे कछू विचार।
ताहि वितर्क विचारहीं जे कवि सुमति उदार॥ जगद्वि०, ४।१०४।

भानुकवि[१] (इन्होंने अंग्रेजी में इसे 'डिस्क्रिमिनेशन' भी कहा है) इसे 'सन्देह' कहते है। देव,[२] और गुलाम नवी[३] इसे विचारात्मा, संशयात्मा, अध्यवसायात्मा तथा विप्रवपत्यात्मा चतुर्विध कहते हैं। प्रताप साहि इसे 'विवाद' नाम देते हैं।[४] प्रतापनारायण सिंह जू इसे 'शंका समाधानपूर्वक यथार्थ ज्ञान' कहते हैं।[५] और राम दहिन मिश्र सन्देह के कारण मन की 'ऊहापोह' को वितर्क' नाम देते हैं।[६] आचार्य शुक्ल इसे अन्तःकरण की वृत्तियों में स्थान देते हैं और किसी भाव के कारण उत्पन्न होने पर और उसे स्पष्ट करने में सहायकहोने पर इसका (संचारी रूप में) काव्य में ग्रहश मानते हैं।[७] बाबू गुलाब राय[८] सन्देह के कारण विकल्पों पर विचार' को 'वितर्क' कहते हैं। डॉ० राकेश गुप्त[९] के मत से यह बोधात्मक और असंवेगात्मक है, परन्तु इसकी अनुभूति के समय यदि चेतना संवेग-ग्रस्त है, तो वह भी संवेगात्मक हो सकती है। आपने अपने विवेचन का आधार कविराज विश्वनाथ का मत बनाया है।

वितर्क के निम्नलिखित अनुभाव आचार्यों ने बताए हैं—

शिरचालन, भू-नर्तन, अंगुलि-नर्तनादि तथा किसी वस्तु के ग्रहण-मोक्ष एवं संप्रधारण का कार्य-कलापादि। इसमें कोई सात्त्विक भाव नहीं है।

'वितर्क' के उपरिलिखित अध्ययन का सार निम्नलिखित है—

विभाव —सन्देह, विप्रत्तिपत्ति, स्मृति, विचारणा एवं विमर्श आदि हैं।

---

१. उर उपजत सन्देह जब सो वितर्क हिय भास। र० रत्ना०, संचारी भाव।

२. विप्रतिपत्ति वियार अरु संसय अध्यवसाइ।
वितरक चौविधि जानि भू चलनादिक भाइ। भा० वि०।

३. कहिये तरक विचारि कै संसे तासु विभाउ।
सिर चालन भ्रकुटि चपल ताको है अनुभाउ॥
संसै नाहि विचार में इति त्रय अध्यवसाय।
चौथी विप्रतिपत्तिमें चारि तरक समुदाय। र० प्र०, मिला० र० त०, ५ तरंग।

४. सो वितर्क विवाद। का० वि०, ३।४७।

५. र० कु०, ३ कुसुम।

६. का० द०, पृष्ठ ७९।

७. र० मी०, पृष्ठ २१३।

८. सि० अध्य०, पृष्ठ १३३।

९. सा० स्ट० र०, पृष्ठ १४१।

लक्षण —मन की विकल्प वृत्ति का नाम वितर्क है जो मन के विशेष कर्म के अन्तर्गत आती है। असंग ने विषय की विकल्पना को मन विशिष्ट कर्मों के अन्तर्गत गिना है। (द० दि०, पृष्ठ ७२०) योगसूत्र में भी वितर्क की परिभाषा '।वतर्कविचारानदास्तितारूपानुगमात् संप्रज्ञात' कह कर दी है। उसके अनुसार इसकी चित्तभूमि 'विक्षिप्त' (देखिए 'पातंजलयोगसूत्रभाष्यविवरणम्'—समाधिपाद-प्रथम १७) है। इसके अन्तर्गत 'ऊहा', 'तर्क', 'संभावना', 'अनन्त्य, कल्पना' एवं 'विचार', 'संशय', 'अनध्यवसाय' तथा 'विप्रतिपत्ति' और विविधवाद एवं समाधानयुक्त यथार्थज्ञान सभी समाविष्ट हैं।

अनुभाव —विषय का ग्रहण एवं त्याग तथा संप्रधारण आदि का कार्य-कलाप तथा शिर-चालन, भ्रू-नर्तन आदि कायिक क्रियाएं हैं।

३. व्यभिचारी भावों में परिणत अन्य भावों का स्वरूप-विश्लेषण

स्थायीभाव प्रधान भाव हैं जो रसत्व को प्राप्त होते हैं। परन्तु प्रधानतया प्रयुक्त न होने पर वे भी अन्य संचारी भावों की ही भांति आचरण करते हैं, एवं स्व-रस से भिन्न रस का परिपोषण करने के लिए उसका अंग बनकर उपस्थित होते हैं। गौण रूप से प्रयुक्त होने पर वे भी संचारी-भावों की भांति आचरण करते हैं। अतः उनका भी गौण-रूप से अध्ययन करना यहां समीचीन होगा। स्थायी भावों के विषय में प्रायः सभी आधुनिक आचार्य सहमत हैं कि वे पाश्चात्य मनोविज्ञान के अनुसार भी 'संवेगात्मक' भाव हैं।[1] भरतमुनि के ना० शा० में दिया गया क्रम ही, यहां भी, स्थायी भावों के अध्ययन में भी, बरता गया है एवं रसवादी संस्कृत आचार्यों द्वारा दिए विश्लेषण तक ही उनको सीमित रखा गया है, क्योंकि उनके विषय में आधुनिक आचार्यों ने कुछ विशिष्ट नहीं कहा है। भरतमुनि ने रसों से भिन्न इन भावों के सामान्य-लक्षण देकर कहा है कि ये ही स्थायी-भाव 'रस-संज्ञा' को प्राप्त करते हैं।[2]

(१) रति

'रतिः' के मूल में 'रम्' धातु है जिसमें भावे 'क्तिन्' प्रत्यय के योग से 'रतिः' शब्द की व्युत्पत्ति होती है।

---

१. सा० स्ट० र०, पृष्ठ १४५; री० भूमि० पृष्ठ-७४-४५।

२. लक्षणं खलु पूर्वमभिहितमेषां रससंज्ञकानाम्। इदानीं भावसामान्य लक्षणमभिधास्यामः। तत्र स्थायीवान्वक्ष्यामः। एवमेते स्थायिनोभावा रस-संज्ञाः प्रत्यवगन्तव्याः।
—ना० श०, ७ अध्याय

'रम्' धातु के निम्नलिखिथ अर्थ कोश में दिए गए हैं[१]—

१—प्रसन्न वा आनन्दित होना, मोद करना, सन्तुष्ट होना, २—किसी पर मोद मनाना, किसी से प्रसन्न होना, किसी में आनन्द लेना, किसी की चाहना करना, ३—क्रीड़ा करना, केलि करना, दुलारना, किलोल करना, दिल बहलाना, ४—संभोग करना, ४—ठहरना, रुकना, ६—विरमना, शान्त रहना ७—हर्षित करना, आनन्दित करना।

मोनियर विलियम्स के कोश में 'रम्' धातु का प्रयोग प्रायः इन्हीं अर्थों में ऋग्वेद, महाभारत, छान्दोग्य उपनिषद्, पाणिनि-अष्टाध्यायी, हरिवंश पुराण आदि में दिखाया गया है।

'रति' के निम्नलिखित अर्थ आप्टे के और मो० वि० के संस्कृत-अंग्रेजी कोश में प्राप्त हैं—

(१) इन्द्रीय-सुख, आनन्द, परितृप्ति, आल्हाद, (महाभारत, शिशुपालवध) (२) अभिरुचि, समर्पण या अनुराग, विषय-सुख (महाभारत, भागवत, ऋग्वेद, कुमारसम्भव) (३) प्रेम, स्नेह, (साहित्यदर्पण) (४) भोग-विलास (मार्कण्डेय पुराण), (५) संभोग-कर्म. (६) रति देवी, (७) पुदेन्दु, स्मर-मन्दिर, (८) विराम-ठहराव, (९) स्थायी भाव।[२]

भरतमुनि ने अपने नाट्य-शास्त्र में 'रति' को प्रमोदात्मक भाव कहा है। (ना० शा०, ७।९) परन्तु अभिनव गुप्तपादाचार्य ने उनके 'शृंगारो नाम भवति रतिस्थायिभाव प्रभवः उज्जवल वेशात्मकः' और 'स च स्त्रीपुरुषहेतुकः उत्तमयुवप्रकृतिः' की व्याख्या करते हुए निम्नलिखित अभिप्रायः उपस्थापित किए हैं[३] :—

---

१. 1. To be pleased or delighted, rejoice, be gratified, 2. to rejoice at, be pleased with, take delight in, be fond of, 3. to play, sport, daily, amuse oneself with, 5. to have saxual intercourse with, 5. to reunion, stay, pause, 6. to take rest, remain quiet, 7. to gladden delight-

—Apte's San. Eng. Dictionary.

२. 1. pleasure, delight, satisfaction, joy, —Mahabharat, Sisupalvadha, 2. fondness for, devotion or attachment to, take pleasure in, —Mahabharat, Bhagavat, Rigveda, Kumarsambha, 3. Love, affection —Sahityadarpana 4. Saxual pleasures —Markandeyapurana, 5. Sexual intercourse, 6. wife of Kama, 7. pudendu, 8. Rest, cessation, 9. one of the sentiments of Rasa.

३. हि० अभिनव भारती, पृष्ठ ५३४-५४३।

१. आस्वादन की जाती हुई रति ही मुख्य रूप से श्रृंगार है। रति का आस्वादन करने वालों (सामाजिकों) के द्वारा उस (रति के उपभोग) में विशेष रूप से आसक्त (नायकादि) को श्रृंगारी कहा जाता है।

२. सुरति-क्रीडा रति है। वह वास्तव में कामियों में होती है। अन्यों को (सामाजिकादि की) तो उसकी अनुभूति वा 'संवित्' ही परम-भोज्य रूप है।

३. भरतमुनि का अभिप्राय—'उत्तम' से समान उत्तम संवेदन शक्ति, और 'युव' से समान युवावस्था है। 'उत्तम' और 'युव' न होने से 'रति' स्थिर नहीं होती है।

'वेशः' से उन्होंने भरतमुनि का अभिप्राय 'विभाव और अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव' ग्रहण किया है। अभिनवगुप्त-पादाचार्य के मत में 'वेष' वह है जो चित्तवृत्ति को अन्यत्र व्याप्त करता है अर्थात् अपने बोधन द्वारा रस में संक्रान्त करता है, वह विभाव अनुभाव रूप 'वेष' होता है और जो स्थायीभाव में समा जाते हैं अर्थात् व्याप्त होते हैं वे संचारी (व्यभिचारी) भाव भी 'वेष' कहलाते हैं। और 'उज्जवल' से अभिप्रायः उनकी उत्कृष्टता' ही है।[1] बौद्ध दार्शनिक असंग ने 'राग' को मन का सहाय और चैतसिक धर्म कहा है। (देखिए द० दि० पृ० ७२०) तथा न्याय शास्त्र के अनुसार भी 'रति' रागात्मक है। अग्निपुराणकार ने 'सुख' के 'मनोनुकूल अनुभव' का नाम रतिः कहा है।[2] दशरूपककार ने रतिः को 'प्रमोदात्मा' कह कर उसे पारस्परिक अनुरक्त जनों में बताया है जो 'प्रहृष्यमाणा' होती है।[3] हेमचन्द्र ने अपने काव्यानुशासन में 'परस्पर आस्थाबन्धात्मिका रतिः' परिभाषा दी है और इसमें 'जुगुप्सा, आलस्य, औग्रय' संचारी (व्यभिचारी) भावों को संभोगावस्था में वर्जित बताया है।[4] प्रारम्भ से लेकर फलपर्यन्त तक इसमें 'आशा' रहती है। नाट्यदर्पणकार के मत से यह 'आस्थावत् प्रेमबन्ध-रूप' है और 'अभिलाष रति' से भिन्न है। वस्तुओं के प्रति रतिः 'प्रीति-रतिः' संचारी भाव है।[5] र० सु० में 'दो युवा व्यक्तियों की परस्पर स्थायिनी इच्छा' को रतिः कहा गया है और उसे निसर्गेण', 'अभियोगेन', अभिमानतः (स्नेह-प्रेम आदि आरोप से), उपमा से (सादृश्य से) और अध्यात्म (आत्मा) से उत्पन्न होता बताया गया है।[6] सा० द० में 'प्रिय वस्तु के प्रति मन के प्रवण (उन्मुख, तत्पर) होने को 'रतिः' कहा गया है।[7] भानुदत्त ने इष्टवस्तु समीहा से उत्पन्न अपूर्ण मनोविकार को रति कहा है जो कभी दर्शन से कभी

---

१. देखिए—हि० अभिनव भारती, पृष्ठ ५३४-८४३।

२. मनोनुकूलेऽनुभवः सुखस्यः रतिरिष्यते। अ० पु० का०, १३।

३. प्रमोदात्मा रति सैव यूनोरण्योन्यरक्तयोः प्रहृष्यमाणा श्रृंगारो। द० रू०, ४।४८।

४. काव्यानु०, पृष्ठ ६८-६६।

५. ना० द०, पृष्ठ ३३०।

६. र० सु०, २।१०७।

७. सा० द०, ३।१७६।

श्रवण से और कभी स्मरण से होता है ।[१] भावप्रकाशन में मनोनुकूल वस्तु के प्रति सुख-संवेदनात्मिका इच्छा 'रतिः' कही गई है और रसार्नवसुधाकर के उपरिकथिक रति-विषयों में में 'स्वरूपतः' को और बढ़ाया है एवं रति-साम्प्रयोगिकी के सप्त विषय-भेद किए हैं । रति-आभ्यासिकी ही प्रतीति कही गयी है । प्रीतिः प्रियात्मा होती है जबकि रतिः प्रायः इच्छात्मक (वांछात्मक) होती है और इसका ज्ञान दोनों के मन में होता है । काव्यात्मक रतिः सत्त्व-गुण में स्थित होती है और विभावादि से उपबृंहिता होती है जबकि लोक में सब कहीं अनुभासित रतिः रजोगुण से अनुगृहीत होती है ।[२] रसगंगाधर में 'स्त्री-पुरुष की एक दूसरे के विषय में प्रेम नामक जो चित्त-वृत्ति होती है, उसे रतिः स्थायी कहा गया है । परन्तु गुरु, देवता, अथवा पुत्र आदि के विषय में होने पर वही प्रेम संचारी भाव बताया गया है ।[३]

'रति' के उपरिलिखित अध्ययन का सार निम्नलिखित है—

विभाव—उत्तम-युव-जन तथा उनका आकर्षक उज्जवल वेश आदि हैं ।

लक्षण—'रति' प्रमोदात्मक, मन-अनुकूल, सुख-अनुभावात्मक, परस्परास्थाबन्धात्मक मन की प्रेम नाम्नी प्रवणता या इच्छा का नाम है जो 'निसर्ग', 'मनोनिवेश', 'संसर्ग', 'अभिमान', 'उपमा' (सादृश्य), 'स्वरूप', तथा 'अध्यात्म' से सप्तधा उत्पन्न होती है ।

व्यक्तियों में सांप्रायोगिक अथवा पारस्परिक न होने पर यही 'प्रीति' कहलाती है जो संचारी (व्यभिचारी) भाव ठहरती है ।

अनुभाव—नयन-वदन-प्रसाद-स्मित, मधुर वचनादि है ।

'भाव' रूप में लक्षण करते हुए भरतमुनि ने 'रति' के संचारी-भावों का वर्णन नहीं किया है ।[४] संचारी-भावों का वर्णन श्रृंगार-रस के ही लक्षण में किया गया है तथा उसके संचारी आलस्य-उग्रता-जुगुप्सा को छोड़कर सब भाव बताये हैं ।

(२) हास

'हासः' के मूल से 'हस्' धातु है जिसमें भावे 'घञ्' प्रत्यय के योग से 'हासः' भाववाचक संज्ञा सिद्ध होती है ।

---

१. तत्रेष्टवस्तुमसीहाजनिता मनोविक्रतिरपरिपूर्णा रतिः । सा च क्वचिद्दर्शनेन, क्वच्चिच्छ्रवणेन, क्वचित्स्मरणेन । र० त०, पृष्ठ १३ ।

२. भा० प्र०, अधिकार २ ।

३. रगंध०, पृष्ठ १२९-३० ।

४. ना० शा०, पृष्ठ ७ ।

'हस्' धातु के निम्नलिखित अर्थ आप्टे एवं मोनियर विलियम्स के संस्कृत-अंग्रेजी कोशों में प्राप्त हैं[१]—

(१) मुस्काना, (मृदुतापूर्वक) हंसना (गीता), (२) मज़ाक बनाना, मुंह चिढ़ाना (महाभारत, रामायण), (३) समधिक होना, उत्तम होना, (काव्यादर्श) (४) खिलना, विकसना, फूलना (कुलवयानन्द), (५) ठट्ठा, ठिठोली, (६) चमकाना, स्पष्ट करना।

'हासः' के निम्नलिखित अर्थ उक्त कोशों में प्राप्त हैं[२]—

(१) हंसी, हंसाना, मुस्कान, मुस्कराना (ऋग्वेद, प्रसन्नराघव), (२) आनन्द, प्रमोद (ऋग्वेद) खुशी, हुलास, चुहल (ऋग्वेद), (३) हास्य रस का स्थायी भाव, (४) विकास, खिलन, (५) गर्व उद्दण्डता (भागवत पुराण)।

भरतमुनि ने पर-चेष्टानुकरण, कुहक (बगल आदि छूना), असम्बद्ध प्रलाप, पौरोभाग्य (दोषदर्शन, ईर्ष्यादि), मूर्खतादि विभावों से 'हास' की उत्पत्ति कही है। वे इसे 'हास्य' रस का स्थायी कहते हुए उसकी उत्पत्ति विकृत-पर-वेशालंकार-धार्ष्ट्य-लौल्य-कुहक-असत्प्रलाप-व्यंगदर्शन-दोषोदाहरणादि विभावों से बताते हैं।[३] अभिनवगुप्ताचार्य ने विकृत वेष और अलकार का अर्थ 'देश-काल-स्वभाव, आयु तथा दशा का वैपरीत्य' बताया है। 'पर' से वे इनका 'दूसरे से संबन्धित होना' अर्थ ग्रहण करते हैं तथा 'आदि' शब्द से वे तत्तत् दोषों का संकल्प स्मृति आदि का ग्रहण करते हैं।[४] धनंजय ने 'हासः' तत्परिपोषात्मा हास्य रसः कहकर इतिश्री

---

१. 1. to smile, to laugh (gently)—Geeta, 2. to laugh at, to mock at—Ramayan, Mahabharat, 3. to surpass, to excel—Kavyadarsh, 4. open to expend, to bloom—Kuvalayananda, 5. jest, joke, 6. to brighten up, to clear up.

—Apte's & M.W. Sans. Eng. Dictionary.

२. 1. Laughter, laughing, smiling—Rigveda, Prasanna-Raghava, 2. joy, mirth, merriment—Rigveda, 3. laughter (as prevailing feeling of the rasa called Hasya), 4. opening, blooming, 5. pride, arrogance.

—Ibid.

३. ना० शा०, ७१९ के पश्चात् का गद्य भाग।

धार्ष्ट्य-निर्लज्जता, लौल्य-विषयों में अनियतता, कुहक-बगल-गर्दन आदि को छूना (बगल आदि के छूने से हास की रक्षात्मक एवं यौन सुखात्मक सृष्टि होती है—विशेष विवेचन के लिए देखिए-यौन-विज्ञान, एलिस हेवलाक, पृष्ठ ५४-५७)—व्यंग्यदर्शन-नकटापन आदि। अभिनव गुप्त की टीका के अनुसार, देखिए हि० अभि० भा० षष्ठ अध्याय, हास्य रस।

४. हि० अभि० भा० पृष्ठ ५७१।

की है ।[१] अग्नि पुराण में 'हर्षादिभिर्मनसो विकासो हास उच्यते' कहा गया है । (अ० पु० का०, १।१३) हेमचन्द्राचार्य ने 'हास' की परिभाषा में 'चेतसो विकासो हासः' कहा है ।[२] रामचन्द्रगुणचन्द्र ने मन की प्रसन्नता तथा उन्माद आदि से उत्पन्न 'चित्त का विकास' हास कहा है ।[३] शिंगभूपाल ने भी 'विकासश्चेतसो हासः' कहा है ।[४] शारदातनय ने प्रीति से चित्त के विशिष्ट विकास का नाम 'हास' कहा है,[५] जो विकल्प को प्राप्त होकर रस को प्राप्त होता है । कविराज बिश्वनाथ ने भी 'हासः' को 'चेतोविकासः' ही कहा है और इसकी उत्पति वाणी आदि की विकृतियों से कही है ।[६] भानुदत्त ने कुतूहलकृत वचन-वेश के वैसादृश्य से उत्पन्न मनोविकार को 'हास' कहा है । रगंध० में भी यही परिभाषा 'हास' की दी गयी है ।[८]

'हास' के उपरिलिखित अध्ययन का सार निम्नलिखित है—

विभाव—विकृत-वेशाकार तथा देश-काल-स्वभाव-आयु-दशा आदि का वैपरीत्य हैं ।

लक्षण— हर्ष-अभिमान आदि कारणों से उत्पन्न प्रीतिपूर्वक चित्त के विकास का नाम 'हास है ।

अनुभाव—अंग-संचालन, नेत्रमुखादि का विकसना, विकृत बचन, अमार्यादित चेष्टाएं आदि, अर्थात् समस्त हसित चेष्टाएं हैं । सात्त्विक अनुभाव—अश्रु हैं ।

भरतमुनि आदि ने 'हास' भाव के संचारी (व्यभिचारी) भावों का वर्णन नहीं किया है । 'हास्य-रस' के ही वर्णन में उन्होंने आलस्य, तन्द्रा (मोह), निद्रा, स्वप्न, ब्रीडा, प्रबोध, अवहित्था, असूया, हर्ष, उत्साह, विस्मय आदि का उल्लेख किया है ।

(३) शोक

'शोक' शब्द के मूल 'शुच्' धातु है जिसके साथ भावे 'घञ्' प्रत्यय के योग से 'शोक' की व्युत्पत्ति है । 'शुच्' धातु के आप्टे तथा मो० वि० के संस्कृत-अंग्रेजी-कोशों में निम्नलिखित अर्थ दिए हैं ।[९]

---

१. द० रू०, ४।७५ ।
२. काव्यानु०, पृष्ठ ८४ ।
३. ना० द०, ३।१८२ ।
४. र० सु०, २।१२३ ।
५. भा० प्र०, पृष्ठ ३४ ।
६. सा० द०, ३।१७६
७. र० त०, पृष्ठ १५ ।
८. रगंध०, प्रथमाननम्, स्थायिभावाः ।
९. 1. To shine, flame, gleam, glow, burn—Rigveda, Brahmana, Ashwalayana Sutra, 2. to suffer voilent heat or flame, be sorrowful or afflicted, grieve, mourn at or for—Tattariya Samhita. 3. to bewail, lament, regret—Mahabharat, 4. to be absorbed in deep meditation, M.W. Dictionary, 5. to be bright or pure—Dhatupadawali, 6. to be wet, to decay, to putrid, to stink.

(१) चमकना, ज्योतित होना, लसना, दिपना, जलना—ऋग्वेद, ब्राह्मण, आश्वालायन सूत्र, (२) अत्यधिक ताप वा ज्वाला से पीड़ित होना दु:खी होना: वा मुदित होना, कल्पना, किसी पर वा किसी के लिए विलपना—तैत्तरीय संहिता, (३) विलाप करना, पछताना, खेद करना—महाभारत, (४) गहरी न्तिा में डूब जाना—मो० वि कोष, (५) उज्जवल वा पवित्र होना—धातुपदावली, (६) क्लिन्न होना, गलित होना, मुरझाना, दुर्वासित होना।

'शोक' के निम्नलिखित अर्थ उक्त कोषों में दिये गये हैं[1]—

(१) जलता हुआ, तप्त—अर्थवेद, (२) ज्वाला, दीप्ति, ताप—ऋग्वेद, अथर्वेद, सामवेद, ब्राह्मण, (३) रंज, गम, तुदन (टीस), व्यथा, पीड़ा, दर्द, कष्ट, दुख—ऋग्वेद, (४) विलाप पश्चाताप—रघुवंश (५) मूर्तिमान शोक जो मृत्यु वा द्रोण और अभिमति का पुत्र कहा गया है—पुराण, (६) करण रस का स्थायी भाव।

भरतमुनि ने 'शोक' के विभाव बतायेहैं—इष्टजन वियोग, विभवनाश, वध, बन्ध, दु:खा नुभवनादि, तथा इसके अनुभाव बताये हैं—अश्रुपात, देव-विलाप, वैवर्ण्य, स्वरभेद, स्रस्तगात्रता, भूमिपात सस्वन रुदन-क्रन्दन, दीर्घ निश्वास, जडता, उन्माद, मोह, मरण आदि।[2]

भरतमुनि ने 'करुण रस' को 'शोक-स्थायि-प्रभव' 'रति-स्थायि-प्रभव-शृंगार' की ही भांति निरूपित किया है। शेष अन्य रसों को 'स्थायि-भावात्मा' निरूपित किया है। करुण-रस की उत्पत्ति के कारण (विभाव) उन्होंने 'शाप-क्लेश में पतित प्रिय जन अथवा उनका वियोग, विभवनाश, बध, बन्ध, देश-निर्वासन (विद्रव:), अग्नि आदि में (जल कर) मर जाना अथवा व्यसन आदि में फंस जाना आदि निष्पादित किये हैं।[3] दशरूपक में करण को 'शोकात्मा' कहा गया है।[4] अग्निपुराण में 'प्रिय वस्तु के क्षयादि से मन की विकलता[5] का नाम शोक' कहा गया है।[6] काव्यानुशासन में शोक: को 'चित्त वैधुर्यात्' कहा है।[7] ना०

---

१. During, hot—Atharvaveda, 2. flame, glow, heat—Rigveda, Atharvaveda, Samaveda, Brahmana, 3. Sorrow, affliction, anguish, pain, trouble, grief—Rigveda, 4. Wailing lamentation—Raghuvamsh. 5. Sorrow personified (as a son of death or Drona and Abhimati) —Puran.

२. ना० शा०, ७।२० के पश्चात् गद्य-भाग।

३. ना० शा० अध्याय ६। ४. शोकात्मा करुण:।

५. विकल (१) खण्डित, अपूर्ण, अंगहीन, (२) भयभीत, डरा हुआ, (३) रहित, हीन, (४) विह्वल, घबड़ाया हुआ, उदास, (५) कुम्हलाया हुआ, मुरझाया हुआ, खड़ा हुआ—संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुम।

६. मनोवैक्लव्यमिच्छन्ति शोकमिष्टक्षयादिभि:। अ० पु० का० शा० भाग ३।५४।

७. वैधुर्यात् शोक:।—काव्यानु० पृष्ठ ८४।

द० में 'निर्वेदानुविद्ध दुःखं शोकः' कहा गया है।[१] रसार्णव सुधारक में 'चित्तशोक की पूर्णता का नाम 'शोक' कहा गया है।[२] साहित्यदर्पण में अग्निपुराण की ही परिभाषा 'शोक' के विषय में दी गयी है।[३] भावप्रकाशन में 'शोक' को 'सर्व इन्द्रिय परिक्लेश' कहा गया है।[४] 'शोक का निर्वह' उन्होंने शुक्—क्लेश, जो शोषणात्मा हो कह कर किया है और उसको शोच्य, शोचक अथवा दूसरों को भी शोचयक निरूपित किया है।[५] रसतरंगिणी में इष्टवियोग से उत्पन्न रति-विश्लेषित परिमित मनोविकार को 'शोक' कहा है।[६] रस गंगाधर में भी शोक को 'वैक्लव्य' ही कहा गया है।[७]

'शोक' के उपरिलिखित अध्ययन का सार निम्नलिखित है—

विभाव—इष्टजनवियोग, विभवनाश, वध, बन्ध, दुःखामनुभवनादि हैं।

लक्षण—'शोक' मन का विशिष्ट कर्म है जिसमें वह व्यथा वा पीडानुभवपूर्वक पश्चाताप करता है। इससे चेतना खण्डित, विह्वल और परिक्लिन्न हो हो जाती है। इसमें 'स्मृति' तथा 'चिन्तन' का भी मिश्रण रहता है।

अनुभाव—(१) विलाप, रुदन, दीर्घ निश्वास, स्रस्तगात्रता, आदि चेष्टाएं; (२) उन्माद, मोह, मरण, जड़ता आदि संचारी (व्यभिचारी) भावों में गिने जाते भाव; (३) वैवर्ण्य, स्वरभेद, अश्रुपातादि, सात्त्विक भावों में गिने जाते भाव हैं।

भरतमुनि आदि आचार्यों ने[८] शोक से उत्पन्न करुण-रस के ही संचारी (व्यभिचारी) भावों के अन्तर्गत निम्नलिखित भावों का उल्लेख किया है—

निर्वेद, ग्लानि, चिन्ता, औत्सुक्य, मोह, भय, विषाद, दैन्य, व्याधि, जड़ता, स्वप्न, संभ्रम, आधि, श्रम, आवेग, स्तम्भ, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु, स्वरभेदादि।

---

१. ना० द०, ३।१२६। २. र० सु०, २।१४०।

३. इष्टनाशादिभिश्चेतो वैक्लव्यं शोकशब्दभाक्। सा० द० ३।१७७।

४. भा० प्र०, २ अध्याय, पृष्ठ ३५। परिक्लेशः—थकान, थकावट, कष्ट, कड़ाई (कठिनता) —संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुम।

५. शुक् क्लेशः शोषणात्मैव शोच्यते शोचतीति वा।
शोचयत्यपरानेवं शोकशब्दस्य निर्वहः॥ भा० प्र०, २ अधिकार॥

६. इष्टविश्लेषजनितो रत्यनालिंगितः परिमितो मनोविकारः शोकः। र० त०, पृष्ठ १८।

७. पुत्रादिवियोग-मरणादिजन्मावैक्लव्याख्यश्चित्तवृत्तिविशेषः शोकः। रगंध०, प्रथमाननम्।

८. ना० शा०, ६।६१ के पश्चात् गद्य; अभि० भा०, पृष्ठ ५८१; द० रू०, ४।८२; काव्यानु०, पृष्ठ ७६; ना० द० ३।११६; भा० प्र०, पृष्ठ ३३ एवं ६३; र० सु०, २।२४६; सा० द०, ७३ अध्याय।

(४) भय

'भय' के मूल में 'भी' धातु है जिसमें अपादाने 'अच्' के प्रत्यय के योग से 'भय' की व्युत्पत्ति होती है। 'भी' धातु का अर्थ है—डरना (देखिए आप्टे का संस्कृत-अंग्रेजी कोश)।

'भय' के निम्नलिखित अर्थ आप्टे के कोश में प्राप्त हैं—[१]

(१) डर, भीति, संत्रास, आशंका, विक्लवता खतरा, जोखिम, संकट्। (२) स्थायी भाव।

मो० वि० के कोश में 'भयः' को निऋति और निकृति का मूर्तिमान पुत्र भी कहा गया है। 'रोग' और 'रुग्णता' भी इसके अर्थ बताये गये हैं।

भरतमुनि ने गुरु, राज-अपराध से, श्वापद, शून्यागार, गहन अटवी-पर्वत-गज, अहि-दर्शन से, निर्भर्त्सन कान्तार, मेघाच्छन्न दिन, निशांधकार, उलूक आदि रात्रिचर के विराव-श्रवण आदि से 'भय' की उत्पत्ति बतायी है। उसके अनुभाव कहे हैं—प्रकम्पित चरण, हृदय कम्पन, स्तम्भ, मुख-शोष, जिह्वा, परिलेहन, स्वेद, वेपथु, त्रास, आश्रयान्वेषण, धावनादि।[२] अर्थात् गुरु-राजपराध, रौद्र प्राणियों के दर्शन, घोर वस्तुओं के श्रवणादि से उत्पन्न मोह से 'भय' उत्पन्न है।[३]

भरतमुनि ने 'विकृत शब्द, भूत-पिशाचादि के दर्शन से, श्रगाल, उलूक आदि से, (अन्यों का) त्रास एवं उद्वेग से, शून्य आगार और शून्य बनादि के प्रवेश, स्व-सम्बन्धियों के वध-बन्धन आदि के दर्शन-श्रवण अथवा चर्चा आदि कारणों से भयानक रस की उत्पत्ति कही है।[४] अग्निपुराण में 'चित्त वैक्लव्यं' को भय संज्ञा दी गयी है और[५] काव्यानुशासन एवं नाट्यदर्पण में उसका ही पुनराख्यान किया गया है।[६] यही मत साहित्यदर्पण का भी है। वे उसे रौद्रशक्ति से उत्पन्न स्वीकार करते हैं।[७] रसार्णवसुधाकर में 'चित्त के अतीव चांचल्य' को भय संज्ञा दी

---

१. 1. Fear, alarm, dread, apprehension, fear of, terror, dismay, danger from,
   2. sentiment of Bhayanaka Rasa.

२. ना० शा०, ७।२१ के पश्चात् का गद्य।

३. गुरुराजापराधेन रौद्राणां चापि दर्शनात्।
श्रवणादपि घोराणां भयमोहेन जायते ॥ ना० शा०, ७।२२।

४. अभि० भा०, अध्याय ६।

५. चित्रादिदर्शनाच्चेतोवैक्लव्यं ब्रुवते भयम्। अ० पु० का०, ३।१६।

६. वक्लव्यं भयम्। काव्यानु०, पृष्ठ ८४, ना० द०, ३।१२६।

७. रौद्रशक्त्या तु जनितंचित्तवैक्लव्यं भयम्। सा० द० ३।

है ।[1] भावप्रकाशन में भी इसी मत का अनुमोदन किया गया है और 'ञिभी' को भयार्थ में प्रयुक्त कहा है एवं 'भयं' का शब्दार्थ 'चलन' दिया है । तदनुसार डरे अथवा डराये यानि स्वयं चले और किसी को चलाये (चंचल करे) वह चलनात्मक भाव भय है ।[2] भानुदत्त ने अपराध से, विकृत रव से और विकृत प्राणी से उत्पन्न अपरिपूर्ण मनोविकार को भय कहा है ।[3] रसंगंगाधर में इसे अग्निपुराण की ही भांति 'वैक्लव्यं' कहा है, जो व्याघ्रदर्शनादिजन्मा 'परमानर्थविषयक' होता है ।[4]

'भय' के उपरिलिखित अध्ययन का सार निम्नालिखित है—

विभाव—गुरु-राजापराध से, एवं रौद्र-प्राणियों के दर्शन-श्रवण से उत्पन्न मोह हैं ।

लक्षण—चेतना के परम अनर्थ विषयक वैक्लव्य से मन के अति चांचल्य का नाम भय है ।

अनुभाव—त्रास (आतंक), प्रकम्पित चरण, हृदय-कम्पन, जिह्वा-परिलेहन, उपायान्वेषण, धावन आदि, तथा स्वेद, वेपथु, स्तम्भ, मुखशोष (सात्त्विक अनुभाव) हैं ।

भरतमुनि आदि आचार्यों ने भयानक रस के ही संचारी (व्यभिचारी) भावों में निम्नलिखित भावों का उल्लेख किया है—

शंका, अपस्मार, मरण, त्रास, आवेग, चापल्य, दैन्य, मोह, जुगुप्सा, निर्वेद, चिन्ता, जड़ता, ग्लानि, उन्माद, मद (पान), विषाद, व्याधि, आलस्य तथा स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, स्वर-भेद, वैवर्ण्य आदि ।[5]

---

१. चित्तस्यातीव चांचल्यं भयम् । र० सु०, २।२५० ।

२. भयं चित्तस्य चलनं—
ञिजी भय इति प्रायोधातुः स्याद्भयवाचकः ।
चलं भयं शब्दार्थ इति विद्वद्भिरुच्यते ।
विभेति भाययत्यन्यान्कर्मणेति यथाक्रमम् ।
कश्चित्त्वत्तति कस्माच्चिद्भावात्तेनैव हेतुना ।
चाल्यते च यतस्तस्मात् भयंचलनात्मकम् । भा० प्र०, पृष्ठ २।४९-५० ।

३. अपराधविकृतरवविकृतसत्त्वादिजनितो, परिपूर्णो मनोविकारो भयम् । र० ता० पृष्ठ २६ ।

४. रगंघ०, प्रथमाननं ।

५. ना० शा०, ६।६८; अभि० भा०, पृष्ठ ५९७; द० रू०, ४।८०; काव्यानु० पृष्ठ, ७८; ना० द०, ३।११९; भा० प्र०, पृ० ३४; र० सु०, २।२५१; सा० द०, ३।२३८ ।

(५) उत्साह

'उत्साह' में उत् उपसर्गपूर्वक 'सह्' धातु है जिसमें भावे 'घञ्' प्रत्यय के योग से 'उत्साह' की व्युत्पत्ति होती है।

'उत्सह्' धातु के निम्नलिखित अर्थ आप्टे और मो० वि० के संस्कृत-अंग्रेजी कोशों में प्राप्त होते हैं[१]—

१—सहना, भुगतना, गम खाना, तैत्तरीय संहिता—ऐतरेय ब्राह्मण, २—समर्थ होना, तुल्य होना, क्षमता करना,—महाभारत, रामायण, ३—शक्ति अथवा साहस से कार्य करना, —महाभारत-रामायण, ४—ढाढ़स बांधना, खिन्न होना, हार कर न बैठना, ५—निष्क्लेश अनुभव करना, चैन-सुख अनुभव करना,—कुमारसंभव। ६—आगे बढ़ना, बढ़ जाना,—किरातार्जुनीयम्, ७—यत्न करना, प्रचलित होना या उकसाना,—किरातार्जुनीयम्।

'उत्साह' के निम्नलिखित अर्थ उक्त कोशों में प्राप्त होते हैं[२]—

१—प्रयत्न, परिश्रम, प्रयास,—भागवतपुराण, २—ऊर्जा, प्रवृत्ति, इच्छा,—रामायण, ३—उद्योग, धुन, प्रयत्नादि, राजा की तीन शक्तियों में एक,—कुमार सम्भव, ४—दृढ़ संकल्प, दृढ़ निश्चय, दृढ़ इरादा,—अमरुक शतक, ५—शक्ति, क्षमता,—मनुस्मृति, ६—स्थैर्य अथवा धीरता, शक्ति, ७—वीर रस का स्थायी भाव, ८—चाव,—वैतालपंचाशिका, ९—औद्धत्य, उजड्डपन।

भरतमुनि ने 'उत्साह' को उत्तमप्रकृति कहा है और उसे 'अविषादशक्ति, धैर्य, शौर्यादि' विभावों से उत्पन्न होता कहा है। उसके अनुभाव उन्होंने धैर्यत्याग, वैशारद्य आदि बताये हैं।[३] भरतमुनि ने 'वीर रस' की उत्पत्ति के कारण 'असंमोह, अध्यवसाय, नय-विनय,

---

१. 1. to endure, bear—Tattariya Samhita,—Etareya Brahamana, 2. to be able, be adequate, have power, 3. to act with courage or energy—Mahabharat, Ramayan, 4. to cheer up, not to sink or give way, 4. to feel at ease, enjoy pleasure—Kumarsambhav, 6. to go forward, march on—Kiratarjuniyam, 7. to attempt, be prompted or initiated—Kiratarjuniyam.

२. effect, exertion,—Bhagwatpuran, 2. energy, inclination, desire—Ramayana, 3. perseverance, Sternous effort, energy, one of the three Shaktis of a ruler—Kumarsambha, 4. determination, resolution—Amaruksatak, 5. Power, ability—Manusmriti, 6. firmness or fortitude regarded as the feeling which gives rise to the veer or heroic sentiment. 7. Firmness of fortitude, strength, 8. Happiness—Vaital Panchasika, 9. rudeness.

३. उत्साहो नाम उत्तमप्रकृतिः। स चाविषादशक्तिधैर्यशौर्यादिभिर्विभावैरुत्पद्यते।
तस्य धैर्यात्यागवैशारद्यादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः॥

—ना० शा०, ७।२१ के पश्चात् का गद्य भाग।

बलपराक्रम, शक्ति, प्रताप, प्रभाव आदि कहे हैं और इसकी आत्मा 'उत्साह' बतायी है अर्थात् वीर रस को 'उत्साहात्मक एवं उत्तम प्रकृति' कहा है।[१] अभिनवगुप्तपादाचार्य ने 'उत्तम प्रकृति' की दो प्रकार से व्याख्या की है।[२] १—उत्तमजनों का स्वभाव, २—अथवा काव्य या नाटक में जो (पुरुष) उत्तम प्रकृति का हेतु है। 'असंमोहाध्यवसाय' का अर्थ 'सम्मोह के बिना तत्व का निश्चय,' 'नय' से सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय, द्वैधी-भाव, राजनीति के गुण, 'विनय' से इन्द्रिय-विजय, 'बल' से सेना, 'पराक्रम' से आक्रमण द्वारा पर-पराजय, 'शक्ति' से युद्धादि की सामर्थ्य 'प्रताप' से शत्रु-संतापिका प्रसिद्धि, 'प्रभाव' से कुल-धन-मंत्री आदि की परिपूर्णता एवं 'आदि' से 'यश' आदि का ग्रहण अभिनवगुप्तपादाचार्य कहते हैं।[३] भरतमुनि ने स्थैर्य (अविचलता), धैर्य (मनोभावगोपन), शौर्य एवं त्याग और वैशारद्य आदि अनुभावों का उपयोग इसके अभिनय में प्रयोक्तव्य कहा है। उन्होंने उत्साह के कारणों के विषय में दो प्राचीन आर्याओं को भी उद्धृत किया है जिनमें निश्चय, अखिन्नता, विस्मय-राहित्य एवं मोहशून्यता एवं नाना प्रकार के विशेष अर्थों से उत्साहात्मक वीर-रस की उत्पत्ति कही गयी है, और स्थिति-धैर्य-वीर्य-गर्व-उत्साह, पराक्रम, प्रभाव एवं आक्षेप-पूर्ण वाक्य आदि से उसका अभिनय बताया गया है।[४] बौद्ध दार्शनिक असंग ने पराक्रम को मन का सहाय चैतसिक धर्म कहा है तथा प्रयत्न को मन का विशिष्ट कर्म कहा है। (देखिए द० दि०, पृष्ठ ७२०-२१) अतः 'उत्साह' पराक्रमयुक्त कर्म होने से चैतसिक धर्मयुक्त मन का कर्म कहा जाना चाहिए। अग्निपुराण में 'हृदय में उत्पन्न पौरुष को उत्साह' कहा गया है।[५] काव्यानुशासन में इसे 'सरंम्भः स्थेयान् उत्साहः' कहा है।[६] नाट्यदर्पण में धर्म-दान, युद्धादि कर्म में 'अनालस्य' को उत्साह बताया है।[७] रसार्णवसुधाकर में शक्ति, धैर्य, सहायादि से श्लाघ्य फलों के लिए कर्मों में लगने वाली 'सत्वरा मानसी वृत्तिः' उत्साह बतायी गयी है।[८] साहित्यदर्पण

---

१. ना० शा०, अध्याय ६।

२. हिं० अभि० भा०, पृष्ठ ५६३।

३. वही, पृष्ठ ५६४।

४. उत्साहोऽध्यवसायादविषादित्वादविस्मयामोहात्।
विविधार्थविशेषाद्वीररसो नाम सम्भवति।
स्थिति-धैर्य-वीर्य-गर्वैरुत्साहपराक्रमप्रभावैश्च।
वाक्यैश्चाक्षेपकृतैर्वीररसः सम्यगभिनेयः॥

५. पुरुषानुसमोऽप्यर्थो यः स उत्साह उच्यते॥ अ० पु० का०, ३।१५॥

६. काव्यानु०, पृष्ठ ७७।

७. ना० द०, ३।१२६।

८. र० सु०, २।१२५।

में काव्यानुशासन की परिभाषा ही ग्रहण कर ली गयी है।[1] भावप्रकाशन में इसे 'उत्तान्द्रतां अभिभवति अत उत्साह' कहा गया है। 'जो स्वयं अधिक सहे वा सहन कराये वा दोनों सहन करें, वह' यह उत्साह का निर्वह है।[2] रस-तरंगिणी में शौर्य, दान, दया से अन्यतमकृत जो परिमित मनोविकार है, उसे उत्साह कहा है।[3] रगंध० में इसे पर-पराक्रम तथा दानादि के स्मरण से उत्पन्न 'उन्नतता' नामक चित्तवृत्ति कहा गया है।[4]

'उत्साह' के उपरिलिखित अध्ययन का सार निम्नलिखित है—

विभाव —अविषाद शक्ति, धैर्य, शौर्यादि हैं।

लक्षण —परमाक्रमयुक्त चैतसिक धर्म के साथ मन के प्रत्येक स्थिति में उद्योग-रत रहने का नाम 'उत्साह' है। अतः एक ओर यह चैतसिक धर्म भी है और दूसरी ओर मन का विशिष्ट कर्म भी है।

अनुभाव —स्थैर्य, धैर्य का अत्याग, तथा वैशारद्य (नैपुण्य, नय, विनय आदि) आदि हैं।

भरतमुनि आदि आचार्यों ने उत्साहात्मक वीर-रस के ही संचारी (व्यभिचारी) भावों के अन्तर्गत निम्नलिखित भावों का उल्लेख किया है।[5]

धृति, मान (मति), गर्व, आवेग, औग्र्य, अमर्ष, स्मृति, प्रबोध, मद, औत्सुत्य, तर्क, असूया, प्रहर्ष, रोमांच आदि।

(६) क्रोध

'क्रोध' के मूल में 'क्रुध्' धातु है जिसके साथ भावे 'घञ्' प्रत्यय के योग से 'क्रोध' की व्युत्पत्ति होती है।

'क्रुध्' धातु के अर्थ कोशों में इस प्रकार दिए गए हैं[6]—

---

१. कार्यारम्भेषु संरम्भः स्थेयानुत्साह उच्यते। सा० द०, ३।१७८।

२. उत्तान्द्रतामभिभवत्यत उत्साह निर्वहः।
उत्साह्यते चोत्सहत उत्साहयति वा भवेत्। भा० प्र०, २। पृष्ठ ३५।

३. शौर्यदानदयान्यतमकृतः परिमितो मनोविकार उत्साहः। र० त०, पृष्ठ २३।

४. पर पराक्रमदानादिस्मृतिजन्मा औन्नत्याख्य उत्साहः। रगंध०, प्रथमाननम्।

५. ना० शा०, ६।१५ के पश्चात् गद्य भाग; अभि० भा०, पृष्ठ ५९३; द० रू०, ४।७२; काव्यानु०, पृष्ठ ७७; भा० प्र०, पृष्ठ ६१; सा० द०, ३।२३४।

६. To be angry, to be wrathful and angry with.
-Apte's & M.W. Sans.English Dictionaries.

(१) कोप करना, कुपित होना, रोष करना, आक्रुष्ट होना, अप्रसन्न होना आदि ।

'क्रोध' के निम्नलिखित अर्थ आप्टे के कोश में दिए गए हैं [१]—

(१) गुस्सा, आक्रोश, तामस कोप,—वाजसनेयी संहिता, अमरकोश, भगवद्गीता, (२) रौद्र का स्थायी भाव ।

मोनियर विलियम्स ने इसे विष्णु पुराण में 'लोभ और निकृति अथवा ब्रह्मा के पुत्र-रूप में' वर्णित देखा है ।[२] अर्थात् यह लोभ के साथ स्वार्थ की असफलता से उत्पन्न मूल भाव है । आप्टे ने इसे बीजाक्षर 'हुम्' वा 'ह्रुम्' अक्षर के नाम के लिए भी प्रयुक्त बताया है ।[३] अर्थात् यह ललकार और अहंकारात्मक तामसिक भाव है ।

भरतमुनि ने इसके विभाव 'आधर्षण, आकृुष्ट, कलह, विवाद, प्रतिकूल-जन आदि' कहे हैं ।[४] क्रोध को उन्होंने पंचधा[५] विभक्त किया है । (१) रिपुज, (२) गुरुज, (३) प्रणयिभव (४) भृत्यज तथा (५) कृतक (पुत्रादि पर बनावटी)

बौद्ध दार्शनिक असंग 'क्रोध' को मन का सहाय कहते हैं और उन्होंने इसे चैतसिक-धर्म स्वीकार किया है (द० दि०, पृष्ठ ७२०) ।

भरतमुनि ने 'रौद्र' रस का स्थायी भाव 'क्रोध' है यह कहते हुए कहा है कि वह आधर्षण, अधिक्षेप, अनृतभाषण, उपघात, वाक्यपारुष्य, अभिद्रोह, मात्सर्य आदि से उत्पन्न होता है ।[६] अभिनवगुप्तपादाचार्य ने आधर्षण से स्त्रियों का तिरस्कार, अधिक्षेप से देश, जाति, कुल, विद्या, कर्म आदि की निन्दा, अनृत से किसी असत्य वचन का कहना, उपघात से गृह-भृत्यादि का उपमर्दन, वाक्यपारुष्य से मार डालने की इच्छा, मात्सर्य से गुणों में दोष-दर्शन (असूया) आदि एवं राज्यादि के अपहरण का अर्थ प्रकट किया है ।[७] दशरूपक में 'क्रोध' को 'क्षोभात्मक रौद्रः' का परिपोषक कहा है ।[८] अग्निपुराण में 'किसी प्रतिकूल परिस्थिति में प्रबोधित तीक्ष्णता' को क्रोध कहा है ।[९] काव्यानुशासन में भी इसी परिभाषा को स्वीकार करते हुए 'तैक्ष्ण्यप्रबोधः क्रोधः' कहा है ।[१०] नाट्यदर्पण में[११] 'अपकार तथा घृणा के हेतु से परिताप का

---

१. 1. Anger, Wrath, Passion-Vajasneyee Samhita, Amarkosh, —Bhagwatgeeta.
2. Anger considered as the feeling which gives rise to the Raudra sentiment. -Apte's Sans. Eng. Dictionary.

२. देखिये मो० वि०, संस्कृत-अंग्रेजी कोष ।

३. आप्टे का संस्कृत-अंग्रेजी कोश ।

४. क्रोधोनाम आधर्षणाक्रुष्टकलहविवादप्रतिकूलादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते । —ना० शा०, ७।१४ के पश्चात् गद्य भाग ।

५. वही, ७।१५ ।

६. ना० शा०, ६ अध्याय ।

७. हिं० अभि० भा०, पृष्ठ ५८४-८५ ।

८. द० रू०, ४।७४ ।

९. अ० पु० का० ३।१५ ।

१०. काव्यानु०, पृष्ठ ७६ ।

११. अपचिकीर्षा-जुगुप्साहेतुः परितापावेशः क्रोधः । —ना०द०, ३।१२६ ।

आवेश' क्रोध कहा गया है। रसार्णवसुधाकर में 'चित्तज्वलनं क्रोध कहा गया है।[1] आगे क्रोध को क्रूर जनों में, कोप को वीर जनों में अभ्यर्थनावधि तक एवं रोष को स्त्री-पुरुषों में ही और विशेषकर स्त्रियों में आश्रित कहा गया है। (हिन्दी में रूठना क्रिया विशेष रूप से अपेक्षापूर्ण रोष करने के अर्थ में ही प्रयुक्त होती है।) साहित्यदर्पण में अग्निपुराण की ही परिभाषा को दोहरा दिया गया है।[2] भावप्रकाशन में क्रोध को 'तेजस्' का जनक कहा गया है और 'क्रोध, कोप, रोष' इसके तीन भेद बताए गए हैं। जिसमें सर्वत्र 'क्रौर्य' उद्दीप्त होता रहे, उसे क्रोध करना व क्रोध कराना कहकर 'क्रोध' का निर्वह शारदातनय ने किया है।[3] भानुदत्त ने अवज्ञादि से उत्पन्न प्रमोद-प्रतिकूल परिमित मनोविकार को क्रोध नाम दिया है।[4] पण्डितराज जगन्नाथ ने भी 'गुरुबन्धु-वधादि परमापराध से उत्पन्न 'प्रज्वलन' नामक चित्तवृत्ति को क्रोध कहा है।[5]

'क्रोध' के उपरिलिखित अध्ययन का सार निम्नलिखित है—

विभाव—प्रतिकूलजनादि द्वारा आधर्षण, आक्रुष्ट-कलह-विवाद, अधिक्षेपादि हैं।

लक्षण—स्वार्थ में प्रतिकूलता देखकर अहं के आवेशपूर्वक प्रबोधित तैक्ष्ण्य का अथवा चेतना के प्रज्वलन का नाम क्रोध है। विषय भेद से यह पांच प्रकार का है—(१) रिपुज (२) गुरुज (३) प्रणयिज (४) भृत्यज एवं (५) कृतक (पुत्रादि में बनावटी)। प्रकार भेद से आचार्यों ने इसके तीन भेद कहे हैं—(१) क्रोध (२) कोप (३) रोष।

बौद्ध दार्शनिक असंग इसे मन का सहाय और चैतसिक धर्म निरूपित करते हैं।

अनुभाव—विकृष्ट नासापुट, उद्वृत्त नयन, ओष्ट काटना, ओष्ट और कपोल का फड़कना आदि हैं।

भरतमुनि आदि ने क्रोध के भाव-रूप निरूपण में कोई संचारी भाव नहीं दिये हैं। उसके रौद्र-रस निरूपण में ही संचारी भावों का कथन किया गया है। उन्होंने रौद्ररस के संचारी भाव बताए हैं—

---

१. र० सु०, २।२४४।

२. प्रतिकूलेषु तैक्ष्ण्यावबोधः क्रोध इष्यते, सा० द०, ३।१७७।

३. तेजसो जनकः क्रोध स त्रिधा कथ्यते बुधैः। क्रोध, कोपश्च, रोषश्चेत्येषभेदस्त्रिधा मतः। कृत्कौर्यं तेन सर्वत्राधिक्ष्यतीत्यस्य निर्वहः। क्रोध्यते क्रोधयत्येव क्रोध इत्यभिधीयते॥ —भा० प्र०, पृष्ठ ४६।

४. अवज्ञादिकृत् प्रमोदप्रतिकूलः परिमितो मनोविकारः क्रोधः। र० त०, पृष्ठ २२।

५. रगंध०, १ आनन।

असंमोह (यथार्थ ज्ञान), उत्साह, आवेग, अमर्ष, गर्व, चपलता, असूया स्मृति, औग्र्य, मद, मोह आदि ।

तथा, सात्त्विक अनुभाव कहे हैं—

स्वेद, वेपथु रोमांच, गद्गद् स्वर आदि ।[१]

रामचन्द्रगुणचन्द्र ने स्तम्भ-स्वेद आदि को स्थायी-भाव क्रोध का कार्यरूप व्यभिचारी (अनुभाव) बताया है (देखिए ना० द०, ३।११७) ।

(७) जुगुप्सा

'जुगुप्सा' के मूल में 'गुप्' धातु है जिसमें इच्छार्थक 'सन्' प्रत्यय के साथ स्त्री-प्रत्यय 'टाप्' के योग से जुगुप्सा की व्युत्पत्ति होती है ।

'गुप्' धातु के निम्नलिखित अर्थ आप्टे एवं मो० वि० संस्कृत-अंग्रेजी कोशों में दिए गये हैं[२]—

(१) निगरानी करना, रक्षा करना, प्रति रक्षा करना, बचा रखना—ऋग्वेद, अथर्ववेद ; (२) छिपाना, लुप्त करना—अमरुकशतक; (३) हेय समझना, बचाना, किनारा करना, घृणा करना, तिरस्कार करना, निन्दा करना—भट्टिकाव्य, सिद्धांत कौमुदी; (४) विभ्रमित होना, उलझन में पड़ना, क्षुब्ध होना ।

इच्छार्थक इस धातु के कोशों में निम्नलिखित अर्थ प्राप्त होते हैं[३]—

(१) आत्मरक्षा का उपाय ढूंढना ; (२) चौकस रहना, आत्मरक्षा करते रहना,—सांख्यगृहसूत्र—छान्दोग्य उपनिषद्; (३) सचेत रहना, बचते रहना, टालना, घृणा करना, तिरस्कार करना, ठुकराना, दूर भागना—मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य-स्मृति, महाभारत (४) क्रुद्ध होना, अपमर्यादित समझना (अपमान मानना) अथवा आक्षिप्त समझना—महाभारत ।

जुगुप्सा के निम्नलिखित अर्थ आप्टे एवं मो० वि० के कोशों में प्राप्त हैं[४]—

---

१. ना० शा०, ७।१५ ; द० रू०, ४।७४ ; काव्यानु, पृष्ठ ७६ ; ना० द०, ३।११७ ; भा० प्र०, पृष्ठ ६६ ; र० सु०, पृष्ठ १६७ ; सा० द०, ३।२३०-३१ ।

२. 1. To guard, to protect, to defend, to preserve-Rigveda, Atharvaveda, 2. to hide, to conceal,-Amaruksatak, 3. to despise, to shun, to abhor, to detest, censure,-Bhattikavya, Sidhantakaumudi.

Apte's & M.W. Sanskrit-Eng. Dictionaries.

३. 1. To seek to defend one's self from, 2. to be on one's guard,-Sankhya grihasutra, Chandogya Unpnishad, to 3. beware of, to shun, to avoid, to detest, to spurn, to despise,-Manusmriti, Yajyavalkysmriti, Mahabharat, 4. to feel offended or hurt,-Mahabharat.

४. 1. dislike, abhorrence, disgust, aversion,-Mahabharat, Panchtantra, 2. censure, reproach, 3. disgust, considered as the feeling that gives rise to the 'Bibhatsa' sentiment.

—Apte's & M.W. San. Eng. Dictionaries.

(१) अप्रीति, घृणा, विरुचि, द्वेष, वैर, विरोध-महाभारत, पंचतंत्र; २. निन्दा, गर्हा, कुत्सा, (३) बीभत्सरस का स्थायी भाव।

भरतमुनि ने 'जुगुप्सा' को स्त्री-नीच स्वभाव वालों की प्रकृति से सम्बन्धित कहा है। उन्होंने इसको अहृदयानुकूलों के दर्शन-श्रवण आदि विभावों से उत्पन्न होता कहा है, तथा उसके अनुभाव कहे हैं—सर्वांग-संकोच, निष्ठीवन (थूकना आदि) मुख-विकूणन, हृदय पर पड़ी लकीरें, नाक दबाना, विविध उद्वेजन आदि।[1]

भरतमुनि ने 'जुगुप्सा' को बीभत्स-रस की आत्मा कहा है और उसके विभाव अहृद्य अहृद्य (अहृदयानुकूल्य), अप्रिय (अग्राह्य), अपवित्र एवं अनिष्ट वस्तुओं का देखना-सुनना और उद्वेजन आदि दिए हैं।[2] आनुवंश्य आर्याएं जो भरतमुनि ने इस प्रसंग में दी हैं, उनके अनुसार 'अनभिमत दर्शन, गन्ध-रस-स्पर्श, और शब्द के दोषों से तथा नाना प्रकार के उद्वेजनों से बीभत्स-रस का समुद्भव होता है। धनंजय ने बीभत्स को 'जुगुप्सात्मक' कहा है, और उसके दो भेद 'उद्वेगी' तथा 'क्षोभण' किए हैं।[3] अग्निपुराण में जुगुप्सा को 'दौर्भाग्य-वाहिनां पदार्थानां निन्दा' कहा है।[4] हेमचन्द्राचार्य ने इसे मन का 'संकोच' बताया है।[5] गुणचन्द्ररामचन्द्र ने 'कुत्सित होने के निश्चय को' जुगुप्सा कहा है।[6] शिंगभूपाल ने 'मन के संकोच को' जुगुप्सा कहा है।[7] कविराज विश्वनाथ ने 'किसी घृणास्पद वस्तु के दोषदर्शन आदि से अथवा विस्मय से उत्पन्न 'गर्हा' का नाम जुगुप्सा' दिया है।[8] शारदातनय ने 'गर्हा' 'निन्दा', 'बीभत्सा' और 'कुत्सा' को पर्यायवाची कहा है एवं जो गर्हणीय, निन्दनीय वा कुत्सनीय है वह भाव 'बीभत्स' है और निन्दात्मा चित्त-संकोच ही जुगुप्सा है।[9] सर्व इन्द्रियों के लिए 'अर्थ-गर्हा' ही जुगुप्सा है तथा 'जुगुप्सा करना, जुगुप्सा की इच्छा-सम्भावना करे, अथवा जुगुप्सा करवाये'—ये सब

---

१. जुगुप्सा नाम स्त्रीनीचप्रकृतिका। सा चाहृद्यदर्शनश्रवणादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते। तस्याः सर्वांग संकोचनिष्ठीवन मुखविकूणन हृल्लेखादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः।
नासाप्रच्छादेनेह गात्र संकोचनेन च।
उद्वेजनैः सहृल्लेखैर्जुगुप्सामभिनिदिशत्॥ ना० शा०, ७।२६।

२. अनभिमतदर्शनेन चगन्धरसस्पर्शशब्ददोषैश्चउद्वेजनैश्च बहुभिर्बीभत्सरसः समुद्भवति।
—ना० शा०, छठा अध्याय।

३. द० रू०, ४।७३।   ४. अ० पु० का० ३।१६।

५. काव्यानु०, पृष्ठ ८४।   ६. कुत्सितत्वाध्वसायो 'जुगुप्सा'—ना० द०, ३।१२६।

७. संकोचनं यत्मनसः सा जुगुप्सा। र० सु० २।१४६।

८. दोषेक्षणादिर्भिगर्हा जुगुप्सा विस्मयोद्भवा। सा० द० ३।१७६।

९. गर्हा निन्दा च वीभत्सा कुत्सो पर्यायवाचकः। गर्हणीय निन्द्यश्च कुत्सनीय यो भवेत्।
स भाव कथ्यते सद्भिः बीभत्स इति संज्ञया। भा० प्र० २।४६।

भाव भावप्रकाशन के अनुसार 'जुगुप्सा' में अन्तर्भुक्त हैं। इसके रस को ऊपर कहे अनुसार द्विधा विभाजित किया गया है।[1] भानुदत्त ने अप्रिय दर्शन, स्पर्शन, स्मरण से उत्पन्न अपरिपूर्ण मनोविकार को जुगुप्सा कहा है।[2] पण्डितराज जगन्नाथ ने 'कदर्य वस्तु के विलोकन से उत्पन्न विचिकित्सा नामक चित्तवृत्ति को जुगुप्सा कहा है।[3]

'जुगुप्सा' के उपरिलिखित अध्ययन का सार निम्नलिखित है—

विभाव—अहृद्य एवं अप्रिय वस्तुओं का सम्पर्क है।

लक्षण—सर्वेन्द्रियों के संकोचपूर्वक मन के उद्वेजन एवं क्षोभण का नाम जुगुप्सा है।

अनुभाव—निन्दा, गर्हा, कुत्सा, दोष-दर्शन, सर्वांग-संकोच, निष्ठीवन, मुंह-बिगाड़ना, नाक ढंकना, विविध उद्वेजन (जी मिचलना, वमनादि, हृदय-पीड़ा आदि) हैं।

'बीभत्स रस' के ही संचारी (व्यभिचारी) भावों के अन्तर्गत भरतमुनि आदि आचार्यों ने[4] निम्नलिखित भावों का उल्लेख किया है—

अपस्मार, आवेग, मोह, व्याधि, मरण, उग्रता, द्वेष, ग्लानि, भय, निद्रा, क्रोध, भ्रम, उन्माद, चापल्य, जड़ता, दैन्य, श्रम, विषाद आदि।

(८) विस्मय

'विस्मय' के मूल में 'वि' उपसर्गपूर्वक 'स्मि' धातु है जिसमें कर्मवाच्य प्रत्यय 'अच्' का योग है।

'विस्मि' धातु के आप्टे एवं मो० वि० के संस्कृत-अंग्रेजी कोशों में निम्नलिखित अर्थ प्राप्त होते हैं—[5]

---

१. निन्दात्मा चित्तसंकोचो जुगुप्सेत्यभिधीयते। द्विधा विभज्यते साऽपि परिणामे रसात्मना॥
सर्वेन्द्रियार्थगर्हैव जुगुप्सेति अभिधीयते। जुगुप्स्यते, जुगुप्स्येत, जुगुप्सापयतीति वा॥
—भा० प्र०, २ अधिकार।

२. र० त०, पृष्ठ २७।

३. कदर्यवस्तुविलोकजन्मा विचिकित्साख्यचित्तवृत्तिविशेषो जुगुप्सा—
'विचिकित्सा तु संशयः' इत्यमरकोश—जुगुप्सा गर्हणाऽर्थानां दोषदर्शनादिभिः
इत्यन्यत्र च दर्शनाद् विचिकित्सास्थाने मूले गर्हणाया उपादानमुचितं प्रतिभाति।
—रगंध०, पृष्ठ १३४।

४. ना० शा०, ६।७२; द० रू०, ४।७३; काव्यानु०, पृष्ठ ७९; ना० द०, ३।१२०; भा०प्र०, पृष्ठ ३३; एवं ६३; र० सु०; सा० द०, ३।१४१-४२।

५. 1. wonder, be surprised or astonished at—Swetaswar Brahmana, 2. to be proud of or conceited-Manusmrti, 3. to admire.

१. अचरज करना, आश्चर्य करना—श्वेताश्वर ब्राह्मण; २. अभिमान करना, सगर्व होना, -मनुस्मृति; ३. मानना, प्रशंसा और आश्चर्य से देखना।

'विस्मय' के निम्नलिखित अर्थ प्राप्त हैं—[१]

(१) अचरज, अचंभा, महाश्चर्य, संभ्रम, किंकर्त्तव्यविमूढ़ता—महाभारत; (२) गर्व, औद्धत्य—मनुस्मृति, भागवतपुराण;— (३) अनिश्चय, सन्देह—मो० वि० कोश; (४) विस्मय स्थायी भाव जो अद्भुत-रस को उत्पन्न करता है।

भरतमुनि ने 'विस्मय' के विभाव माया, इन्द्रजाल, अमानुषकर्मातिशय, चित्रपुस्तक शिल्प-विद्यातिशय आदि कहे हैं। इसके अनुभावों में नयन-विस्तार, अनिमेष-प्रेक्षण, भ्रूक्षेप, रोमहर्षण, शिरःकम्प, साधुवाद (वाह-वाह) आदि कहे हैं। उनके द्वारा दिए आनुवंश्य श्लोक में 'विस्मय' के मूल में 'अतिशयता' तथा 'हर्षः' को ठहराया गया है।[२]

भरतमुनि ने 'विस्मय' को 'अद्भुत' रस की आत्मा कहा है, परन्तु नाट्यशास्त्र में दी हुई आनुवंश्य आर्या में इसके मूल में 'अतिशयता' की स्थिति निरूपित की गयी है।[३] दशरूपक में 'अतिलौकिकता' से परिपूर्ण पदार्थों को 'विस्मय' का विभाव कहा गया है।[४] अग्नि पुराण में अतिशयी वस्तु को देखने से उत्पन्न 'चित्त-विस्मृति' को 'विस्मय' कहा गया है।[५] काव्यानुशासन में 'चित्त-विस्तार' को विस्मय कहा है।[६] नाट्यदर्पणकार के मत से 'उत्कृष्ट होने का निश्चय' कहलाता है।[७] रसार्णवसुधाकार में भी काव्यानुशासन की भांति 'चित्त-विस्तार' को

---

१. 1. Wonder, surprise, amazement, bewilderment, perplexity-Mahabharat 2. pride, arrogance—Manusmriti, Bhagwatpuran, 3. uncertainty, doubt, —W. Dictionary, 4. Astonishment or wonder being the feeling which produces the adbhut sentiment.

२. विस्मयो नाम मायेन्द्रजालममानुषकर्मातिशय चित्रपुस्तशिल्पविद्यातिशयादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते। तस्य नयनविस्तारानिमेषप्रेक्षितभ्रूक्षेपरोमहर्षशिर.कम्पसाधुवादादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः।

कर्मातिशयनिर्वृत्तो विस्मयो हर्ष सम्भवः।
सिद्धि स्थाने त्वसौ साध्यः प्रहर्षपुलकादिभिः॥
—ना० शा०, ७।२७।

३. अथाद्भुदो नाम विस्मयस्थायिभावात्मकः।
यत्त्वतिशयार्थयुक्तं वाक्यं, शिल्पं च कर्मरूपं वा।
तत्सर्वमद्भुतरसे विभावरूपं हि विज्ञेयम्। ना० शा० ६।

४. द० रू०, ४।७६।

५. विस्मयोऽतिशयेनार्थ दार्शनाच्चित्तविस्मृतिः। अ० पु० का०, ३।

६. चित्तविस्तारात्मा विस्मयः। काव्यानु० पृष्ठ ८६।

७. उत्कृष्टत्वाध्यवसायो विस्मयः। ना० द०, ३। १२६।

विस्मय कहा गया है।[1] साहित्यदर्पण में भी यही परिभाषा दी गयी है।[2] भावप्रकाशन में 'चित्त-वैचित्र्य' को विस्मय कहा है और उसे त्रिगुणात्मक रूप से त्रिधा कहा है। व्युत्पत्ति रूप में 'जिसमें विविध रूप से हर्ष हो, वह विस्मय अथवा विशिष्टरूप से स्वयं कुछ विस्मापन करे अथवा अन्यों को करने को प्रेरित करे' वह भावप्रकाशनकार के अनुसार विस्मय होता है।[3] भानुदत्त ने चमत्कार दर्शन, स्पर्शन से जनित अपरिपूर्ण मनोविकार को विस्मय कहा है।[4] रसगंगाधर में अलौकिक वस्तु के दर्शनादि से उत्पन्न 'विकास' नामक चित्त-वृत्ति को विस्मय कहा है। रगंध०कार की दृष्टि में इसे विकासात्मक कहने का कारण यह है कि इसमें 'दृष्ट हेतुओं से असंभावित्वज्ञान से हेतु के सन्धान में मनो-व्यापार' होता है।[5]

'विस्मय' के उपरिलिखित अध्ययन का सार निम्नलिखित है—

विभाव—अतिशयी वस्तु-कर्मादि हैं।

लक्षण—विचित्र वा अतिशय-अनुभव से मुग्ध-चेत होने पर मन के उस वैचित्र्य वा वा अतिशयता के हेतु-सन्धान के अपूर्ण व्यापार का नाम 'विस्मय' है। इसमें अतिशय का विचित्र अनुभवजन्य हर्ष भी होता है, जिसमें चेतना के विस्तार को भी देखा जा सकता है।

अनुभाव—नयन-विस्तार, अनिमेष प्रेक्षण, भ्रूक्षेप, शिरःकम्प, रोमहर्षण, साधुवाद आदि हैं।

भरतमुनि आदि आचार्यों ने 'अद्‌भुत रस' में ही निम्ननिखित संचारी (व्यभिचारी) भावों का उल्लेख किया है[6]—आवेग-संभ्रम, जड़ता, प्रलाप, चपलता, उन्माद, धृति, हर्ष, वितर्क, स्मृति, मति, श्रम। और ये सात्त्विक भाव हैं—स्तम्भ, अश्रु, स्वेद, प्रलय, गद्‌गद्‌त्व, रोमांच, वेपथु आदि।

---

१. विस्तारश्चेतसो यस्तु विस्मयः स निगद्यते। र० सु०, २।१२७।

२. विविधेषु पदार्थेषु लोकसीमातिवर्तिषु।
विस्फारश्चेतसो यस्तु स विस्मय उदाहृतः। सा० द०, ३।१८०।

३. विस्मयश्चित्त वैचित्र्यं स त्रिधा त्रिगुणात्मकः।
विविध स्यात् स्मयो हर्ष इति विस्मयेऽथवा।
विस्माप्यते स्वयं कश्चिद्‌विस्मापयति वा भवेद्॥भा० प्र०, पृष्ठ ३५।

४. चमत्कारदर्शन श्रवणजनितोऽपरिपूर्णो मनोविकारो विस्मयः। र० त०, पृष्ठ २८।

५. अलौकिक वस्तुदर्शनादिजन्मा विकासाख्यो विस्मयः। स च दृष्टहेतुभ्यो सम्भावित्वज्ञानेन हेत्वनुसन्धाने मनोव्यापारूपः रगंध०, प्रथमाननम्।

६. ना० शा०, ६।७४; हिं० अभि० भा०, पृष्ठ ६०४; द० रू०, ४।७६; काव्यानु० पृष्ठ ८०; ना० द०, ३।१२१; भा० प्र०, पृष्ठ ६१; र० सु०, पृष्ठ १६७; सा० द०, ३।२४४-४५।

४. निष्कर्ष

संचारी (व्यभिचारी) भावों के विषय में आचार्यों के मतों का विश्लेषण करते हुए हम निम्नलिखित निष्कर्षों पर पहुंचते हैं :

१. संचारी (व्यभिचारी) भावों की सूची में परिगणित समस्त भाव अन्य भावों की ही भांति भावन-व्यापार में सहायक भाव हैं।

२. ये 'भाव' 'भवति इति भावः' अर्थ में भाव न होकर भी आश्रय के अन्तःकरण के विकारों का भावन कराते हैं और उसी दृष्टिकोण से इनका व्यापक नामकरण किया गया है।

३. इन भावों के अन्तर्गत अन्तःकरण के चारों अगों—मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार से उत्पन्न सभी प्रकार के विकारों का भावन कराने की सामर्थ्य है। इनको भारतीय दार्शनिक-चिन्तन का सहस्राधिक वर्षों का समर्थन प्राप्त है।

४. ये भाव अजड़ एवं जड़ाजड़ दोनों प्रकार के हैं। जिन भावों में शारीरिकता का भी योग है, उन्हें उभयात्मक याने जड़ाजड़ की संज्ञा जैसी रामचन्द्रगुणचन्द्र आदि ने दी है, देना उपयुक्त है; यथा, व्याधि आदि। जो भाव प्रतिवर्त्त-कर्म रूप में देखे जाते हैं उन्हें जड़ संज्ञा जैसे रामचन्द्रगुणचन्द्र ने दी है, देना उचित है। समस्त सात्त्विक भाव इसके अन्तर्गत आते हैं। कुछ भाव केवल ज्ञानात्मक हैं, कुछ चैतसिक धर्म हैं, कुछ मनस् के विशिष्ट कर्म हैं—यथा अपस्मार, उन्माद, स्वप्न, निद्रा, विबोध, मरण आदि।

५. पाश्चात्य मनोविज्ञान पर आधारित आधुनिक समीक्षकों ने भारतीय पारम्परिक चिन्तन की उपेक्षा की है और पाश्चात्य मनोविज्ञान के जिन माप-दण्डों से इनका परीक्षण किया गया है, वे इन पर सर्वत्र लागू नहीं होते—यथा व्याधि, श्रम, आलस्य आदि केवल शारीरिक अवस्थाएं नही हैं, उनके पीछें मन की विशेष वृत्ति भी रहती है। बौद्धिक भाव भी भारतीय दृष्टि से मानस-वृत्तियों के ही अंग हैं।

—:०:—

तृतीय प्रकरण

रस और संचारी भाव : पारस्परिक सम्बन्धों का अध्ययन

१. प्रकरण संगति

भरतमुनि के रस-निष्पत्ति के प्रसिद्ध सूत्र में 'विभाव', 'अनुभाव' एवं 'व्यभिचारी' (संचारी) भावों से रस की निष्पत्ति कही गई है। उन्होंने इसकी व्याख्या करते हुए कहा है कि 'विभाव', 'अनुभाव' एवं 'व्यभिचारी' (संचारी) भावों से परिवृत्त होकर 'स्थायी भाव' ही रस में परिणत हो जाता है। पूर्ण रस-निष्पत्ति के अतिरिक्त आचार्यों ने, केवल किसी 'संचारी भाव' की स्वतन्त्र अभिव्यक्ति को भी 'भाव ध्वनि' नाम देकर काव्यानन्द में समर्थ बताया है। भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र का सप्तम अध्याय केवल भावों पर ही लिखा है। इस प्रकार स्थायी भावों को रस तक ले जाने वाले 'व्यभिचारी भावों' (संचारी भावों) को 'विभाव', अनुभाव' एवं 'स्थायी भाव' के संबन्ध से निरखना-परखना आवश्यक है और रस-निष्पत्ति में उनका स्थान निर्णय करना भी अपेक्षित है। इसलिए 'संचारी भावों का स्वरूप-विश्लेषण' हो जाने के पश्चात् इस प्रकरण में उन्हें पृथक्तः 'विभाव', 'स्थायी भाव' एवं 'अनुभाव' से सम्बन्धित प्रसंगपूर्वक अधीत करने का प्रयत्न किया जाएगा।

२. रस एवं रस-निष्पत्ति

रस-त्रिकोण पर (विषय आलम्बन, आश्रय आलम्बन एवं सहृदय सामाजिक पर) प्रथम प्रकरण में सविस्तार विचार किया जा चुका है। सहृदय सामाजिक रस की प्रतीति करता है, इसमें आश्रय आलम्बन के सुख-दुःखात्मक भाव—स्थायी एवं संचारी और इनके अनुभाव भी, सम्मिलित हैं। आश्रय आलम्बन (जो कवि की भावित सामग्री में आश्रय-विभाव है) वास्तव में भावों का भोक्ता है और भोग करने की स्थिति में उसमें मानसिक एवं कायिक सभी प्रकार की प्रतिक्रियाएं, यद्यपि वे कवि भावित ही होती हैं, दिखायी पड़ती हैं। आश्रय आलम्बन या आश्रय विभाव वास्तव में विषयालम्बन या आलम्बन विभाव से जनित प्रतिक्रियाओं का आश्रय होता है, उसका भाव या मानस-विकार या प्रतिक्रियाएं विषयालम्बन या विभाव के प्रत्यक्ष सम्बन्ध से उद्‌बुद्ध होती हैं। उस तात्कालिक अवस्था में उसे विषय की

प्रतीति नहीं, प्रत्यक्ष संवेदन होता है अतः उसकी (आश्रय रूप भोक्ता की) प्रतिक्रियाओं को 'भाव' की संज्ञा रस-शास्त्री देते रहे हैं। स्वयमेव 'भाव' रस अथवा रस कोटि का अन्य प्रकार नहीं होता, यह रस-सिद्धान्त का सर्व-सम्मत एवं सुस्पष्ट मत है। जबकि 'स्थायी-भाव' एवं 'संचारी भाव' केवल 'भाव' ही हैं, तब तक वे सहृदय के अथवा सामाजिक के आस्वादन की वस्तु नहीं है, आश्रय या पात्र की मनःस्थिति या मनो-विकार मात्र है। स्वयमेव 'विभाव' अथवा 'अनुभाव' अथवा संचारी (व्यभिचारी) भाव रस नहीं हैं, यह सिद्धान्त उन वादों के प्रवर्त्तक आचार्यों के मतों को पृथक्-पृथक् रूप से खण्डित करके स्थापित किया जा चुका है, जो उनके पृथक्-पृथक् रूप में 'रस' होने के पक्ष में अपनी युक्तियां देते रहे हैं।

विभाव को ही 'रस' मानने वालों ने कहा—'भाव्यमानो विभाव एव रसः'। परन्तु यह विचार युक्तिसंगत नहीं है, कारण यह है कि आलम्बन-विभाव तो रस का विषय मात्र है। बाह्यवस्तु को ही यदि रस मान लिया जाए, जिससे आश्रय की मनःस्थिति के ही अनुसार विभिन्न भावों की उत्पत्ति एवं तत्प्रसूत प्रतिक्रियाएं होती हैं, तो सभी स्थितियों में उसे एक-सा रसात्मक होना चाहिए। परन्तु ऐसा तो होता नहीं। देश-काल के अनुसार विभाव के आश्रय की मनःस्थिति, प्रवृत्ति आदि के अनुरूप विविध भावों एवं प्रतिक्रियाओं की उत्पत्ति होती है। यदि विभाव याने विषय को रस माना जाये, तो उसका विषय क्या होगा ? बिना विषय के परिणाम सम्भव नहीं होता। अतः विभाव मात्र (आलम्बन मात्र) रस नहीं है।

इसी प्रकार अनुभावों (सात्त्विक) को भी 'रस' नहीं कहा जा सकता, क्योंकि एक ही अनुभाव के विविध हेतु अथवा 'विभाव' हो सकते हैं। यथा, 'अश्रु' घोर दृष्टि-परिश्रम से अथवा धुआं लगने से अथवा हर्ष या शोक की भी अवस्था में आ सकते हैं। इसी प्रकार 'स्वेद' धूप, भय, अथवा शारीरिक रोग वा क्षीणता से आ सकता है। सहृदय में रस-निष्पत्ति के लिए पूर्ण-परिस्थिति के ज्ञान एवं आश्रयगत मानसिक प्रतिक्रियाओं का भान भी अनुभावों के साथ आवश्यक है अतः अकेले अनुभाव भी रस की निष्पत्ति में समर्थ नहीं हैं।

पुनः संचारी (व्यभिचारी) भाव, या भाव भी रस नहीं हैं। कुछ विद्वानों ने इनकी आन्तरिक स्थिति को देखते हुए इन्हें रस कहा है। परन्तु यह स्पष्ट है कि बिना आलम्बन विभाव एवं अनुभाव के सहृदय को इनकी प्रतीति भी नहीं हो सकती स्वयं आश्रयालम्बन में भी वे अपने विभाव और अनुभाव से रहित जन्म नहीं लेते। स्थायी भाव भी, यद्यपि वे वासनात्मक कहे गए हैं और प्रकट होने पर संचारियों (व्यभिचारियों) की अपेक्षा दीर्घ काल तक स्थिर रहते हैं, अपने-अपने विभावों, अनुभावों एवं संचारी-भावों से रहित रूप में कल्पित नहीं किए जा सकते और न सहृदय को उनका भावन ही कराया जा सकता है। अतः स्वयं भाव भी रस नहीं है।

स्थायी भाव-रहित विभाव, अनुभाव एवं संचारी भाव ये तीनों मिलकर भी रस-कोटि को नहीं पहुंचते, यद्यपि उनसे 'भाव' एवं 'भाव-शवलता' की ध्वनि सहृदय को भले ही हो। कारण है, एक ही विभाव, एक ही अनुभाव या एक ही संचारी भाव अनेक रसों में प्राप्त हो सकते हैं। उनसे पृथक्तया 'रस-निष्पत्ति' किस प्रकार होगी ? अतः विभावों, अनु-

भावों एवं संचारी (व्यभिचारी) भावों के संयोग से परिवृत्त होकर स्थायी भाव ही रस-रूप में निष्पन्न होता है। पृथक्-पृथक् रूप में विभाव, अनुभाव, संचारी (व्यभिचारी) भाव एवं स्थायी भाव रस-सामग्री ही हैं, रस नहीं हैं। अकेले 'संचारी भाव या भावों' का भी विभाव एवं अनुभावों की सहायता से भावन कराया जा सकता है और उससे भी सहृदय को काव्यानन्द प्राप्त होता है, चाहे वह रस-कोटि का न हो, भाव-ध्वनि प्रकार का ही हो। इसी स्थिति को दृष्टि में रखकर रसाचार्य संचारी (व्यभिचारी) भावों का स्वतन्त्र एवं मिश्रित रूप में, विभावों ओर अनुभावों की सहायता से, वर्णन करते रहे हैं। ऐसे स्थलों में काव्यानन्द में वैविध्य और वैचित्र्य तो होता ही है, उसकी प्रकार-संख्या भी अगणित होती है। आधुनिक काल के सीमित, संकुल, जटिल एवं चटुल जीवन में कवि या नाटककार ऐसे ही काव्य की, संचारी (व्यभिचारी) भावों की भावाभिव्यक्ति की, रचना करते देखे जाते हैं उन्हें तथा सामायिकों को पूर्ण रस-कोटि के काव्य के रचने और आस्वादन करने का अवकाश नहीं है। ऐसी स्थिति में संचारी (व्यभिचारी) भावों पर अवलम्बित 'भाव-ध्वनि' प्रकार के काव्यानन्द का महत्त्व बहुत बढ़ जाता है।

अब हम यहां 'संचारी भावों' से 'विभाव', 'स्थायी भाव' एवं 'अनुभावों' के पारस्परिक सम्बन्धों का अध्ययन प्रस्तुत करेंगे।

३. संचारी भाव और विभाव

(क) **संचारी भाव और आश्रय**—प्रथम प्रकरण में विभाव के अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा जा चुका है कि वे स्थायी एवं संचारी (व्यभिचारी) भावों का (चित्तवृत्तियों का) विशेष रूप से विभावन या ज्ञापन कराने के 'हेतु' 'कारण' या 'निमित्त' हैं, इसलिए 'विभाव' कहलाते हैं।[१] भावरूप या मनोविकार रूप में ये चित्तवृत्तियां (स्थायी एवं संचारी भाव आश्रयालम्बन की ही माननी चाहिएँ। सहृदय में तो विभाव, अनुभाव एवं संचारी (व्यभिचारी) भावों के संयोग से अथवा विषयालंबन, आश्रयालंबन के सुख-दुःख, इच्छा-द्वेष, बुद्धि, और यत्न को ये संचारी (व्यभिचारी) भाव ही निश्चित करते हैं जिनमें अन्तःकरण के चारों अंग—मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार—क्रियाशील होते हैं और उनके ही प्रभाव एवं निमित्त से संचारी भावों का स्वरूप फलित होता है। आश्रयालम्बन के सन्निष्कर्ष से उत्पन्न समस्त आचरणसके अन्तःकरण में उठे संचारी भावों से ही अनुप्रेरित होता है। यह सत्य है कि विषयालम्बन विभाव से, उसके बलाबल के अनुसार, भाव-रूप चित्तवृत्तियों में अन्तर हो जाता है। आचार्य शुक्ल ने विषयालम्बन विभाव को ही संचारी भाव का और स्थायी भाव का व्यावर्त्तक माना है।[२] आश्रय की समस्त प्रतिक्रिया स्वयं आश्रय की प्रकृति, वृत्ति एवं स्वभाव पर अवलम्बित होती है। एक उदाहरण से यह स्पष्ट हो जायेगा—दो मित्र हैं, वायु-भ्रमण के लिए जा रहे हैं। जिस उद्यान में वे घुसना चाहते हैं, उसके द्वार पर एक सर्प रेंगता हुआ

१. ना० शा० ७।४१; एवं काव्यानु० पृष्ट ८८।
२. र० मी०, पृष्ठ २०५।

दीख जाता है। उनमें से एक तो तुरन्त भीत हो कर पीछे हट जाता है और दूसरा विवेकपूर्वक अपने हाथ की छड़ी को संभाल कर उसके फन पर वार करता है और सर्प को मार डालने में सक्षम हो जाता है। इन दोनों व्यक्तियों के लिए विषय-आलम्बन और उद्दीपन तो प्रायः एक ही थे। परन्तु सर्प को मारने वाले का स्वभाव, वृत्ति एवं तात्कालिक मनःस्थिति निश्चय ही भिन्न थीं जिसके फलस्वरूप दोनों में विभिन्न भाव एक ही विषय-आलम्बन विभाव से उत्पन्न हुए। एक ही आलम्बन-विभाव से अलग-अलग स्थायी भावों 'उत्साह' और 'भय' की दो आश्रयों में उत्पत्ति हुई। एक सी परिस्थिति, एक से उद्दीपन और एक से आलम्बन से क्यों दो विभिन्न प्रकार के—प्रक्षेप एवं संक्षोभ प्रवृत्ति कारक—क्रमशः भय उत्साह एवं स्थायी भावों को जन्म मिला ? निश्चय ही उनकी (आश्रयों की) मनःस्थिति और मनोवृत्ति भिन्न होने के कारण, जो मानव के व्यक्तिगत स्वभाव के निर्माण में बहुत दूर तक सहायक होती हैं। मनुष्य में इन मनोवृत्तियों और मनःस्थितियों का अभ्यास हो जाने से उसके शील की सृष्टि होती है, फिर भी यह सत्य है कि सामान्यतः मनुष्य अपने स्थायी भावों में अपने मन की अन्य क्षणिक वृत्तियों से गहरी सहायता पाता है, और ऐसी सहायता कि वे उसके स्थायी भाव का आलम्बन-उद्दीपन विभाव के अनुसार विभेद कर देती हैं तथा उस के व्यक्तित्व को भी प्रकट करती हैं। संचारी भाव आश्रय के व्यक्तित्व, आचरण, वृत्ति, प्रवृत्ति, इच्छा-द्वेष, सुख-दुःख, बुद्धि और तत्प्रसूत यत्न में विभेद करते हैं।

(ख) **संचारी भाव एवं आलम्बन विभाव**—फिर भी अन्तर में होने वाली इस भाव-प्रक्रिया का एकमात्र कारण आलम्बन विभाव ही हैं। व्यक्ति की इन्द्रियां विषय के सन्निकर्ष में आती हैं और मन तत्तदिन्द्रियों के विज्ञान का समनन्तर आश्रय होता है तथा तदनुकूल कर्म चैतसिक धर्मों की सहायता से करता है। आश्रय में होने वाली भाव-प्रक्रिया के कारण चाहे कितने ही भिन्न क्यों न हों, अन्तर की भाव-प्रक्रिया (संचारी भावों वा भावों) का एक मात्र कारण विभाव ही हैं तथा आचार्यों ने उन्हें भावों की उत्पत्ति का 'कारण, हेतु या निमित्त' सत्य ही कहा है। संचारी भावों के कारण आश्रयगत एवं विषयालम्बनगत दोनों ही हो सकते हैं, जबकि-स्थायी-भावों के कारण या विभाव केवल विषयालम्बनगत ही होते हैं। पुनः स्थायीभावों के विभाव, विषय आलम्बनगत होकर विषय से सर्वत्र और सब काल नियमित एवं सम्बद्ध होते हैं, जबकि व्यभिचारी भावों के विभाव 'कारण', 'हेतु' वा 'निमित्त' विषय से स्वतन्त्र, स्वच्छन्द, अनियमित, अनवस्थित हो सकते हैं।

(ग) **संचारी भाव एवं उद्दीपन विभाव**—उद्दीपन-विभाव आलम्बनगत गुण, चेष्टा, उसकी परिस्थिति आदि ही हैं। आचार्यों ने आलम्बन-विभावों का वर्णन करते हुए, रसों के प्रसंग में, आलम्बनगत उद्दीपन विभावों का भी वर्णन किया है। ये उद्दीपन आलम्बन के गुण, वचन, क्रियाएं व अंग व चेष्टाएं तथा परिस्थितियां हैं, यह कहा ही जा चुका है। परन्तु इनका वर्णन आचार्यों ने रस-प्रसंग में ही स्थायी भावों के आलम्बन विभावों के अन्तर्गत किया है। व्यभिचारी (संचारी) भावों, वा स्वतन्त्र भावों का वर्णन करते हुए उनके साथ किसी भी उद्दीपन विभाव का वर्णन नहीं किया गया है। पुनः संचारी भावों के विभाव

(हेतु, कारण या निमित्त) प्रायः मूर्त्त रूप नहीं अपितु अमूर्त्त कारण ही मुख्य रूप से वर्णन किए गए हैं। अतः संचारी-भावों के विभाव स्थायी भावों के विभावों से भिन्न जाति के होते हैं, यह मान्यता सुसंगत होगी। संचारीभावों के 'विभाव' प्रायः अमूर्त्त रूप में पाये जाते हैं, जो उद्दीपन विभावों (आलम्बन के गुणों, क्रियाओं, चेष्टाओं तथा तटस्थ प्रकृतिगत उद्दीपनों) एवं स्वयं आश्रय की मानसिक प्रतिक्रिया, शील, ज्ञान आदि के रूप में होते हैं। अतः यह स्वीकार करना कि उद्दीपन-विभाव, चाहे वे आलम्बनगत हों या आश्रयगत, संचारी भावों की उत्पत्ति के कारण होते हैं और उनके ये कारण या विभाव प्रायः भाव, बौद्धिक क्रिया, मन के कर्म, गुण, शारीरिक चेष्टाएं या क्रियाएं होते हैं। रस-प्रसंग में वर्णित स्थायी भावों के विभाव 'मूर्त्त 'आलम्बन' ही होते हैं। मूर्त्त-पदार्थ रूप आलम्बन-विभाव, अमूर्त्त पदार्थ रूप गुण, क्रिया, मनोविकार आदि से भिन्न, स्पष्टतः स्थूल एवं सामान्यतः दृष्टिगोचर होने वाले होते हैं। न्याय-शास्त्र के अनुसार सूक्ष्म कारण का कार्य अधिक सूक्ष्म होता है। अतः सूक्ष्म और अनियमित विभावों (गुण, क्रिया, धर्म, प्रभाव वा परिस्थिति) से उत्पन्न ये संचारी-भाव उनसे भी सूक्ष्म और अनियमित होते हैं। स्थायी भाव आलम्बन विभाव से, जो प्रायः मूर्त्त ही होता है (यथा, राग जो गुण श्रवण, चित्र-दर्शन आदि से होता है, स्थायी भाव नहीं है, व्यभिचारी भाव है। रति स्थायी के लिए मूर्त्त आलम्बन विभाव की ही आवश्यकता होती है।) सम्बद्ध रहता है और इसीलिए अधिक बलवत्तर, अपेक्षाकृत स्थूल एवं व्यापक-विस्तृत होता है।

व्यापक और बलवत्तर को सहज ही स्पष्ट किया जा सकता है। इसके दो तात्पर्य हो सकते हैं। एक तो स्थायी भावों के विभाव व्यापक होते हैं, देश ओर काल दोनों की दृष्टि से, तथा वे भाव आश्रय में भी अपनी विकास एवं प्रसार तथा प्रक्षेप एवं प्रक्षोभ की क्षमता में देश और काल दोनों ही प्रकार से अधिक वेगवान् एवं बलवान् होते हैं। आचार्यों ने स्थायी भावों के विभावों को भूयिष्ठ या प्ररूढ तथा व्यभिचारी भावों के विभावों को स्तोक या अप्ररूढ संज्ञा दी है।[१] इन्हें ही पुनः बहु एवं अल्प भी कहा है।[२] स्थायी भावों के विभाव बहुत होते हैं। यथा, आलम्बन विभाव, आलम्बनगत उद्दीपन विभाव—आलम्बन के गुण, वचन, क्रियाएं, अंग चेष्टाएं तटस्थ उद्दीपन विभाव जो देश-काल की सीमा में आबद्ध हैं। संचारी भावों के बाह्य विभाव (कारण) प्रायः अमूर्त्त-आलम्बन होते हैं, वे हैं उद्दीपन विभावों के अन्तर्गत विशिष्ट गुणादि तथा सीमित परिस्थितियां। पुनः ये आश्रय की सीमित

---

१. रत्यादयः स्थायिभावाः स्युर्भूयिष्ठविभावजाः ।
स्तोकैर्विभावैरुत्पन्ना एव व्यभिचारिणः ॥

—उद्धृत रगंध०, पृष्ठ १२८।

२. प्ररूढत्वाप्ररूढत्वे वहवल्पविभावत्वे ।

—वही, पृष्ठ १२६।

३. रगंध०, पृष्ठ २७५, ३०० एवं ३०८।

मन:स्थिति तथा चित्तवृत्ति से बद्ध होते हैं। अतः उनके विभावों को क्रमशः 'बहु' और 'अल्प' विशेषण देना उचित ही है। पुनः ऊपर कहे, संगीत रत्नाकर में कहे, पद 'भूयिष्ठ' एवं 'स्तोक' पर भी विचार करना आवश्यक है। 'भूयिष्ठ' उत्तमावस्था का विश्लेषण है, जिसके अर्थ हैं, सर्वाधिक, बारम्बार तथा सब में सामान्य। स्पष्ट है कि स्थायी भावों को उत्पन्न करने के लिए सर्वाधिक देखे गये, अथवा सब में पाये गये—जिसके लिए दिक् और काल की व्यापकता सहज ही संबोध्य है, विभाव ही स्थायी भावों को उत्पन्न कर सकते हैं, और प्रायः सर्व व्यापक, एवं बारम्बार अनुभूत विभावों में अपनी व्यापकता एवं स्थायित्व के कारण सर्वाधिक बलवान् भावों को उत्पन्न करने की क्षमता है। पुनः 'स्तोक' विभाव पर विचार करें। स्तोक के अर्थ हैं, किंचित्, थोड़ा, अल्प। स्पष्टतः इनकी व्यापकता एवं स्थायित्व दिक्-काल की दृष्टि से अल्प एवं किंचित् है। जो विभाव स्वयं अल्प होंगे वे अवश्य ही अल्प भावों को जन्म देंगे। 'प्ररूढ' विभाव एवं 'अप्ररूढ' विभाव इनके विषय में एक विचार और सम्मुख रखते हैं। 'प्ररूढ' अर्थात् प्रकृष्ट रूप से रूढ बने विभाव, चाहे जन्मजात न हों, परन्तु वे मानवों के मानस में दीर्घकाल से और व्यापक रूप से अपनी जड़ें जमा चुके हैं और 'स्थायी भावों' को जन्म देने में समर्थ विभाव हैं, जबकि संचारी भावों को जन्म देने वाले विभाव 'अप्ररूढ' अथवा अनवस्थित हैं। वे किसी विशिष्ट व्यक्ति के हृदय में, किसी विशिष्ट दिक्-काल की सीमा में अपनी जड जमा सकते हैं। उनके लिए सर्व मानव-समुदाय एक ही प्रकार से जिम्मेदार नहीं है। इनके विभावों में, कारणों में, स्वयं इनके सजातीय एवं विजातीय संचारी भाव भी देखे जा सकते हैं। यथा, 'चिन्ता' से 'स्मृति', 'निद्रा' से स्वप्न तथा 'व्रीडा' से 'अवहित्था' की उत्पत्ति होती हैं।[१] इसी प्रकार 'हर्ष' और 'विषाद' दोनों से ही 'मोह' उत्पन्न हो सकता है। इस प्रकार संचारी' भावों के विभावों के (कारणों के) विषय में कोई निश्चित 'प्ररूढ' मत देना सम्भव नहीं है। वह आश्रय की वृत्ति, प्रवृत्ति एवं प्रकृति से, स्थायी भाव की अपेक्षाकृत, अधिक सम्बद्ध होता है। स्थायी भावों के विभाव 'अप्ररूढ' बन कर स्थायी भाव कहे जाने वाले भावों को भी व्यभिचारी भावों की कोटि में धकेल देते हैं। स्वयं भरतमुनि ने श्रृंगार-रस में 'जुगुप्सा' के व्यभिचारित्व का निषेध करके यह स्वीकार किया है कि अन्य स्थायी भाव श्रृंगार-रस की निष्पत्ति में व्यभिचारी (संचारी) बनकर उपस्थित हो सकते हैं।[२]

व्यभिचारी भावों में एक भाव अन्य व्यभिचारी भाव का साधारणतः विभाव हो जाता है, इससे केवल निमित्त-कारण का ही आश्रय लेना चाहिए न कि 'रस' की भांति उनका सर्वथा आलम्बन एवं उद्दीपन होना अपेक्षित है। किसी जगह विशिष्ट 'भाव ध्वनि' की अवस्था में व्यभिचारी भाव आलम्बन एवं उद्दीपन रूप में भी सम्भव हो तो वह भी

---

१. रगंध०, पृष्ठ २७५, ३०० एवं ३०८।

२. ना० शा० चौ०, पृष्ठ ७३।

अनिवार्य नहीं है। यथा, रसाभास और भावाभास आदि के प्रसंग में आलम्बन एवं उद्दीपन विभाव रूप व्यभिचारी भाव, दोनों की चर्चा संगत होती है।[1] परन्तु आचार्य शुक्ल ने प्रधान या स्वतन्त्र रूप में आये व्यभिचारी ((संचारी) भावों के अन्तर्गत भी अन्य व्यभिचारी (संचारी) भावों का आ सकना स्वीकार किया है।[2]

पण्डितराज ने प्रधान होने पर एक व्यभिचारी भाव को दूसरे का व्यंजक स्वीकार करने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं देखी है क्योंकि प्रकरणादि का बल पाकर एक भाव जब प्रबल हो जायेगा तब दूसरा भाव अन्यथा सिद्ध के रूप में अभिव्यक्त होकर भी दुर्बल ही रहेगा जैसे कि 'गर्व' प्रधानतया व्यंग्य होने पर 'अमर्ष' अंग और 'अमर्ष' के प्रधानतया व्यंग्य होनेपर 'गर्व' अंग होता है।[3] परन्तु सामान्यतः सब आचार्यों ने 'व्यभिचारी' भावों के विभावों एवं अनुभावों का ही वर्णन किया है। उनके विभावों को इस योग्य नहीं ठहराया कि वे व्यभिचारी में व्यभिचारियों की उत्पत्ति कर सकें, यद्यपि यह सत्य है कि एक व्यभिचारी द्रुत गति से अन्य व्यभिचारी का निमित्त कारण (विभाव) अथवा अनुभाव बन जाता है। सर्वत्र रस रूप में परणित होते स्थायी भावों के विभावों में ही आचार्यों ने व्यभिचारी (संचारी) के उत्पन्न करने की क्षमता स्वीकार की है।

४. संचारी भाव और अनुभाव

संचारी भावों एवं विभावों के पारस्परिक सम्बन्ध का अध्ययन कर लेने के पश्चात् रस-सूत्र में उल्लिखित दूसरे उपादान 'अनुभाव' को दृष्टि में रख कर अब संचारी भावों एवं अनुभावों के पारस्परिक अध्ययन की ओर प्रवृत्त होते हैं।

यह सर्व सिद्ध मत है कि अनुभाव भावों की बाह्य प्रतिक्रिया के फलस्वरूप उत्पन्न होते हैं, अर्थात् आश्रय-आलम्बन के हृदयस्थित वा अन्तर्गत भावों का सहृदय को साक्षात्कार या अनुभावन कराते हैं और इनकी उत्पत्ति भावों (स्थायी एवं संचारी) के जाग्रत होने के पश्चात् होती है। इस प्रकार वे अनुभावन[4] कराने की दृष्टि से रस-निष्पत्ति के कारण-

---

१. रगंध०, पृष्ठ २७२।
२. र० मी०, पृष्ठ २०४।
३. रगंध०, पृष्ठ २७१।
४. (क) अनुभाव्यतेऽनेन वागंगसत्त्वकृतोऽभिनयः इति अनुभावः।
वागंगाभिनयेनेह यस्त्वर्थोऽनुभाव्यते। ना० शा० (चौ०), ७।५।
(ख) स्थायिभावान् अनुभावयन्तः सामाजिकान् सभ्रू-विक्षेपकटाक्षादयो रस-पोषकारिणः अनुभावाः। द० रू०, ४।३।
(ग) स्थायिव्यभिचारिलक्षणं चित्तवृत्तिविशेषं सामाजिकजनोऽनुभवननुभावयते साक्षात्कार्यते यैस्तैरनुभावैः कटाक्षभुजक्षेपादिभिः। काव्यानु०, पृ० ८८।

रूप तथा भावों की उत्पत्ति होने के पश्चात् होने से कार्य रूप दोनों ही ठहरते हैं।[1] वैसे रस का अनुभावन कराने की दृष्टि से रस-तरंगिणी में इन्हें उद्दीपन-विभाव भी कहा गया है।[2] व्यभिचारी भाव को, स्थायी भाव का परतन्त्र होने की अवस्था में, आचार्यों ने सहकारी, सहायक आदि ही कहा है।[3] वे स्थायी भाव का अंग ही ठहरते हैं, उसका कार्य नहीं। पुनः अनुभाव रूप व्यभिचारी भावों का भी अनुभावन 'अनुभावों' के द्वारा ही होता हैं। इस प्रकार जबकि विभाव 'भावों' के कारण हैं, तब 'अनुभावों' के कारण चित्तवृत्ति रूप 'भाव' हैं। स्वयं बाह्य-विभाव 'अनुभावों' के कारण नहीं ठहरते।

यहाँ पर, इस विषय में, सात्त्विक-अनुभावों के आचार्यों द्वारा परिगणित, विभावों में 'धूम्रादि' पर भी विचार आवश्यक है। भरतमुनि एवं अन्य भारतीय आचार्यों ने 'अश्रु', 'स्वेद' आदि के क्रमशः 'धूम्र', 'घर्म-व्यायाम' आदि विभाव परिगणित किये हैं। तब क्या वे 'सात्त्विक अनुभावों' के विभाव नहीं हैं। इस विषय में यह निवेदन है, जैसा कि सात्त्विक अनुभावों का स्वरूप-विश्लेषण करते हुए प्रथम प्रकरण में कहा गया है, कि वे नट द्वारा 'धूम्रादि' की कल्पना करके, मन को समाहित करके उत्पन्न किये जाते हैं, अतः मनोनियोग से या सत्त्व-प्रभव होने के कारण उनको सात्त्विक अनुभावों में परिगणित किया गया है। यदि सामान्यतः 'धूम्रादि' के द्वारा प्रतिवर्त्त-क्रिया रूप में (रिफ़्लेक्स एक्शन रूप में) उनकी उत्पत्ति होती है, तो वे भाव-प्रसूत अनुभाव न मानने चाहिएं। उन्हें केवल 'अनुभावन' में सहायक विषयगत उद्दीपन-मात्र ही समझना चाहिए।

संचारी अथवा स्थायी भावों का बिना अनुभावों की सहायता के 'अनुभावन' नहीं कराया जा सकता और आश्रयालम्बन के अन्तर्गत 'भाव' अनुभव-गम्य नहीं हो सकते। विभाव 'भावों' को जन्म देकर उनकी सीमा निर्धारित करते हैं तो 'अनुभाव' उनकी 'वलबत्ता' 'व्यापकता', 'गुण', 'मात्रा', 'स्वरूप' आदि का स्पष्ट प्रत्यय कराते हैं। अनेक स्थायी एवं संचारी भावों के अनुभाव एक से हो सकते हैं, परन्तु स्थायी भावों और संचारी भावों के अनुभावों में निश्चय ही मन की क्रिया-शीलता के अनुसार उनके वेग, व्यापकता, क्षणिकता तथा गुण और आन्तर-शारीर परिवर्तनों में अन्तर दिखायी पड़ेगा। यथा, 'क्रोध' के अनुभावों का रूप निर्दयता रूप हो सकता है, जबकि 'अमर्ष' के अनुभावों का रूप 'पराहंकार' को शमन करने वाला ही। इसी प्रकार 'भय' के अनुभाव 'त्रास' के अनुभावों को भी पूर्व अंग बनाकर

---

१. (क) अनु पश्चाद् भावो यस्य सोऽनुभावः कार्यम्। साहित्यकौमुदी टीका०, पृ० २६।
(ख) स्थायिभावानां यानिकार्यतया प्रसिद्धानि तानि अनुभावशब्देन व्यपादिश्यन्ते। अनु पश्चाद् भावः उत्पत्तिः। येषाम् अनुभावयन्ति इति वा व्युत्पत्तेः॥ रगंध०, पृ० ३३।

२. विषयत्वेन उद्दीपनविभावत्वम्। र० त०, पृ० ४७।

३. सहकारीणि। का० प्र०।

उपस्थित होंगे तथा उनमें अन्य चिन्तादि अनेक संचारियों के अनुभाव भी अंग-वत् आएंगे, जबकि किसी एक संचारी के अनुभाव अपने तक ही सीमित रहेंगे। यह दूसरी बात है, कि किसी संचारी भाव के कुछ अनुभाव किसी अन्य संचारी भाव से मेल खाते हों, यथा 'ग्लानि' के अनुभावों में 'कम्प', वैवर्ण्य, क्षामता, ताप आदि के अतिरिक्त आचार्यों ने शेष अनुभाव 'निर्वेदवत्' कहे हैं। यह भी ध्यान देने योग्य तथ्य है कि संचारी भावों के अनुभाव स्वयं मानसिक चित्तवृत्तियां भी हो सकती हैं, जो विभिन्न क्रिया-कलापों के माध्यम से बाह्य रूप में अनुभावित हो सकती हैं। संचारी भावों का स्वरूप-विश्लेषण करते हुए हमने देखा है कि अनेक 'भाव' संचारियों के अनुभाव-रूप में, स्थायी भावों की परिगणना में आते 'भाव' भी, दिखाये गये हैं। यथा, 'आवेग' में अनुभाव रूप 'भय'; 'सुप्त' में अनुभाव रूप 'कोप', 'भय'; 'औग्र्य' में अनुभाव रूप 'क्रोध', 'भय'; 'अमर्ष' में अनुभाव रूप 'उत्साह' का आचार्यों ने वर्णन किया है।

जब एक संचारी भाव अन्य संचारी भाव का 'अनुभाव' होते देखा जाता है, तब किसी आचार्य ने ऐसा उल्लेख नहीं किया कि एक 'सात्त्विक अनुभाव' का अन्य अनुभाव होता है। ऐसा जीवन में देखा जाता है कि 'अश्रुपात', 'वैवर्ण्यादि' कभी-कभी 'आश्रय' के मन में 'चिन्ता', 'आशंका' आदि उत्पन्न करते हैं। परन्तु ऐसी अवस्था में अनुभाव-सूची में परिगणित 'अश्रुपात' 'वैवर्ण्यादि' उद्दीपन-विभाव ही हो जाते हैं, और उनसे उनके व्यभिचारी भावों की उत्पत्ति होती है। अतः व्यभिचारियों के विभाव और अनुभाव आचार्यों ने वर्णित किये हैं, जबकि 'अनुभावों' (सात्त्विक) के विभाव अर्थात् निमित्त या कारण ही। एक अनुभाव (कार्य) जब दूसरे कार्य (अनुभाव) को जन्म देता है तो पहला दूसरे का कारण अर्थात् विभाव हो जाता है। परन्तु जब 'विभाव' (कारण) से उद्बुद्ध भाव (चित्तवृत्ति) के बिना ही अनुभाव (कार्य) सम्पन्न होता है, तब वह 'प्रतिवर्त्त क्रिया' रूप है, आश्रय की चित्तवृत्तियों का कार्यरूप 'अनुभाव' नहीं है, यह हम ऊपर दिखा आये हैं।

पुनः, व्यभिचारी-भाव मानसिक चित्तवृत्तियां या मनोविकार हैं, जबकि अनुभाव अनिवार्यतः शरीर से सम्बद्ध हैं। अतः क्रमशः उन्हें 'आन्तर' एवं इन्हें बाह्य या उन्हें 'अजड़' तथा इन्हें 'जड़' की संज्ञा से आचार्य विभूषित करते हैं। भरतमुनि ने अनुभावों को वाचिक, एवं सात्त्विक संज्ञा से अभिहित करके विवेचन किया है। परवर्ती आचार्यों ने मन वा चित्त-आरम्भानुभाव, बुध्यारम्भानुभाव, गात्रारम्भानुभाव तथा सात्त्विक भाव नाम देकर अनुभावों का विवेचन किया है। इन सब प्रकारों को सहज ही कायिक, वाचिक एवं सात्त्विक अनुभावों में विभक्त किया जा सकता है। ऊपर संचारी भावों और अनुभावों का सामान्यतः पारस्परिक अध्ययन करने के पश्चात् उनका विभागशः अध्ययन करना भी आवश्यक प्रतीत होता है। नीचे, हम पहले कायिक अनुभावों का, तदुपरान्त वाचिक अनुभावों का, तत्पश्चात् सात्त्विक अनुभावों और व्यभिचारी भावों का पारस्परिक अध्ययन प्रस्तुत करेंगे। यहां अपने अध्ययन का यह क्रम रखने का भी कारण है। कायिक अनुभाव केवल बाह्य एवं स्थूल हैं,

और केवल वर्तमान-अवस्था को दिक्-काल से सम्बद्ध करके दिखाते हैं, जबकि वाचिक अनुभाव (शरीर से वाक् के सूक्ष्म होने के कारण) सूक्ष्म तथा आन्तर भी है। अत: कायिक के पश्चात् इनके अध्ययन को स्थान दिया गया है। सात्त्विक भाव मानसिक और शारीर स्तर दोनों से सम्बन्धित हैं, उभयी हैं, अत: कायिक और वाचिक अनुभावों के पश्चात् इनके अध्ययन को स्थान दिया जा रहा है।

(क) **संचारी भाव एवं कायिक अनुभाव**—संचारी भावों से प्रसूत कायिक अनुभावों पर विचार करने पर उन्हें अंगज (यत्नज), अयत्नज एवं स्वभावज में विभाजित किया जा सकता है। हम कायिक के अन्तर्गत संचारी भावों से (स्थायी भावों से भी) उत्पन्न हुए समस्त आंगिक कार्यों की परिगणना करते है। मन के बुद्धि-अंग से अभिनीत 'स्वभावज' अनुभाव तो पूर्णत: शारीर मानने चाहिएं। इनके द्वारा 'रीति', 'वृत्ति', 'प्रवृत्ति' का अनुभावन कराने के लिए बुद्धिपूर्वक काया और उसकी वेश-भूषा आदि के नियोजन की आवश्यकता होती है। अंगज (यत्नज) और अयत्नज अनुभावों के प्रदर्शन में मनोनियोग की आवश्यकता होती है (यथा, भाव, हाव, हेला, कान्ति, शोभा, दीप्ति, माधुर्य, प्रागल्भ्य, धैर्य—धृति नहीं, औदार्य, मोट्टायित, कुट्टमित, विब्बोक, विहृत, किलकिंचित आदि में) जिनमें मन और चित्त की वृत्तियां काम करती हैं। अत: आचार्यों ने उन्हें 'आन्तर' या मानस कहा है। 'किलकिंचित में 'शरीर' और 'अन्त:' दोनों का योग होने से उसे भानुदत्त ने 'उभय' या 'संकीर्ण' भेद के अन्तर्गत गिना है। मन (सीमित अर्थ में), बुद्धि और चित् ये तीनों ही अन्त:-करण के अंग हैं, जिनके विकारों का अनुभावन कराने के लिए कायांगों तथा वेषभूषा तथा विशिष्ट प्रवृत्ति के उपयोग की आवश्यकता पड़ती है। अत: इन सब अनुभावों को हमने कायिक अनुभावों में स्थान दिया है। कायिक-अनुभावों से वर्तमान दिक्-काल से सम्बद्ध और सीमित भावों का अनुभावन कराया जाता है। इनमें संचारी भावों की प्रेरणा से उत्पन्न कायिक अनुभाव बौद्धिक, चैतसिक और मानस विकारों का तत्तत् सुनिश्चित, चंचल एवं सूक्ष्म बाह्य प्रतिक्रियाओं के द्वारा पृथक्-पृथक् अनुभावन करते हैं।

(ख) **वाचिक अनुभाव**—'वाचिक अनुभाव' भी एक प्रकार से कायिक अनुभाव ही कहे जा सकते हैं, क्योंकि उनके लिए भी शरीर के एक अंग 'स्वर-यन्त्र' का प्रयोग होता है। परन्तु इन्हें पृथक् रूप से वाचिक नाम देने के दो कारण हैं—एक तो आश्रयालम्बन की दृष्टि से, दूसरे सहृदय की दृष्टि से। आश्रयालम्बन के स्वर-यन्त्र को सहृदय नही देखता, और यदि वह स्वर-यन्त्र की प्रक्रिया को देखे भी तो वह उसे भाव का अनुभावन कराने में अनुपयोगी है। स्वर-यन्त्र नहीं उससे उत्पन्न 'वाक्' और 'वाक्य' ही सहृदय को भावों का अनुभावन कराते हैं। कायिक-अनुभाव, रीति, वृत्ति एवं प्रवृत्ति के अनुसार, 'भावों' की सामान्यत: मनुष्य जाति में प्राय: सर्वत्र मान्यता प्राप्त, 'रूढ़', 'निश्चित' एवं 'अचंचल' प्रतिक्रियाएं हैं, जो आश्रयालम्बन के दिक्-काल की सीमा में रहती हैं। वाचिक अनुभाव आश्रयालम्बन और

सहृदय दोनों ही स्तर पर 'अरूढ़', 'अनिश्चित' एवं 'चंचल' हैं। वे 'व्यक्ति' के व्यक्तित्व से अधिक प्रभावित होते हैं और उसकी प्रकृति, वृत्ति एवं स्वभाव का सूक्ष्मतर बोध कराते हैं और उसके बिम्बों, बोधों, प्रत्ययों एवं धारणाओं को भूत-वर्तमान एवं भविष्य की निरन्तर वा स्वतन्त्र श्रृंखला में उपस्थित कर सकते हैं जबकि कायिक-अनुभाव सामान्यतः वर्तमान की सीमा में ही बद्ध रहते हैं। वाचिक-अनुभाव मानव की अपरिसीमित व्याप्ति-युक्त विलक्षण सम्पत्ति हैं जो पशु-वर्ग में अत्यन्त मोथरे एवं सीमित—कुछ ध्वनियों तक ही सीमित, रूप में प्राप्त होती है।

मनुष्य के पास 'वाक्' एक ऐसा सबल साधन है जिसके माध्यम से मनुष्य की चित्त-वृत्तियों का सहज और सूक्ष्मतया भान हो सकता है। पुनः जितना प्रभविष्णु अनुभावन 'वाक्' द्वारा निष्पन्न वाक्य से (शब्द एवं पद तथा वाक्य से) होता है, उतना और किसी साधन से नहीं होता। 'वाक्' और 'वाक्य' का अनुभाव रूप में (विभाव रूप में भी) प्रयोग महत् सम्भावनाओं से परिपूर्ण है। 'वाक् तरंगों से व्यक्ति के आन्तर भावों की, उनमें होते परिवर्तनों, संघर्षों-द्वन्द्वों की सहज प्रत्यभिज्ञा की जा सकती है। 'वाक्' और 'भावों' का गहरा एवं अविच्छिन्न सम्बन्ध है। इसी से कबीर ने कहा था—'बोलत ही पहिचानिये साहु चोर को घाट। अन्तर की करनी सबै निकसे मुख की बाट॥' परन्तु बुद्धिमान, और अभ्यस्त शिष्टाचारी आश्रय अपनी मानसिक 'करनियों', प्रेरणाओं (संचारी भावों तथा स्थायी भावों) को छद्म शब्द-परिधान पहना सकता है और इस प्रकार अन्तःप्रेरणाएं अलक्षित रह सकती हैं। परन्तु कायिक-अनुभावों (तथा सात्त्विक अनुभावों) के परिवेश में 'वाक्' उसके अन्तर की निगूढतम सहज-छलमय, सरल-कुटिल, द्विमुखि-त्रिमुखी व्यक्तिमत्ता का अनुभावन कराने में समर्थ होती है। संचारी भावों के क्षिप्र-चटुल कार्य (अनुभाव) तो अनुभावित होते ही हैं, स्थायी भावों के,रस शास्त्र में परिगणित, गुण भी प्रायः वाचिक-अनुभावों द्वारा ही अभिव्यक्त किये जाते हैं। मन, बुद्धि चेतना और अहं—चारों के संयोग में 'वाक्' अपना स्वरूप 'वाक्य' धारण करती है। भारतीय आचार्यों ने इसी 'वाक्' वा वाणी के चार भेद—परा, पश्यन्ति, मध्यमा और वैखरी—निरूपित किये हैं। पाश्चात्य मनोविज्ञान भी 'वाक्' (वाइस) एवं 'वाक्य' (स्पीच) में विभेद करता है और मनोभाव के अनुसार उसमें सुर-परिवर्तन मानता है। 'वाक्' के सुर में मनोभावों के अनुसार भेद सहज ही देखे जा सकते हैं अर्थात् मनोभावों से प्रेरित होकर वह तीव्र, मन्द, उच्च, नमित, खर, कर्कश, तीक्ष्ण, वलित, तनित, स्फुट, अस्फुट, द्रुत, विलम्बित, कोमल, कठिन आदि हो सकता है। 'वाक्य' भी भावनाओं की आविष्टावस्था में माधुर्य गुण एवं ओज गुण सम्पन्न तथा बुद्धि प्रयोग की अवस्था में प्रसाद गुण सम्पन्न हो सकता है। मनोभावों के उतार-चढ़ाव की अवस्था में शब्द-चयन, प्रतीक-चयन, उनसे अनुभावित बिम्बों एवं बोधों तथा प्रत्यक्षों में जितना वैविध्य उत्पन्न होता है, उसकी सम्भावनाएं एवं क्षेत्र अनन्त हैं। भारतीयों ने शब्द की प्रभाव-महिमा को भी भलीभांति समझा था। कबीर ने कहा था—
'एक शब्द बन्धन कटे, एक पड़े गल-फांस'।

पुनः मानव, सामान्यतः स्वीकृत, पशुओं की भांति वर्तमान में ही नहीं जीता। उसके मन के स्तरों में भूत, वर्तमान और भविष्य एक साथ निवास करते हैं और उसे प्रचोदित करते हैं। मानस स्तर पर मनुष्य और पशु की यही एक सामान्यतः मान्य विभाजक रेखा है। मानसिक स्तर पर भूत और भविष्य में जीने वाला यह मानव शारीरिक स्तर पर वर्तमान की दिक्-काल की सीमाओं में आबद्ध रहता है। भूत को 'स्मृति' से संजोने वाले, अनिष्ट को अप-स्मृति (अप-स्मार) से नकारने वाले तथा भूत-वर्तमान की भूमिका पर भविष्य का 'स्वप्न' देखने वाले इस त्रिकाल-जगत में जीने वाले मानव के अन्तःकरण का अनुभावन कराने के लिए वाचिक अनुभाव परम आवश्यक हैं जो विविध भावों (संचारी एवं स्थायी) से उत्पन्न होते हैं। स्थायी भावों से केवल वर्त्तमान से सम्बन्धित वाचिक-अनुभाव ही उत्पन्न होंगे क्योंकि उनका प्रत्यक्ष स्थित विषय-आवलम्बन से सम्बन्ध होता है। भूत और भविष्य से सम्बन्धित वाचिक अनुभाव केवल संचारियों से ही, स्थायी भी यदि संचारीवत् आचरण करे तो कोई आपत्ति नहीं, उत्पन्न होते हैं। भूत और भविष्य की भाव सम्पदा को वाचिक-अनुभाव ही अनुभावन करते हैं। अपने संचारी-भावों के कारण ही, किसी स्थायी भाव के कारण नहीं। यदि ये संचारी भाव न होते तो क्या मानव की भूत कालिक अथवा भविष्यकालिक भाव-सम्पदा का अनुभावन हो सकता? नहीं, क्योंकि स्थायी भाव बाह्य मूर्त्त विषयालम्बन विभावों से सम्बद्ध होने के कारण वर्तमान कालिक अनुभावों को ही उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं।

पुनः, जबकि कायिक अनुभावों को ग्रहण करने के लिए, सहृदय के स्तर पर, चक्षु-रिन्द्रिय की आवश्यकता होती है, तब वाचिक अनुभावों के लिए श्रवणेन्द्रिय के नियोजन की आवश्यकता है जिसमें अनुभावों के व्यापक प्रभाव और प्रसार को ग्रहण करने की अधिक सूक्ष्म सामर्थ्य है।

(ग) **संचारी भाव तथा सात्त्विक भाव**—आठों सात्त्विक भावों को भी अनुभावों में ग्रहण इसलिए किया जाता है कि ये 'सूच्य' नहीं 'सूचक' मनोविकार हैं।[1] संस्कृत रसाचार्यों ने यद्यपि इनके पूर्व-आन्तर-रूप सात्त्विक भावों की सत्ता स्वीकार की है[2] जो बाहरी रूप में दृष्टिगोचर नहीं होते, और शरीर पर प्रकट होते बाह्य लक्षणों द्वारा ही इनकी अभिव्यक्ति होती है। ऊपर भी कायिक-अनुभावों में कुछ अनुभाव 'मानस' (बुद्धि-बाह्य) भावों के परि-णाम हैं। परन्तु नट अपने सहज बुद्धि-कौशल से उनका अभिनय कर सकता है। सात्त्विक भावों के अभिनय के लिए उसे 'मन की समाहित अवस्था' की आवश्यकता होती है, जिसका परिणाम शरीर-गत विकारों के माध्यम से ही सहृदय को लक्षित होता है। अतः आचार्यों ने इन्हें अनुभावों के अन्तर्गत रखते हुए भी, उनको 'मनःप्रभवम्' स्वीकार करके—चाहे उन्हें अबुद्धिपूर्वक, अत्यन्त उत्कट आकस्मिक तथा विह्वलकारी मनोविकारों से उत्पन्न कहिये,

१. र० मी०, पृष्ठ २१९।
२. हिं० अभि० भा०, पृष्ठ ५८१ तथा ना० द०, ३।१७१-७२।

'सात्त्विक भाव' नाम से अभिहित किया है। इसीलिए किसी-किसी आचार्य ने इन्हें भी व्यभिचारियों में स्थान दिया है।[१] प्रथम-प्रकरण में विस्तारपूर्वक देख चुके हैं कि ये 'प्राण' (मन की असु:शक्ति द्वारा प्रेरित) के, बलाबल के अनुसार, पृथ्वी, जल, अग्नि एवं आकाश में सम्मिलित होने से उत्पन्न होते हैं।[२] आधुनिक शरीर शास्त्र 'रक्त' के वेग से, अथवा उसकी शरीर के विविध-अंगों में परिवर्तित 'संभृति' के आधार पर अश्रु, कम्प, वैवर्ण्य, स्तम्भादि को स्वीकार करता हैं। मानसशास्त्र का भी यह सिद्ध मत है कि मनोविकारों की अवस्था में, विशेष कर उत्कट एवं आकस्मिक मनोविकारों से ऐसी क्रियाएं उत्पन्न होती हैं जिनमें शरीर-ताप, रक्त-स्रवण, श्वास-गति (प्राण-वायु) आदि की गति में अन्तर पड़ जाता है। इस प्रकार मनश्शारीर स्थिति के स्तर पर भी अन्य अनुभावों से ये पृथक् ठहरते हैं और इनकी स्थिति 'अभिनय' तथा वास्तविक 'उत्पत्ति' की दृष्टि से दोनों ही प्रकारकी, आन्तर और बाह्य, ठहरती है, अत: इनको अनुभाव-वर्ग में स्थान देते हुए भी इन पर पृथक्त: विचार करना समीचीन होगा।

सात्त्विक भाव व्यभिचारी एवं स्थायी दोनों ही भाव से उत्पन्न होते हैं और दोनों का ही अनुभावन कराने को 'कार्य' रूप में प्रकट होते हैं। स्थायी भावों में, प्रत्येक में, सात्त्विक अनुभावों को उत्पन्न करने की सामथ्र्य होती है। यहाँ तक कि किसी में तो ये आठों प्रकट होते हैं, यथा रति स्थायी में। परन्तु व्यभिचारी-भावों में से प्रत्येक में इनको प्रकट करने की सामथ्र्य नहीं होती। उनमें जो मन के कर्मों से सम्बन्धित हैं, बौद्धिक धर्म से नहीं, उनमें ही सात्त्विक भावों को जन्म देने की शक्ति है। यथा, हर्ष ग्लानि, शंका, व्रीडा, विषाद, आवेग, त्रास, व्याधि औग्र्य, श्रम, अमर्ष, अपस्मार, दैन्य, मरण, मोह, जड़ता आदि में।

स्थायी भावों से उत्पन्न सात्त्विक-भाव-रूप अनुभावों में तथा व्यभिचारी भावों से उत्पन्न सात्त्विक-भाव-रूप अनुभावों में, निश्चय ही, वेग, प्रसार, कालावधि की दृष्टि से भेद होगा।

व्यभिचारी भाव स्वयं एक दूसरे के अनुभाव रूप में उपस्थित हो सकते हैं, परन्तु एक सात्त्विक दूसरे का अनुभाव बनकर प्रकट नहीं होगा। यदि इनके स्वरूप आन्तर-रूप भावों की स्थिति पर भी विचार किया जाये तो भी यह मत उपयुक्त ठहरता है, क्योंकि सात्त्विक-भाव रूप आन्तर भाव व्यभिचारी वर्ग में ही गिने जा सकते हैं, जो किसी अन्य व्यभिचारी का अनुभाव हो सकते हैं। परन्तु सात्त्विक भाव रूप बाह्य-अनुभाव स्वयं अनुभावन की स्थिति तक ही सीमित रहते हैं। भावनाओं का शरीर पर जो दृश्य परिणाम होता है, वही सात्त्विक भाव है।[३] यह आवश्यक नहीं है कि एक संचारी भाव से एक ही सात्त्विक-भाव रूप अनुभाव प्रकट हो, अनेक सात्त्विक अनुभाव भी प्रकट हो सकते हैं। आचार्यों ने इस पर सम्यक् रूप से विचार किया है, यथा, 'आवेग' में 'वैवर्ण्य', 'स्तम्भ', 'वेपथु' तथा 'अश्रु'; 'ग्लानि' में

---

१. ना० द०, ३।१७१-७२। २. काव्यानु०, पृष्ठ १४५-४६; तथा भ०र०सि०, पृष्ठ २०८।
३. साहित्य मीमांसा (१९५५), पृष्ठ ११६।

'वेपथु' तथा 'वैवर्ण्य'; 'त्रास' में 'स्तम्भ' , 'रोमांच', 'कम्प' 'प्रलय', 'प्रस्वेद' तथा 'गद्गद्त्व' आदि। यह संचारी भाव के वेग, प्रसार, अवधि पर निर्भर करता है कि उससे कब और कितने सात्त्विक भाव उत्पन्न होते हैं। आधुनिक यन्त्रों तथा उपकरणों की सहायता की, इनकी निश्चित नाप-जोख के लिए आवश्यकता है।

५. संचारी भाव और स्थायी भाव

भरत मुनि के प्रसिद्ध रस-निष्पत्ति सूत्र में विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भाव का तो पृथक्त: उल्लेख किया गया है, उसमें 'रस' का भी उल्लेख है परन्तु स्थायी भाव का नहीं। प्रश्न उठता है क्यों ? प्रथमत:, इस पर वस्तुरूप में रंगमंच पर रस-निष्पत्ति तदुपरान्त सहृदय के स्तर पर, कवेरन्तर्गत-भाव के, भावन रूप में रस-निष्पत्ति की दृष्टि से विचार करना आवश्यक है।

वस्तु-रूप में, जो स्थायी भाव है, अथवा प्रधान भाव है जिसके 'नरेन्द्र-सेवक-वत्', अन्य भाव अनुचर होकर क्रियाशील होते हैं, वही 'रस'-रूप में परिणत होता है। भरत मुनि तथा अन्य आचार्यों ने केवल स्थायी-भाव के रस-रूप के ही अन्तर्गत तीन अंगों—विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव—का विवेचन एवं व्याख्यान किया है। विभाव को केवल हेतु, निमित्त अथवा कारण कहकर, अथवा उसके 'विज्ञान' में समर्थ विभावन सामग्री कह कर, उसके विभाग किये गये है। (भरत मुनि ने तो 'रस-निष्पत्ति' के सब कारण इसमें ग्रहण किये हैं, परन्तु आगे चल कर आचार्यों ने इनके नाटकगत पात्रों तथा सामाजिकों की दृष्टि से आलम्बन विभाव, आश्रय-विभाव तथा उद्दीपन अथवा विषयालम्बन विभाव, आश्रयालम्बन विभाव तथा उद्दीपन विभाव अलग-अलग विभाग किये।) व्यभिचारी-भावों (संचारी-भावों) पर विचार करते हुए सब आचार्यों ने एक मत से, उनके विभाव (कारण) और अनुभावों (कार्य) का ही विचार किया है।

अत:, जब रस-निष्पत्ति में भरत मुनि ने विभाव (कारण), अनुभाव (कार्य) तथा व्यभिचारी भाव (सहकारी) के संयोग का कथन किया तो अपने तीनों अंगों के कथन-द्वारा उनको वहाँ स्थायी ही अभिप्रेत है न कि व्यभिचारी भाव। वह तो स्वयं स्थायी का अनुचर-अंग मात्र है। आगे चल कर व्याख्या में भरत मुनि ने स्पष्ट कर ही दिया है कि स्थायी भाव ही विभाव, अनुभावों एवं व्यभिचारी भावों में परिवेष्टित होकर 'रस' को प्राप्त होता है।[1]

सामाजिक को दृष्टि में रखकर ग्रहण करने पर भी रस-निष्पत्ति सूत्र में स्थायी भाव का उल्लेख न करना सप्रयोजन है। सामाजिक को अपने स्थायी भाव की नहीं, 'रस' की ही—'रस' स्थायी भाव से भिन्न वस्तु है, काव्यार्थ है, कवेरन्तर्गत भाव है—निष्पत्ति होती है। सामाजिक के स्तर पर, रस-निष्पत्ति में सामाजिक की दृष्टि में 'औचित्य' आदि की भावना

---

१. ना०शा०, ६ अध्याय।

विशेष रूप से काम करती है। अभिनयादि में 'औचित्य' पालन न किये जाने पर सामाजिक को 'रस' नहीं 'रसाभास' होता है। तब वह तीनों अंगों के होने पर भी—समूहालम्बन रूप में उपस्थित होकर भी सामाजिक को आश्रयालम्बन-गत स्थायी भाव की भावना ही करा पाता है।

आचार्यों ने स्वीकार किया है कि स्वतन्त्र-रूप में, रस के अधीन नहीं, व्यभिचारी भावों से भी, भाव-ध्वनि, रस-कोटि के ही एक अन्य प्रकार, की निष्पत्ति की जा सकती है। परन्तु भाव-ध्वनि के 'ध्वनन' में दो ही अंग योजना में आयेंगे—विभाव तथा अनुभाव। सामाजिक के स्तर पर यहां भी 'औचित्य' अपना महत्त्वपूर्ण कार्य करता है। 'अनौचित्य' से भाव ध्वनि की परिणति न होकर 'भावाभास' की परिणति हो जायेगी।

एक ही 'रस-ध्वनि' में अनेक भावों की ध्वनि हो सकती है, और वे क्रमशः 'भावोदय', 'भावशान्ति', 'भाव-सन्धि', अथवा 'भाव-शवलता' की दशा में रह सकते हैं।

'व्यभिचारी भावों' की स्वतन्त्र रूप में 'भाव-ध्वनियों' की प्रक्रिया में आचार्यों ने 'विभावों' और 'अनुभावों' को ही लक्षित किया है। उनके मत से एक व्यभिचारी भाव दूसरे के पूर्व वा उपरान्त ही आ सकता है, याने वह या तो किसी अन्य भाव का कारण हो सकता है अथवा कार्य, सहकारी नहीं।[१] अन्य व्यभिचारी की व्यंजना में वह पूर्वापर रूप से नियुक्त होता है और अपने बलाबल से 'मुख्य' वा 'गौण' की संज्ञा प्राप्त करता है।

स्वयं 'स्थायी भाव' भी अलग-अलग रसों में व्यभिचारी-भाव बन कर कार्य करते हैं। आचार्य रामचन्द्रगुणचन्द्र[२], भानुदत्त[३] तथा व्यक्ति-विवेक के टीकाकार झलकीकर[४] ने बताया है कि 'हास' श्रृंगार में, 'क्रोध' वीर में, 'जुगुप्सा' भयानक में तथा 'उत्साह' एवं 'विस्मय' सभी रसों में व्यभिचारीवत् काम करते हैं।

'स्थायी भाव' प्रधान, अविच्छिन्न, चिर-कालिक, अवस्थित-जन्मा, उत्कट, अन्य-भावात्मसाती, स्रक्-सूत्रवत् एवं आनन्दाकुंर-कन्द हैं, जबकि व्यभिचारी भाव अनविच्छिन्न, अचिर-कालिक, अनवस्थित-जन्मा, अनुत्कट, अनन्य-भावात्मसाती, स्रक्-सूत्र-विद्ध मणिवत् एवं आनन्दांकुरकन्द के विभेदक हैं। वे प्रधान नहीं हैं, न अपने सजातीय अन्य भावों का पोषण करते हैं, न शासन। वे अपने सजातीयों-विजातीयों एवं उदासीनों के 'कारण' अथवा 'कार्य' होते हैं। उनमें अविच्छिन्नता भी नहीं देखी जाती तथा 'स्थायी भावों' की तुलना में उनका जीवन क्षण-स्थायी अथवा अचिर होता है। उनमें स्थायी-भावों की सी उत्कटता भी नहीं है।

---

१. रगंध०, पृ० २७०।

२. ना० द०, पृ० १७६।

३. र० त०, पृ० ११४।

४. व्य० वि० टीका, पृ० ११-१२।

वे अपने 'स्थायी भावों' के अंग होते हैं, उनके पूर्व वा पश्चात् उदय हो सकते हैं।[1] संचारी भावों के जन्म के कारण भी सुनिश्चित अथवा नियमित नहीं हैं। माला में वे मणिवत् हैं। माला में—स्थायी स्रक्-सूत्र में बिंध कर, अन्य भावों के सान्निध्य में रहकर, उनके गुणोत्कर्ष-वैषम्य से प्रभावित, अधिगुणित होकर नवीन चमक विकीर्ण करने में समर्थ होते हैं, अन्यथा वे स्वयं स्वतन्त्र पृथक् रूप से भी स्वगुणोत्कर्ष-वैषम्य, औदासीन्य की आभा दिखाने में समर्थ हैं।

भरतमुनि की परिभाषा के अनुसार 'स्थायी भाव' को 'व्यभिचारी भाव' विशेष और विविध रूप से—उसमें संचरित होकर तथा उसका संचार करके—रस तक लाते हैं। अतः वे रस-निष्पत्ति में एक अभिन्न एवं अपरिहार्य अंग हैं जिनके विना 'स्थायी भाव' केवल 'भात्र-मात्र' रह जायेगा, उसका 'नरेन्द्रत्व' अथवा 'गुरुत्व' लुट जायेगा। 'रस' सिद्ध नहीं होगा। ('भावध्वनि' भले सिद्ध हो।)

अभिनवगुप्तपादाचार्य की 'स्थायी भावों' के विषय में 'स्रक्-सूत्र' की उपमा ध्यान देने योग्य है। माला में सूत्र का अपना स्थान है जिसके द्वारा समस्त मणियां गुंथी रहती हैं। माला-मणियों में सूत्र यद्यपि व्याप्त रहता है, फिर भी माला की शोभा मणियों से ही है, केवल सूत्र से ही नहीं। निरे सूत्र से माला निर्मित नहीं होती। यद्यपि सूत्र की भी मालाएं बनती हैं और गांधी युग में लोग पहनते रहे हैं, 'बच्चन' ने तो अपने एक कविता-संकलन का नाम ही 'सूत की माला' रखा, वहां भी मणियों की स्थानापन्न सूत-मणियों को एक-सूत्र में गूंथा जाता है। अकेले सूत्र को कोई माला की तरह धारण नहीं करता। हां, यह 'यज्ञोपवीत' रूप में धारण किया जा सकता है, और एक अर्थ, अथवा उसका द्योतक प्रतीक है। स्थायी-भाव भी स्रक्-सूत्र की भांति माला की प्रत्येक मणि में व्याप्त होता हुआ अलक्ष्य और स्थान-स्थान पर लक्षित रहता है। यदि संचारी-भाव-मणियों की सहायता न मिले, तो न तो माला ही बनेगी और न उसमें चारुता ही होगी।

स्थायी भावों की 'स्थायी-दशाओं' तथा 'शील दशाओं' का—जिनकी ओर विशेष रूप से आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का ध्यान गया है[2]—भावन भी संचारी भावों की सहायता से ही होता है। भाव-दशा में सुखात्मक भाव के संचारी सुखात्मक भाव या मनोविकार और दुःखात्मक भाव के संचारी दुःखात्मक भाव या मनोविकार होते हैं[3], परन्तु भाव की स्थायी दशा में सुखात्मक-दुःखात्मक दोनों प्रकार के भाव आ सकते हैं। इसी को लक्षित करके आचार्य धनंजय ने स्थायी भाव की परिभाषा देते हुए कहा था कि विरोधी-अविरोधी कोई भी संचारी स्थायी-भाव को तिरोहित नहीं कर सकता। भाव जब प्रकृतिस्थ हो

---

१. र० मी० पृ० २०९-१०। यहां अनेक संचारी भाव अन्य स्थायी भावों के पूर्वांग कहे गये हैं, यथा 'राग' का हर्ष, 'भय का' का त्रास।

२. र० मी०, पृ० १८३। ३. वही, पृ० १२२-१८१।

जाता है। तब वह शील-दशा को प्राप्त होता है। आचार्य शुक्ल के मत से 'स्थायी दशा' में भाव बार-बार संचरण करते हैं और वे विशिष्ट आलम्बन के प्रति संगठित अथवा बद्ध रहते हैं।[१] शील-दशा को प्राप्त भाव ही मनुष्य-स्वभाव का अंग बन जाता है। वह समय-समय पर विभिन्न आलम्बन ग्रहण करेगा। आश्रयालम्बन की स्थायी दशा, शील दशा को 'व्यभिचारी भाव' ही अपने वैविध्य से उपस्थित करते हैं। स्थायी भावों के अन्तर्गत गुणशील आदि के विशिष्ट व्यक्तित्व के पूर्ण प्रकाशन-कर्त्ता भी व्यभिचारी-भाव ही हैं और आश्रयलम्बन के गुण-शील आदि को प्राप्त कर 'स्थायी-भाव' को 'रस' का 'आस्वाद्य' पद प्राप्त होता है। आश्रयालम्बन की गुण-शील से युक्त अन्तःप्रकृति का व्यभिचारी भावों के माध्यम से ही भावन कराया जाता है। स्थायी भाव तो सर्व-जन-सुलभ होते हैं, उनसे व्यक्तित्व-निर्माण नहीं होता। वे व्यापक रूप में मनुष्य-मात्र—यहां तक कि प्राणी मात्र-में प्राप्त होते हैं। परन्तु उनके होते हुए भी, सामान्यतः मनुष्य होते हुए भी, प्रत्येक व्यक्ति अपनी व्यक्तिमत्ता से 'व्यभिचारी भावों' के बल पर ही विभूषित एवं भावित होता है। इन अचिर एवं क्षण-भंगुर, दिक्-काल की सीमा में आबद्ध, गुण-कर्म-स्वधर्म को प्रकट करने वाले, अनवस्थित और नियम रहित तथा अनियत आचरण से युक्त 'व्यभिचारी भावों' के बल पर ही वाल्मीकि की 'सीता' से तुलसीदास जी की एवं मैथिलीशरण गुप्त की 'सीता' का सूक्ष्मतया पृथक् 'भावन' होता है; सूरदास के, तुलसीदास के, रवीन्द्रनाथ ठाकुर के और मैथिलीशरण के 'वात्सल्य' में स्वरूप और गुण-भेद हो जाता है। अतः 'स्थायी भावों' को सूक्ष्मतर, गतिमय, सविशेष उत्कर्ष प्रदान करके, सु-स्वादु बनाने में, उनकी रसास्वाद्यता' बढ़ाने में 'व्यभिचारी-भाव' ही सहायक होते हैं।

पुनः 'स्थायी भाव' समुद्रवत् हैं[२], थोड़े से आघात अथवा विभाव से उसमें लहरें नहीं उठतीं। उसके कारण भी प्रबल और सुस्थित होने चाहिएं। इसके विपरीत 'व्यभिचारी भाव' किंचित् कारणों (विभावों) से, सूक्ष्म कारणों से, (मानसिक गुण-कर्म आदि से) उत्पन्न हो सकते हैं। स्थायी भाव निश्चय ही विद्यमान अथवा वर्तमान बाह्य मूर्त्त विभावों से ही उत्पन्न होते हैं जबकि व्यभिचारी भूत-वर्तमान-भविष्य तीनों कालों से सम्बन्ध बाह्य अथवा आश्रया-लम्बन के अन्तर्गत अमूर्त्त विभावों से उत्पन्न होते हैं।

पुनः एक 'स्थायी-भाव' का अनुभाव, दूसरा 'स्थायी-भाव', जब तक कि वह 'व्यभि-चारी-भाव' की कोटि पर न खिसक जाये, नहीं हो सकता। और न एक 'स्थायी भाव' दूसरे 'स्थायी-भाव' का 'विभाव' ही हो सकता है जबकि एक 'व्यभिचारी भाव' अन्य 'व्यभिचारी भाव' का 'विभाव' और 'अनुभाव' सहज ही हो सकता है। एक 'स्थायी भाव' के रहते दूसरे 'स्थायी भाव' की भी स्थिति नहीं देखी जाती।

---

१. र० मी०, पृ० १८३।

२. द० रू०, ४।३४; सा० द०, ३।१७४।

इस प्रकार, निस्संदेह, रस-निष्पत्ति में 'स्थायी-भाव' की 'आनन्दांकुर-कन्द' की स्थिति है, परन्तु रस-निष्पत्ति में 'स्थायीभाव' के साथ 'व्यभिचारी भाव' की अनिवार्य स्थिति है, जिसके साथ उसके 'विभाव' और 'अनुभाव' भी स्वतः अभिप्रेत हैं। रस के अतिरिक्त, 'रस' की कोटि के अन्य आस्वाद्य 'भाव-ध्वनि' में तो किसी स्थायी-भाव की अपेक्षा नहीं है, यद्यपि कतिपय 'व्यभिचारी भावों' के अनुभाव रूप में 'स्थायी भाव' भी उदय होते देखे जाते हैं। रस ध्वनि केवल आठ प्रकार की, और शम् को भी स्थायी मानें तो नौ प्रकार की, होती है, परन्तु 'भाव-ध्वनि' के 'व्यभिचारी-भावों' की परम्परित गणना तैंतीस (अथवा देव और पण्डितराज जगन्नाथ के अनुसार ३४) तो की ही जा सकती है, और भावों की संख्या अनगिनत मानने वालों के लिए, क्षणिक अनुभूतियों को महत्त्व देने वालों के लिए, क्षण-जीवन, कर्म, गुण, सत्ता आदि के काव्यकर्मियों—जैसे आधुनिक नई कविता के हामियों के लिए, उनके अनन्त भेद हो सकते हैं। उनकी आस्वाद्यता की अनन्तता एवं अगणितता क्या कल्पनीय है !

६. निष्कर्ष

संचारी भावों से विभाव, अनुभाव एवं स्थायी भावों के पारस्परिक सम्बन्धों का अध्ययन करने के उपरान्त निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं—

१. 'रस-निष्पत्ति' सूत्र में विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भावों का ही उल्लेख किया गया है। अर्थात् स्थायी भाव इनसे परिवृत्त होकर रस नाम ग्रहण करता है।

२. व्यभिचारी भाव अपने विभावों से स्थायी एवं सात्त्विक भावों से भिन्न जाति के होते हैं, स्थायिभावों और व्यभिचारी भावों के व्यावर्त्तक विभाव हैं। स्थायी भावों के विभाव, प्ररूढ़, भूयिष्ठ वा बहु होते हैं जबकि व्यभिचारी भावों के विभाव स्तोक, अप्ररूढ़ एवं अल्प होते हैं। रस-मूलक स्थायिभावों के विभाव सदैव वर्त्तमान, मूर्त्त और बाह्य होते हैं जबकि व्यभिचारी भावों के विभाव त्रिकालिक एवं प्रायः अमूर्त्त होते हैं। वे स्वतंत्र एवं आन्तर भी हो सकते हैं और परतन्त्र एवं बाह्य भी।

३. एक स्थायिभाव दूसरे स्थायिभाव का, बिना संचारी भाव की कोटि में उतरे हुए, विभाव नहीं हो सकता जबकि एक व्यभिचारी भाव दूसरे का विभाव सहज ही हो सकता है।

४. एक संचारी भाव अन्य का अनुभाव भी सहज ही हो सकता है जबकि स्थायिभाव बिना संचारी भाव की कोटि में उतरे ऐसा नहीं कर सकता। वे सात्त्विक भावों के प्रेरक-तत्त्व भी हैं। परन्तु सब स्थायिभाव सात्त्विक भाव उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं जबकि बहुत से व्यभिचारी भावों में सात्त्विक भाव उत्पन्न करने की सामर्थ्य नहीं है। स्थायी भावों की ही भांति व्यभिचारी-भावों के अनुभाव भी कायिक, मानसिक एवं वाचिक तीनों

प्रकार के हो सकते हैं। अनुभावों के पीछे किसी व्यभिचारी भाव का या भाव का होना अनिवार्य है। सात्त्विक-भाव-रूप अनुभाव, व्यभिचारी-भावों की भांति, अन्य सात्त्विकों के अनुभाव नहीं हो सकते, क्योंकि वे व्यभिचारी भावों या स्थायिभावों के कार्य हैं। सूच्य नहीं हैं, सूचक हैं।

५. स्थायी-भावों में रस-भेद व्यभिचारी भाव ही उत्पन्न करते हैं तथा उनको विविधता, वैचित्र्य, विशेषता, दीप्ति आदि अनेकानेक गुण भी व्यभिचारी भावों से ही प्राप्त होते हैं। व्यभिचारी भावों के बिना स्थायिभाव भी उनके ही समान केवल भाव मात्र ही रह जाते हैं। वे व्यभिचारी भावों की मणियों से युक्त रस-रूपी माला में स्रक्-सूत्र के समान होते हैं। व्यभिचारी भाव स्थायिभावों के उपककारक एवं रस-निष्पत्ति के अनिवार्य अंग हैं।

चतुर्थ प्रकरण

मनश्शारीर स्तर पर संचारी भाव

१. प्रकरण संगति

रस-निष्पत्ति में सहायक विविध उपादानों के संचारी भावों से पारस्परिक संबंध अधीत कर लेने के पश्चात् यह आवश्यक प्रतीत होता है कि मनश्शारीर (साइको-फिज़ियोलोजिकल) स्तर पर संचारी भावों को निरखा-परखा जाये। मन की विभिन्न वृत्तियों—शक्तियों का—विषयजन्य इच्छा-ज्ञान-क्रिया का तथा उनसे उत्पन्न शारीरिक रासायनिक परिवर्त्तनों और उनके बाह्य शारीरिक लक्षणों का अध्ययन करके, संचारी भावों की मनः-काय प्रकृति और क्रिया को सुनिश्चित करके, उनके कारण-कार्य पद्धति को जाना जा सकता है। आधुनिक कुछ रस-समीक्षकों ने यह कार्य पाश्चात्य मनोविज्ञान के मापदण्डों और प्रणाली से किया है। पाश्चात्य मनोविज्ञान के बटखरों से उनको माप न पाने पर उन्होंने उन्हें सदोष और अवैज्ञानिक भी कहा है।[1] परन्तु वास्तविकता यह है कि भारतीय आचार्यों ने 'संचारी भावों' को पाश्चात्य मनोविज्ञान की दृष्टि से नाम नहीं दिया था और न उनकी विवेचन पद्धति ही पाश्चात्य मनोविज्ञान की थी। पाश्चात्य मनोविज्ञान की पदावली या उसके अनुवाद को इन संचारी भावों के लिए प्रयोग नहीं किया जा सकता। यह स्वीकार करने में आपत्ति न होनी चाहिए कि किसी विशिष्ट भाषा की शब्दावली के शब्द किसी दूसरी भाषा में वर्णित भावों का सटीक वर्णन करने में असमर्थ होते हैं।

हां, हम पाश्चात्य मनोविज्ञान की तथ्यात्मक विश्लेषण-पद्धति का और उन तथ्यों का सुनिश्चित तथ्य-रूप में अंकित करने वाले यन्त्रों का अपने विश्लेषण और विवेचन में सहारा ले सकते हैं। इनकी सहायता से हम अपने अध्ययन को सुनिश्चित एवं तथ्याधारित बना सकते हैं। परन्तु हमारी मनोविज्ञान-शालाएं आज भी भारतीय पूर्व-चिन्तन को लेकर अग्रसर नहीं हो रहीं, न बहुतों में अधुनातम वैसे सूक्ष्म-यन्त्र ही हैं। पाश्चात्य मानस शास्त्री अपने अध्ययन के लिए स्वभाषा की मौलिक, अनूदित नहीं, शब्दावली का प्रयोग करता है एवं अपने अध्ययन के लिए व्याकुलता (एंग्जाइटी), विश्रान्ति (रिलेक्सेशन) त्वेष (एंगर), एवं यहां तक कि असत्य भाषण (टैलिंग लाइज) आदि में होने वाली मानसिक तरंगों को

१. देखिए डॉ० वाटवे कृत 'रस विमर्श' एवं सा० स्ट० र०।

विद्युत्-यन्त्र की सहायता से अंकित करता है और उनके पारस्परिक अन्तर को उनके द्वारा तथ्याधारित स्पष्टता देता है। वहां विशिष्ट संवेगों की अवस्था में रक्ताणुओं में होने वाले रासायनिक परिवर्तन का भी अध्ययन किया गया है। भारतीय भाषाओं में वर्णित भावों का भी यदि उनकी मस्तिष्क तरंगों का विद्युत्-अंकन करके, और रक्ताणुओं के रासायनिक परिवर्तन का विधिवत् आलेखन करके, तथ्यात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जा सके तो विविध-भाषाओं की नामावली से युक्त भावों का तुलनात्मक अध्ययन स्वयं बड़ा रोचक होगा।

ऐसा नहीं है कि भारतीय आचार्यों ने अपने यहां मानसिक भावों को बताने वाले नामों का सूक्ष्मतापूर्वक अध्ययन नहीं किया। परन्तु, जैसा कि पहले कहा गया है, उनकी प्रणाली भिन्न थी। उन्होंने अन्तःकरण के उपादानों को मन, बुद्धि, चित् एवं अहंकार में सुनिश्चित करके उसकी शक्तियों का विवेचन किया। मन की शक्तियों का सर्व-प्रथम विवेचन 'ऐतरेय उपनिषद्' में प्राप्त होता है। वहां हृदय वा मन वा अन्तःकरण वा प्रज्ञान की निम्नलिखित शक्तियां कही गयी हैं :

> यदेतद्हृदयं मनश्चैतत्। संज्ञानमाज्ञानं विज्ञानं मेधाधृतिर्मतिर्मनीषा जूतिः स्मृतिः संकल्पःक्रतुरसुः कामो वश इति सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति ॥
>
> —ऐतरेयोपनिषद् १।२ ॥

संज्ञानम्=सम्यक् ज्ञान शक्ति; आज्ञानम्=आज्ञा देने की शक्ति; विज्ञानम्;=विभिन्न रूप जानने की शक्ति; प्रज्ञानम्=तत्काल जानने की शक्ति; मेधा=धारण करने की शक्ति; दृष्टि=देखने की शक्ति; धृतिः=धैर्य, विचलित न होने की शक्ति; मतिः=निश्चय करने की शक्ति; मनीषा=मनन करने की शक्ति; जूतिः=वेग; स्मृति=स्मरण शक्ति; संकल्पः=संकल्प शक्ति; क्रतुः=मनोरथ शक्ति; असुः=प्राणशक्ति; कामः=वासनाशक्ति; वशः=स्त्री संसर्गादि की अभिलाषा।

—टीका, हरिदास गोयन्दका।

जूतिः के अर्थ मो० वि० के संस्कृत-अंग्रेजी कोष में इस प्रकार दिये गये हैं :

आगे बढ़ना-बढ़ाना, त्वरा, वेग, गति, अविरत प्रवाह, प्रवेग (इम्पल्स), आवेश, प्रोत्तेजन, प्रवृत्ति, ऊर्जा आदि।

हमने यहां अंग्रेजी-शब्दों का अनुवाद हिन्दी में कर दिया है।

पुनः प्रकृति के अनुसार सत्त्वगुण, रजोगुण एवं तमोगुण में मन की वृत्तियों का विभाजन किया गया है। इनके अहंकार के मंद-दीप्त मिश्रण से आचार्यों ने रस की मनोवृत्तियों का विवेचन किया है।[1] आश्रय में उत्पन्न प्रतिक्रियाओं को ध्यान में रखकर रसाचार्यों ने

---

१. भा० प्र०, पृ० ३३—३८।

सुखात्मकता, दुःखात्मकता के अनुरूप आठों स्थायी-भावों की राग-द्वेष-उद्वेग-संकोच-कर प्रवृत्ति-भूमियां बतायी हैं[1] तथा उनकी प्रकृति को विकास, प्रसार, प्रक्षेप एवं प्रक्षोभ में विभाजित किया है।[2] शारीरिक प्रतिक्रिया से सम्बन्धित भावों को 'जड' और मानसिक प्रक्रिया से सम्बन्धित भावों को 'अजड' की संज्ञा दी गयी है।[3] उनकी कालावधि को भी उन्होंने परखा है। उनमें स्थायित्व एवं क्षण-भंगुरता, बलवत्ता, आदि को भी उन्होंने परखा है, परन्तु उनके पास उनकी मानसिक तरंगों को चित्रित करने के लिए आधुनिक विद्युत् यन्त्र या उपकरण नहीं थे।

भारतीय आचार्यों ने भी प्रत्येक 'भाव' को विभाव एवं अनुभाव की सीमा में बांध कर उसका विवेचन किया है। उनके द्वारा निर्दिष्ट विभाव और अनुभाव आज भी सटीक बैठते हैं। हां, उनकी व्याप्ति की सीमा का आधुनिक परिवेश एवं परिस्थितियों के अनुसार अर्थ-विस्तार आवश्यक हो जाता है।

आश्रय के मन पर पड़ने वाले प्रभाव के अनुसार उन्होंने विभावों की प्रकृति का ध्यान रखकर उनका वर्गीकरण :(१) ललित एवं ललिताभास, (२) स्थिर एवं चित्र, (३) खर एवं रूक्ष और (४) निन्दित एवं विकृत नाम देकर किया है। यह वर्गीकरण सुष्ठु और मनोवैज्ञानिक है। इस प्रकार का वर्गीकरण पाश्चात्य मनोविज्ञान में नहीं पाया जाता है, न उनकी दृष्टि ही इस प्रकार सोचती देखी जाती है। उन्होंने परिस्थितियों में होने वाली प्रतिक्रियाओं का वर्गीकरण इस प्रकार किया है :

(१) उपगमन, (२) द्विदिक् उपगमन (३) उपगमन-उपेक्षा, (४) द्विदिक् उपगमन-उपेक्षा एवं इनसे होने वाली मानसिक प्रवृत्तियों को इस प्रकार नाम दिये हैं—

(१) उपगमन (अप्रोच); (२) नाश (डेस्ट्रेकशन), (३) प्रत्याक्रमण एवं पलायन (रिटेलियेशन एवं ऐस्केप), (४) संरोध। (क्या प्रवृत्ति सचमुच संरुद्ध हो जाती है?) मन की इन प्रवृत्तियों की समानता केवल विकास, प्रक्षेप एवं प्रक्षोभ में ही कुछ-कुछ देखी जा सकती है। परन्तु प्रसारात्मक वृत्ति और विकासात्मक वृत्ति की सूक्ष्मता पर विचार नहीं है। भारतीय आचार्यों ने स्थायी भावों की मनोभूमियों का तो आश्रय की दृष्टि से और रसों की प्रकृतियों का सहृदय प्रेक्षक की मनोवृत्तियों को ध्यान में रख कर वर्णन किया है। प्रथम-प्रकरण में 'रस-स्वरूप' के अध्ययन के अन्तर्गत इसका वर्णन किया जा चुका है।

आश्रय में होने वाली अन्तःशारीरिक प्रतिक्रियाओं का भारतीय रसाचार्यों ने वर्णन भले ही नहीं किया, वह अभिनय की दृष्टि से अपेक्षित भी नहीं था, परन्तु उन्होंने दृष्टि में आने वाली प्रतिक्रियाओं का बड़ा सटीक वर्णन किया है। यह वर्णन लोक-व्यवहार पर आधारित होने के कारण बड़ा व्यावहारिक और जनवर्ग के सत्त्व-चरित्रानुसार बड़ा सटीक है।

---

१. काव्यानु० द्वितीय अध्याय। २. द० रू०।
३. ना० द०, ३ विवेक।

आगे, इस प्रकरण के अन्तर्गत 'विषाद' संचारी के मनश्शारीर स्तर पर देखा जाता है कि व्यक्ति के सत्त्व-भेद से (उत्तम-मध्यम-अधम भेद से) उसकी प्रतिक्रियाओं में (अनुभावों में) बड़ा अन्तर दिखायी पड़ता है जिसका अनुमोदन पाश्चात्य मनोविज्ञान भी करता है।

यहां यह कह देना आवश्यक है कि रसाचार्यों ने अनुभावों में सात्त्विक भावों के कारणों का भारतीय आयुर्वेद-विज्ञान पद्धति से निदर्शन करके पूर्णतया भेषजीय-विज्ञान सम्मत होने का प्रयत्न किया है। हां, वे अपने युग के ज्ञान की सीमा में अवश्य बद्ध थे।

पाश्चात्य मनोविज्ञान ने 'सात्त्विक भावों 'शारीरिक प्रतिक्रियाओं के कारणों पर अंकित तथ्यों के आधार पर विचार किया है और इतने साधन-सम्पन्न होने पर भी आज तक बहुत-सी सात्त्विक एवं कायिक क्रियाओं, अंग-भंगिमाओं का वे पूर्णतया विश्वासोत्पादक युक्तियों द्वारा कारण-निरूपण नहीं कर पाये हैं। हम यहां मुख-मुद्रा एवं अभिव्यक्तियों में दिखायी देने वाली बाह्य प्रतिक्रियाओं का पाश्चात्य मनोविज्ञान के अनुसार संक्षिप्त वर्णन उपस्थित करके भारतीय एवं पाश्चात्य दोनों पद्धतियों का समन्वय करके कतिपय संचारी भावों का मनश्शारीर स्तर पर अध्ययन प्रस्तुत करेंगे।

कतिपय संचारी भावों का ही क्यों ? इसके कारण हैं—

(१) हमारा विनम्र प्रयास इस प्रकार के अध्ययन द्वारा इस विषय की सम्भावनाओं को उपस्थित-भर कर देना है। अतः इस अध्ययन में यहां नमूने के रूप में कुछ संचारी भावों को ही उठाकर परीक्षा की गयी है। ग्रन्थ के अपेक्षित सीमित क्लेवर में इतना ही प्रयास यथेष्ट भी है।

(२) पुनः सब भावों के तारतमिक, परिष्कृत एवं परिनिष्ठित एवं सूक्ष्म अध्ययन के लिए उच्चस्तरीय अधुनातम सूक्ष्म यन्त्रों, उपकरणों एवं प्रायोगिक विस्तार के लिए वृहत् साधनों एवं मानव-विषयों की आवश्यकता है। इस ग्रन्थ के लेखक के साधन अति सीमित हैं। वैसे आज भी भारत की मनोविज्ञान-शालाएं सर्वत्र आधुनिकतम यन्त्रों से सुसज्जित नहीं हैं और न उन्होंने भारतीय भाषाओं की शब्दावलि को आधार मान कर यहां के जनों के सामान्य जीवन पर मौलिक छानबीन की है जिसके आलोक में यह अध्ययन पुष्ट हो सकता था। भारतीय मनोविज्ञान शालाएं अनुवादित शब्दावली का प्रयोग कर रहीं हैं, जिससे हमारा काम नहीं चल सकता।

(३) इस प्रकरण का विषय पूर्णतया मनोवैज्ञानिक गम्भीरताओं, सम्भावनाओं और तत्सम्बन्धी अपेक्षाओं से युक्त है तथा एक प्रकार से काव्यशास्त्र की परिधि से बाहर चला जाता है एवं अन्य शास्त्रों में भी अतिक्रमण कर जाता है। इसके लिए दीर्घकालिक मौलिक गम्भीर चिन्तन और व्यापक प्रयोगों एवं तत्सम्बन्धी विभिन्न उपकरणों, यन्त्रों एवं मानवरूप

'विषयों' की आवश्यकता है। 'मनश्शारीर स्तर पर संचारी भावों' या भावों के अध्ययन की गम्भीरता और सम्भावनाओं को देखते हुए इनका सम्पूर्ण अध्ययन पृथक् रूप से करने योग्य है, और इस ग्रन्थ की सीमित योग्यताओं से बाहर पड़ता है।

इन कारणों से यहां 'मनश्शारीर स्तर पर कतिपय संचारी भावों तक ही मैंने अपने को सीमित रखा है। प्रयत्न यह किया है कि संचारी (व्यभिचारी) भावों के विभिन्न वर्ग के नमूने यहां उपस्थित हो सकें तथा अध्ययन की दिशाओं का सम्यक् निर्देश हो सके।

संवेगों में आभ्यन्तरिक एवं बाह्य परिवर्तन

संवेगों में आभ्यन्तरिक परिवर्त्तन

पाश्चात्य मनोविज्ञान ने अपने सूक्ष्म यन्त्रों, एवं विश्लेषक उपकरणों की सहायता से संवेगों की अवस्था में उत्पन्न आभ्यन्तरिक शारीर गतिविधियों को कुशल विश्लेषण के द्वारा विवेचनपूर्वक नाप लिया है। तद्विषयक मनश्शास्त्रीय ग्रन्थों में विस्तृत तथा आधिकारिक विश्लेषण एवं विवेचन देखा जा सकता है। यहां विभागशः इन प्रतिक्रियाओं का संक्षिप्त परिचय उपस्थित है।

ग्रन्थीय प्रतिक्रियाएं : तीव्र संवेग (यथा क्रोध) उत्पन्न होने पर 'एड्रिनल' ग्रन्थि का 'मेडुल्ला' रक्त-धारा में 'एड्रनलीन' का अधिक प्रवाहण करता है, जिसे सामान्यतः 'एपिनफ्रीन' कहते हैं। इसके प्रभावाधीन यकृत स्व-संग्रहीत शर्करा को रक्त में प्रमोचित करता है। और, इससे रासायनिक परिवर्तन उत्पन्न होते हैं जिससे रक्त शीघ्रतर 'सान्द्र' (क्लाट) होता है। इससे रक्तचाप बढ़ जाता है, नाड़ी द्रुततर एवं बलवत्तर गति से चलती है। फुप्फुस में अधिक वायु प्रवेश करती है। आंखों की पुतलियां फैल जाती हैं जिससे प्रकाश अधिक मात्रा में प्रविष्ट हो सके। सारे शरीर पर विशेषतया हथेलियों पर, प्रस्वेद फूट निकलता है। त्वचा का ताप कई अंश तक चढ़ सकता है। 'एड्रिनल मेडुल्ला' से प्रस्रवित 'नोरोड्रनलीन' (या 'नोरेपाइनफ्रीन') के कारण शरीर के ऊपरी तल की (दैहिक धरातल की) रक्त-शिरायें संकीर्ण हो जाती हैं जिससे अन्यत्र अधिक रक्त की मात्रा सुलभ होती है। (यह वैवर्ण्योत्पादक स्थिति है।) यह क्रिया, यदि व्यक्ति घायल हुआ हो तो रक्त-हानि को रोकने में भी सहायक होती है। यह प्रमाणपूर्वक देखा गया है कि 'थायराइड' (गलग्रन्थि) एवं 'पिट्यूटरी'(मस्तिष्कीय ग्रन्थि) ग्रन्थियां भी सांवेगिक प्रतिक्रिया में कार्य-निरत रहती हैं। संवेग की अवस्था में ग्रन्थीय प्रतिक्रियायें अंग-संस्थान (आरग्निज्म) को शारीरिक रूप से संकटमयी स्थिति से तत्काल जुट जाने में सहायक होती हैं। यदि उद्वेगकर स्थिति का सामना सीधी क्रियाशीलता से नहीं होता और वह एक कालावधि तक बनी रहती है तो कुछ खास (एनडाकरीन्स की) क्रिया प्रवर्धित हो जाती है और उस क्रियाशीलता से 'अंग-संस्थान' को वस्तुतः हानि पहुंच सकती है।

नाड़ी-जालिक प्रतिक्रिया—सांवेगिक प्रतिक्रिया में नाड़ी-तन्त्र के समस्त अंग कुछ न कुछ मात्रा में क्रिया-निरत रहते हैं। संवेग में विशेष महत्त्वपूर्ण हैं, स्वचालित-नाड़ी-तन्त्र एवं मस्तिष्क के अपने-अपने अनुकार्य।

विद्युत् प्रतिक्रियाएं—संवेग काल में मस्तिष्क एवं नाड़ी-जनित क्रियाशीलता से सम्बद्ध हैं—शारीरिक विद्युत्-गुण-परिवर्त्तन। इन विद्युत्-दृश्यों में जिनका काफी अध्ययन हुआ है, दो हैं—विद्युत्-त्वचा-प्रतिक्रिया एवं मस्तिष्क-सामर्थ्य।

जी० एस० आर० (गाल्वनिकस्किन रेस्पोन्स=वैद्युत त्वचा-प्रतिक्रिया)—संवेगकाल में जब शरीर के ऊपरी तल पर स्वेद फूट बहता है, तब त्वचा के वैद्युत गुणों में दो महत्त्वपूर्ण परिवर्त्तन होते हैं—(१) स्नायु (टिश्यूज़) वस्तुतः एक विद्युत् चालन शक्ति (वाल्टेज़) उत्पन्न करते हैं, (२) त्वचा की विद्युत्-संरोधक शक्ति परिवर्त्तित हो जाती है। जी० एस० आर० से पूर्वाग्रह (प्रेजूडिस) और संवेग का पारस्परिक सम्बन्ध नापा जा सकता है।

अपराध का पता लगाने में परीक्षक संवेग उत्थान के हेतु आलोचनापूर्ण एवं तटस्थतापूर्ण प्रश्न पूछते हैं, तब श्वास-गति परिवर्त्तित हो जाती है, रक्त-चाप में परिवर्त्तन हो जाता है और हृदय की धड़कन में भी (उसके फलस्वरूप नाड़ी गति में भी) परिवर्त्तन हो जाता है।[1]

मस्तिष्कीय-सामर्थ्य

संवेग में मस्तिष्क का शरीर के अन्य भागों में क्या शारीर प्रभाव होता है, मनोविज्ञान ने यह जानने के लिए समस्त साक्ष्य-प्रमाणों पर सम्यक् विचार किया है। परन्तु अब मनोविज्ञान स्वयं मस्तिष्कीय वैद्युत्-क्रिया को मापने में समर्थ है। यहां पर कुछ सरल प्रतीतियां दी जाती हैं। ई० ई० जी० (इलेक्ट्रो एनसेफेलोग्राफ) तथा 'अल्फारिदम्' पर संवेग में पड़े प्रभाव भी दिखाये जाते हैं।

पूर्वानुभव के अनुसार अर्थ ग्रहण करके वर्त्तमान ज्ञान (कॉग्निशन) एक ढांचा प्रस्तुत कर देते हैं जिसके भीतर व्यक्ति को संज्ञान हो सकता है और वह अपनी अनुभूति को पहचानता है।

मस्तिष्क की गतिविधि का अध्ययन मस्तिष्कीय-कार्टेक्स से जनित खास और सूक्ष्म वैद्युत संदोलन के नाम पर किया जाता है। यह काल-बद्ध वैद्युत धड़कन ई० ई० जी० से आलिखित की जाती है जो मूर्द्धा (सिर की खोपड़ी का बाह्य ऊर्ध्व भाग) पर रखी वैद्युत छड़ों से सम्बन्धित किया होता है। ई० ई० जी० द्वारा लिए गए प्रतिरूप (पैटर्न) निद्रा के विभिन्न स्तरों पर बहुत भिन्न होते हैं। जागरण के काल के प्रतिरूप (पेटर्न) में 'अल्फारिद्म' में प्रति सेकेण्ड लगभग दस 'संदोलन वा धड़कनें' देखी जाती हैं। जब प्रयोगाधीन व्यक्ति सुप्त होता है तो यह धड़कन तिरोहित हो जाती है।

—फिलायल एल० रक, साइक्लोजी एण्ड लाइफ, पृष्ठ १२८।

---

१. फिलायल एल रक कृत 'साइकलोजी एण्ड लाइफ', छठा संस्करण, पृष्ठ १८१।

एंज़ायटी, एप्रिहेन्शन, रिलेक्सेशन (क्रमशः बेचैनी, आशंका, विश्रान्ति के सन्निकट भाव) के ऐसे चित्र विभिन्न पाश्चात्य मनोविज्ञान ग्रंथों में देखे जा सकते हैं।

संवेगों में शारीरिक परिवर्त्तन (अनुभाव)

डारविन ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि संवेगों की विशिष्ट अभिव्यक्ति में सहायक कुछ उपादान 'उपयोगिता सिद्धान्त' के अधीन कार्य करते हैं और आत्म-रक्षण आदि में उसकी उपयोगिता है। उपयोगितावादी डारविन तथा अन्य मनोवैज्ञानिकों की व्याप्ति सर्वत्र नहीं देखी जाती। कुछ विशिष्ट आंगिक-भंगिमाओं की अभिव्यक्ति को इस सिद्धान्त के माध्यम से नहीं समझाया जा सकता। वैज्ञानिक आज भी उनके कारणों का युक्ति संगत समाधान देने में असमर्थ हैं।

डारविन के उपयोगिता सिद्धान्त के अनुसार संवेग में त्वचा पर उत्पन्न हो जाने वाले दाने (ददोरे) जिन्हें अंग्रेजी में 'गूज पिंपिल्स' कहा जाता है, त्वक्-पेशियों के संकोच से उठते हैं जिनके द्वारा हमारे पूर्वज 'रोमोद्गम' करते होंगे। डारविन ने अनेक शब्दों के मूल को लेकर विचार किया है, यथा 'सरकासिज़्म'। इसमें मनुष्य का एक 'कीला'—नुकीला दांत दिखायी देने लगता है। यह शत्रु को फाड़ डालने की इच्छा से उत्पन्न तैयारी का द्योतक है। उन्होंने बताया है, ग्रीक-भाषा में 'सरकासिज़्म' का अर्थ है—जीवित मांस चीरना।

कुछ मुद्राओं का सामाजिक महत्त्व है, डारविन ने भी संभवतः यह अनुभव किया होगा, और इसी कारण संभवतः वे आज तक व्यवहार में चली आती हैं जैसे, हास्य-मुद्रा, भृकुटि-भंग और इसी प्रकार की अन्य मुद्राएं अन्य जनों को हमारी प्रवृत्ति की सूचना देती हैं। परन्तु, सम्भवतः उनका उपयोग कभी जीवन-रक्षा में नहीं हुआ जैसा कि उनका विचार था।

देह भंगिमाएं या मुद्राएं वस्तुतः विशिष्ट परिस्थिति में व्यक्ति के अपने व्यवहार पर इतना अधिक निर्भर करती हैं कि इनका तदनुभावक संवेग से 'प्रतिरूपी सम्बन्ध' किंचित् ही माना जा सकता है। तो भी इसके कुछ अपवाद हैं। हम शोक में, सम्मान में या अधीनता में 'नमन' की बात कह सकते हैं अथवा क्रोध में कठिन-निर्दय होने की, पराजय में अधोमुख होने की, औत्सुक्य में उझकने की। केवल इन कुछ भंगिमा-प्रतिरूपों को ही संवेगों की विश्वसनीय भंगिमा कहा जा सकता है।[1] (भारतीय आचार्यों ने इसीलिए प्रायः कायिक एवं वाचिक अनुभावों को निश्चित मुद्राओं के साथ 'आदि' शब्द कहकर पूर्ण किया है।)

मुखाभिव्यक्ति (मुख मुद्राएं)—सबसे अधिक अभिव्यंजक उपकरण मस्तिष्क, नेत्रों की परिधि, नासिका तथा मुख की पेशियां हैं। प्रत्येक संवेग के साथ इन पेशियों के उपयोग और भंगिमा-प्रतिरूप में बहुत भेद हैं। लेकिन मुख की अभिव्यक्ति की भाषा जिससे प्रायः समस्त मानव-समाज एक मत हो सकता है, मस्तक और भृकुटि-भंगिमा की भाषा है।

---

१. जे० पी० गिलफोर्ड कृत 'जनरल साइकलोजी', स्टूडेण्ट एडिशन, पृ० १७६।

इसके दो तत्त्व हैं—एक, भृकुटि जो इच्छानुसार ऊंची करके धनुषाकार की जा सकती है तथा दूसरी मस्तक की धरातलीय सिकुड़न जो किसी प्रकार के विस्मय, आश्चर्य-अचम्भे के प्रभाव के परिणामस्वरूप होती है। भ्रू को सिकोड़ा जा सकता है जिससे भृकुटियों में ऊर्ध्व-सिकुड़न पड़ सकती है। यह प्रभाव असुखद प्रतीति या यत्न का परिणाम है। ये दोनों तत्त्व विभिन्न मात्राओं में पृथक्तया अथवा संयुक्त हो सकते हैं और विविध प्रभावों की अभिव्यक्ति कर सकते हैं।

आंखें—चौड़ी खुली आंखों का अर्थ है, दृष्टि का महा अवधान जो अभिरुचि में, भय में, आतंक में होता है। ऊपर को उठायी आंखों का अर्थ उच्च-शक्ति का महत्त्व स्वीकार, विनती करना, या शरण में आना हो सकता है; नीची आंखों का अर्थ है किसी कारण से परिवेश के प्रति अनवधान। परन्तु यह सुनिश्चित नहीं है। 'बन्द' और 'चुरायी हुई' आंखें भी अनवधान का लक्षण हो सकती हैं। ('बन्द आंखें' भारतीय दृष्टि से विचार करने पर चित्त की एकाग्रता एवं 'चुरायी आंखें' भीति एवं आशंका से पूर्ण अवधान को भी द्योतित करती हैं।)

नासिका—दुर्गन्ध के विषयों के कारण नासिका ऊपर की ओर संकुचित हो सकती है और नासापुटों को संकीर्ण कर सकती हैं। इसी को 'नाक सिकोड़ना' कहा जाता है। अथवा यह तीव्र वेगवान् क्रिया में, प्रभावकर श्वास लेने की तत्परता में नासापुटों को चौड़ा कर सकती हैं।

मुख—मौखिक अभिव्यक्ति के सबसे अधिक प्रकार हैं। इनमें, जैसा कि वुण्डट ने बताया था, कुछ जिह्वा के आस्वाद सम्बन्धी हैं, जैसे 'मीठा मुंह'—इसमें ओष्ठ दबे होते हैं, और मधुर ग्रास को जिह्वाग्र पर थामने को तत्पर होते हैं, जिस जगह मधुरिमा का सबसे अच्छा स्वाद लिया जा सकता है; 'कड़ुवा मुंह'—इसमें अधर नीचे मुड़ा रहता है और जिह्वा आगे निकली रहती है, यथा, उगलने को तत्पर हों; 'खट्टा मुंह' इसमें मुख के दोनों कोण नीचे रहते हैं, यथा, खट्टी वस्तु को जिह्वा के पार्श्वों से गिराने को तत्पर हों। 'ठना मुंह' भी होता है। इसमें जबड़े जकड़े और अधरोष्ठ दबाव से पतले और दांतों के जोड़े सीधे, तने होते हैं। अधिक अवधान का 'खुला मुंह' होता है जो प्रयास-कर क्रिया में भी, अच्छी तरह श्वास लेने के लिए, खुला होता है।

वाक्—इसमें कर्कशता एवं निर्घोष सम्बन्धी गुण होते हैं एवं सुर-परिवर्त्तन, उसकी उच्चता, प्रभावकता, वाक्-भ्रंश एवं गद्‌गद्‌त्व तथा आरोहावरोह देखे जाते हैं जिनसे आश्चर्य, भय, पीड़ा, शोक, क्रोध, घृणा आदि का सूचन होता है।

वाणी—वाणी का हकलाना, लड़खड़ाना, रुंधना एवं लोप भावों और उनके आवेगों का वर्णन कर देते हैं।

—फिलाइल एल० रक कृत 'साइकलोजी एण्ड लाइफ', स्टूडेण्ट एडिशन, पृ० १७८।

अब हम पृथक्तः कतिपय संचारी भावों के मनश्शारीर स्तर पर प्रायोगिक अध्ययन में अग्रसर होते हैं।

२. कतिपय संचारी भावों का प्रायोगिक अध्ययन

(१) निर्वेद

'निर्वेद' का स्वरूप-विश्लेषण पीछे द्वितीय प्रकरण में किया जा चुका है। यहां इसकी मानसिक एवं शारीरिक प्रक्रिया का विश्लेषण अभीष्ट है।

'निर्वेद' दुःखात्मक भाव हैं। इसे 'अजड़ (ज्ञानात्मक) वर्ग का कहना चाहिए। यह सब स्थायी भावों में नहीं दिखायी देता। केवल 'वियोग', 'भय' तथा 'शोक' में पोषक बनकर आ सकता है और स्वतन्त्र रूप में भी प्रकट हो सकता है। इसकी प्रकृति अहंकार-विहीन रजोगुणी हैं। इसमें चित्तशून्यता की स्थिति उत्पन्न होती है। मन पर प्रतिकूल परिस्थितियों का विषम एवं विमुखकर प्रभाव पड़ता है जिससे चेतना उदासीन एवं अनग्रसर होकर रह जाती है। इसमें आत्म-सामर्थ्य की हीनता का भान तथा तज्जन्य निराशा भी परिलक्षित होती है। परन्तु कार्यरूप में परिस्थिति को नकारने की प्रवृत्ति, 'अंगूर खट्टे हैं' जैसी मनोवृत्ति भी कार्य करती है। इसकी प्रतिक्रिया क्षणिक नहीं, अपितु अपेक्षाकृत दीर्घकालीन है। प्रथमतः, इसमें मन की चिन्तन-वृत्ति कार्य करती है और बुद्धि वस्तु-स्थिति को तोलने में क्रियाशील होती है तदुपरान्त खेद के कारण को 'अ-वश्य' देख कर अन्य उपायों से उसे हलका करने के उपाय ढूंढ़ती है। यह एक मानसिक अवस्था का भाव है। इसके मूल में प्रयत्न-आलस्य एवं पर-सहानुभूति-अर्जन के लिए दैन्य भी रहता है। विषय के प्रति, निर्वेद में, निष्क्रियता की प्रतिक्रिया होती है।

विभाव—'निर्वेद' के विभाव क्लेशकर वर्ग में आते हैं और प्रायः अमूर्त्त, मानसिक भावात्मक होते हैं। प्रकृतितः वे रूक्ष, विकृत एवं विरागकर हो सकते हैं।

शारीरिक प्रतिक्रियाएं—'निर्वेद' में खेद-जनित दबाव को मस्तिष्क में कम करने के लिए अश्रु प्रस्रवित होते हैं। इसमें श्वास, हृदय-गति तथा नाड़ी-गति मन्द रहती है। त्वचा की विद्युत-संरोधक शक्ति में परिवर्त्तन हो जाता है। शरीर का ताप संतुलित रखने के लिए त्वक्-शिराएं स्वेद का अधिक प्रस्रवण करती हैं। प्राण-वायु की कम आवश्यकता होती है। अतः निश्वास लक्षित होते हैं और कम प्राण-वायु के कारण रक्त-संचार मन्द हो जाता है जिससे वैवर्ण्य होता है, और वाणी में गद्गद्त्व देखा जाता है।

सहानुभूति प्राप्त करने के लिए दैन्य-जनित आत्मनिन्दा रूप वाचिक अनुभाव आदि भी दिखायी देते हैं।

(२) ग्लानि

ग्लानि का स्वरूप विश्लेषण पीछे द्वितीय प्रकरण में किया जा चुका है। यहां इसकी मानसिक एवं शारीरिक प्रक्रिया का विश्लेषण अभीष्ट है।

'ग्लानि', 'रति', 'शोक', 'हास', 'भय' और 'जुगुप्सा' में पोषक बनकर आनेवाला भाव है। 'उत्साह', 'क्रोध', एवं 'विस्मय' में यह पोषण करता नहीं देखा जाता। आचार्यों ने इसे दुःखात्मक वर्ग में स्थान दिया है। परन्तु राग और द्वेष से समानतया सम्बन्धित होने के कारण इसे उभयात्मक वर्ग में स्थान देना उचित है। इसी प्रकार प्रकृति से भी इसे उभयात्मक (जड़ाजड़) कहना समीचीन होगा। वास्तव में यह 'आवेग' का 'कल्पित' रूप है जिसमें मनः-काय-वाक् मुरझाने लगते हैं। पाश्चात्य मनोविज्ञान के अनुसार यह सामान्य-सामञ्जस्य-प्रतिरूप (जी० ए० एस०) की शैथिल्यरूप तीसरी अवस्था है जिसे सेल्यी ने अंग्रेजी में 'एग्झोशन' कहा है।[1] इस प्रकार इसे मानसिक-अवस्था रूप भाव कहना उचित हैं। इसमें अहंकारविहीन रजोगुण की प्रधानता है तथा यह संकल्प शक्ति के विपरीत 'विकल्प-शक्ति-युक्त संकोचात्मक भाव है। इसमें 'जूतिः' 'वेगशक्तिः' 'असुः' (प्राणशक्ति) की हानि देखी जाती है। यह 'आवेग' का विपरीत अवसादात्मक रूप है।

विभाव—इसके विभावों का अध्ययन करने पर स्पष्ट लक्षित होता है कि वे प्रायः उस कोटि के हैं जिनके दबाव से प्रभावित होकर व्यक्ति की मानसिक तत्परता या सन्नद्धता 'अवसन्न' होती है। अधिक रति, अधिक पान, अधिक जागरण, अधिक तप-उपवास, अधिक भूख-प्यास, आधि-व्याधि, कायमन-क्लेश, विरेक, वमन, जुगुप्सित पदार्थ और परिस्थिति—ये सब व्यक्ति की 'तत्परता' या 'सन्नद्धता' को तोड़ देने या अवसन्न करने वाले विभाव हैं। वे ललित, ललिताभास, रूक्ष, निन्दित एवं विकृत प्रकृति के हो सकते हैं।

शारीरिक मानसिक प्रतिक्रियाएँ—'ग्लानि' में शारीरिक-मानसिक 'तत्परता' या सन्नद्धता के विघटन के परिणामस्वरूप शैथिल्य, अनुत्साह या अरति दीख पड़ती है, इनकी विभिन्न हल्की-भारी छायाएँ ही अनुत्साह, शून्यचित्तता, शरीर खेद, दुर्बलता, क्षमता, आत्म-निन्दा, जगत् के प्रति हेय-बुद्धि आदि है। 'ग्लानि' की अवस्था में आवेग के क्षणों में नाड़ियों में होने वाला शुद्ध रक्त-संचार विघटित होने लगता है और शरीर में स्वचालित अनुक्रिया-तन्त्र विपरीत कार्य करने लगता है। मांस-पेशियों को आवश्यक मात्रा में रक्त नहीं पहुंचता। उनकी कार्य-शक्ति दुर्बल एवं अक्षम हो जाती है, जिससे, मन्द-रक्त संचार के कारण, वे कांपने लगती हैं और 'कम्प' अनुभाव को जन्म देती हैं। त्वक्-शिराओं में भी रक्त की कमी के कारण 'विवर्णता' देखी जाती है तथा अन्य अंगों में 'अनौजस्य' के कारण 'कृशता' तथा 'दुर्बलता' या 'निर्व्यापारत्व' देखा जाता है।

'आवेग' का मनोवांछित फल न होने का परिणाम अरति तथा अनुत्साह, शून्य-चित्तता और दिग्भ्रमादि आदि होते हैं जो 'जूतिः' (वेग शक्ति) की हानि का परिणाम हैं। मन्द रक्त-संचार से 'प्राण शक्ति' में कमी आ जाने के कारण रक्तचाप में कमी, शरीर-ताप में कमी तथा शरीर-खेद उत्पन्न होता है और आनुषंगिक वृत्तियाँ—यथा संसार के प्रति हेयत्व-बुद्धि, दैन्य आदि जन्म लेती हैं।

---

१. ना० एल० मन कृत साइकलोजी, पृष्ठ ३५२।

(३) असूया

'असूया' का स्वरूप-विश्लेषण द्वितीय प्रकरण में किया जा चुका है। यहाँ इसकी मानसिक एवं शारीरिक प्रक्रियाओं का विश्लेषण अभीष्ट है।

यह रति, उत्साह तथा क्रोध का पोषण करता है। यह दुःखात्मक वर्ग का स्वतन्त्र विषय-युक्त भाव है, जिसकी प्रकृति प्रक्षेपात्मक है। रति का पोषण यह संयोग एवं वियोग दोनों ही अवस्था में करता है। संयोग रति में अपने 'प्रिय' का प्रेम अधिगत करने वाले व्यक्ति या प्राणी के प्रति, जिससे अपने प्रति प्रेम के क्षीण होने की सम्भावना हो, असूया उत्पन्न होती है। शत्रु के प्रति भी 'असूया' के मूल में आत्मरक्षा की—चाहे वह प्राप्त सुखों, प्रतिष्ठा अथवा अहम् किसी प्रकार की हो—और स्वस्थिति को अक्षुण्ण बनाये रखने की इच्छा है। असूया सामाजिक कारणों से उत्पन्न होती है, अतः पशु-वर्ग में, मनुष्य से निम्न प्राणी वर्ग में नहीं देखी जाती। बच्चों में भी यह परवर्त्ती काल में ही देखी जाती है। अपनी स्थिति रक्षा के लिए पर-अपकर्ष—पर-अ-प्रतिष्ठा, पर-सुख-हानि, पर-नाश का चिन्तन इसमें होता है। इसमें रजोगुण की प्रधानता है और अभिमान (अहं) कार्य करता है। इसमें मन की 'प्रज्ञा', 'विज्ञान' और 'मनीषा' शक्तियाँ सहायक नहीं होतीं। मन इसमें भविष्य में होने वाला स्व-अनिष्ट के निश्चय से भी चिन्तित रहता है। अतः इसमें मन की 'संज्ञान', 'मेधा', 'मति' कार्य करती हैं। इसमें प्रयत्न या उद्यम बहुत कम होता है अर्थात् मन की 'जूतिः' और 'असुः' का अत्यल्प उपयोग होता है जिसको मानस-विद्युत तरंग-मापक यन्त्र से सहज ही मापा जा सकता है। यह 'अजड़' जाति (पूर्णतया ज्ञानात्मक) का भाव है। यह क्षणिक और अपेक्षाकृत दीर्घकालिक दोनों रूपों में देखा जा सकता है। 'असूया' में मन स्वलाभ के लिए नहीं, स्व-स्थिति बनाये रखने के लिए ही, परापकर्ष चिन्तन करता है। यह एक तरह अपदस्थ होने की चिन्ता का फल है।

विभाव—असूया के विभाव मूर्त्त नहीं, अमूर्त्त रूप, अहंकार, गुण, कर्म, पूर्वाग्रह और परिस्थितियां होती हैं। इसके कारणों की प्रकृति खर एवं स्थिर कही जा सकती है क्योंकि ये कारण असूया के आश्रय को अप्रीतिकर एवं अनिष्ट-सक्षम दिखायी देते हैं।

मानसिक शारीरिक प्रतिक्रियाएँ—असूया में कोई सात्विक-भाव अथवा शारीरिक स्वचालित सक्रिय प्रयत्न नहीं देखा जाता। इसमें केवल मस्तिष्क में उठती विद्युत् तरंगों में ही अन्तर दिखाई देता है। मस्तिष्क की इन चैतसिक तरंगों को, मति, संज्ञान, भय, चिन्ता, रोष, स्पर्धा की तरंग शक्ति को ही नाप कर, इसकी मानसिक प्रतिक्रियाओं को निश्चित किया जा सकता है।

इसमें वाणी में 'प्रखरता' तथा 'व्यंग' आदि दीखता है जो अल्प क्रोध व मन्यु के द्योतक हैं; जिसमें प्रकट होता है कि रक्त एवं हृदय की सामान्य गति में इससे परिवर्तन हो जाता है लेकिन इतना नहीं कि उसमें **प्रबलता, चण्डता**, अथवा सहज आवेगपूर्ण प्रतिकारेच्छा दिखाई

दे। अधर-दंशन से प्रकट होता है कि आश्रय शत्रु को प्रभावित करने में अपने को असमर्थ देखता है। भृकुटि-भंट चिन्ताजनित अनुभाव है। परनिन्दा, कुत्सना, अवज्ञान, दूसरे की प्रतिष्ठा को नष्ट करने की इच्छा से उत्पन्न होते हैं तथा पर-दोषारोप से स्व-प्रतिष्ठा एवं अहंकृति की रक्षा की भावना सहज दिखती है।

पाश्चात्य मनोविज्ञान में 'जेलेसी' (ईर्ष्या) के विषय में 'सुन्दर विश्लेषण दिया गया है। 'जेलेसी' कुछ अंशों में 'असूया' के समान हैं, परन्तु वह 'असूया' नहीं है। असूया की व्याप्ति अधिक है। 'जेलसी' के विश्लेषण का अनुवाद करके यहां देना उचित होगा।

'ईर्ष्या' एक पश्च-उदीयमान संवेग है। यह केवल सामाजिक कारणों से हो सकता है, अतः यह तब तक प्रकट नहीं होता जब तक एक सामाजिक-प्रत्यय एवं जीवन का एक विशेष मात्रा तक विकास नहीं होता।

छोटे बालकों में 'ईर्ष्या' का कारण प्रायः परिवार में नव-बालक का आगमन होता है। माता-पिता जब नवागन्तुक बालक को अधिक अवधान और वात्सल्य देते हैं, जिसका बड़ा बालक अभ्यस्त रहा है, तो इससे उसमें 'ईर्ष्या' जन्य प्रतिक्रियाएँ उठ सकती हैं। कभी-कभी छोटा बच्चा आक्रामक होता है और गम्भीर रूप से उसे क्षति पहुंचती है। 'ईर्ष्या' से वह उसकी 'उपेक्षा', 'अवज्ञा' भी कर सकता है, यहाँ तक कि उसके अस्तित्व को ही अस्वीकार कर दे; हो सकता है वह खाने से इन्कार कर दे, बिस्तर में मूत्र त्याग करे, ध्यानाकर्षण में अन्य विविध प्रकार अख्तियार करे।

'ईर्ष्या', 'चिन्ता' से प्रेरित होती है। यह नवागन्तुक द्वारा अपने अपदासीन होने का भय है।

'ईर्ष्या' कई अन्य परिस्थितियों में भी प्रकट होती है, यथा संगृहीत सुखों, प्रतिष्ठा एवं अन्य अहं-सम्बद्ध रूपों को हानि की सम्भावना में। सह-क्रीडक बालक 'ईर्ष्यालु' हो उठते हैं, जब उनका मित्र नयों से 'अनुराग' उत्पन्न कर लेता है। बच्चे अपने माता-पिता के सम्बन्धों को लेकर भी ईर्ष्या दिखा सकते हैं। ओडिपस ग्रंथि—जिसमें लड़का अपनी माता से अपने पिता के सम्बन्धों से ईर्ष्या करता है, इलेक्ट्रा ग्रंथि—लड़की अपने पिता से अपनी माता के सम्बन्धों के कारण ईर्ष्या करती है, ईर्ष्या से उत्पन्न देखी जाती है। जब कोई व्यक्ति इस भय से चिन्तित होता है कि कोई अन्य उसे 'प्रिय' से वंचित कर देगा तो इस प्रकार के और अन्य प्रकार के ईर्ष्या-रूपों में प्रायः यौन-भावनाएँ निहित होती हैं। बड़े वच्चों में तथा वयस्कों में ईर्ष्या-जन्य व्यवहार के विविध पहलू होते हैं, यद्यपि बुराई, पर निन्दा, कुत्सना और दोषारोप सब उम्रों में रहते हैं।

—ना० ल० मन० कृत 'साइकलोजी' पृष्ठ ३४०।

(४) धृति

'धृति' का स्वरूप-विश्लेषण द्वितीय प्रकरण में किया जा चुका है। यहां इसकी

मानसिक एवं शारीरिक प्रक्रिया का विश्लेषण अभीष्ट है।

'धृति' भाव में सत्त्वगुण की प्रधानता है और यह रति, विस्मय, वीर में (शान्त में भी) पोषक बन कर आता है। यह एक विशेष भाव है। इसकी प्रवृत्ति विकास एवं प्रसारात्मक है तथा इसको पूर्णतया अजड़ (ज्ञानात्मक) कहा जा सकता है। वह स्वयं मन की एक पृथक् शक्ति के रूप में ऐतरेय उपनिषद्[1] में वर्णित किया गया है और महाभारत[2] में सात्त्विक गुणों की गणना में इसे सम्मिलित किया गया है। 'चापल्य' का प्रतिकूल यह एक चरित्र-निर्माता गुण है। उपयोगानुसार यह स्वतन्त्र एवं परतन्त्र (स्थाई का पोषक अंग) दोनों ही प्रकार का देखा जा सकता है। इसमें 'मेधा' (धारणा शक्ति) संज्ञान, आज्ञान, विज्ञान, प्रज्ञान (प्रज्ञा शक्ति) दृष्टि (तत्त्व-निरूपणी शक्ति) 'कामः' एवं 'वशः' कारण रूप में कार्य करती हैं। 'जूतिः' और 'असुः' प्रसुप्तावस्था में रहती हैं। इसमें चेतना का उपप्लव शान्त रहता है और वह उपचित रहती है। इसमें दृढ़-संकल्प का भी आधार होता है। इस भाव का समकक्षी कोई भाव अंग्रेजी में नहीं है।

विभाव—'धृति' के समस्त विभाव अमूर्त्त रूप है, एवं आश्रय के चरित्र-बल (गुण, कर्म, अध्ययन, ज्ञान, शील, सदाचार) से सम्बन्धित होते हैं।

शारीरिक प्रतिक्रिया—इसमें चैतसिक विक्षोभ शान्त होने के कारण कोई भी सात्त्विक भाव दृष्टिगत नहीं होता। हर्ष-भय-शोक-विषादादि-रहित मानसिक-वृत्ति होने के कारण (उनके कारण वर्तमान होने पर भी) किसी प्रकार का प्रक्षेप अथवा विक्षोभ अथवा संकोच शरीर की अन्तर्बाह्य क्रियाओं में नहीं दिखता। स्थिर भाव से, चेतना के उपचित होने के कारण 'सहास' वचन, 'वचनोल्लास' तथा 'सौहित्य' (प्रत्येक अवस्था में सुख) देखा जाता है जिससे आचार्यों ने इसे 'संतोष' एवं 'निस्पृहता' भी प्रकारान्तर से कहा है। इसकी शारीरिक और मानसिक प्रक्रिया को 'अविचलता' नाम देना ठीक है।

श्वास, रक्त, नाड़ी एवं हृदय-गति में कोई अन्तर पड़ता नहीं दिखता। त्वचा की विद्युत्-संरोधक शक्ति भी यथावत् रहती है एवं मस्तिष्क की भी तरंगों में सम्भवतः कोई अन्तर नहीं आता हैं, परन्तु इसका निर्णय मस्तिष्क तरंग मापक यन्त्र की ही सहायता से किया जा सकता है।

(५) विषाद

'विषाद' के स्वरूप का विश्लेषण द्वितीय प्रकरण में किया जा चुका है।[3] यहाँ इसकी मानसिक एवं शारीरिक प्रक्रियाओं का विश्लेषण अभीष्ट है।

---

१. ऐतरेय उपनिषद्, १।२।

२. साइन्स आफ इमोशन्स (संस्करण १९२४), पृष्ठ २५४ पर उद्धृत।

३. प्रकरण २, विषाद।

यह दुःखात्मक वर्ग का क्लेशकर भाव है। यह 'हर्ष' का प्रतिकूल भाव है। यह विप्रलंभ शृंगार, करुण, भयानक तथा बीभत्स रस में व्यभिचारी रूप में पाया जाता है। भाव-प्रकाशन में रसों की दी हुई प्रकृतियों के अनुसार विचार करने पर इसकी प्रकृति रज-तम अन्वित ठहरती है।[१] वैसे महाभारत में 'परिताप' को रजोगुणों में गिना गया है, जो इस के समकक्ष ठहरता है।[२] हर्ष में मन की 'प्रसन्नता' (प्रांजलता) रहती है[३] अतः उसे प्रसादात्मक कहा जाता है, जबकि इसमें मन 'क्षीण' मलिन हो जाता है, और उसकी प्रांजलता विनिष्ट हो जाती है। मन का विविध रूप से इसमें 'सादन' होता है। इसमें मन की संकल्प शक्ति, मनन शक्ति तथा मति का ह्रास हो जाता है और प्रज्ञा तथा आज्ञा शक्ति कार्य रोक देती हैं जिससे प्राण-शक्ति अल्प दिखायी देती है, इसी को सत्त्व संक्षय की भी संज्ञा दी जा सकती है। इसमें धृति शक्ति का नाश भी रहता है। अंग्रेजी में इसे 'डेस्पेयर' और 'हेल्प-लेसनेस' कहा गया है।[४] इसके उपरान्त 'शोक' का उदय होता है।[५] यह आवलम्बन-निरपेक्ष एवं संकल्पविहीन भाव है।

इसके विभाव 'रूक्ष', 'निन्दित' तथा 'विकृत' वर्ग में रखे जा सकते हैं एवं उनमें आश्रय विभाग में कर्त्तव्यशून्यता उत्पन्न करने की शक्ति होती है।

शारीरिक प्रतिक्रियाएं—इसमें आश्रय के मन की सामर्थ्य के अनुसार शारीरिक प्रति-क्रियाएं होती हैं। उत्तम-मनस्क व्यक्ति उपायान्वेषण की, उपाय-विचिन्तन की शारीरिक प्रति-क्रियाएं करते हैं। मध्यम मनस्क व्यक्तियों में अनुत्साह (रक्त संचार की कमी से) विमनस्कता, अधम-मनस्क व्यक्तियों में शक्ति का ह्रास होने से शय्याग्रहण एवं निश्श्वास देखे जाते हैं। रक्त के संचार में बाधा पहुँचती है। उप-अनुकम्पिक संस्थान कार्य करता है। रक्त गाढ़ा हो जाने के कारण मस्तिष्क में स्वच्छन्द संचार नहीं करता, अतः मूर्च्छा भी होती है। रक्त-वाहिनी नाड़ियों में यथेष्ट रक्त न पहुँचने से वैवर्ण्य देखा जाता है। गले में तथा मुख में 'जल प्रस्रावक ग्रन्थियां' कार्य रोक देती हैं जिससे 'मुख शोषण' एवं 'गला सूखना' आदि दिखते है। प्राण शक्ति की अल्पता के कारण पलायन-प्रतिक्रिया होती है। मस्तिष्क में रक्त-गाढ़ता के कारण, रक्त संचार मन्द होने के कारण थकान अधिक होती है तथा श्वास की गति मन्द हो जाने के कारण रक्त-परिशोधन नहीं हो पाता जिससे वह भारी होने लगता है और उसकी बोध, मनन एवं मति-शक्ति नष्ट होती है और अपने कार्यों को 'मूंद' कर विरत होने लगता है जिससे व्यक्ति निद्रा की भी स्थिति में पहुँच जाता है। इसमें आंसू नहीं आते, अर्थात् विचार, मनीषा एवं संबोध नहीं रहता। (देखिए, साइंस आफ इमोशंस, १९२४ संस्करण पृष्ठ २३९)।

---

१. भा० प्र०, पृष्ठ ४७-४८।

२. साइंस आफ इमोशंस, तृतीय संस्करण, पृष्ठ २५४ उद्धृत।

३. चित-प्रसाद='प्लेसिटी आफ माइंड'—वही।

४. सा० स्ट० र०, पृष्ठ १४२। ५. र० मी०, पृष्ठ २०९।

पाश्चात्य मनोविज्ञान के 'फ्रस्ट्रेशन' (भग्नाशा) के विभाव और अनुभाव 'विषाद' के निकट पड़ते हैं। अतः उनका अनूदित विवरण भी यहाँ उपस्थित किया जाता है।

भग्नाशा, और सहचारित मनोवैज्ञानिक तनाव, विभिन्न कारणों से होती है ; यथा, परिवेश की बाधाओं से जिनमें वे लोग भी हैं जो हमारे आड़े आते हैं, अपनी व्यक्तिगत त्रुटियों से, तथा द्वन्द्वात्मक परिस्थितियों से। द्वन्द्वात्मक परिस्थितियों के कई मूल प्रकार निश्चित किये गये हैं। वे हैं—द्विधा रागात्मक, द्विधा द्वेषात्मक, रागात्मक-द्वेषात्मक एवं द्विधा रागात्मक-द्वेषात्मक परिस्थितियाँ। जो लोग इनके तनाव से बिना टूटे हुए गम्भीर बाधाओं का सामना करते हैं, उन्हें उच्च बाधा-सहनशील कहा जाता है।

'भग्नाश' होने की अवस्था में लोगों में प्रतिक्रिया करने की सामर्थ्य में विभेद होता है। जो बिखर नहीं जाते, भग्नाशा को 'ओड़' सकते हैं, उन्हें उच्च कहा जा सकता है। उन्हें तुच्छ कहा जा सकता है जिनमें बाधा सहन की तुच्छ शक्ति है और तनाव-काल में लक्ष्य-शून्य हो जाते हैं। (दे० नारमन एल० मन कृत साइकलोजी आफ ह्यूमन एड्जस्टमैंट, पृष्ठ ३६८।

बाधाएं आने पर सामान्य-सामंजस्य के जो विशिष्ट प्रतिरूप दिखायी पड़ते हैं, उनकी प्रतिक्रियाओं की तीन अवस्थाएं देखी गयी हैं—१. शरीर की प्रतिरक्षात्मक शक्तियों का आह्वान जिसमें ग्रन्थि पिट्यूटरी (पोष ग्रन्थि) से तथा एड्रिनल ग्रन्थियों से अधिक द्रव-स्रवण होता है। दबाब के चालू रहने से एड्रिनल ग्रन्थि तथा कुछ खास अंग फैल जाते हैं। एड्रिनल ग्रन्थियाँ (अभिवृक्क ग्रन्थियाँ) हटा दी जाने पर दबाब सहने की आंगिक सामर्थ्य को अति हानि पहुँचती है। २. एड्रिनल (अभिवृक्क गन्थियों से प्रस्रवित 'कोर्टिसोन' के आधिक्य से, जिसमें पिट्यूटरी (पौष) ग्रन्थि के 'ए० सी० टी-एच' से तथा दबाव कम करने वाले अन्य परिवर्तन से प्रोत्तेजन प्राप्त करके, यह सम्भव हो जाता है कि 'सामान्यः सामंजस्य-प्रतिरूप' (अंग्रेजी जी० ए० एस०) की दूसरी अवस्था में पहुँचा जाये। सेल्यी ने इसे 'आपात्कालीन' प्रतिरोधक अवस्था कहा है (क्या इसे भरतमुनि निरूपित 'उग्रता' भाव कहा जा सकता है ?) ३. लेकिन दबाव-तनाव चालू रह सकता है और व्यक्ति के मानसिक एवं शारीरिक संबल इसे जीतने में अपर्याप्त हों। ऐसा होने पर सामान्य सामंजस्य प्रतिरूप (अंग्रेजी जी० ए० एस०) की तीसरी एवं अन्तिम अवस्था प्राप्त होती है। सेल्यी इसे 'एग्जहॉसन' (हिं० ग्लानि) कहता है।[1] 'अभिवृक्क प्रान्तस्था' (अंग्रेजी एड्रिनल कार्टेक्स) की क्रिया सामान्य सामंजस्य प्रतिरूप में इस प्रकार वर्णित की गयी है।

अभिवृक्क-प्रान्तस्था (एड्रिनल कॉर्टेक्स) पहले अपने सूक्ष्म-चर्बी-'ग्रेन्यूल्स' प्रवाहित करती है जिसमें 'कार्टिकल हारमोन' होती हैं (यह भय की आसन्न अवस्था में होता है)। इसके बाद यह आसामान्य-रूप से चर्बी के बिन्दुओं से लद जाती है (यह प्रतिरोधक अवस्था में होता है), और अन्त में यह इनसे विहीन हो जाता है (यह एग्जहासन-ग्लानि की अवस्था है)। यदि सब

---

१. नारमन एल० मन कृत 'साइकलोजी आफ ह्यूमन एडजस्टमैंट', पृष्ठ ३५२।

अवस्थाओं में नहीं तो सर्वाधिक सामान्य-सामंजस्य-प्रतिरूपों की अभिव्यक्ति में इसी त्रिकलात्मक उपाय का अनुसरण होता है।[1]

(६) **व्रीडा**

'व्रीडा' का स्वरूप-विश्लेषण द्वितीय प्रकरण में किया जा चुका है। यहां इसकी मानसिक एवं शारीरिक प्रतिक्रियाओं का विश्लेषण करना अभीष्ट है।

'व्रीडा' मन की संकोचात्मक प्रकृति का भाव है एवं इसे 'अजड'(ज्ञानात्मक) जाति के अन्तर्गत रखा जा सकता है। विषय से स्वतन्त्र रहने के कारण, आश्रय की चित्तवृत्ति और व्यक्तित्व पर निर्भर रहने के कारण इसे 'विशिष्ट' भाव कहा जा सकता है। महाभारतकार[2] ने 'सत्व' गुणों में इसकी गिनती 'ह्री' नाम देकर की है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने संकल्पोपरान्त बुराई से रक्षा करने वाले तीन भावों की व्याख्या सात्विक, राजस एवं तामस प्रकृति के आधार पर की है। वे राजसी प्रकृति के मनुष्यों में 'लज्जा' को तथा तामसी प्रकृति के मनुष्यों में 'भय' को और सात्विक प्रकृति के मनुष्यों में 'ग्लानि' (उनका तात्पर्य 'ह्री' से ही दिखना है) को क्रियावरोधक रूप में देखते हैं।[3] इस प्रकार 'व्रीडा'—ह्री, लज्जा, अपत्रपा आदि का व्यापक नाम, एक प्रकार से आत्मरक्षात्मक भाव ठहरता है। इस प्रकार से व्रीडा आत्मरक्षात्मक भाव ठहरता है। इसी से लगा हुआ उत्तरवर्ती भाव 'अवहित्था' अथवा 'संगोपन' है। व्रीड़ा इस प्रकार दुःखात्मक वर्ग का भाव ठहरता है जिसके मूल में आत्म-रक्षा के लिए क्षोभ-पूर्वक आकुंचन की प्रकृति कार्य करती है। इसमें 'जूति' शक्ति अवरोध के लिए कार्य करती है। इसके समर्थन में अनुवाद करके पाश्चात्य मनोविज्ञान का यह कथन दिया जाता है—

'लज्जा' के मूल में 'भय' की अनुभूति का वेग कार्य करता है जो अपरिचित व्यक्तियों से उत्पन्न होता है। हमारी लज्जा (ह्री) के विभाव ऐसे ही लोग होते हैं। स्पष्ट रूप से रंगमंच-भीति, अधीनता-आतंक, एवं लज्जा एक प्रकार से प्रतिरोध ही हैं जिस भांति रक्त या व्याधि देखकर मूर्च्छा, समुद्रातुरता, ऊंचे स्थलों पर शिर-घूर्णन, चारु रुचि के कारण कुछ संभ्रम आदि होते हैं। ये एक प्रकार से संवर्धित संवेग होते हैं।—इनसे दो प्रवृतियाँ और उत्पन्न होती हैं यथा विनम्रशीलता, एवं शौच। (शौच की भी भारतीय आचार्यों ने सात्विक गुणों में परिगणना की है।—देखिए, महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय ३१८)। विनय या शील किसी न किसी रूप में मानुषी जीवन का नैसर्गिक एवं अपरिहार्य 'फीचर' अथवा लक्षण है। आवश्यक नहीं है कि यह शुद्ध और सहज प्रेरक अर्थ में सहज वासना हो।[4]

---

१. वही।

२. महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय ३१८।

३. चिन्तामणि भाग १, पृष्ठ ८३।

४. विलियम जेम्स कृत 'प्रिंसीपिल्स आफ साइकलोजी', पृष्ठ ४३७।

'व्रीडा' में लक्ष्य की ओर प्रवृत वेग को रोकने में मन की 'दृष्टि', 'धृति' एवं 'आज्ञान' शक्तियां अनियन्त्रित हो जाती हैं। यह 'राजसी' प्रवृति वालों में भी पायी जाती है। इसमें अहंकार-विहीन रजोगुण का भी समावेश है।[1] अहंकार का रोध और अधीनता की प्रवृति कार्य करती है। इसमें सापेक्ष-बुद्धि दृष्टिशक्ति कार्य करती हुई दिखाई देती है तथा मूल में आशंकित दुःख, मान हानि आदि से बचने की भावना रहती है। सापेक्ष्यता होने के कारण इसमें अन्यों का महत्त्व स्वीकार भी है तथा अपना हीनत्व अथवा लघुत्व स्वीकार भी है। 'व्रीडा' का भी प्रतिमुखी भाव 'चपलता' कहा जा सकता है।

विभव—'व्रीडा' का कारण विषयगत नहीं आत्मगत है। कोई आलम्बन या विषय 'व्रीडा' का कारण नहीं होता, अतः यह स्वतन्त्र विषय युक्त, वा आलम्बन स्वतंत्र वर्ग का भाव है। स्वीय दृष्टिकोण इसके कारणों में विशेष महत्त्व रखता है। इसके विभाव 'निन्दित' वर्ग के कहे जा सकते हैं।

शारीरिक प्रतिक्रियाएं—इसके अनुभावों को देखने पर विदित होता है कि इसमें 'उल्लास की सहसा कमी हो जाती है। कर्णमूलों में और कपोलों पर लाली इसलिए देखी जाती है कि मस्तिष्क में संकल्प-जनित प्रवृति के कारण हुए तीव्र रक्त-संचार का प्रत्यावर्तित बहाव होता है जिससे रक्त चाप में अन्तर लक्षित होता है। कर्णों के निकट त्वचा का ताप भी इसी से बढ़ा हुआ दिखता है। संकल्पोपरान्त उसके द्वारा हुई प्रवृति के सहसा आकुंचन के प्रयास में क्रिया-शक्ति लक्ष्य शून्य एवं अनियन्त्रित होती देखी जाती है जिससे अविचारित एवं निरर्थक कार्य, यथा, नख-कर्त्तन, अंग-भंगियां, होते हैं। इन अनुभावों में आकुंचन वा संकोचन तात्कालिक क्रिया है, जो भय की सहसा अवस्था में होती है, पुनः आत्मरक्षात्मक संगोपन की बाह्य क्रिया देखी जाती है। उसके उपरान्त ही अविचारित एवं लक्ष्य-विहीन निरर्थक कार्य होते हैं। 'व्रीडा की अन्तिमावस्था में मानसिक 'विचिन्तन' होता है जिसमें स्वस्खलन के कारण बुद्धि निश्चयकरी-दिशा में सोचने में असमर्थ रहती है।

(७) हर्ष

'हर्ष' का स्वरूप-विश्लेषण द्वितीय प्रकरण में किया जा चुका है। यहां की इसकी मानसिक एवं शारीरिक प्रक्रियाओं का विश्लेषण अभीष्ट है।

'हर्ष' सुखात्मक वर्ग का सामान्य भाव और 'अजड' जाति का है। यह रति, हास, उत्साह और विस्मय स्थायी में व्यभिचारी होकर आता है। इसमें 'मेधाः', 'क्रतुः' (मनोराज्य शक्ति) 'वशः' (स्त्री संसर्गादि की इच्छा) तथा 'कामः' (कामना शक्ति) कार्य करते हैं। अपनी प्रकृति से यह भाव विकासात्मक एवं प्रसारात्मक है। यह आलम्बन निरपेक्ष भाव है। डेकार्टे के मत से इसका उद्‌भव बोध संज्ञान से नहीं अपितु उसके प्रभावों से होता है जिससे

१. भाव प्रकाशन, पृष्ठ ३७।

मस्तिष्क में उत्तेजन होते हैं।[१] डेकार्टे 'हर्ष' और 'शोक' दोनों की संवेदना एक ही मानता है।[२] यह भारतीय आचार्यों की दृष्टि में 'चेतःप्रसाद', 'चेतोविकास', 'हृदयोत्फुल्लता' है और 'विषाद' का विलोम ठहरता है। 'राग' की अभिव्यक्ति 'हर्ष' के उपरान्त होती है। आचार्य शुक्ल के मत में यह अंगागि सम्बन्ध से 'राग' का अवयव है।[३] इस प्रकार 'हर्ष' में 'मनन' नहीं होता, अपितु यह विषय के प्रति आश्रय की धारणा पर अवलम्बित होता है। इसी को दृष्टि में रख कर वे इसे राग का आलम्बन-निरपेक्ष एवं लक्ष्य का संकल्प विहीन अवयव मानते हैं। यह 'स्वतन्त्र' और प्रधान भावों के साथ 'परतन्त्र' व्यभिचारी के रूप में दिखायी देता है। इसकी प्रकृति 'सत्त्व-स्थिता रजसाऽनुगृहीता' होती हैं।[४]

विभाव—इसके विभाव ललित, ललिताभास, चित्र एवं स्थिर प्रकृति के होने हैं।

शारीरिक प्रतिक्रियाएं—'ओरिफिसेज' के चहुं-ओर हृदय में रक्त ले जाने वाली नाड़ी विशेष रूप से 'हर्ष' में कार्य करती है। यह खुल जाती है और 'ओरिफिसेज' को फैला देती है और रक्त छोड़ देती है जिससे अन्य नाड़ियां सामान्य से अधिक रक्त की मात्रा लेकर जाती हैं। यह रक्त अधिक शुद्ध होता है और यह सरलतया फैल जाता है और ऐसा आवेश उत्पन्न करता है जिसके अंग समानुपातिक एवं सूक्ष्म संवेदक होते हैं। मस्तिष्क में इसके प्रभाव बनते और सुरक्षित होते हैं जिससे सुखद एवं शान्तिपूर्ण विचार होते हैं।[५] इसमें अश्रु और स्वेद प्रस्रावक नाड़ियों के कार्य सम्पन्न होते हैं। त्वचा का ताप बढ़ जाता है और उसकी विद्युत-संरोधक शक्ति का सन्तुलन करने के लिए प्रस्रावक नाड़ियां कार्य आरम्भ कर देती हैं। रक्त की शुद्धता और फैलाव के कारण वदन-प्रसाद (मुख चमक) दिखायी पड़ती है। रोमांच का कारण है, त्वचा का मांस-पेशियों का अनुकूल अनुभूति को ग्रहण करने के लिए सिकुड़ना। 'मनन' और 'सम्यक्-ज्ञान' का अभाव होने के कारण वाणी अस्फुट और गद्गद हो जाती है। प्राण वायु अधिक मात्रा में फेफड़ों में भरती है और नाड़ियों में ताजा और गर्म रक्त अधिक मात्रा में बहकर जाता है, अतः हृदय-उत्फुल्ल और शरीर फूला हुआ लगता है। चेतना में सुखद और मृदुल प्रभाव होने के कारण 'प्रिय वचन' 'प्रिय भाषण' भी दृष्टिगोचर होते हैं। त्याग और दान भी चित्त के 'सुखद' विश्राम की स्थिति में, संकोच (परिग्रह आदि) छोड़ कर, अंगों के प्रसार का, हल्का होने का ही प्रतीकात्मक रूप है।

(८) आवेग

'आवेग' के स्वरूप का विश्लेषण द्वितीय प्रकरण में किया जा चुका है। यहां इसकी मानसिक एवं शारीरिक प्रक्रियाओं का विश्लेषण अभीष्ट है।

---

१. कम्पेरेटिव ईस्थेटिक्स, के० सी० पाण्डेय कृत, प्रथम संस्करण, पृ० २०७।

२. वही। ३. र० मी०, पृ० २०६। ४. भा० प्र०, पृ० ३४।

५. कम्पेरेटिव ईस्थेटिक्स, के० सी० पाण्डेय कृत, प्रथम संस्करण, पृ० २०८।

'आवेग' एक सामान्य भाव है जो आठों स्थायी भावों में देखा जाता है। इस प्रकार यह सुखात्मक एवं दुःखात्मक, अथवा रागात्मक एवं द्वेषात्मक होने से उभयात्मक भाव है। यह अजड-स्वरूप है। इसकी प्रकृति विकास, प्रसार, प्रक्षेप एवं प्रक्षोभात्मक चतूरूपा है। सब रसों में पोषक होने से सत्त्वगुण, रजोगुण, एवं तमोगुण तीनों से ही यह अन्वित है। इसे 'जूतिः' (वेगशक्ति) का ही प्रतिरूप कहना चाहिये जिसके उपरान्त 'असुः' (प्राण शक्ति) का उदय होता है। वास्तव में यह परिवेश एवं परिस्थितियों से सामंजस्य करने की प्रथम अवस्था का मनोवेग है। पाश्चात्य मनोविज्ञान में इसे 'अेलार्म रिएक्शन स्टेज' की संज्ञा दी जाती है जिसमें मन सर्वाङ्ग को 'आकस्मिक' परिस्थिति में तत्पर करता है।[1]

विभाव—इसके विभाव ललित, ललिताभास, स्थिर, चित्र, खर, रूक्ष, विकृत तथा निन्दित सभी प्रकार के हो सकते हैं। इनका अल्पकालिक तथा आकस्मिक वा अप्रत्याशित होना आवश्यक है।

शारीरिक प्रतिक्रियाएं—इसमें सभी प्रकार के सात्त्विक भाव देखने में आते हैं, और राग तथा विद्वेष, उपगमन एवं प्रतिगमन सब प्रकार की क्रियाएं होती हैं। सुखमूलक भावों में रक्त का संचार अत्यधिक होने के कारण, नाड़ियां उसके वेग को सम्भाल नहीं पाती हैं, अतः पेशियां कार्य करने में असमर्थ रहती हैं जिसके कारण वैवर्ण्य, वैपथु, स्तम्भ आदि दिखायी पड़ते हैं और दुःखमूलक अवस्था में रक्त का संचार अति मन्द एवं घना हो जाता है जिसके कारण क्रियाओं में असामर्थ्य आ जाती है। इसमें 'पिट्यूटरी' (पीयूष) ग्रन्थि से द्रव-स्रवण होता है और 'एड्रिनल' (अभिवृक्क) ग्रन्थियों से भी। 'कोर्टिसोन' के आधिक्य से और 'ए० सी० टी० एच०' तथा अन्थ रक्त-शर्करा आदि के कारण वलवत्ता प्राप्त होती है। अश्रु-प्रस्रावक नाड़ियां भी कार्य करती हैं। त्वचा ताप में परिवर्त्तन देखा जाता है तथा रक्त चाप बढ़ जाता है। श्वास की गति में तीव्र परिवर्त्तन होता है तथा हृदय की गति भी परिवर्त्तित हो जाती है। इस अवस्था में 'एड्रिनल कोर्टेक्स' (अभिवृक्क प्रान्तस्था) के चारों ओर चर्बी के बिन्दु इकटठे नहीं होते हैं, वह केवल 'हारमोन' को ही प्रवाहित करता है। सुखमूलक भावों में अपने अनुकूल उत्तेजन प्राप्ति के लिए या सुखानुभूति के लिए आलिंगन, चुम्बन, अभ्युत्थान देखा जाता है और दुःखमूलक भावों में अनुकूल प्रधावन के निमित्त प्रभावन, सहसा प्रहार, अवगुण्ठन एवं अप्रियवचन आदि होते हैं।

(६) अमर्ष

'अमर्ष' का स्वरूप—विश्लेषण द्वितीय प्रकरण में किया जा चुका है।[2] यहां इसकी मानसिक और शारीरिक प्रक्रियाओं को उद्घाटित करना अभीष्ट है।

'अमर्ष' में मन की 'जूतिः' और 'असुः' (क्रमशः वेग एवं प्राण शक्ति) विशेष रूप से

---

१. दे० नारमन एल० मन कृत 'साइकलोजी आफ ह्यूमन एडजस्टमेंट, पृ० ३५२।
२. देखिए : 'अमर्ष' प्रकरण २।

काम करती हैं। मन के क्षणिक क्षोभ का नाम 'अमर्ष' है।[१] जाति से यह अजड जाति का एक विशेष भाव है। उपयोग की दृष्टि से यह स्वतन्त्र एवं परतन्त्र दोनों ही हो सकता है। इसकी मनोवृत्ति प्रक्षेप एवं प्रसारात्मक है। यह दुःखात्मक वर्ग में आता है। आचार्यों ने इसमें चित्त का तैक्ष्ण्य[२], ज्वलन[३] तथा प्रमोद-प्रतिकूलत्व[४] पाया है। प्रवृत्ति से 'शत्रु-नाश' की प्रवृत्ति वाला भाव है जिसमें शत्रु का, प्रतीकात्मक रूप में उसके 'अहं' का विनाश किया जाता है। यह क्रोध का अवयव है। इसमें पहले क्षोभ होता है पुनः प्रवृत्ति। यह प्रतिक्रिया-इच्छा ही है।

विभाव—इसके विभाव की प्रकृति 'खर' तथा 'स्थिर' होती है, वह अल्पकालिक ही होता है। आचार्य शुक्ल ने इसे क्रोध का आलम्बन निरपेक्ष एवं लक्ष्य-विहीन संकल्प-विहीन अवयव कहा है।[५] अमर्ष में दुःख पहुँचाने वाली बातों के ब्योरों पर और उनकी असह्यता पर विशेष ध्यान रहता है, इसके आलम्बन पर नहीं।

शारीरिक प्रतिक्रियाएं—इसमें नासापुट फड़कते हैं जो इसका द्योतक है कि इस भाव के अनुभव काल में अधिक प्राणवायु तथा प्राणशक्ति की आवश्यकता होती है। नेत्र-राग का उदय प्रमाणित करता है कि रक्त का संचार और चाप बढ़ जाता है, तथा हृदय की धड़कन बढ़ जाती है। त्योरियों के चढ़ाने का कारण यह है कि इसमें अपने शत्रु के आक्षेप, उपालम्भ आदि का अप्रिय वा असुखद प्रभाव होता है। रोमांच का भी वर्णन कुछ आचार्यों ने किया है जिससे प्रकट होता है कि आश्रय आकस्मिक अवस्था में अपने को तत्पर करके आक्रमण की पूर्व-स्थिति में आ जाता है। स्वेद आने से त्वचा की विद्युत्-संरोध शक्ति में परिवर्त्तन हो जाता है और प्रस्वेदन की क्रिया भी आरम्भ हो जाती है तथा शरीर के ताप में अधिकता आ जाती है। रक्त में अधिक शर्करा का प्रवाह भी होता है तथा उप-अनुकम्पिक तथा अनुकम्पिक स्नायु-संस्थान कार्य करते हैं।

(१०) त्रास

'त्रास' का स्वरूप-विश्लेषण द्वितीय प्रकरण में किया जा चुका है। यहां इसकी मानसिक एवं शारीरिक प्रक्रियाओं को उद्घाटित करना अभीष्ट हैं।

'त्रास' में मन की 'जूति' (वेग शक्ति) विशेष रूप से कार्य करती है। इस मनोवेग में मन की धृति, मेधा, स्मृति, दृष्टि शक्ति का कुछ क्षणों के लिए स्तम्भन हो जाता है तथा अल्प संज्ञान शक्ति कार्य करती है, जिससे चित्त में चंचलता, अस्फुट धारणा एवं धृतिभ्रंश हो जाता है। नाट्यदर्पणकार ने इसे चित्त-चकितता का उद्वेगकारी नाम देकर पुनः सत्त्वभ्रंश भी

---

१. देखिये र० मी०, पृ० २०८।

२. देखिये : काव्यानु०, पृ० ७६।

३. र० सु० २।२२२।

४. सा० द० ३ अध्याय।

५. दे० 'चिन्तामणि' भाग १, पृ० १६१।

कहा है। इस प्रकार इसमें प्राण-शक्ति का ह्रास भी देखा जाता है। इस मनोवेग की प्रकृति क्षोभात्मक है तथा यह ऊपर बतायी पाश्चात्य मनोविज्ञान की 'पलायन' प्रतिक्रिया में (रिट्रीट व फ्लाइट रेस्पोन्स) में वर्णित होगा। यह एक विशिष्ट मनोवेग है जो केवल 'भय' में ही देखा जाता है तथा उसका अवयव है। इसके उदय के पश्चात् ही (यह आलम्बन निरपेक्ष है) आलम्बन प्रधान भाव भय की उत्पत्ति होती है। भय करना सीखा जाता है, जबकि 'त्रास' वासनात्मक है। 'भय' में बुद्धि, पूर्वानुभव, स्मृति आदि का योग है। जबकि त्रास में न बुद्धि, न मेधा, न स्मृति कार्य तत्पर होती है। इसमें न विषय की स्फुट धारणा रहती है, न लक्ष्य-साधन ही। 'यह भय का प्रत्यय-बोध-शून्य आदिम-वासनात्मक रूप है जो पूर्ण समुन्नत अन्तः-करण न रखने वाले क्षुद्र-जन्तुओं में होता है और मनुष्य आदि समुन्नत प्राणियों में भी किसी-किसी अवसर पर देखा जाता है।[1]

विभाव—विकृत वेश-आकार, निर्घोष का आकस्मिक उदय इसका कारण है। इससे प्रकट है कि यह भाव कुछ ही क्षणों तक सीमित रहता है एवं उसकी स्फुट-धारणा नहीं होती, न उसमें प्रत्यय-बोध ही रहता है। आकस्मिकता इसके विभाव का प्रमुख अंग है। पाश्चात्य मनोविज्ञान ने भी सिद्ध किया है कि 'मनुष्य आकस्मिकता तथा कठोर उच्च शब्द से कांपता और चौंकता है।' भय के विभाव दीर्घकालिक एवं अभ्यास-गत होते हैं जो अपनी बारम्बारता के कारण 'प्रत्यय' उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं तथा अनुभवों से उनसे भय करना सीखा जाता है।

शारीरिक प्रतिक्रिया—इस मनोभाव में रोमांच, गद्गद्त्व, स्वेद, कम्प, भ्रम, चौंकना आदि पाये जाते हैं। रोमांच का कारण परिस्थिति का सामना करने की तत्परता में त्वक्-पेशियों का सन्नद्ध हो जाना है। स्वेद से त्वचा की विद्युत्-संरोध शक्ति में परिवर्त्तन होता है। 'कम्प' से वेग की प्रबलता द्योतित होती है जिसे शरीर-संस्थान संभाल नहीं पाता अथवा मांस-पेशियों में इससे रक्त संचार की अल्पता हो जाती है जो आकस्मिक परिस्थिति में सन्नद्ध रहने की आत्म-रक्षात्मक क्रिया हो सकती है। 'आंखों का बन्द होना' शत्रु से लड़ना अनभिप्रेत होना बताता है।

यहां 'चमत्कृति' 'चौंकना' 'स्टार्टिल' की प्रतिक्रिया पर पाश्चात्य मनोविज्ञान में दिये गये प्रायोगिक आलेख का अनुवाद करने का लोभ-संवरण नहीं किया जा सकता, जो 'त्रास' की प्रतिक्रियाओं (अनुभावों) से बहुत कुछ मिलता-जुलता है।

चमत्कृति-प्रतिरूप—सबसे अधिक भरोसे का प्रतिरूप चमत्कृति-प्रतिक्रिया है हंट एवं लेण्डिस अतित्वरित चल-चित्रों के बल पर पिस्तौल की गोली के नाद पर हुई प्रतिक्रिया के सम्पूर्ण व्यवहार को ग्रहण करने में सफल हुए हैं। सम्पूर्ण प्रतिक्रिया का काल .३ से १.५ सेकिंडों का रहा। प्रतिक्रिया **मस्तिष्क से आरम्भ होकर** नीचे चलती है। आंखें बन्द हो

---

१. र० मी०, पृ० २०१।

जाती हैं (निर्घोष के बाद ४० मिली सेकेण्ड में), मुख विकुंचित हो जाता है (लगभग १०० वें मिली सेकेण्ड में), सिर आगे ऐंठ जाता है, कन्धे आगे उठ जाते हैं (लगभग १४० मिली सेकेण्ड में) बाहु हल्के-से परिचालित होते हैं, कोहनियां मुड़ जाती हैं, मुट्ठी किंचित् बंध जाती है, मेरुदण्ड कटि के निकट किंचित् आगे मुड़ जाता है, पेट सिकुड़ जाता है, घुटने किंचित् मुड़ जाते हैं (लगभग ३४५ मिली सेकेण्ड में), और पैर किंचित् स्थान-परिवर्त्तन कर जाते हैं। यह प्रतिरूप विभिन्न व्यक्तियों में इतना समान पाया जाता है कि निस्संदेह यह पितृ-परम्परा से प्राप्त हुआ लगता है। यह समुन्नत वानर जगत् में भी प्राप्त है। बच्चों में यह चौथे या पांचवें महीने तक दिखायी नहीं पड़ता।

—जनरल साइकलोजी गिलफोर्डकृत, पृ० १७७।

जब तक विभिन्न भावों के इसी प्रकार फोटो न लिये जा सकें तब तक निश्चित् प्रतिक्रियाओं का देना सम्भव नहीं है, और केवल अनुमान एवं व्यक्तिगत सीमित-ईक्षण पर निर्भर होगा जो बहुत विश्वसनीय नहीं कहा जा सकता।

३. निष्कर्ष

मनश्शारीर-स्तर पर दस संचारी-भावों के विश्लेषणात्मक अध्ययन के उपरान्त हमारे निम्नलिखित निष्कर्ष है :

(१) मनश्शारीर स्तर पर संचारी भावों के अध्ययन के लिए मनस् की विशिष्ट शक्तियों को निर्धारित करना आवश्यक है तथा उनसे उत्पन्न शरीर-संस्थान के आन्तरिक विविध परिवर्त्तनों के कारणों का विश्लेषण एवं उनके द्वारा उत्पन्न बाह्य अनुभावों को उनके प्रकाश में देखना आवश्यक है। इसके लिए भारतीय चिन्तन की धारा एवं साधन रूप मौलिक शब्दावली के प्रयोग की आवश्यकता है। हां, तथ्यांकन के लिए पाश्चात्य मनोविज्ञान के सूक्ष्म उपकरण एवं यन्त्रों की सहायता ली जा सकती है।

(२) विभावों और अनुभावों से बद्ध करके भारतीय आचार्यों द्वारा संचारी-भावों का विश्लेषणपूर्वक निरूपण उपयुक्त रूप में किया गया है। उसके पीछे भारतीय दर्शन एवं आयुर्वेद शास्त्र की मान्यताओं का आधार है। पाश्चात्य मनोविज्ञान पर आधारित पद्धति के अनुसार वर्णित भावों एवं उनके अनुभावों से भी इनकी समानता देखी जाती है।

(३) आचार्यों ने मानव प्रकृति एवं व्यवहार को दृष्टिपथ में रख कर इनके समस्त अनुभावों का वर्णन मानव-व्यापार के दृष्टिकोण से किया है, तथा वह उपयुक्त है।

(४) परन्तु इनके मनश्शारीर-स्तर पर अध्ययन के लिए दीर्घ-कालीन प्रयोग, विस्तृत परीक्षण-सामग्री और प्रयोगाधीन 'विषयों' की आवश्यकता है। इनके बिना ऐसा अध्ययन केवल वैचारिक होने से अन्तिम एवं निर्विवाद नहीं हो सकता।

उपसहार

प्रत्येक प्रकरण के निष्कर्षों का संश्लेष

हमने पिछले प्रकरणों में (१) 'संचारी भाव : स्वरूप चिन्ता', (२) 'संचारी भावों का विश्लेषणात्मक अध्ययन', (३) 'रस और संचारी भावः पारस्परिक सम्बन्धों का अध्ययन (४) 'मनश्शारीर स्तर पर संचारी भाव' शीर्षकों के अन्तर्गत विस्तार पूर्वक 'संचारी भावों का शास्त्रीय अध्ययन' किया है। यहां अपने विषय का उपसंहार इन प्रकरणों के अध्ययन से प्राप्त निष्कर्षों के आधार पर करना आवश्यक है।

भूमिका में कहा जा चुका है कि समस्त काव्याभिव्यक्ति का अभीष्ट 'भाव' ही है। चाहे वह 'रस ध्वनि' के अन्तर्गत हो या वस्तु-ध्वनि (व्यापक अर्थ में भाव ध्वनि) के। ये दोनों 'ध्वनि' एक प्रकार से रसाभिव्यक्ति का ही प्रकार हैं। 'रस-सिद्धान्त' संसार को भारत की एक विशिष्ट देन है जो रचनाकार, सामाजिक एवं आलोचक की काव्य-सम्बन्धी सभी समस्याओं का समाधान करने में समर्थ है।

१. नाम और रूप (भाव और रस) में बंटे इस अन्तर्बाह्य जगत् को दार्शनिकों ने अपने अपने दृष्टिकोण से देखा है। भारतीय आचार्यों की दृस्टि में जगत् 'सत्य, असत्य एवं सत्यासत्य' तीन रूप है। तुलसीदास ने भी विनयपत्रिका में कहा है—कोउ कहै सत्य, झूठ कह कोउ, जुगल प्रबल कोई माने। पाश्चात्य दार्शनिकों में हीगेल इस भौतिक-जगत् को ही बाह्य-अभिव्यक्ति मानते हैं, परन्तु मार्क्स एवं एंजिल्स दोनों ही उनकी इस धारणा के विरुद्ध भौतिक जगत् को प्रेरक और रूपदाता मानते हैं। एंजिल्स का मत है कि इन्द्रियातीत चेतन-सत्ता इसी भौतिक जगत् का परिणाम है और वह इन भौतिक तत्त्वों का विकसित रूप मात्र है। मार्क्स के मत में पदार्थ चरम सत्य है और बुद्धि, विचार और आत्मा उसी का प्रतिबिम्ब है। उनका कहना है कि हमारे विचार उसी भौतिक जगत् की सापेक्ष स्थिति में बनते-बिगड़ते रहते हैं। मार्क्स के अनुसार संसार की वस्तुएं एक-दूसरे पर निर्भर हैं, एवं स्वतन्त्र एवं निरपेक्ष नहीं। भारतीय दार्शनिक ने इसी सापेक्षता को 'प्रत्येक वस्तु दिक्-काल की सीमा में आबद्ध है' कह कर लक्षित किया है। भरतमुनि से नाट्य-शास्त्र में 'भाव के बिना रस की और रस के बिना भाव की स्थिति नहीं है' कहकर भारतीय दार्शनिक रसाचार्यों द्वारा नाम

१. सा० म० रू०, पृष्ठ ३७२।

और रूप की इसी युगपत् स्थिति की स्वीकृति को सहज लक्षित किया गया है। उन्होंने उनकी परस्परकृत सिद्धि अभिनय के द्वारा बतायी है। भारतीय आचार्य अपनी दार्शनिक पृष्ठभूमि के कारण किसी एक पक्ष का ही समर्थक होकर नहीं रह गया है। भावों के भौतिक और मानसिक विभावों का व्याख्यान करके उन्होंने 'हेतु', 'विज्ञान', 'कारण' वा 'साधन' के रूप में उनके अन्तर्बाह्य दोनों को समेट लिया है। पाश्चात्य मनोविज्ञान में वर्णित[1] जेम्स-लाज सिद्धान्त शारीरिक परिवर्तनों से मानसिक परिवर्तन, पुनः उसका खण्डन करने को आकस्मिक सिद्धान्त या हाइपोथैलेम्स सिद्धान्त की स्थापना करके त्रुटिसंशोधन के लिए सब सिद्धान्तों का समन्वय करके 'सक्रियकरण सिद्धान्त' की भांति स्थापना करने भारतीय आचार्य नहीं जाता वह तो उसका आरम्भ ही यह कह कर करता है कि भाव और रस के अभिनय में उनकी परस्परकृत सिद्धि होती है।

भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में कहा है—भाव के बिना रस की और रस के बिना भाव की स्थिति नहीं है। नाट्य शास्त्र में भरतमुनि ने अपने से पूर्व आचार्यों के मतों को स्थान-स्थान पर उल्लिखित किया है। अतः हम सहज ही निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि उनका यह मत रस-सिद्धान्त का आधार वाक्य है, तथा चिर-कालिक परम्परा समीक्षित एवं सिद्ध है।

यद्यपि भाव और रस युगपत् हैं, परन्तु उन पर विचार करने के लिए किसी एक को तो पहले लेना ही पड़ेगा। पुनः 'कवि के अन्तर्गत भाव को वस्तुरूप रस' में भावों की सहायता से ही उपस्थित किया जाता है। कवि का यही भाव 'काव्यार्थ' होता है अतः भरतमुनि के श्लोक में भी पहले 'भाव' का प्रयोग देख कर ही हमारे द्वारा भी आरम्भ में भाव-शब्द की व्याख्या की गयी है। उसके कोशगत एवं व्युत्पत्तिलभ्य अर्थों पर विचार करके यह निष्कर्ष निकाला गया है कि 'भाव' की दो व्युत्पत्ति 'भवति इति भावः' तथा 'भावयति इति भावः' हैं। कवि की भावना का भावन कराने के लिए ही भाव को (दूसरे अर्थ में) प्रयोग किया गया है। शारदातनय ने 'भाव' की व्याप्ति 'पदार्थ, सत्ता, क्रिया अथवा मनोविकार' अर्थों में सिद्ध की है और तदनुसार भाव के पांच भेद—विभाव, अनुभाव, सात्त्विक भाव, व्यभिचारी भाव एवं स्थायिभाव—किये हैं। परन्तु भरतमुनि ने अपने उनचास भावों में स्थायी भाव, व्यभिचारी भाव एवं सात्त्विक भावों को ही स्थान दिया है। पाश्चात्य मनोविज्ञान पर आधारित आधुनिक रस-समीक्षक 'भाव' को 'इमोशन' (संवेग) रूप मानकर चले हैं जो युक्तियुक्त नहीं है (और, इसी कारण उनका अध्ययन और विवेचन अयुक्त हो गया है)। भाव को भारतीय आचार्यों ने अभिनवगुप्त पादाचार्य के पश्चात् 'चित्तवृत्ति' रूप आन्तर-भाव रूप में ही स्वीकार किया है। 'चित्त' या 'मनस्' भारतीय विचारधारा में 'अन्तःकरण' के अर्थ में प्रयुक्त होता है और 'मन (सीमित अर्थ में), बुद्धि, चित्त, अहंकार' चारों अंगों को समाविष्ट कर लेता है। पाश्चात्य वर्गीकरण में 'संवेग' में बुद्धि को स्थान प्राप्त नहीं है। पाश्चात्य मनोविज्ञान पर आधारित इमोशन को 'भाव' मानकर चलने पर वह अध्ययन समीचीन कैसे कहा जा सकता है? पाश्चात्य मनोविज्ञान पर आधारित समीक्षक 'भाव' को 'इमोशन रूप (संवेग रूप) 'भाव' के अर्थ में सीमित करके चले हैं, अतः उनकी समीक्षा भारतीय 'भाव' परिभाषा से विलग हो गयी है।

भाव के विना रस और रस के विना भाव की स्थिति न होने से भाव-चिन्तन के लिए 'रस' शब्द का आशय एवं उसका स्वरूप विश्लेषण भी आवश्यक है। 'रसः' शब्द व्युत्पत्ति के अनुसार 'आस्वाद का विषय वा आस्वाद्य पदार्थ' ठहरता है। भरत मुनि ने 'आस्वद्यत्वात्' पद लिख कर इसी ओर स्पष्ट इंगित किया है। यदि उस के आस्वादन से ही उनका अभिप्राय होता तो वे 'आस्वादात्' पद का ही प्रयोग करते। उन्होंने 'सुमनसः प्रेक्षकाः मनसा आस्वादयन्ति' कह कर 'रस' के आस्वादन की प्रक्रिया का भी उल्लेख किया है और प्रेक्षक-सामाजिक के 'हर्षादि' भावों को प्राप्त होने तथा 'विश्रान्ति' ग्रहण करने की भी बात कही है। अतः विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी-भाव से परिवृत्त होकर रस नाम ग्रहण करते स्थायी-भाव-रूप को ज्ञातृनिरपेक्ष वस्तुनिष्ठ रंगमंचीय 'रस', सुखदुःखात्मक मनोभाव रूप 'रस' एवं सहृदयनिष्ठ विश्रान्ति-जनक 'आनन्द'—स्वरूप रस तीनों रूपों में स्वीकार करके चलना आवश्यक है। इस प्रकार 'रस' रचनाकार की दृष्टि से 'वस्तुनिष्ठ', पात्रों की कवि-भावित सुखदुःखात्मक अनुभूति-रूप तथा स्वयं प्रेक्षक की तज्जन्य विश्रान्ति-जन्य चित्तावस्था रूप भी है। रस को तीनों रूपों में स्वीकार करने से ही 'रस-सिद्धान्त' की, रचनाकार की दृष्टि से, सहृदय सामाजिक की आस्वादन प्रक्रिया की दृष्टि से एवं काव्यानन्द वा काव्य के आलोचक की दृष्टि से भी, पूर्णता सिद्ध होती है। इन तीनों रूपों को स्वीकार करने से ही रचना, आस्वादन एवं काव्यालोचन स्तर के प्रश्नों और समस्याओं का समाधान करने में 'रस सिद्धान्त' समर्थ हो सकता है अन्यथा नहीं। दिक्-काल की सीमा में अन्तर-बाह्य को बांध कर रस और भाव को उपस्थित करने वाले आचार्यों के इस सिद्धान्त को रचना, आस्वादन एवं आलोचना की पूर्णता सहज ही प्राप्त है।

रस के ज्ञातृनिरपेक्ष वस्तु-निष्ठ रूप के उपादान विभाव, अनुभाव, सात्त्विक भाव, स्थायिभाव एवं व्यभिचारिभाव हैं। स्थायी भाव ही इसमें विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भावों की सहायता से ध्वनित किया जाता है। भाव-ध्वनि की अवस्था में विभाव एवं अनुभाव ही अभिव्यक्ति के लिए पर्याप्त होते हैं, और अन्य व्यभिचारी भाव उनमें विभाव (कारण, हेतु) एवं अनुभाव (कार्य) बन कर उपस्थित हो सकते हैं।

काव्य-आस्वादन से प्रेक्षक या सहृदय की अनुभूतियों को (१) सहानुभूत्यात्मक, (२) विद्वेषात्मक, (३) स्मृत्यात्मक वा स्मृतिमासात्मक, (४) जिज्ञासात्मक, (५) विचारात्मक एवं (६) आलोचनात्मक प्रकारों में वर्णित किया जा सकता है। सुख-दुःखात्मक भाव-रूप रस की चर्वणा के फलस्वरूप सुख-दुःखात्मक भावानुभूति से भिन्न एकान्त 'आनन्द-रूप' रसानुभूति निष्पन्न होती है। इसे ही रस-सिद्धि भी कह सकते हैं।

इस प्रकार 'रस' प्रेक्षक या सामाजिक के मनोमय, विज्ञानमय एवं आनन्दमय कोषों को प्रभावित करता है। भरतमुनि ने 'सुमनसः प्रेक्षकाः मनसा आस्वादयन्ति' लिख कर इस तथ्य की ओर इंगित किया है कि अन्तःकरण के चारों अंग—मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार इस आस्वादन प्रक्रिया में योग देते हैं। भारतीय आचार्यों ने 'भाव' को 'रस' से भिन्न माना

है अर्थात् वास्तविक भोक्ता वा काव्यगत पात्र के वास्तविक सुख-दुःखात्मक भावों और 'रस' में भेद है। भाव और तत्तद्रस के अर्थों को देखने से भी यह विभेद स्वतः स्पष्ट होता है। शारदातनय ने त्रिगुणात्मक प्रकृति के अनुसार रस की मनोवृत्तियों का वर्णन किया है। आचार्यों ने रसों के अधिष्ठाता देवताओं का भी उनकी प्रकृति के अनुसार वर्णन किया है तथा उनके रंग भी बताये हैं।

रस के विविध उपादानों में, विभाव से—आलम्बन एवं उद्दीपन से आश्रय के समस्त बाह्य प्रेरकों एवं परिस्थितियों को, दिक्-काल की सीमा में, चित्रित किया जाता है। उद्दीपन के अन्तर्गत (१) आलम्बन के गुण—यौवनादि, (२) आलम्बन की चेष्टाओं, (३) आलम्बन की अलंकृति एवं (४) तटस्थ उद्दीपनों का चित्रण किया जाता है। शारदातनय ने उद्दीपन विभावों के भेद (१) ललित, (२) ललिताभास, (३) स्थिर, (४) चित्र, (५) रूक्ष, (६) खर, (७) निन्दित एवं (८) विकृत बताए हैं। अनुभावों—कायिक, वाचिक एवं सात्त्विक के माध्यम से मनस् (व्यापक रूप में) के विकारों से उत्पन्न प्रतिक्रियाओं का उद्घाटन कराया जाता है। कुछ आचार्य मानसिक अनुभाव भी स्वीकार करते हैं, परन्तु वे सूच्य होते हैं, सूचक नहीं। अतः उन्हें पृथक् स्वीकार करना अनुपयुक्त है। सात्त्विक भावों में सात्त्विक-अलंकारों की परिगणना भी की जाती है। सात्त्विक भाव को भरतमुनि एवं अन्य आचार्यों ने मन की समाहित अवस्था से ही नट द्वारा उत्पन्न किये जाने के कारण सात्त्विक नाम दिया है। वही उपयुक्त है। जो आचार्य इसमें 'सत्त्व गुण' को ही कारण देखते हैं, उनका विवेचन दूरारूढ़ है। आधुनिक समीक्षकों के पाश्चात्य मनोविज्ञान की प्रयुक्त पदावली का अनुवाद करके इनको अनैक्षिक, अयत्नज, अबुद्धिपूर्वक, अनात्म-प्रेरित नाम दिए हैं जो उनकी ठीक परिभाषा करने में असमर्थ हैं। भारतीय आचार्यों ने स्व-युगीन आयुर्वेदीय विज्ञान के द्वारा इनके पीछे होने वाली प्रक्रियाओं का वर्णन किया है जो पाश्चात्य मनोविज्ञान तथा भेषज-शास्त्र से भी अनुपयुक्त नहीं कहा जा सकता।

व्यभिचारी भाव 'रस' को निष्पत्ति तक ले आने में सहायक होते हैं। उनको पर्याय से संचारि-भाव भी कहा जाता है। परन्तु उपसर्गों में भेद होने के कारण दोनों के अर्थों में मौलिक भेद हो जाता है। व्यभिचारी-पद से भरतादि आचार्यों ने उनको 'विविध-विचित्र-विशेष अभिमुख, अस्थिर, नियम-कारण-रहित, अनवस्थित-जन्मा, रस-पोषक, रसभेदक, स्वधर्म-अर्पक आदि बताया है। संचारी कहने से वे स्थायियों को दीप्तमान करके संचरण-संचारण करने वाले ही रह जाते हैं। व्यभिचारी पद की व्युत्पत्ति 'वि+अभि+चर्+इन्' है जबकि संचारि-पद की व्युत्पत्ति 'सम्+चर्+इन् ही है। वे रसों में विभेद उत्पन्न करते हैं, तथा वे अनवस्थित-जन्मा—विभावों के न होने पर भी होने वाले तथा होने पर भी न होने वाले होते हैं। वे पात्रों के मनोविकारों के समरूप हैं। एक-सूत्रवत् स्थायीभावों में पिरोये वे अनेकानेक मणियों की भांति स्वधर्मअर्पक होते हैं। उनमें वैविध्य, विशेषता, वैचित्र्य आदि अनगिनत गुणों को उत्पन्न करते हैं। यदि व्यभिचारी-भावों का नियोजन न हो तो स्थायी-भाव स्वय

एक-सूत्र के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। वे स्थायिवारिधि में जन्म लेकर उसमें ही रह कर भी उसकी गति का संचार करते हैं। वे स्थायी भाव से बलवत्ता तथा उत्कटता में भी भिन्न हैं। गुणचन्द्ररामचन्द्र ने समस्त व्यभिचारी-भावों को जड़ वा अजड़ (ज्ञानात्मक) या जड़ाजड़ की संज्ञा दी है। आचार्य अभिनवगुप्त तो सात्त्विकभावों को जड़-स्वभाव का होने के कारण 'भाव' मानने के भी पक्ष में नहीं हैं। आचार्यों ने संचारी भावों को प्रयोग के अनुसार इन्हें स्वतन्त्र एवं परतन्त्र भी कहा है। व्यभिचारी भावों की संख्या के विषय में प्राचीन आचार्यों ने अनेक संशोधन बताने के उपरान्त भी मुनिवचन-पालन के लिए अन्य नवीन उद्भावित व्यभिचारी भावों का—उनमें ही अन्तर्भाव कर दिया है। आधुनिक आचार्यों ने पाश्चात्य मनोविज्ञान का आश्रय लेकर उनकी संख्या में विविध प्रकार के संशोधन किये हैं, और आलस्य, श्रम, विबोध, निद्रा, मरण आदि को भाव न मानकर उनको सूची से बहिष्कृत करने का सुझाव दिया है तथा उनमें पुनरुक्ति दोष भी बताया है, यथा शंका-त्रास, हर्ष-धृति में अधिक अन्तर नहीं, और अमर्ष-क्रोध में प्रकार का नहीं, मात्रा का भेद है। आधुनिकों ने इनको मूल संवेग, मिश्रित संवेग तथा शरीरावस्था एवं बौद्धिक-क्रिया आदि में भी पाश्चात्य मनोविज्ञान के अनुसार वर्गीकृत किया है। आधुनिक आचार्यों में अनेक आचार्य ऐसे भी हैं जिन्होंने इस प्रकार के अध्ययन पर आपत्ति उठायी है, और भरतमुनि आदि प्राचीन आचार्यों के विवेचन को सुष्ठु बताया है। आचार्य शुक्ल ने यद्यपि शेंड के आधार पर अपना विवेचन किया है, परन्तु वह भरतमुनि के 'भाव' के आशय से बहुत दूर और भिन्न नहीं है। परन्तु व्यभिचारी भावों में दोष-दर्शक आधुनिक आचार्य अपने विश्लेषण में भाव को 'इमोशन' के अर्थ में लेकर चले हैं, इस प्रत्यय का आरंभ डॉ० भगवानदास से हुआ जिन्होंने अपने ग्रन्थ का नाम ही साइन्स आफ इमोशन दिया था। इन आचार्यों ने भारतीय विचारधारा और तदाधारित चिन्तन-पद्धति का न तो समादर ही किया है, और न उसका अवलोकन ही। वास्तव में, प्राचीन आचार्यों के चिन्तन के पीछे स्पष्ट चिन्तन और मनन की सुनिर्धारित पद्धति एवं दार्शनिक सम्प्रदाय हैं जिनके अनुसार ही व्यभिचारी भावों की संख्या, वर्गीकरण आदि को युक्त या अयुक्त ठहराया जा सकता है। पुनः संचारी-भावों या भावों पर आक्षेप करने वाले आचार्यों ने 'भवति इति भावः' का अर्थ ग्रहण किया है जबकि इनको 'भावयति इति भावः' के अर्थ में ही ग्रहण करना चाहिए। 'विभाव' एवं अनुभाव से बांध कर ही इनका विश्लेषण समीचीन माना जायेगा, अन्यथा नहीं। इनका उपयोग-अनुपयोग, सामर्थ्य-असामर्थ्य इस दृष्टि से ही परीक्षणीय है कि क्या ये व्यभिचारी-भाव (और भाव भी) विभिन्न प्रेरकों एवं परिस्थितियों से प्रभावित 'अन्तःकरण' का त्रिकालिक भावन सहृदय को करा सकते हैं? और हमने अध्ययनपूर्वक यह देखा है कि ये संचारी भाव (और भाव भी) ऐसा करने में समर्थ एवं उपयोगी हैं।

२. भरतमुनि से लेकर आजतक के प्रमुख आचार्यों के मतों का, प्रत्येक संचारी-भाव पर उनका विश्लेषण उपस्थित करते हुए, स्पष्ट अध्ययन करके इस तथ्य पर पहुंचा जाता है कि भारतीय आचार्यों के ये व्यभिचारी-भाव भावन व्यापार में सहायक चित्तवृत्तियां

ही हैं। परन्तु वे 'भवति इति भावः' नहीं हैं। वे या तो मन के सामान्य एवं विशिष्ट कर्म हैं, वा चैतसिक धर्म हैं, अथवा मानसिक स्थितियां हैं। बुद्धि भी वेदान्त के अनुसार मनस् का ही अंग होने के कारण इनमें सहायक होती है और उससे प्रेरित मन की विक्रियाओं को भी इनमें स्थान दिया गया है। श्रम, आलस्य, स्वप्न, निद्रा, विबोध, अपस्मार, उन्माद, व्याधि, मरण आदि, पाश्चात्य मनोविज्ञान के 'इमोशन'—रूप भाव के (सवेग के) अन्तर्गत न आते भाव भी मनस् के विशिष्ट कर्म ही हैं। इस विषय में हमने अध्ययन-पूर्वक यह देखा है कि उपनिषद्-कालिक ऋषि (बौद्ध-दार्शनिक एवं नैयायिक भी) स्वप्न, निद्रा, विबोध को मन के विशिष्ट-कर्म मानते रहे हैं। बौद्ध दार्शनिक असंग ने अपस्मार, उन्माद, व्याधि, मरण आदि को मन का विशिष्ट कर्म कहा है। अतः इन व्यभिचारी भावों को 'आन्तर भाव' कहना भारतीय आचार्यों के मत से उपयुक्त ही है। स्थायी भाव भी आवश्यकतानुसार व्यभिचारी-भावों के समान आचरण करते हैं।

३. संचारी-भाव विभाव और अनुभाव के अनुसार भी विशेष जाति के हैं। रस-मूलक स्थायी भावों के विभाव सदैव बाह्य, मूर्त्त एवं वर्तमान ही रहेंगे जबकि व्यभिचारी-भावों के विभाव अमूर्त, गुण, कर्म, यत्न एव परिस्थिति आदि ही प्रायः होते है। ये विभाव विषयालम्बन से स्वतन्त्र भी होते हैं अर्थात् आश्रय की चेतना, बुद्धि, भावना, वेग आदि से ही सम्बन्धित रह सकते हैं। यह आवश्यक नहीं कि उनका कारण (विभाव) बाह्य ही हो। पुनः एक व्यभिचारी-भाव अन्य का विभाव वा अनुभाव-सहज ही हो सकता है जबकि स्थायीभाव, बिना व्यभिचारी-भाव की कोटि में उतरे, विभाव नहीं हो सकता। व्यभिचारी-भावों में ही भावोदय, भाव-शान्ति, भाव-सन्धि एवं भाव-शवलता की स्थिति देखी जाती है, स्थायी-भावों में नहीं। सात्त्विक अनुभावों के अनुभाव तो हो सकते हैं, परन्तु वे सात्त्विक-जाति के नहीं होंगे। सात्त्विक जाति के अनुभावों के लिए उनके प्रेरक व्यभिचारी-भावों की (और भावों की भी) आवश्यकता होती है। पुनः स्थायी-भावों में प्रायः सर्वत्र सात्त्विक अनुभावों को उत्पन्न करने की सामथ्र्य है, जबकि बहुत से व्यभिचारी (संचारी) भावों के सात्विक भाव नहीं होते।

इस प्रकार संचारी भाव अन्तःकरण (मनस्) से ही सम्बन्धित हैं, परन्तु वे अपने विभाव, अनुभाव की प्रकृति के अनुसार स्थायी एवं सात्त्विक भावों से भिन्न जाति के हैं, और वे कवि-भावित काव्यगत आश्रय के अन्तःकरण का 'भावन' सहृदय को कराते हैं। उपयोग की दृष्टि से वे 'स्वतन्त्र' एवं 'परतन्त्र' दोनों प्रकार के होते हैं।

४. मनश्शारीर स्तर पर इन संचारी भावों का अध्ययन मन की विभिन्न शक्तियों और तत्प्रसूत क्रियाओं का तथा उनके फलस्वरूप होने वाले शरीर-संस्थानगत परि-वर्तनों एवं प्रतिक्रियाओं का अध्ययन करके किया जा सकता है। 'ऐतरेय उपनिषद्' में मन की विभिन्न शक्तियों का उल्लेख किया गया है। इस प्रकार के अध्ययन के लिए उनका उपयोग समीचीन होगा तथा पाश्चात्य मनोविज्ञान के सूक्ष्म उपकरणों एवं सूक्ष्म यन्त्रों का भी, तथ्या-

त्मक अंकन के लिए, उपयोग करना अधिक उपयुक्त होगा। ऊपर निर्वेदादि दस संचारी भावों का अध्ययन भारतीय मनीषियों द्वारा उल्लिखित शक्तियों' तथा पाश्चात्य मनोविज्ञान में वर्णित शारीरिक प्रतिक्रियाओं और परिवर्तनों के समन्वित आलोक में किया गया है, और यह पाया गया है कि भारतीय आचार्यों द्वारा बताये अनुभाव सटीक हैं तथा दीर्घकालीन पर्यवेक्षण का ही परिणाम द्योतित होते हैं। इनके पीछे होते मनश्शारीर विकारों का वे सहज परिणाम हैं। परन्तु हमारा यह दावा नहीं है कि यहां इस प्रकार मनश्शारीर स्तर पर किया हुआ यह अध्ययन अंतिम है। यह केवल एक दिशा-निर्देश मात्र है।

इस प्रकार संचारी (व्यभिचारी) भाव भावन व्यापार में सहायक मनस् (अन्तःकरण) से सम्बन्धित भाव ही है, जो 'रस' को विविधता, विचित्रता, विशेषता प्रदान करते हैं एवं स्वतन्त्र भाव-ध्वनि में भी प्रयुक्त होते हैं। भरतमुनि आदि आचार्यों द्वारा बताये उनके विभाव एवं अनुभाव समुचित रूप में वर्णित हुए हैं। वे (तथा अन्य भाव भी) 'भावयति इति भावः' के अर्थ में भाव हैं, 'भवति इति भावः' के अर्थ में नहीं।



परिशिष्ट

ग्रन्थानुक्रमणिका

ग्रन्थानुक्रमणिका

क्रम संख्या	संक्षिप्त नाम	पूर्ण नाम	लेखक आदि
	संस्कृत :		
१	अग्नि० पु०	अग्नि पुराण	....
२	अ० पु० का० भा० अ० पु० का०	अग्नि पुराण के काव्या- शास्त्रीय भाग का अध्ययन	...
३	अभि० भा०	अभिनव भारती	(अभिनवगुप्तपादाचार्य) गायक-वाड़ ओरियंटल सीरीज।
४	हिं० अभि० भा०	हिन्दी अभिनव भारती	आचार्य विश्वेश्वर की टीका सहित
५	उ० नी०	उज्जवल नीलमणि	रूपगोस्वामी
६	ऐतरेय उपनिषद्	ऐतरेय उपनिषद्	...
७	का० प्र०	काव्य प्रकाश	मम्मटाचार्य, द्वितीय संस्करण (१६४३), हिन्दी साहित्य सम्मे-लन, प्रयाग।
८	काव्य प्रदीप	काव्य प्रदीप	गोविन्द ठाकुर, तृतीय संस्करण (१६२३), निर्णय सागर प्रेस, बम्बई।
९	काव्यादर्श	काव्यादर्श	दण्डी, (नरसिंहदेव शास्त्री) (१६३३)।
१०	काव्यानु०	काव्यानुशासन	हेमचन्द्रन्द्राचार्य (सम्पादक—पारीख), (१६३८)।
११	काव्यालंकार	काव्यालंकार	भामह।
१२	हिं० काव्यालंकार सूत्रवृत्तिः	हिन्दी काव्यालंकार सूत्रवृत्ति	आचार्य विश्वेश्वर।
१३	छान्दोग्य उपनिषद्	छान्दोग्य उपनिषद्	...

१४	द० रू०	दशरूपकम्	धनंजय, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई (१९२०)।
१५	ध्वन्यालोक	ध्वन्यालोक	आनन्दवर्धन (लोचन सहित) (१९४०) चौखंभा संस्कृत सीरीज बनारस।
१६	ना० शा०	नाट्य शास्त्र	(१९२९) चौखंमा संस्कृत सीरीज एवं गायकवाड़ ओरियन्टल सीरीज।
१७	ना० द०	नाट्यदर्पणम् (हिन्दी टीका सहित)	गुणचन्द्ररामचन्द्र।
१८	...	पातञ्जल योगसूत्र	...
१९	प्र० रु०	प्रताप रुद्रीयम् प्रतापरुद्रयशोभूषण }	विद्यानाथ।
२०	प्रशस्त-पादभाष्यम्	प्रशस्तपादभाष्यम्	वाराणसी, संस्करण, (१८८५)।
२१	भ० र० सिं०	भक्ति रसामृत सिंधु	जीव गोस्वामी।
२२	भा० प्र०	भावप्रकाशनम्	शारदातनय।
२३	...	महाभारत	...
२४	रगंध०	रसगंगाधर	पण्डितराज जगन्नाथ।
२५	र० त० र० तरं० }	रस तरंगिणी	भानुदत्त।
२६		रस मंजरी	,,
२७	...	रसरत्नप्रदीपिका	अल्लराज। (भारतीय विद्या भवन से प्रकाशित)
२८	र० सु०	रसार्णवसुधाकर	शिंगभूपाल।
२९	...	व्यक्ति विवेक	महिम भट्ट। टीका--झलकीकर।
३०	...	श्रृंगार तिलक	रुद्रट।
३१	...	श्रृंगार प्रकाश	भोजराज (डा० राघवन शोध-प्रबन्ध) (द्वि० सं०)।
३२	स० कं०	सरस्वती कण्ठाभरणम्	भोजराज (संपादक केदारनाथ शर्मा, द्वि० सं०, १९५५)।

३३	सा० द०	साहित्यदर्पणम्	कविराज विश्वनाथ (डा० सत्यव्रत सिंह सम्पादित, एवम् काणे की विमला टीका।
३४	....	साहित्य कौमुदी	विद्याभूषणम्।
३५	...	संगीत रत्नाकर	शार्ङ्ग देव।

हिन्दी :

१	...	असामान्य मनोविज्ञान	रामकुमार राय (१९६० संस्करण)।
२	...	आचार्य शुक्ल के समीक्षा सिद्धान्त	रामलाल सिंह।
३	...	(आगरा युनिवर्सिटी सलेक्शन्स इन प्रोज़ द्वितीय संस्करण)।	
४	...	आत्म विज्ञान	योगिराज व्यासदेव।
५	हि०म०का०शा०अध्य० हि० म० का०अध्य०	आधुनिक हिन्दी मराठी में काव्य-शास्त्रीय अध्ययन	डा० मनोहर काले
६	क० कु० क० क० कु० क० त०	कविकुलकल्पतरु	चिन्तामणि।
७	का० कल्प०	काव्यकल्पद्रुम (भाग १)	कन्हैयालाल पोद्दार
८	का० द० का० दर्प०	काव्य दर्पण	रामदहिन मिश्र
		काव्य प्रभाकर	भानुकवि
९	का० वि०	काव्यविलास	प्रतापसाहि
१०	...	केशव और उनका साहित्य	डा० विजयपालसिंह
११	चिन्तामणि	चिन्तामणि (भाग १)	आचार्य रामचंद्र शुक्ल
१२	जगद्वि०	जगद्विनोद	पद्माकर भट्ट
१३	दर्श० दि० द० दि०	दर्शन दिग्दर्शन	राहुल सांकृत्यायन ...
१४	न० र० त०	नवरसतरंग	वेनी प्रबीन।
१५	...	न्याय सिद्धान्त मुक्तावली	डा० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री
१६	भा० वि०	भाव विलास	महाकवि देव
१७	भा० का० परं०	भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा	संपादक डा० नगेन्द्र

१८	...	मनोविज्ञान का इतिहास	राजनाथ शर्मा एवं सारस्वत
	...	यौन मनोविज्ञान	एलिस हेवलाक
१९	...	मिलिन्द-प्रश्न	भिक्षु जगदीश कश्यप
२०	र० क०	रसकलश	अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध
२१	र० कु०	रस कुसुमाकर	प्रतापनारायणसिंह जू
२२	र० पी० नि०	रस पीयूष निधि	सोमनाथ
२३	र० प्र०	रस प्रबोध	गुलाम नवी
२४	र० प्रि०	रसिक प्रिया	केशवदास
२५	र० मी०	रस मीमांसा	आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
२६	...	रस मंजरी (काव्यकल्पद्रुम भाग-१)	कन्हैयालाल पोद्दार
२७	र० रत्ना०	रस रत्नाकर	भानुकवि
२८	र० र०	रस रहस्य	कुलपति मिश्र
२९	र० सा०	रस सारांश	भिखारीदास
३०	र० सिद्धान्त	रस-सिद्धान्त	डा० नगेन्द्र (द्वितीय संस्करण)
३१	र० सि० स्व० वि० र० स्व० वि०	रस-सिद्धान्त : स्वरूप विश्लेषण	डा० आनन्दप्रकाश दीक्षित
३२	री० भूमिका	रीति काव्य की भूमिका	डा० नगेन्द्र (१९४९ संस्करण)
३३	वा० वि०	वाङ्मय विमर्श	आचार्य विश्वनाथ मिश्र (प्रथम संस्करण सं० १९९९)
३४	शृं० वि०	शृंगार विलास	प्रतापसाहि
३५	सा० म० रू०	सामान्य मनोविज्ञान की रूपरेखा	डा० राजनाथ शर्मा
३६	...	साहित्यलोचन	डा० श्यामसुन्दरदास (११ वीं आवृत्ति)
३७	सि० अध्य०	सिद्धान्त और अध्ययन	बाबू गूलाबराय
३८	....	स्वप्न मनोविज्ञान	....

मराठी :

१	अभि० का० प्र०	अभिनव काव्य प्रकाश	रा० श्री० जोग (तृतीय संस्करण १९५१ ई० व्हीनस बुकस्टाल, पुणे-२)

२	काव्यालोचन	काव्यालोचन	द० के० केलकर, तृतीय सं० १९५६ ई०, मनोहर ग्रंथमाला प्रकाशन, पुणे-२ ।
३	...	भारतीय साहित्य शास्त्र	गणेश त्र्यम्बक देशपाण्डे, (१९५८), पाप्युलर बुक डिपो, लैमिंग्टन रोड, बम्बई-७ ।
४	...	रस विमर्श	डा० के० ना० वाटवे (१९४२ ई०) विद्याधर हरि दामले, नवीन किताब खाना, पुणे-२ ।
५	...	साहित्य मीमांसा	डा० रा० श० बालिंबे (१९५५), चित्रशाला प्रकाशन, पुणे-२ ।
६	...	सौन्दर्याचें व्याकरण	डा० सुरेन्द्र वारलिंगे (१९५७) मराठावाडा साहित्य परिषद्, इसामियां बाजार, हैदराबाद ।

अंग्रेजी :

१	...	कम्पेरेटिव ईस्थेटिक्स	डा० के० सी० पाण्डेय
२	...	फाउन्डेशन आफ केरेक्टर	स्टाउट
३	...	दि फिजियोलोजिकल बेसिस आफ मेडिकल प्रेक्टिस	...
४	...	जनरल साइकलोजी (स्टूडेन्ट एडिशन)	जे० पी० गिलफोर्ड ।
५	...	नम्बर आफ रसाज	डा० राघवन (१९४०) (अडयार लाइब्रेरी मद्रास) ।
६	...	प्रिंसीपल्स आफ साइकलोजी	विलियम जेम्स
७	...	भोज : श्रृंगार प्रकाश	डा० राघवन् ।
८	...	साइकलोजी, वा साइकलोजी आफ फन्डामेंटल ह्यूमन एडजस्टमेंट्स	नोरमन एल मन ।
९	...	साइकलोजी एण्ड लाइफ (स्टूडेण्ट एडिशन)	फिलाइल एल० रक
१०	...	साइन्स आफ इमोशन्स	डा० भगवानदास

११ सा० स्ट० र० साइकलोजीकल स्टडीज़ इन रस डॉ० राकेश गुप्त

पत्र-पत्रिकाएं

हिन्दी :

१ समालोचक (मासिक) जून, जुलाई, अगस्त (१९५८)।

२ आलोचना (त्रैमासिक) अंक ७।

३ द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ।

मराठी :

१ नवभारत (मासिक) नवम्बर, दिसम्बर (सन् १९५०)।

कोश-ग्रन्थ

संस्कृत :

१ तारानाथ संपादित—वाचस्पत्यम्।

२ ... शब्दकल्पद्रुम।

संस्कृत-हिन्दी :

१ संस्कृत शब्दर्थ कौस्तुभ—सम्पादक द्वारिकाप्रसाद चतुर्वेदी। (प्रथम संस्करण)

संस्कृत-अंग्रेजी :

१ वामन आप्टे कृत संस्कृत-अंग्रेजी कोश।

२ मोनियर विलियम्स कृत संस्कृत-अंग्रेजी कोश।

हिन्दी :

१ हिन्दी साहित्य कोश।